विषय-सूची

प ष्ठ संख्याँ

वैदिक साहित्य एवं व्याख्या पद्धति की परम्परा

(Tradition of Vedic Literature & Interpretation)

Sanskrit

Option - D

Paper - IX

Full Marks: 100
Time: 3 Hrs.

Unit - I (Samhita) Rigveda, Atharvaveda, Samaveda, Yajurveda, Contents, Recensions, Textual Differences, Recitation. — **20 Marks**

Unit - II (Brahmanas, Aranyakas, Upanishads) Their compositions, contents styles. (Vedangas) Their significance, contents, styles. — **20 Marks**

Unit - III (Survey of Vedic Studies) — **20 Marks**
History of Traditional Interpretation : Brhaddevata, Sarvanukramani, Kalpasutras, Nirukta, Commentary of Skanda, Mahesvara, Madhava & Sayana etc.

Unit - IV Survery of Modrn Interpretation. — **20 Marks**

1. **Western Scholars : Wilson, Roth, Whitney, Max Mueller, Oldenberg, Grassman, Hillebrandt Luders, Weber, Calanld, Renou & Gonda, etc.**
2. **Indian Scholars : Dayananda, Aurovindo, Madhusudana Ojha & Sripada Damodara Satavalekara etc.**

Unit - V New Trends in Vedic Studies : Rlevance in Modern Times — **20 Marks**

Guidelines:—

Unit - I, II, III, IV & V.

(i) One critical question out of two carrying 20 marks should be asked from each unit. 20 x 5 = 100

Note:— Question/questions worth 20 marks is/are required to be answered in Sanskrit.

Unit-I
संहिता

वेद :-

वेद शब्द की व्युत्पत्ति 'विद् ज्ञाने' धातु से 'घ ा्' प्रत्यय के संयोग से निष्पन्न हुआ है। घ ा् प्रत्यय का अर्थ भाव, कर्म या करण से किया जाता है, अतःज्ञान, ज्ञान का विषय, ज्ञेय पदार्थ तथा ज्ञान के साधन सभी वेद शब्द के वाचक सिद्ध होते हैं। पाणिनिकृत 'धातु—पाठ' में 'विद्' धातु सत्ता, लाभ तथा विचार की 'द्योतक है।' इनमें विचार तो एक प्रकार से ज्ञान में ही अन्तर्गत हो जाता है, किन्तु सत्ता और लाभ अर्थ के अतिरिक्त रहते हैं। उन अर्थो में भी तीनों प्रत्ययार्थ जोड़ने से वेद शब्द का अर्थ बहुत ही गम्भीर हो जाता है। लाभ आनन्द का उत्पादक वा आनन्द का ही एक रूप है, ऐसा सूक्ष्म विचार करने पर सत्ता, ज्ञान और आनन्द ये तीन जो ब्रह्म के लक्षण श्रुतियों में मिलते हैं—वे तीनों ही वेदार्थ में आ जाते हैं। अथवा यों भी कह सकते हैं कि 'विद्' धतु के अर्थो में सत्ता से उत्पति ज्ञान से पालन या जीवन, और लाभ से प्राप्ति या लय बताया गया। इस प्रकार भी वेद—शब्दार्थ में ब्रह्म के लक्षण आ गये। जिससे सब उत्पन्न हो, जिसके आधार पर सब जीवित रहे, और जिसमें सब लीन हो, यही ब्रह्म का लक्षण श्रुति में कहा है। इसलिए, वेद शब्द, ब्रह्म शब्द का पर्याय बन जाता है' स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी ऋग्वेदभाष्यभूमिका में वेद शब्द की विदन्ति, जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति अथवा विदन्ते, लभन्ते, विन्दन्ति, विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सत्यविद्यां यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः' इस प्रकार से व्याख्या की है अर्थात् जिनके द्वारा या जिनमें सारी सत्य विद्याएं जानी जाती हैं, विद्यमान हैं या प्राप्त की जाती हैं, वे वेद हैं।

इस प्रकार मौलिक अर्थ में वेद ज्ञान का प्रत्यायक है, किन्तु 'विद्या' शब्द से 'विद्' के इसी धातु से उत्पन्न होने के कारण मूलतः विद्या और वेद शब्द समानार्थक हैं।

'आश्वलायनग ह्यसूत्र में (०१ । ७) वेद शब्द अनेक विद्याओं के साथ प्रयुक्त हुआ है।

'यजुर्वेदोवेदः', 'अथर्वाणोवेदः', 'असुरविद्यावेदः', 'पुराणविद्यावेदः', 'इतिहासोवेदः'। 'आपस्तम्ब यज्ञ परिभाषा (सूत्र ३) में 'वेद' शब्द सामान्य ज्ञान के अतिरिक्त एक विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जिसके अनुसार मन्त्र भाग और ब्राह्मण भाग दोनों को वेद कहा जाता है— 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामध्यम्'। एक अन्य द ष्टि से वेद शब्द अपने संकुचित अर्थ में मन्त्र भाग या संहिता भाग का परिचायक है।

आचार्य सायण ने तैत्तिरीयसंहिताभाष्यभूमिका में वेद की व्युत्पति इस प्रकार दी है—

'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः'।

अर्थात् इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट परिहार के अलौकिक उपाय को बतलाने वाला ग्रन्थ वेद है। कुछ विद्वानों के अनुसार 'जो सब पदार्थो का ज्ञान करवाता है और प्राप्त करवाता है, वह वेद है **वेदयति विश्वपदार्थानवगमयति इति वेदः।'** कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार वेद का तात्पर्य हैं **'विद्यन्ते, ज्ञायन्ते, लभ्यन्ते वा एभिर्धमादिपुरूषार्थाः इति वेदः'** अर्थात् जिनके द्वारा धर्मादि पुरूषार्थ जाने जाते हैं या प्राप्त किए जाते हैं, वे वेद हैं। कुछ मनीषियों ने वेद का वेदत्व इसी तथ्य में माना है कि वह प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा दुर्बोध तथा अज्ञेय उपाय का ज्ञान स्वयं कराता है—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता।।

महत्त्व :-

वेद विश्व के सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ तथा भारतीय संस्कृति के प्राण हैं। भारतीय धर्म, साहित्य, सभ्यता तथा दर्शन सबों की आधार शिला वेदों के राजप्रसाद पर अधिष्ठित है। हिन्दू धर्म के अनुसार वेद तपःपूत महर्षियों के द्वारा द ष्ट ज्ञान है जिसे वैदिक ऋषियों ने मन्त्र द्वारा अभिव्यक्त किया है। इसी कारण ऋषियों को मन्त्र–द्रष्टा कहा गया है, क्योंकि भारतीय परम्परा के अनुसार वेद किसी व्यक्ति विशेष की रचना न होकर अपौरूषेय कृति है। महर्षियों ने ज्ञान और तपस्या की चरम सीमा पर पहुंच कर प्रातिभ ज्ञान के द्वारा जो अनुभव प्राप्त किया है, वही आध्यात्मिक ज्ञान राशि वेद है।

वेद के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए मनु ने वेद निन्दकों को नास्तिक की संज्ञा से अभिहित किया है–नास्तिको वेदनिन्दकः। ब्राह्मणों ने भी वेदाध्ययन का महत्व स्वीकार किया है। वेदों के स्वाध्याय पर जोर देते हुए 'शतपथब्राह्मण' का कहना है कि धन एवं प थ्वी का दान करने से मनुष्य जिस लोक को प्राप्त करता है, तीनों वेदो के अध्ययन से उससे भी अधिक अक्षय लोक को प्राप्त करने का श्रेय उसे प्राप्त होता है। (शतपथ, ११ । ५ । ६१)

वेदों के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों ने विभिन्न प्रकार के मन्तव्य व्यक्त किये हैं, जिनमें परस्पर विरोधी विचारों का रूप प्रकट हुआ है। फ्लीडर का कथन है कि ऋग्वेद की प्रार्थनाएं बच्चों की निश्छल प्रार्थना के रूप में वर्णित हैं। पिक्टेट के मतानुसार ऋग्वेद के आर्य एकेश्वरवादी थे भले ही उसमें वर्णित विचार अस्पष्ट एवं पिछड़ा हुआ हो। ब्लूमफील्ड का कथन है कि ऋग्वेद के सूक्त उस प्राचीन असंस्कृत जाति के द्वारा यज्ञ के निमित्त बनाये गये हैं, जो कर्मकाण्ड को विशेष महत्व प्रदान करती थी। वर्गेन का कहना है कि ऋग्वेद के सूक्त आलंकारिक भाषा में रचित हैं। केगी ने इन सूक्तों के सम्बन्ध में कहा है : 'ऋग्वेद का अधिकांश देवस्तुति और प्रार्थना रूप है जिसमें मुख्य स्वर संसार की नित्य शक्तियों के प्रति प्रार्थना, उपासना तथा उद्गार का है। वैदिक ऋषि हर चीज को देवताओं का प्रसाद समझ कर स्वीकार करता है और इसी में उसे परम सन्तोष मिलता है। उसका कहना है कि मैं जो कुछ गाता हूँ उसमें मेरा कुछ नहीं, वह भी परमात्मा की अपनी वाणी है, अपनी ही प्रेरणा है, जो आप से आप मेरे अन्तः करण को माध्यम बना कर फूट निकली है।

केगी ने यह भी स्वीकार किया है कि ऋग्वेद में घटिया ढंग के भी अंश विद्यमान हैंः 'किन्तु इन घटिया कविताओं में भी स ष्टि की वह 'आदि' प्राणमयता है, 'आदि' नवीनता है। कोई भी व्यक्ति जो आज ऋग्वेद को पढ़ते हुए तत्कालीन विचार अनुभूति को और जागरूकता को स्वगत कर सकता है, उस युग की कविता को संवेदना द्वारा अपना सकता है–वह कविता जिसमें हम पाश्चात्त्यों के आध्यात्मिक विकास का पूर्वतम रूप, अपने श्रेष्ठतम स्वर में, हमारे सम्मुख बरबस खुल आता है–उसी के लिए ही इन गीतों में कितना आकर्षण भरा पड़ा हैं कितनी मात्रा में अद्भुत, अबोध शैशव बिखरा पड़ा है, अनुभूति की वह उड़ान ....।

ओल्डेनबर्ग ने 'रिलिजन दास वेद' नामक ग्रन्थ में लिखा है : 'यद्यपि ऋग्वेद भारतीय साहित्य और धर्म की प्राचीनतम कृति है तथापि बौद्धिक विकास के स्पष्ट चिह्न उसमें उत्तरोत्तर बढ़ते ही नजर आते हैं। 'इन जंगली पुरोहितों के देवता भी जंगली ही थे जिनका काम, जब चाहा, घोड़ो और रथों पर आसमान चीरते हुए थोड़ी सी पुरोडाश, थोड़ा–सा मक्खन, एक मांस का टुकड़ा और एक प्याली सोम के लिए–दौड़ते चले आने के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता थाः और इसी को वैदिक ऋषि देवताओं की परात्पर शक्ति का प्रमाण समझते हैं ऋग्वेद के ये मिरासी, पुरानी लीक पर चलते हुए गीत पर गीत बनाते और सोमयाग के समय अपने देवता की खुशामद करते 'आप ये हैं आप वो हैं' बढ़ा–चढ़ा के नई–से–नई अतिशयोक्तियां पेश करते–जिसमें सत्य का अंश जरा भी ना होता। जिन पुरोहितों का सम्पर्क ही लोक–जीवन से न हो उनकी कविता में भी लौकिकता अथवा सच्चाई कैसे आ सकती है ?

स्वामी दयानन्द के अनुसार वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है और इन विद्याओं का मूल स्त्रोत परमेश्वर है। डा॰ राधाकृष्णन् के अनुसार वेद वह है- जिसमें पीढ़ी-दर-पीढ़ी के विचारकों के विचार

अंकित हैं और इसीलिए उसके अन्दर भांति-भांति के विचारों का संचय सन्निहित है। मुख्य रूप से हम कह सकते हैं कि ऋग्वेद निश्छल एवं सरल धर्म का प्रतिपादन करता है। सूक्तों का बहुत बड़ा समूह सादा और सरल है, जो एक ऐसी धार्मिक चेतना की अभिव्यक्ति करता है, जो परवर्ती समय के छल–कपट से सर्वथा शून्य था। ऋग्वेद में ऐसे भी सूक्त हैं जो परवर्ती औपचारिक ब्राह्मण ग्रन्थों के काल के हैं। कुछ ऐसे सूक्त हैं, विशेष रूप से अन्तिम मण्डल में, जिनमें जगत् का उद्देश्य और उसके अन्दर मनुष्य का स्थान, इस विषय पर किये गए चैतन्य विचारों के परिपक्व परिणाम दिए हुए हैं।

महर्षि अरविन्द का कहना है कि वेद रहस्यमय सिद्धान्तों एव गूढ़ दार्शनिक ज्ञान से आपूर्ण हैं। उसमें वर्णित देवता मनोवैज्ञानिक व्यापारों के संकेत हैं। सूर्य मेधा का प्रतिनिधित्व करता है, तो अग्नि इच्छा का और सोम मनोभावों को उपलक्षित करता है। भारतीय प्राचीन परम्परा के अनुसार स ष्टि की उत्पति के समय ही धार्मिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक ज्ञान के लिए इनका प्रादुर्भाव हुआ। वस्तुतः ये मानवजाति के प्राचीनतम धर्मग्रन्थ हैं। अतः उस समय की संस्कृति, सभ्यता, आचारविचार, धार्मिक मान्यताओं, रीति–रिवाजों इत्यादि को जानने के लिए ये ही एकमात्र स्त्रोत हैं। धर्म के तो वेद स्तम्भ हैं। आज भी समस्त भारत में हिमालय से कन्याकुमारी तक ओर गोहाटी से कच्छ तक सर्वत्र सभी धार्मिक कार्यो में वेद मन्त्रों का ही उच्चारण किया जाता है। भारतीय दर्शन के बीज भी वेद में ही प्राप्त होते हैं।

वेदों का सहित्यिक महत्त्व भी कुछ कम नहीं। महाकाव्य, गीतिकाव्य, ऐतिहासिक काव्य, गद्यकाव्य, नाट्य, आख्यानसाहित्य इत्यादि काव्य की सभी विद्याओं की उत्पति में वेदों का सक्रिय योगदान रहा है। सभी प्रकार का ज्ञान–विज्ञान वेदों में ही निहित है **'सर्वज्ञानमयो हि सः'**। चाहे वनस्पति विज्ञान हो, चाहे स ष्टिविषयक वार्ता हो, चाहे नौका निर्माण सम्बन्धी कला हो, चाहे वास्तु–कला, चाहे औषधिशास्त्र की चर्चा हो, चाहे विज्ञान सम्बन्धी ज्ञान हो, सबके अंकुर वेदों में ही विद्यमान हैं। इसिलिए यह उचित ही कहा गया है–**'भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति'।** इहलौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के सुखों की प्राप्ति के स्थान वेद ही हैं। वे ही उचित अनुचित के निदर्शक, कर्तव्य के अवबोधक, सुखशान्ति के साधक, ज्ञानलोक के प्रसारक तथा निराशा के विनाशक हैं। भारतीय संस्कृति में वेदनिन्दक को नास्तिक कहा गया है–**'नास्तिको वेद निन्दकः'**।

भाषा विज्ञान की द ष्टि से भी वेदों का अत्यधिक महत्त्व है क्योंकि वैदिक भाषा के बिना भारोपीय भाषाओं का अध्ययन सम्भव नहीं है। यही कारण है कि पाश्चात्त्य विद्वानों ने भी वेदों को आदर की द ष्टि से देखा है। वेदों के उपदेश सार्वकालिक व सार्वभौम हैं। उत्तर से दक्षिण तक, पूर्व से पश्चिम तक सभी भारतीय सम्प्रदायों के मूलतत्त्व वेदों में ही निहित हैं। वस्तुतः वेद ही सभी भारतीयों को एक सूत्र में बाँधते हैं। वे ही भारतीयों के प्रकाशस्तम्भ हैं व भारतीय परम्परा में उन्हें शब्द प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है।

वैदिक साहित्य :-

'वैदिक साहित्य' पद से अभिप्राय है वेद और उससे सम्बद्ध साहित्य। वर्तमान में वेद के नाम से जो साहित्य जाना जाता है उसमें तीन श्रेणियों के साहित्यिक ग्रन्थ सम्मिलित किये जाते हैं–(१) संहिताएं–ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद (२) ब्राह्मण साहित्य–ब्राह्मण ग्रन्थ, जो कि गद्यमय हैं, प्रत्येक संहिता के साथ सम्बद्ध हैं यथा–ऐतरेय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण, जैमिनीय ब्राह्मण, गोपथ ब्राह्मण आदि (३) आरण्यक और उपनिषद् आरण्यक ग्रन्थ ब्राह्मणों के अन्तिम भाग हैं और उनके अंशभूत उपनिषद् ग्रन्थ हैं यथा–ऐतेरय आदि आरण्यक, ब हदारण्यक आदि उपनिषदें। ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों के अतिरिक्त वेदों के साथ एक अन्य प्रकार का साहित्य भी संलग्न है। यह साहित्य वेदांग साहित्य है और वेदांग में मुख्यतः सूत्र साहित्य है। इन सूत्र ग्रन्थों में प्रमुख कल्प–साहित्य है जिसके तीन विभाग हैं–(१) कल्पसूत्र, (२) ग ह्यसूत्र और (३) धर्मसूत्र। कल्पसूत्र के अन्तर्गत ही शुल्वसूत्र भी हैं। श्रौतसूत्रों में बड़े–बड़े यज्ञों का सम्पन्न करने की प्रक्रियाएं वर्णित हैं। ये यज्ञ दैनिक से प्रारम्भ होकर वर्ष पर्यन्त चलने वाले होते थे। ग ह्यसूत्रों में दैनिक और नैमित्तिक

क्रियाएं यथा—जन्म, विवाह, म त्यु आदि के समय किये जाने वाले संस्कार और विधियों के नियम निर्धारित किये गये हैं। धर्मसूत्रों में धार्मिक और धर्मातिरिक्त नियमविधान आदि संग्रहीत हैं। ये धर्मसूत्र ब्राह्मण धर्म को मानने वाले भारतीयों के प्राचीनतम विधिग्रन्थ कहे जा सकते हैं। यद्यपि इस साहित्य को 'वेद' के समान अपौरूषेय नहीं माना जाता और इनका परिगणन वेदांगों में किया जाता है पुनरपि ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् के समान प्रत्येक वैदिक शाखा के साथ उसका अपना कल्पसूत्र, ग ह्यसूत्र और धर्मसूत्र होता था। इस प्रकार प्रत्येक संहिता की प्रत्येक शाखा अपने विशिष्ट ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, कल्प(ग ह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र) से संयुक्त थी। कल्पसूत्रों के समान ही शिक्षा के अन्तर्गत आने वाले प्रातिशाख्य ग्रन्थ भी प थक्—प थक् संहिताओं से सम्बद्ध थे। इनमें से अधिकांश कालकवलित हो गये हैं और कुछ अब भी अवशिष्ट हैं। वैदिक संहिताओं की किसी समय में अनेक शाखाएं विद्यमान रही थीं पर अब तो केवल गिनी—चुनी ही अवशिष्ट हैं।

रचना काल :-

जिस प्रकार वेदों के महत्त्व, उनके गौरव तथा साहित्यिक और सांस्क तिक गरिमा के सम्बन्ध में एक वाक्यता के साथ—ही—साथ मत वैभिन्न्य के दर्शन होते हैं, उसी प्रकार वेदों की रचना काल के सम्बन्ध में भी विद्वानों में अत्यधिक मतभेद पाया जाता हैं। भारतीय परम्परा वेदों को अपौरुषेय, अनादि नित्य तथा कालावच्छिन्न मानती हैं इस द ष्टि से उसके अनुसार वैदिक काल—निर्णय का प्रश्न ही नहीं उठता । वेद ब्रह्म की वाणी के रूप में समाव त हैं अतः उनकी प्राचीनता स ष्टि की प्राचीनता से अनुस्यूत है। पर, आधुनिक युग के विद्वान् वैज्ञानिक आधार पर उक्त विचार को सन्देह की द ष्टि से देखते हैं और वे प्राचीन भारतीय आचार्यों के काल—सम्बन्धी मतों के प्रति श्रद्धा नहीं रखते। वेदों के निमार्ण—काल के सम्बन्ध में अद्यावधि जितने अनुसन्धान हुए हैं उनमें किसी प्रकार की निश्चिन्तता नहीं है। इस विषय में उपलब्ध विभिन्न मतों का संक्षिप्त विवरण यहा प्रस्तुत है—

(१) प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार तो वेदों को अपौरूषेय, अनादि एवं शाश्वत माना गया है। अतः उनका रचना काल निश्चित करने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस मत के अनुसार समाधिस्थ ऋषियों के शुद्ध अन्तःकरण में मंत्रों का प्रादुभार्व हुआ। ये ऋषि मन्त्रों के द्रष्टामात्र थे स्रष्टा नहीं **'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः न स्रष्टारः।'** वेदों की रचना का अर्थ है **'ब्रह्म के निश्वासभूत मंत्रों का ध्यान रूपी नेत्रों द्वारा साक्षात्कार' 'यस्य निश्वसिंत वेदाः'** और **'साक्षात्कृतधर्माणो ऋषयः बभूवुः।**

चिरकाल तक गुरूशिष्य परम्परा से इन मंत्रों का मौखिक रूप से आदान प्रदान होता रहा। इसी कारण इन्हें **'श्रुति'** भी कहा गया। तत्पश्चात् अपने—अपने वर्ण्य विषय एव पुरोहितों (होता, उद्गाता, अध्वर्यु एवं ब्रह्मा) की आवश्यकतानुसार इन मंत्रों को ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद नामक चार संहिताओं में संकलित कर दिया गया।

परन्तु यह मत तर्कयुक्त एवं वैज्ञानिक न होने के कारण न तो आधुनिक भारतीय विद्वानों को और न ही पाश्चात्त्य विद्वानों को मान्य है।

(२) वेदों की तिथि निश्चित करने की दिशा में सर्वप्रथम पाश्चात्त्य विद्वान मैक्समूलर ने प्रयास किया। अपने ग्रंथ **'प्राचीन संस्कृत साहित्य'** में उन्होंने कहा कि बौद्ध—धर्म ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रिया मात्र ही है। बौद्ध धर्म का उदय होने तक सम्पूर्ण वैदिक साहित्य की रचना की जा चुकी होगी। उन्होंने वैदिक साहित्य को (१) छन्द काल (२) मंत्र काल (३) ब्राह्मण काल और (४) सूत्र काल में विभाजित किया।

वेदों का रचना काल निर्धारित करने के लिए मैक्समूलर ने सर्वप्रथम अन्तिम काल—सूत्र काल की तिथि निश्चित की। उन्होंने सूत्र साहित्य और बौद्ध धर्म की उत्पत्ति एवं विकास का एक ही समय माना है। महात्मा बुद्ध का समय ५०० ई॰ पूर्व का है अतः सूत्र साहित्य का समय मैक्समूलर महोदय ने ईसा से ६०० — २०० ई॰ पूर्व का निश्चित किया है। फिर उनके अनुसार ब्राह्मण साहित्य के विकास में कम से कम २०० वर्ष अवश्य लगे होंगे,अतः ब्राह्मण ग्रन्थों का रचना काल ८०० ई॰ पूर्व का रहा होगा। सम्पादन से पूर्व वैदिक मंत्र लोकप्रिय प्रार्थनाओं के रूप में भी प्रचलित रहे होंगे, अतः यह युग १२००

— १००० ई॰ पूर्व का होगा। इस प्रकार मैक्समूलर के अनुसार वैदिक मंत्रों का रचना काल १२०० से १००० ई॰ पूर्व का ही निश्चित होता है।

विद्वानों ने मैक्समूलर के इस मत की यह कहकर कटु आलोचना की है कि वैदिक साहित्य के प्रत्येक अंग के विकास के लिए २०० वर्ष मानना केवल कल्पनामात्र ही है। बाद में मैक्समूलर ने स्वयं अपनी इस त्रुटि को स्वीकार करते हुए स्पष्ट रूप से कहा है कि— We cannot hope to fix a terminus O que-whether the Vedic hymns were composed 1000 or 1500 or 2000 or 3000 years B.C., no power on earth will ever decide."– अर्थात् ''हम वेदों की रचना के समय की सीमा निश्चित करने की आशा नहीं कर सकते। वैदिक मंत्र ईसा से १००० या १५०० या २००० या ३००० वर्ष पूर्व रचे गए थे, प थ्वी पर कोई भी ऐसी शक्ति नहीं है जो इसका कभी भी निर्णय कर सकेगी।''

ह्विटनी (whitney) यद्यपि मैक्समूलर के वैदिक साहित्य सम्बन्धी चार कालों को तो स्वीकार करते हैं किन्तु वेदों का समय २००० से २५०० ई० पूर्व का मानते हैं। केगी (kaegi) भी इसी मत के अनुयायी हैं।

(३) भारतीय विद्वानों में लोकमान्य तिलक प्रथम व सर्वप्रसिद्ध विद्वान् हैं जिन्होंने वैदिक साहित्य पर वर्षों खोज करके भारतीय द ष्टि से उनका विश्लेषण किया। इन्होंने अपनी पुस्तक The Orion में ज्योतिष् विज्ञान को ही आधार माना। इन्होंने विभिन्न नक्षत्रों में वासन्त संक्रान्ति (Vernal Equinox) के आधार पर वैदिक साहित्य को निम्न चार भागों में विभक्त किया—

(१) अदिति काल :-

यह सबसे प्राचीन समय था। इसमें वासन्त संक्रान्ति पुनर्वसु नक्षत्र के समीप था। यह समय ६००० से ४००० ई० पूर्व का है। इसी समय भारतीय सभ्यता का आरम्भ हुआ।

(२) म गशिरा काल :-

यह समय ४००० से २५०० पूर्व का है। यही समय है जबकि ऋग्वेद के, जो कि प्राचीनतम ग्रन्थ है, अधिकांश सूक्त लिखे गए।

(३) कृतिका काल :-

यह समय २५०० से १४०० ईस्वी पूर्व का है। इस समय चारों वेदों का लिपिबद्ध संकलन किया गया। इसी में तैत्तिरीय संहिता तथा अन्य कुछ ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना भी की गई।

(४) अन्तिम काल :-

यह समय १४०० से ५०० ईस्वी पूर्व का है। इसमें सूत्र ग्रन्थों तथा अनेक दार्शनिक ग्रन्थों का निर्माण हुआ। इस युग के अन्तिम भाग में ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रिया के रूप में बौद्ध धर्म का भी उदय हुआ।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर लोकमान्य तिलक ने वेदों का रचना काल ४००० से २५०० ईस्वी पूर्व का निर्धारित किया है। उन्होंने अपनी पुस्तक "The Orian" में लिखा है कि यदि वेदों का रचना काल ४००० ईस्वी पूर्व का मान लिया जाए तो प्राचीन ओर आधुनिक भारतीय और पाश्चात्त्य विद्वानों के परस्पर विरोधी मतों का साम जस्य भी स्थापित किया जा सकता है।

(४) प्रो० जेकोबी ने भी ज्योतिष् गणना के आधार पर ही वेदों का समय ईसा से ४००० से २५०० ईस्वी पूर्व का निश्चित किया है। उन्होनें **'ग ह्यसूत्र'** (वेदांग का एक भाग) का एक विवाह प्रकरण उद्ध त किया है। जिसमें वर वधू को ध्रुव तारे का दर्शन करवाते हुए कहता है कि **'ध्रुव्र तारे के समान तेजस्विनी होते हुए तुम मेरे घर मे स्थित रहो—'ध्रुव इव स्थिरा भव।'** प्रो जेकोबी ने ज्योतिर्विज्ञान के आधार पर गणना करके पता लगाया है कि ध्रुव्र तारे की जिस तेजस्वी स्थिति की उपमा उक्त वाक्य में दी गई है, वह स्थिति लगभग २७०० ईस्वी पूर्व की है। इस आधार पर उनके अनुसार कल्पसूत्रों का समय २७०० ईस्वी पूर्व का निश्चित किया जा सकता है और तदनुसार उन्होंने वेदों का रचना काल

४५०० से २५०० ईस्वी पूर्व का माना है।

(५) भारतीय विद्वान् पण्डित दीनानाथ शास्त्री चुरैट् ने **'वेदकाल निर्णय'** नामक पुस्तक में ज्योतिष् गणना के द्वारा यह सिद्ध किया है कि वेदों का निर्माण काल आज से लगभग तीन लाख वर्ष पूर्व का है। परन्तु यह मत भी परम्परागत मत के समान ही वेदों को अत्याधिक प्राचीन सिद्ध करता है, अतः विद्वानों को मान्य नहीं।

(६) प्रो० हाग ने वेदांग ज्योतिष् का प्रस्तुत पद्य उद्ध त किया हैं जिसमें श्रविष्ठा के आदि में सूर्य और चन्द्रमा के उतर की ओर घूमने का वर्णन मिलता है—

प्रपद्येते श्रविष्ठादौ सूर्यचन्द्रमसावुदक्।
सार्पार्धे दक्षिणार्कस्तु माघश्रावणयोः सदा।।

इस पद्य के आधार पर उन्होंने दो निष्कर्ष निकाले हैं। प्रथम तो यह कि १२०० ईस्वी पूर्व भी भारतीयों का ज्योतिष् ज्ञान अत्यधिक बढ़ा हुआ था और द्वितीय यह कि प्रायः समस्त प्रमुख क्रिया कलापों का समावेश तब तक ब्राह्मण ग्रन्थों में हो चुका था। इस प्रकार प्रो० हाग के अनुसार ब्राह्मण ग्रन्थों का रचना काल १४०० ईस्वी पूर्व का है और ५०० — ६०० वर्ष संहिताओं की रचना के लिए मानकर वेदों का रचनाकाल २०००—१४०० ईस्वी पूर्व का बैठता है।

(७) प्रसिद्ध ज्योतिर्विद शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने शतपथ ब्राह्मण से उद्ध त निम्न पंक्ति के आधार पर कृतिकाओं के पूर्व दिशा में उदित होने का वर्णन किया है जहाँ से अन्य नक्षत्र तो च्युत हो जाते हैं परन्तु कृतिकाएं लेशमात्र भी च्युत नहीं होती—**'एता ह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते, सर्वाणि वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवन्ते'** (२.१.२)।

परन्तु वर्तमान समय में कृतिकाएं कुछ उत्तर की ओर उदित होती हैं। कृतिकाओं की दोनों स्थितियों के समय की गणना करके दीक्षित जी ने निष्कर्ष निकाला है कि कृतिकाओं की जिस अवस्था का वर्णन उक्त पंक्ति में किया गया है, वह अवस्था लगभग ३००० ईस्वी पूर्व में रही होगी। इस आधार पर शतपथ ब्राह्मण का समय ३००० ईस्वी पूर्व का निश्चित किया जा सकता है। वेद उससे भी प्राचीन हैं। अतः उनके अनुसार वेदों का समय ३५०० ईस्वी पूर्व के पश्चात् कदापि नहीं हो सकता।

(८) प्रो० जी० ह्यूसिंग प्राचीन फारसी शिलालेखों में प्राप्त राजाओं के नाम इस प्रकार तोड़ते मरोड़ते हैं कि वे भारतीय राजाओं के नामों में परिवर्तित हो जाते हैं। इनके अनुसार लगभग १००० ईस्वी पूर्व में भारतीय आरमेनिया से अफगानिस्तान आए। ऋग्वेद का रचनास्थल यही अफगानिस्तान है। अपने मत की पुष्टि के लिए वे ऋग्वेद में वर्णित कई द श्यों की तुलना अफगानिस्तान के द श्यों से करते हैं। इस प्रकार जी० ह्यूसिंग के अनुसार वेदों का रचना काल १००० ईस्वी पूर्व का है।

परन्तु प्रो० जी ह्यूसिंग की यह कल्पना कि वेदों की रचना अफगानिस्तान में हुई, बहुत दूरगामी कल्पना प्रतीत होती है। केवल द श्यों की समानता के आधार पर वेदों की तिथि निर्धारित करना उचित नहीं। और अब तो विद्वान् सर्वसम्मति से यह स्वीकार करते हैं कि वेदों की रचना भारत में ही पंजाब प्रदेश में हुई। मंत्रों में वर्णित भौगोलिक स्थिति इस बात को और भी पुष्ट कर देती है।

(६) एशिया माइनर (टर्की) में कुछ म त्तिका फलक प्राप्त हुए हैं जिनमें १४०० ईस्वी पूर्व में हिट्टाइट राजा और मितनी के राजा के मध्य हुए सन्धि पत्रों का उल्लेख है। इनमें दोनों राज्यों के देवताओं के साथ—साथ मित्र, वरूण और इन्द्र का भी उल्लेख हुआ है। अतः प्रो० मेयोर के अनुसार वेदों का रचनाकाल १५०० ईस्वी पूर्व से प्राचीन ही हो सकता है। उन्होंने इन देवताओं को उस आदिकाल का माना है जब आर्य और ईरानी साथ—साथ रहते थे। उनकी भाषा व धर्म भी एक जैसे थे। उनके अनुसार १४०० ई० पूर्व के लगभग ही आर्यो ने मेसोपोटेमिया (आधुनिक इराक), सीरिया और उत्तर पश्चिम भारत में प्रवेश किया। वैदिक ऋचाएं इस विकास की साक्षी हैं।

परन्तु प्रो० मेयोर ने उस आदिकाल के निश्चित समय का निर्देश नहीं किया जब वैदिक ऋचाओं की रचना की गई। उनका मात्र इतना ही कहना कि वैदिक ऋचाओं की रचना १५०० ईस्वी पूर्व से पहले हुई, वेदों का समय निर्धारित करने के लिए पर्याप्त नहीं है। इसके अतिरिक्त आर्य भारत में कहीं

बाहर से नहीं आए क्योंकि उनका मूल निवास स्थान सप्तसिन्धु था। यह बहुत सम्भव है कि वैदिक आर्यो की कोई शाखा भारत से जाकर मितनी में बस गई हो और उसी ने वहा अपने धर्म का प्रचार किया हो जिसके कारण मितनी राज्य के संधिपत्र में इन्द्र, मित्र और वरूण नामक वैदिक देवताओं का भी उल्लेख है। अतः वेदों की रचना १५०० ई पूर्व से कहीं पहले पूर्ण हो चुकी होगी। यादि वादीतोषन्याय से यह मान लिया जाए कि आर्य भारत में ईरान से आए तब भी वे यहां १५०० ईस्वी पूर्व से बहुत पहले ही प्रवेश कर चुके होंगें और उनके यहा प्रवेश करने से बहुत पहले ही वैदिक धर्म और वैदिक देवताओं की कल्पना आर्यो में पूरी हो चुकी होगी। अतः वेदों का रचनाकाल १५०० ई० पूर्व से पहले का ही नहीं अपितु बहुत पहले का है।

(१०) प्रसिद्ध पाश्चात्त्य विद्वान विण्टरनिट्ज ने कहा कि किसी भी प्रमाणिक प्रमाण के अभाव में वेदों का काल निर्धारण करना सम्भव नहीं है। अतः हमारे लिए बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य यही है कि मध्यम मार्ग अपनाया जाए। हम वेदों को न तो अत्यधिक प्राचीन ही मानें और न ही अधिक अर्वाचीन The more prudent course, however, is to steer clear of any fixed dates and to guard against to extremes of stupendously ancient period or a ludicrously modern period." मध्यम मार्ग अपना करे विन्टरनिट्ज ने वेदों का रचना काल १५०० ईस्वी पूर्व का माना है।

यद्यपि विभिन्न विद्वानों ने वेदों की रचना तिथि निर्धारित करने का प्रयत्न किया है तथापि इन सब विचारों के होते हुए भी किसी निष्कर्ष पर पहुच पाना असम्भव है। पाश्चात्त्य विद्वान प्रफेडरिक श्लेगेल ने लिखा है कि सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद है परन्तु इनका समय निश्चित नहीं किया जा सकता। ये उस समय के रचे हुए हैं जहा तक पहुँचने के लिए उपयुक्त साधन नहीं हैं।

वस्तुतः जब विभिन्न मतों में इतने वर्षो का विशाल अन्तर है तो फिर किसी एक निश्चित समय का निर्धारण कैसे किया जा सकता है। परन्तु फिर भी यह सभी विद्वानों को मान्य है कि संसार की प्राचीनतम संहिताए वेद ही है जो श्रुति परम्परा में बहुत समय पूर्व से चली आती रहीं तथा लिपि और लेखक का अविष्कार होने पर ही लिखित रूप में लिपिबद्ध हुई। अतः जबसे लिपि का रूप सामने आया तभी से वेदों के मन्त्रों का संग्रह करने का भी समय माना जा सकता है। रचना काल तो लिपिबद्ध होने से पूर्व का ही हो सकता है। यह अनुमान प्रमाण का साक्ष्य है।

यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि वेदों का रचना काल निर्धारित करने की दिशा में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा ही अधिक प्रयास किया गया है। भारतीय विद्वान् तो अंगुलिगण्य ही हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि अधिकांश भारतीय विद्वान् तो वेदों को अनादि, शाश्वत एवं अपौरूषेय ही मानते हैं। अतः उनकी द ष्टि में तो वेदों की तिथि निर्धारित करने का प्रश्न ही नही उठता और आधुनिक भारतीय विद्वानों पर पाश्चात्त्य विद्वानों का ही प्रभाव परिलक्षित होता है।

ऋग्वेद संहिता :-

निर्विवाद रूप से सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में ऋग्वेद संहिता सबसे प्राचीनतम है जिसे संक्षेप में ऋग्वेद के नाम से जाना जाता है। 'ऋग्वेद-संहिता' का शाब्दिक अर्थ 'ऋचाओं के ज्ञान का संग्रह' है। 'ऋग्वेद' इस समस्तपद के पूर्वपद में प्रयुक्त 'ऋक्' शब्द 'ऋच् स्तुतौ' धातु से निष्पन्न है। इस प्रकार 'ऋक्' या 'ऋचा' का अर्थ 'स्तुति' अथवा 'छन्द में निबद्ध स्तुतिमय रचना' होगा। इसलिए 'ऋग्वेद' का सामान्य अर्थ 'ऋचाओं या स्तुतियों का ज्ञान' हुआ।

शाखा :-

चरणव्यूह के अनुसार, जो सूत्रकाल में एक परिशिष्ट के रूप में निबद्ध किया गया था, ऋग्वेद की पांच शाखाओं का उल्लेख मिलता है - (१) शाकल, (२) वाष्कल, (३) आश्वलायन, (४) शाङ्खायन और (५) माण्डूकेय। इनमें से आश्वलायन और शाङ्खायन शाखाओं के मूल पाठ में कोई भेद नहीं है; शाकल शाखा से इनकी एकमात्र विशेषता यह है कि आश्वलायन शाखा के ८वें मण्डल में ४८वें सूक्त के पश्चात् प्राप्त होने वाले ११ बालखिल्य सूक्तों (८० मन्त्रों) को परिशिष्ट के रूप में स्वीकार

करती है और शाङ्खायन ने भी इन सूक्तों को इसी रूप में स्वीकार किया है किन्तु उनमें से कुछ मन्त्र कम कर दिये हैं। इसलिए पुराणों की पश्चात्कालीन परम्परा में ऋग्वेद की तीन ही शाखाओं - शाकल, वाष्कल, माण्डूकेय - का वर्णन मिलता है। माण्डूकेय शाखा के अपने विशिष्ट पाठ थे - इसका वर्तमान में कोई प्रमाण नहीं मिलता। इस प्रकार विवेचन के लिए ऋग्वेद की दो ही शाखाएं अर्थात् शाकल और वाष्कल उपलब्ध हैं। पीछे की वैदिक परम्परा में इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि वाष्कल शाखा का शाकल शाखा से भेद, ८ अतिरिक्त सूत्रों को स्वीकार करने और प्रथम मण्डल के कुछ सूक्तों को एक प थक् वर्ग के रूप में स्वीकार करने तक, सीमित है। परिणामतः हम कह सकते हैं कि ऋग्वेद की शाकल शाखा का पाठ परम्परा की द ष्टि से सर्वशुद्ध रूप में हमें उपलब्ध है।

विभाजन :-

ऋग्वेद संहिता का विभाजन दो स्थूल रूपों में उपलब्ध होता है। प्रथम विभाजन के अनुसार सम्पूर्ण ऋग्वेद १० मण्डलों में विभक्त है। ये मण्डल विभिन्न संख्या वाले सूक्तों में विभक्त हैं तथा ये सूक्त प थक्-प थक् मन्त्रों में विभक्त हैं। ऋग्वेद के छोटे-से-छोटे सूक्त की मन्त्र संख्या एक और बड़े-से-बड़े सूक्त की मन्त्र संख्या ५८ तक मिलती है। ऋग्वेद के प्रथम तथा दशम मण्डल में सूक्तों की संख्या १९१ है। शेष मण्डलों में सबसे छोटा मण्डल द्वितीय है जिसकी सूक्त संख्या ४३ है। शेष मण्डलों की सूक्त संख्या अनियमित है। दसों मण्डलों की कुल सूक्त संख्या १०१७ है और आठवें मण्डल के बालखिल्य सूक्तों को मिलाकर यह संख्या १०२८ हो जाती है। ऋग्वेद के मन्त्रों का सर्वयोग १०५५२ है। ऋग्वेद का दूसरा विभाजन, अष्टक, अध्याय और वर्गों में किया गया है। इसके अनुसार सम्पूर्ण ऋग्वेद ८ अष्टकों में विभाजित है और प्रत्येक अष्टक का विभाजन ८ अध्यायों में किया गया है। इन अध्यायों का विभाजन वर्गों में है। वर्ग संख्या की द ष्टि से पष्ठाष्टक सबसे बड़ा है जिसमें वर्गों की संख्या सप्तम अष्टक में ११६ और सबसे अधिक सूक्तों की संख्या अष्टम अष्टक में १४६ है। प्रत्येक मण्डल का अनुवाकों में भी विभाजन किया गया था किन्तु इनमें संग हीत सूक्तों और मन्त्रों की संख्या प थक्-प थक् हैं। कुछ अनुवाक केवल मात्र तीन सूक्तों के और बड़े-बड़े अनुवाक १५-१६ सूक्तों के हैं।

ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में ऋषि, देवता और छन्द विषयक सूचना दी हुई होती है। उदाहरणार्थ - ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १६४वें सूक्त के प्रारम्भ में सूक्त के ऋषि, देवता और छन्द के विषय में निम्नांकित सूचना मिलती है - ५२-दीर्घतमा औचथ्यः, ६१-४१ विश्वेदेवाः; ४२ आद्यर्धर्चस्य वाक्, द्वितीयस्य आपः; ४३ आद्यर्धर्चस्य शकधूमः; द्वितीयस्य सोम; ४४ केशिनः (अग्निः सूर्यो वायुश्च) ; ४५ वाक्; ४६-४७ सूर्य; ४८ संवत्सरकालचक्रम्; ४६ सरस्वती; ५० साध्यः; ५१ सूर्यः, पर्जन्याग्नयो वा; ५२ सरस्वान् सूर्यो वा। त्रिष्टुप्; १२, १५, २३, २६, ३६, ४१ जगती; ४२ प्रस्तारपंक्तिः; ५१ अनुष्टुप्। इस सूचना के अनुसार सूक्त की कुल मन्त्र संख्या ५२ है जिनका दर्शन करने वाले ऋषि का नाम दीर्घतमा औचथ्य है। प्रथम मंत्र में ४१वें मन्त्र तक के विश्वेदेवाः देवता हैं। ४२वें मन्त्र की प्रथमार्ध की देवता वाक् है और द्वितीयार्ध के आपः हैं; ४३वें मन्त्र के प्रथमार्ध के देवता शकधूम और द्वितीयार्ध के देवता सोम हैं; ४४वें मन्त्र के देवता केशिनः (अग्नि, सूर्य, वायु) हैं; ४५वीं ऋचा की देवता 'वाक्'; ४६ और ४७वें के देवता सूर्य; ४८वें के संवत्सरकालचक्रम्; ४६वें के देवता सरस्वती; ५०वें के साध्याः; ५१वें का सूर्य अथवा पर्जन्य व अग्नि; ५२वें मन्त्र का देवता सरस्वान् अथवा सूर्य है। इस सूक्त के १२, १५, २३, २६, ३६ और ४१, ४२, ५१ मन्त्रों को छोड़कर शेष मन्त्रों का छन्द त्रिष्टुप् है; १२, १५, २३, २६, ३६ और ४१ जगती छन्द में हैं; ४२वें छन्द प्रस्तारपंक्ति है। ५१वां मन्त्र अनुष्टुप् छन्द में निबद्ध है। इस प्रकार ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में दी हुई ऋषि, देवता और छन्दों की सूची सर्वानुक्रमणिका में दी हुई है।

मण्डलों में विभाजित ऋग्वेद में संग हीत सूक्तों के ऋषियों के अनुसार द्वितीय से सप्तम मण्डल तक ऋग्वेद का प्राचीनतम भाग माना जाता है। इन्हें हम वंशमण्डल भी कह सकते हैं क्योंकि

अधिकांशतः इन मण्डलों में संग हीत सूक्तों के ऋषि एक ही वंश या कुल के थे। इनके ऋषि क्रमशः ग त्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज और वसिष्ठ हैं। इनके वंशज ऋषियों को भारतीय परम्परा मन्त्रों के 'कर्ता' नहीं 'द्रष्टा' मानते हैं। भारतीय परम्परा के अनुसार सम्पूर्ण वेद ईश्वर द्वारा चार ऋषियों को प्रकाशित किये गये। इस परम्परा के अनुसार ऋग्वेद आदि चारों वेदों का प्रकाश क्रमशः अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा ऋषियों के हृदय में हुआ था। तत्पश्चात् सूक्तों के साथ निर्दिष्ट नाम वाले ऋषियों ने उनमें वर्णित ज्ञान का 'दर्शन' किया इसलिए ''ऋषियों मन्त्रद्रष्टारः' ऐसा कहा जाता है। आधुनिक विद्वान् इन ऋषियों को मन्त्र का रचयिता मानते हैं। इन ऋषियों में कई स्त्री ऋषिकाओं के नाम यथा - रोमशा, ह्मवादिनी, लोपामुद्रा, विश्ववारात्रेयी, अपाला आत्रेयी - आदि मिलते हैं। अनुक्रमणिकाओं में दिये गये इन ऋषियों के नाम व्यक्ति विशेष के न होकर वंश के नाम ही परिचायक हैं क्योंकि इनमें से बहुत से ऋषि विश्वामित्र, वसिष्ठ आदि ब्राह्मणों, पुराणों, रामायण और महाभारत में वर्णित हैं। स्वयं ऋग्वेद में यह वर्णित है कि उस समय तक इन ऋषिवंशों की अनेक पीढ़ियां व्यतीत हो चुकी थीं - अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरूत। स देवां एह वक्षति।

आठवें मण्डल में वर्णित सूक्तों में एक पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है जो अन्य वंश मण्डलों की अपेक्षा किसी द ष्टि से कम नहीं है। उनमें से कुछ सूक्तों के मन्त्रों की अन्तिम पंक्ति बार-बार दोहराई गई है। उदाहरणार्थ - 'नभन्तामन्यके समे' ३६, ४० और ४१वें सूक्तों के मन्त्रों के अन्तिम चरण के रूप में विद्यमान है। इसी प्रकार की पंक्तियों के उदाहरण 'विश्वेह देवौ सवनाव गच्छतम्' ; 'सोम सुतं महिषेवाव गच्छथः'; 'प्रजां च धत्तं द्रविणं च धत्तम्'; 'मरुत्वन्ता जरितुर्गच्छथो हवम'; हतं रक्षांसि सेधतममी वाः'; आदित्यैर्यातमश्विना'; 'शचीपत इंद्र विश्वाभि रूतिभिः आदि हैं। तथापि इस कारण हम इन सूक्तों को एक ही वंश के ऋषियों द्वारा निर्मित नहीं कह सकते हैं। यह सत्य है कि आठवें मण्डल में कण्व वंशियों के सूक्तों की संख्या पर्याप्त है पर उनके साथ आंगिरस, आत्रेय और भार्गव तथा कुछ अन्य ऋषिवंशों के सूक्त भी संग हीत हैं। इस मण्डल के कण्व वंशीय सूक्तों के साथ ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ५० सूक्तों में से २८ के साथ एकवंशता प्रतीत होती है क्योंकि इनके ऋषि काण्व हैं। इनमें छन्द और भाव की द ष्टि से कुछ चरण दोहराये भी गए हैं और बहुत से चरण एक जैसे ही हैं। इतना सब होने पर भी इस समय यह निर्णय कर सकना कठिन है कि इन दोनों में से कौन-सा अंश पूर्ववर्ती है और इन्हें क्यों प थक् करके संग हीत किया गया है। यह निश्चित प्रतीत होता है कि इन सूक्तों को पूर्वतः संग हीत वंश मण्डलों के प्रारम्भ और अन्त में जोड़ा गया था।

नवें मण्डल में नाना ऋषियों के सूक्तों का संग्रह है परन्तु उन सबका विषय सोम है। यह सोमरस जहां एक ओर पेय के रूप में वर्णित है वहां एक वनस्पति, चन्द्रमा और एक पूर्ण विकसित देवता के रूप में भी वर्णित है वहां एक वनस्पति, चन्द्रमा और एक पूर्ण विकसित देवता के रूप में भी वर्णित है। इस मण्डल में सोम के लिए 'इन्दु' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। ये दोनों ही शब्द बाद के भारतीय साहित्य में चन्द्रमा के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। ऋग्वेद का यह सोम जिसकी तुलना देवताओं के पेय अम त के साथ की गई है। प्राचीन अवेस्ता में 'हओम' के नाम से जाना जाता था। ऋग्वेद के नवीनतम मन्त्रों का संग्रह प्रथम व दशम मण्डल में किया गया है। इनके ऋषि भी प थक्-प थक् हैं और देवता भी प थक्-प थक् हैं। दोनों मण्डलों में एक ही द ष्टि में आ जाने वाली समानता उनकी सूक्त संख्या १६१ है। यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है किप्रथम मण्डल में संग हीत सारे ही सूक्त नवीन नहीं हैं, यहां तक कि उसके कुछ सूक्त तो भाषा की द ष्टि से ऋग्वेद की प्राचीनतम भाषा के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

ऋग्वेद के अन्त में हमें परिशिष्ट के रूप में ३६ खिल सूक्त मिलते हैं। इनमें वर्णित कुछ विषय तो पौराणिक गाथाओं और वर्णनों की याद दिलाते हैं। उदाहरणार्थ - (१) 'मत डर तू मरेगा नहीं मैं तेरी चारों ओर से रक्षा कर रहा हूं। आए हुए बिच्छू को घन से और सांप को डण्डे से मारता हूं' (२) 'आदित्य के रथ के वेग से और विष्णु के बाहुबल के साथ और गरुड़ के पंखों की गति से हे महान् यश वाले तू भूमिगत हो जा'। (३) 'गरुड़ के गिरने (उतरने) मात्र से तीनों लोक कांप गये और पर्वत,

वन तथा कानन सहित सारी प थ्वी कांप गई'। (४) 'छिप गये हैं चन्द्र और सूर्य जिसमें ऐसा प्रकाशयुक्त आकाश (अब) प्रकाशित नहीं हो रहा है। सब देवता भयभीत हैं और हवा भी गति नहीं कर रही है'। (५) 'हे भद्र सर्प ! तेरा कल्याण हो। हे महाविष तू दूर चला जा। जनमेजय के यज्ञ के अन्त में (कहे गए) आस्तिक के वचन को स्मरण कर'। (६) 'आस्तिक के वचन को सुनकर जो सांप लौट नहीं जाता वह शिंशप व क्ष के फल के समान सिर पर सौ भागों में विदीर्ण हो जाता है।' (७) 'प्रातः काल नर्मदा के लिए नमस्कार है। रात्रि में नर्मदा के लिए नमस्कार है। हे नर्मदे ! तुझे नमस्कार हो; (हे नर्मदे) विष वाले सांप से मेरी रक्षा कर' इसी प्रकार श्री सूक्त के नाम से दिया ११वां खिलसूक्त है जिसकी मन्त्र संख्या २६ है।

पाठ :-

मन्त्रों का जो पाठ स्वराङ्कन सहित हमें उपलब्ध होता है उसे संहिता पाठ कहा जाता है। संहिता नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ भी दो प्रकार के हैं। एक प्रकार के ग्रन्थ वे हैं जिनमें केवल मन्त्र मात्र हैं; उदाहरणार्थ - ऋग्वेद संहिता, शुक्ल यजुर्वेदीय वाजसनेयि माध्यन्दिन संहिता आदि। दूसरे प्रकार के संहिता ग्रन्थ वे हैं जिनमें मन्त्र भाग और ब्राह्मण भाग दोनों साथ-साथ मिश्रित रूप में मिलते हैं यथा - क ष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता, मैत्रायणीय संहिता आदि। संहिता के निर्भुज और प्रत ण ये दो भेद होते हैं। निर्भुज शब्द संहिता का वाचक है परन्तु प्रत ण शब्द पद संहिता का वाचक है। मैक्डानल आदि पाश्चात्य विद्वानों का यह मत है कि जिस रूप में संहिता पाठ हमें अब उपलब्ध है वह बाद में जाकर निर्धारित किया गया था। ब्राह्मण ग्रन्थों में हमें कुछ ऐसी निश्चित सूचनाएं मिलती हैं जिनके अनुसार एक शब्द या शब्द-समूह में वर्णों की निश्चित संख्या का उल्लेख है। उपलब्ध संहिता पाठ के साथ यह संख्या मेल नहीं खाती जिसका कारण सन्धि के परिणामस्वरूप दो स्वरध्वनियों में हो जाने वाले संकोच हैं। इससे यह परिणाम निकाला गया है कि संहिता पाठ को अन्तिम रूप ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना हो जाने के पश्चात् दिया गया होगा। इस संहिता पाठ को सुरक्षित रखने के लिए ८ प्रकार की विक त्तियों का प्रयोग किया जाता था। ये विक त्तियाँ क्रमशः जटा, माला, शिखा, रेखा, ध्वज, दण्ड, रथ और घन थी। ये सभी क्रमपाठ या प्रत ण के आधार पर निर्दिष्ट की जाती हैं। इनमें जटा और दण्ड प्रधान हैं। जटा के अनुसार शिखापाठ होता है और दण्ड के अनुसार माला, रेखा, ध्वज और रथ पाठ होता है। घनपाठ, जटा और दण्ड दोनों का अनुसरण करता है। इनके अतिरिक्त सामान्यतया पदपाठ और क्रमपाठ आदि द्वारा मन्त्र में प्रयुक्त प्रत्येक पद का स्वतन्त्र रूप जाना जा सकता था। उदाहरणार्थ - निम्नांकित संहिता मन्त्र का पदपाठ और क्रमपाठ इस प्रकार लिखा जायेगा -

ओषधय् संवदन्ते सोमे'न सह राज्ञा'।।

यस्मै'क णोति' ब्राह्ममणस्तं राजन्पारयामसि।। (ऋ. १०.१७.२२)

पदपाठ

ओष'धयः। सं। वदन्ते। सोमे'न। सह। राज्ञा'।।

१ २ ३ ४ ५ ६

यस्मै। क णोति। ब्राह्मणः। तं। राजन्। पारयामसि

७ ८ ९ १० ११ १२

क्रम पाठ

ओषधयः सं। सं वदंते। वदंते सोमैन। सोमेन सह।

१ २ २ ३ ३ ४ ४ ५

सह राज्ञा। राज्ञेति राज्ञा

५ ६ ६ ६

यस्मैं क णोतिं। क णोति ब्राह्मणः । ब्राह्मणस्तं। तं राजन्।

७ ८ ८ ६ ६ १० १० ११

राजन् पारयामसि। पारयामसीति पारयामसि।

११ १२ १२ १२

ऋग्वेद की शाकल संहिता का पद पाठ शाकल्य द्वारा तैयार किया गया था। यह कार्य संहिता पाठ के निर्धारित होने के पश्चात् शीघ्र ही सम्पन्न हुआ होगा। संहिता पाठ और पदपाठ की रचना के समकालिक न होने में यह भी एक प्रमाण है कि शाकल्य के पदपाठ में निस्सन्देह भ्रान्तियां विद्यमान हैं जिनकी ओर यास्क ने अपने निरुक्त में इङ्गित किया है। सम्पूर्ण ऋग्वेद में छः मन्त्र ऐसे हैं जिनका शाकल्य ने पदपाठ नहीं दिया है। ऋ. ७.५६ सूक्त मरुत्देवता का है और १२वां मन्त्र 'त्र्य'म्बकं यजामहे सुगन्धि' पुष्टिवर्धन'म्। उर्वारुकमि'व बन्ध'नान्म त्योर्मु'क्षीय माम त'ात्' मरूतों के साथ रुद्र की मिथ्यता के कारण पीछे से जोड़ा गया है। मैक्डानल की सम्मति में इसका कारण यही होगा कि शाकल्य इन मन्त्रों को ऋग्वेद के मूलमन्त्र न मानता होगा।

ऋग्वेद की भाषा के साथ ही विशेषता से ध्यान देने योग्य विषय वैदिक छन्दोविधान है। ये छन्द लौकिक संस्क त साहित्य के पद्यों से अत्यन्त भिन्न हैं। इन वैदिक छन्दों का लौकिक छन्दों में कोई समकक्ष रूप नहीं मिलता। साथ ही साथ लौकिक भाषा में प्रयुक्त होने वाले कुछ छन्द ऐसे भी हैं जिनका वैदिक भाषा में कोई प्रारूप नहीं मिलता। कुछ ऐसे भी वैदिक छन्द हैं जो बाद के साहित्य में पुनः प्रयुक्त हुए हैं। इस अवस्था में इन छन्दों की लय का प्रयोग अधिक कठोरता के साथ हुआ है। सामान्यतया प्राचीन वैदिक छन्दों के चरणों में वर्णों की मात्रा तो निर्धारित थी किन्तु वर्णों की गुरू, लघुता उतनी कठोरता से निर्धारित नहीं थी। वैदिक छन्द ८, ११, या १२ वर्णों वाले चरणों के होते हैं; १५ वर्णों वाले चरणों के छन्दों की संख्या अत्यन्त सीमित है। इन पंक्तियों को पाद कहा जाता था और प्राचीन छन्दों की ये इकाईयां थीं। इन पादों के अन्तिम चार या पांच वर्ण लय की द ष्टि से निर्धारित थे। पुनरपि अन्तिम वर्ण गुरु या लघु हो सकता था। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि ऋग्वेद में प्रयुक्त चार चरण वाले अनुष्टुप् छन्द की एक पाद में से ५, ६ और ७ वर्ण की गुरु लघुता ही निर्धारित थी। इस प्रकार के तीन चरण वाले छन्द का नाम गायत्री था। ऋग्वेद में अनुष्टुप् की अपेक्षा गायत्री छन्द अधिक लोकप्रिय था। यह संहिता पाठ में प्रथम दो चरणों को मिलाकर एक पंक्ति के रूप में लिखा जाता था। त तीय चरण द्वितीय पंक्ति के रूप में प थक्तया लिखा जाता था। उदाहरणार्थ गायत्री छन्द में निबद्ध ऋग्वेद १.१.१. के तीन चरण इस प्रकार हैं - अग्निमीळे पुरोहितम्। यज्ञस्य देवम त्विजम्। होतारं रत्न धातमम्। इसका संहिता पाठ प्रथम दो चरणों को जोड़कर एक पंक्ति के रूप में इस प्रकार लिखा जाएगा - अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवाम त्विजम्। होतारं रत्नधातमम्। पांच चरणों वाले पंक्ति और महापंक्ति छन्द जिनमें क्रमशः आठ वर्णों वाली ५ और ६ पंक्तियां होती थीं संख्या में बहुत कम प्रयुक्त हुए हैं। ११ वर्णों वाले त्रिष्टुप् छन्द के एक चरण में चार या पांच वर्णों के पश्चात् यति होती थी और अन्तिम चार वर्ण अर्थात् ८, ६, १०, ११वां ह्रस्व, दीर्घ रूप में नियत थे। ११वें वर्ण की ह्रस्वता तथा दीर्घता ऐच्छिक थी। ऐसी ही क्रमबद्धता जगती छन्द के चरण में विद्यमान थी। इसके भी प्रथम चार व पांच वर्णों के पश्चात् यति होती थी तथा अन्तिम पांच वर्ण गुरु, लघु के क्रम से निर्धारित थे। निम्न उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायेगी -

अस्य वामस्य' पलितस्य होतुस्तस्य भ्रात'ा मध्यमो अस्त्यश्न'ः।

त तीयो भ्राता घ तप ष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्वपतिं सप्तपुत्रम्।।

(ऋ. १. १६४।)

ooo।। ooo-U-U

ooooo।। oo-U-U

प चपादं पितरं द्वादशाक तिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे पळर आहुरर्षितम्।।
(ऋ० १. १६४. १२)

oooo।। ooo-U-U-U

ooooo।। oo-U-U-U

कुछ छन्दों में प थक्-प थक् वर्णों वाले चरणों का प्रयोग होता था और इस प्रकार के मिश्रित छन्द नए नामों से अभिहित किए गए हैं। उष्णिक् और ब हती छन्द इस प्रकार के छन्दों के उदाहरण हैं जिनके पादों में ८ या १२ वर्ण होते थे। ऋग्वेद में कुल मिलाकर २० प्रकार के छन्द गिनाए गए हैं। इनमें से मुख्य के नाम इस प्रकार हैं - गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, ब हती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती, शक्वरी, अष्टि आदि।

ऋग्वेद का संहिता पाठ अन्य संहिताओं तथा शतपथ और तैत्तिरीय ब्राह्मण के समान स्वराकित रूप में उपलब्ध होता है। वेद को धार्मिक पवित्रता की कोटि प्राप्त हो जाने के बाद यह आवश्यक था कि उसका उच्चारण शुद्ध रूप में किया जाए। इसके लिए सस्वर पाठ का ज्ञान अभीष्ट था। वैदिक स्वर संगीतात्मक था और सामान्यतया एक पद में एक ही वर्ण उदात्त होता था। शेष वर्ण अनुदात्त होते थे और उदात्त के पश्चात् आने वाले प्रथम अनुदात्त पर स्वरित का चिह्न (।) दिया जाता था। उदात्त से पूर्ववर्ती अनुदात्त को एक अधोरेखा (-) से चिह्नित किया जाता था। यथा-स्वधया। स्वरित के पश्चात् आने वाले अनुदात्त वर्णों के नीचे अधोरेखा तब तक चिह्नित नहीं की जाती थी जब तक कि उस अनुदात्त वर्ण के तुरन्त बाद में कोई उदात्त वर्ण न आता हो। ऋग्वेद में उदात्त ध्वनि पर किसी प्रकार का चिह्न निर्दिष्ट नहीं किया जाता था। यद्यपि पाणिनि के समय तक वैदिक भाषा की संगीतात्मकता भाषा में भी विद्यमान थी पर शनैः-शनैः आगे चलकर इसका लोप हो गया। लौकिक संस्क त साहित्य की समकालीन बोलचाल की भाषाओं में सस्वरोच्चारण का कोई चिह्न नहीं रहा था।

विषय वस्तु :-

ऋग्वेद संहिता की विशाल मन्त्र राशि में बहुत से विषय वर्णित हैं। जैसा कि ऋग्वेद के नाम से ही स्पष्ट है। इसमें विभिन्न देवों की स्तुति की गयी है। सामान्यतः हम ऋग्वेद के सूक्तों को तीन स्थूल वर्गों में विभक्त कर सकते हैं :- (१) धार्मिक सूक्त, (२) दार्शनिक सूक्त, (३) लौकिक सूक्त।

ऋग्वेद के अधिकांश सूक्त धार्मिक हैं जिनमें विभिन्न देवताओं की स्तुतियाँ प्रस्तुत की गयी हैं। ऋग्वेद की विषय वस्तु के ज्ञान के लिए ऋग्वेद में वर्णित कुछ मुख्य देवों के स्वरूप का ज्ञान अपेक्षित है।

ऋग्वेद के मुख्य देवताओं के स्वरूप पर विचार करने पूर्व उनके सामान्य स्वरूप और वर्गीकरण के विषय में विचार आवश्यक है। ऋग्वेद में वर्णित देवों कुछ ऐसी सामान्य विशेषताएं हैं कि प्रत्येक की प थक् प थक् रूप रेखा निर्धारण करना बहुत कठिन होता है। ऋग्वेद के सभी देवता हमारे सामने मानवीय आक ति में उपस्थित होते हैं। उनका उज्ज्वल वर्ण स्वर्णमय है, उन्होंने स्वर्ण के आभूषण धारण किये हुए हैं, वे स्वर्णिम रथ पर बैठकर हमारे सामने आते हैं, वे शक्तिशाली हैं और नाना ऐश्वर्यो के स्वामी हैं, अपनी स्तुति करने वाले गायक को वे उसकी इच्छानुरूप ऐश्वर्य प्रदान करते हैं। इनमें से बहुत से देवताओं के वर्ग भी एक जैसे वर्णित किए गए हैं - जैसे सूर्य, उषस् और अग्नि; तीनों ही ज्योतिषमान् हैं, तीनों ही अन्धकार को दूर हटाते हैं और तीनों का आविर्भाव प्रातःकाल के समय होता है। इस प्रकार इन देवताओं का परस्पर पार्थक्य और भी कम द ष्टिगोचर होता है जब विभिन्न देवता एक ही प्राक तिक द श्य या घटना के नानाविध पक्षों से सम्बद्ध बताये जाते हैं। परिणामतः उनकी सामान्य विशेषताएं जैसे प्रकाशमत्ता, शक्तिमत्ता, वदान्यता और प्रज्ञाशालिता एक ही रूप में वर्णित रहती है। यास्क के अनुसार देवों का द श्य रूप एकान्ततः मानवीय नहीं है - 'अपुरुषविधाः

स्युरित्यपरम्। अपि तु यद्द श्यते पुरुषविधं तत्। यथा ग्निर्वायुरादित्यः प थिवी चन्द्रमा इति। कुछ इस प्रकार की सामान्य विशेषताएं हैं जो छोटे और बड़े सभी देवताओं में एक समान रूप से वर्णित की गई हैं। उदाहरण के लिए स्वर्ग और प थिवी को स्थिर रखने का कार्य जैसे इन्द्र आदि देवताओं का बताया गया है उसी प्रकार वह दर्भ और कुशा के साथ भी जोड़ा गया है। यथा - जो पैदा होते हुए प थिवी को द ढ़ रखता है और जिसने द्युलोक और अन्तरिक्ष लोक को धारण किया हुआ है तथा धारण करने वाले जिस दर्भ को पापी नहीं जानता है वह यह दर्भ हमारा अधिवक्ता और रक्षक हो। लगभग एक दर्जन देवताओं को दोनों लोकों की स ष्टि करने वाला बताया गया है। इससे भी अधिक संख्या वाले बहुत से देवता सूर्य को उत्पन्न करके उसे आकाश में स्थिर रखते हैं और उसके लिए द्युलोक में भ्रमण का मार्ग तैयार करते हैं। इसी प्रकार अग्नि, इन्द्र, पर्जन्य, पूषन्, सविता और सूर्य आदि अनेक देवता चर, अचर के स्वामी बताये गये हैं।

अधिकांश देवताओं में इस प्रकार के सामान्य गुण-वर्णन ने उनके व्यक्तिगत विशिष्ट गुणों को अस्पष्ट बना दिया है। अधिकांश स्तुति सूक्तों में देवताओं के इन्हीं सामान्य गुणों को विशेष महत्त्व के साथ वर्णित किया गया है। इसलिए प्रक ति के नानाविधि रूपों और पक्षों से सम्बद्ध होने पर भी जब उन देवताओं के सामान्य गुण एक जैसे हैं तो ये सभी देवता एक दूसरे के समीप द ष्टिगोचर होते हैं। अग्नि जो अपने प्रधान रूप में प थिवी स्थानीय है अपने प्रकाश से अन्धकार के दैत्य को नष्ट करता है तो अन्तरिक्ष स्थानीय इन्द्र अपनी शक्ति विद्युत् द्वारा व त्र रूपी दैत्य का नाश करता है। इस प्रकार अग्नि देव सम्बन्धी कल्पना में अन्तरिक्षस्य विद्युत् अग्नि में प्रविष्ट हो जाता है। देवताओं के इस एकीकरण की प्रक्रिया में उन्हें कभी-कभी युग्म रूप में वर्णित किया जाता है। इस प्रकार दोनों का साहचर्य स्थापित हो जाने पर एकाकी वर्णन में भी दूसरे सहचारी के गुण उसमें निक्षिप्त रहते हैं। उदाहरणार्थ इन्द्र के साथ वर्णित होने वाले अग्नि में इन्द्र के सोमपान, व त्र की हत्या, गौ, जल और सूर्य का विजेत त्व आदि गुणों को आरोपित कर दिया गया है।

प्रत्येक वैदिक देवता में सामान्य रूप से इन सब गुणों के मिल जाने के कारण रूपरेखा की अनिश्चितता उत्पन्न हो गई और इस प्रकार सभी देवताओं को सभी शक्तियों से सम्पन्न कहकर उनका वर्णन किया गया। साथ ही विशिष्ट गुणों के निराक त हो जाने से देवताओं में तद्रूपता की स्थापना द ढ़ होती चली गयी। इस प्रव त्ति का निदर्शक ऋग्वेद का निम्न मन्त्र है - त्वमग्ने वरुणो जायसे यत् त्वं मित्रो भवसि यत् समिद्धः। त्वे विश्वे सहसस्पुत्रदे वास्त्वमिन्द्रो दाशुषे मत्यिय अर्थात् हे अग्नि ! जन्म से तुम वरुण हो, प्रदीप्त हो जाने पर तुम मित्र हो, हे शक्ति के पुत्र ! तुझ में सभी देवता केन्द्रित हैं, तू हवि प्रदान करने वाले यजमान के लिए इन्द्र है। पुरोहितों की द ष्टि में अग्नि अत्यन्त महत्वपूर्ण देवता है क्योंकि प थिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में वह क्रमशः व्यक्तिगत अग्नि, वैद्युत् अग्नि और सूर्य में प्रवर्तमान अग्नि के रूप में द ष्टिगोचर होता था। याज्ञिकप्रक्रिया के अपने पूर्ण रूप में विकसित होने तक अग्नि नाना रूप से यथा - निर्मथ्याग्निः, आह्वनीयाग्निः, समिद्धा ग्निः द्रविणोदाग्नि, वैश्वानरो ग्निः, शुचिराग्निः, जातवेदो ग्निः आदि में स्तुत है। अग्नि के माहात्म्य का एक कारण और भी था कि वह देवताओं तक उनका हविर्भाव पहुंचाता था। एक ही देवता को नाना रूप में देखने का यह स्वाभाविक परिणाम था कि विभिन्न देवता एक ही दिव्य सत्ता के विविध रूप हैं। ऋग्वेद के निम्नलिखित मन्त्र में यह एकरूपता स्पष्टतः वर्णित है - 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो' दिव्यः स सु पर्णो गुरुत्मान्। एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः इसी प्रकार का भाव ऋग्वेद के इस मन्त्र में भी विद्यमान है - सुपर्ण विप्राः कवयो वचोभिरेकंसन्तं बहुधा कल्पयन्ति। स्पष्ट है कि ऋग्वेद के वर्तमान रूप में संकलित होने तक प्रारम्भ में द ष्टिगोचर होने वाला बहुदेववाद एकैकाधिदेववाद की प्रक्रिया में से निकलता हुआ एकेश्वरवाद में परिणत हो रहा था। निश्चय ही ऋग्वेद में सर्वदेववाद का आरम्भिक रूप मिलता है क्योंकि 'देवता' सभी देवताओं का ही मूल नहीं था अपितु सम्पूर्ण प्रक ति का प्रतिनिधि था। उस देव में सब देवताओं के साथ मानव, सब भूत और भविष्य पदार्थ, अन्तरिक्ष लोक, द्युलोक और स्वर्गलोक भी समाहित थे। ऋग्वेद में मिलने वाले अदिति और प्रजापति के वर्णन इस बात के

साक्षी हैं :-

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः प च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्।।
प्रजापते न त्वदे तान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत् कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्।।

ऋग्वेद के प्राचीनतर भागों में देवता का आह्वान उसके प्राक तिक रूप में किया गया है। शनैः-शनैः उसमें देवत्य का आधान करके उसे सर्वशक्तिशाली और सर्वोच्च देवता का रूप प्रदान किया गया। अभी हम आगे चलकर देखेंगे कि किस प्रकार एक ही देवता प थक्-प थक् स्थान पर इन नाना रूपों में वर्णित है। इसलिए कभी-कभी विभिन्न देवताओं की शक्ति एक-दूसरे से कम और अधिक रूप में वर्णित है। इन्द्र की महिमा गान के समय सूर्य और वरुण इन्द्र के अधीन कहे गये हैं। वरुण और अश्विनौ विष्णु के आगे नतमस्तक रहते हैं। इन्द्र, मित्र, वरुण, अर्यमा और रुद्र, सविता देव के नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकते। ऋग्वेद में देवताओं का आह्वान एकाकी रूप में, युगल रूप में, त्रयी में और कभी-कभी सामूहिक रूप में किया गया है। विश्वेदेवा सूक्तों में - जिनकी संख्या ऋग्वेद में पर्याप्त है - सभी देवताओं को जिनमें छोटे देवता भी सम्मिलित हैं - एक साथ आहूत किया गया है।

ऋग्वेद के देवताओं के विषय में एक अन्य तथ्य ध्यान देने योग्य यह है कि उनका वर्णन कभी-कभी स्वर्ग और प थिवी के अपत्यों के रूप में किया गया है और कभी-कभी दूसरे देवताओं के अपत्य के रूप में भी किया गया है। इससे यह स्पष्ट परिणाम निकलता है कि देवताओं की अनेक पीढ़ियों और 'पूर्वे देवाः' का प्रयोग ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में विद्यमान है। ऋग्वेद के १०.७२.२-३ में देवों के पूर्व्य युग और प्रथम युग की बात कही गयी है।

यह पहले कहा जा चुका है कि प्राक तिक शक्तियों का मानवीकरण करके उन्हें देवता के रूप में वर्णित किया गया है। उनका शारीरिक ढांचा यद्यपि मानवीय है किन्तु उनका यह रूप कुछ-कुछ छायात्मक-सा है। प्रायः यह पता चल जाता है कि शारीरिक अवयव उनके प्राक तिक आधार के पक्ष विशेष के प्रतिरूप हैं। उदाहरणार्थ उनके सिर, मुख, कपोल, आँखें, बाल, कन्धे, वक्षस्, उदर, भुजाएं, उंगलियों का वर्णन उपलब्ध है। इन्द्र और मरुद्गण जैसे देवताओं के सिर, वक्षस्, हाथ और बांहों का उल्लेख हुआ है। इन्द्र तो अनेक स्थानों पर वज्रबाहु और वज्रहस्त के रूप में वर्णित हैं। सूर्य की भुजाएं उसकी किरणें हैं, उसके नेत्र तो उसका भौतिक रूप है। अग्नि की जिह्वा और उसके अवयव उसकी लपटों के प्रतिनिधि हैं। इन्द्र के उदर का वर्णन उसके अत्यधिक सोमपान को दर्शाने के लिए किया गया है।

कुछ देवताओं को वस्त्रों से अलंक त रूप में वर्णित किया गया है। उषा के वर्णन में उसके चमकीले वस्त्र पहनने की बात बार-बार कही गयी है। युद्धालु देवता शरीर पर कवच और सिर पर शिरस्त्राण पहने हुए हैं ऐसा वर्णन मिलता है। ऊपर जैसे इन्द्र के हाथ में वज्र होने का वर्णन किया गया है उसी प्रकार कुछ अन्य देवताओं के लिए भालों, कुल्हाड़ियों और धनुष बाण तक का उल्लेख मिलता है। सभी देवता अपने-अपने रथ में बैठकर यात्रा करते हैं और उन सभी के रथ ज्योतिर्मय हैं। सामान्यतया सभी के रथ में घोड़े जोते जाते हैं पर पूषा के रथ को खींचने वाले बकरे हैं। मरुद्गण के रथ को चितकबरे हरिण और घोड़े, पूषा के रथ को गाय और घोड़े और अश्विनौ के रथ में रासभों के भी होने का वर्णन आया है।

ये सभी देव यज्ञों में अपने-अपने रथों में बैठकर आते थे। इन सबको सोमपान अभीष्ट था। इनके प्रिय भोजन में अन्न और मांस दोनों ही सम्मिलित हैं। देवताओं के निवास के विषय में नानाविध वर्णन है। कभी उन्हें स्वर्ग में, कभी त तीय स्वर्ग में और कभी विष्णु के परम पद में निवास करता हुआ

बताया गया है। वहां सामान्यतया ये देवगण सोमपान में मस्त होकर आनन्द का जीवन व्यतीत करते हैं।

ऋग्वेद में वर्णित देवताओं का चरित्र नैतिक है। सामान्यतया सभी देवता सच्चे हैं और धोखे से दूर हैं। प्रायः सभी देवता सच्चाई के मित्र और संरक्षक हैं। दुष्ट कर्म करने वालों को उनके क्रोध का शिकार बनना पड़ता है। देवताओं में सबसे बढ़कर नैतिकता का पालन करने वाले, अपराधियों और पापियों को दण्ड देने वाले देवता वरुण और आदित्यगण हैं। वरुण विषयक स्तुतियों का मुख्य प्रयोजन ही पाप से छुटकारा प्राप्त करना है। नैतिकता का उच्च मापदण्ड वैदिक साहित्य की सभ्यता की प्राचीनता की ओर संकेत करता है पर यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि वैदिक देवताओं के गुणों में शक्तिमत्ता का सबसे अधिक महत्त्व है।

ऋग्वेद के देवताओं की संख्या नाना स्थानों पर कभी तैंतीस और कभी-कभी तीन हजार तीन सौ उनतालीस तक पहुंच गयी है। परन्तु अधिकांश में यह संख्या ३३ के रूप में रहती है। इन्हें द्युलोक, प थिवी और अन्तरिक्षवासी माना गया है। ऋग्वेद के तीन विभागों का अनुसरण करके यास्क ने भी विभिन्न देवताओं को प थिवीस्थानी, अन्तरिक्षस्थानी और मध्यमस्थानी माना है। ऋग्वेद के एक मन्त्र को आधार मानकर यास्क के पूर्ववर्ती कुछ नैरुक्त तीन ही देवता मानते थे। देवताओं की संख्या चाहे अलग-अलग मानी गयी हो पर उनके स्वरूप के बारे में एक तथ्य स्पष्ट होकर सामने आता है। यास्क ने इसे इस रूप में समझाया है - प्रत्येक देवता के अपने-अपने क्रियाकलाप के कारण अनेक अभिधान हैं, जैसे कि एक ही व्यक्ति के यज्ञकार्य में प थक्-प थक् कार्य सम्पादन करने की अवस्था में होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा ये नाम पड़ जाते हैं। कुछ नये देवताओं का विकास इसी कारण हुआ है। प्रजापति, त्वष्टा, विश्वकर्मा, सविता आदि नाम इसी कोटि के हैं। यद्यपि ऋग्वेद में एक-दो स्थलों पर देवताओं को महान्, लघु, युवा और व द्ध कहा गया है पर अन्यत्र यह भी वर्णित है कि उनमें न कोई बच्चा है और न कोई कुमार है, सभी देवता महान हैं। इतना होने पर भी इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि ऋग्वेद में सबसे बढ़कर दो देवताओं का प्राधान्य रहा है : एक तो युद्धजयी नेता इन्द्र और दूसरा नैतिकता का अधिष्ठाता वरुण। इन दोनों के बाद यज्ञ के दो देवता अग्नि और सोम प्रधान हैं। इनके विषय में निर्मित सूक्तों की संख्या के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये दोनों भी ऋग्वेद के सर्वाधिक लोकप्रिय देवताओं में से हैं।

यद्यपि मानवीकरण की प्रक्रिया को वर्गीकरण का आधार बनाया जा सकता है तथापि मानवीकरण के स्तर के मध्य एक विभाजक रेखा खींचना सरल नहीं है। इसीलिए देवताओं के स्वरूप पर विचार करते हुए देवताओं के प्राक तिक आधार का सहारा लेकर ही देवताओं का वर्गीकरण करना अधिक बोधगम्य रहता है। परम्परा से देवताओं का यह विभाजन प थिवीस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय और द्युस्थानीय देवताओं के रूप में किया गया है। विभिन्न देवताओं के स्वरूप का विवेचन प्रस्तुत है : -

अग्नि :-

प थिवी स्थानीय देवताओं में अग्नि प्रमुख देवता हैं। इन्द्र के बाद वैदिक देवताओं में अग्नि का ही स्थान है। ऋग्वेद में लगभग २०० सूक्तों में प थक् रूप से उसकी स्तुति की गई है। अग्नि शब्द भौतिक अग्नि का भी बोधक है। अग्नि के शरीरावयवों से भौतिक अग्नि-विशेषतया यज्ञाग्नि-के भिन्न पहलुओं का द्योतक होता है। यास्काचार्य द्वारा अग्नि की चार निरुक्तियाँ दी गई हैं।

कुछ विद्वानों ने इसे अंग-अंग (जाना) से भी निष्पन्न माना है। पाश्चात्य विद्वान् मैक्डॉनल ने इसे अज्-गतौ से निष्पन्न माना है। कुछ विद्वानों ने इसे नी-ले जाना से निष्पन्न माना है क्योंकि यह देवताओं तक हवि ले जाता है।

आधिभौतिक पक्ष में अग्नि का अर्थ साधारण अग्नि है, आधिदैविक पक्ष में इसका अर्थ अग्नि देवता है व आध्यात्मिक पक्ष में अरविन्द घोष के अनुसार इसका अर्थ '**शरीर को उष्ण रखने वाला**

प्राणतत्त्व है'।

अग्नि को द्विमात (दो माताओं वाला) कहा गया है क्योंकि इसकी उत्पत्ति दो समिधाओं के घर्षण से होती थी। कहीं-कहीं इसे तीन माताओं वाला (त्र्यम्बक) भी कहा गया है। कुछ विद्वानों के अनुसार ये माताएँ द्यु, अन्तरिक्ष और प थ्वी हैं क्योंकि द्यु में यह सूर्य रूप में, अन्तरिक्ष में विद्युत रूप में व प थ्वी पर वनस्पति रूप में विद्यमान है। परन्तु तार्किक द ष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि दो अरणियों के घर्षण से उत्पन्न जो चिनगारी सूखे पत्तों या तिनकों पर गिर कर अग्नि उत्पन्न करती है, उसे भी इसकी माता के रूप में मानकर इसे '**त्र्यम्बक**' कह दिया गया। दस अंगुलियों द्वारा प्रज्वलित किए जाने के कारण इसे दस युवतियों की सन्तान भी कहा गया है। अरणियों के घर्षण में बल की आवश्यकता होती है अतः इसे बल का पुत्र भी कहा गया है - '**सहसः सुनुः**'। वडवानल रूप में यह जल से भी उत्पन्न होता है - '**अपां नपात्**'।

वनों का भक्षण करना, अन्धकार नष्ट करना, देवताओं को यज्ञ में लाना और उनके लिए आहुतियों का वहन करना अग्नि के प्रमुख कार्य है। यह देवताओं और मनुष्यों के बीच दौत्यकर्म सम्पादित करता है - '**अग्निर्वै देवानां होता**'। अग्नि द्वारा रक्षित यज्ञ ही देवताओं तक पहुँचाता है-

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि।

स इद्देवेषु गच्छति।। (ऋग्वेद १.१.४)

घी से अग्नि का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह घ तमुख, घ तचक्षु, घ तप ष्ठ, ध तकेश व घ तलोम है। कहीं-कहीं तो घी को इसका निवास ही बतलाया गया है - 'घ तमस्य धाम'। अग्नि को सप्तजिह्वा वाला भी कहा गया है (ऋक् ३.६.२) जो अग्नि की सात प्रकार की लपटों का सूचक है (तुलनीय १.२.४)। अपने तेज जबड़ों द्वारा वनों का भक्षण करने के कारण अग्नि को '**तीक्ष्ण दंष्ट्र', प्रकाशमयी** लाल ज्वालाओं से युक्त होने के कारण '**शुचिदन्**' और '**रुक्मदन्त**' सांय-सांय करती हुई लपटों के कारण रम्भाता हुआ बैल, तीव्रगति वाला होने के कारण श्येन व गरुड़, धुएँ रूपी स्तम्भ के कारण **धूम्रकेतु** व उषाकाल में प्रज्वलित किए जाने के कारण **उषर्बुध** भी कहा गया है।

वस्तुत अग्नि की लपटें ही उसका रथ हैं अतः यह स्वाभाविक ही है कि वह रथ प्रदीप्त, उज्ज्वल, प्रकाशमान्, स्वर्णिम और सुन्दर हो। अग्नि का मानव जीवन के साथ बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध था। सारे ग हकार्य अग्नि द्वारा ही सम्पन्न किए जाते थे। भोजन पकाने के लिए, प्रकाश के लिए, शीत से बचने के लिए एवं जंगली पशुओं को डराने के लिए वैदिक आर्यों को अग्नि की आवश्यकता थी। इस प्रकार दैनिक कार्यों में प्रयोग किए जाने के कारण इसे '**ग हपति**' वरेण्य अतिथि एवं मनुष्य का मित्र, पुत्र, पिता, माता व भ्राता भी कहा गया है। अग्नि द ष्टा, यज्ञकेतुः (यज्ञ का सूचक) सत्य (यजमानों को यज्ञ का फल अवश्य देने वाला), अङ्गिरः (अंगारों से युक्त), राजा, गोपा (रक्षक), दाता, कवि क्रतुः (क्रान्तदर्शन से युक्त), अजिर (पुरातन), नेता, पावक, व त्रहा (व त्र का वध करने वाला), प्रचेता, चित्रश्रवस्तमः (विविध कीर्तियों से युक्त) वैश्वानर (सबका हित करने वाला) व नाराशंस है। वह अपने यजमानों को सुख, सम द्धि, यश, अभ्युदय व वीर पुत्र प्रदान करता है। (ऋग्वेद १.१.३)।

इन्द्र :-

ऋग्वेद के लगभग चतुर्थांश सूक्तों (२५०) में इन्द्र का वर्णन किया गया है - ये सूक्त किसी भी देवता के निमित्त कहे गये सूक्तों से सर्वाधिक हैं। वह वैदिक भारतीयों का प्रियतम राष्ट्रीय देवता है। आर्यों के इस सर्वप्रधान देव का स्वरूप क्या था यह अनिश्चित है। यह तो प्रायः सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है कि इन्द्र के स्वरूप का विकास किसी प्राक तिक घटना या शक्ति से हुआ है। परन्तु वह घटना या शक्ति कौन-सी है इसके विषय में मतभेद विद्यमान हैं। कुछ की द ष्टि में वह तूफान का देवता है और उसका युद्ध जिस व त्र के साथ हुआ है वह व त्र मेघ है। कुछ अन्य इसे वायु में रहने वाली विद्युत् शक्ति के रूप में देखते हैं, कुछ इसे सूर्य के रूप में देखते हैं। इसके व त्र के मारने के

वर्णन को आधार बनाकर इन्द्र विषयक बहुत सी ऋचाओं की रचनाएं हुई। इसका मानवीय विकास अन्य सभी वैदिक देवताओं की अपेक्षा अधिक निखरा हुआ है। इसकी अनेक शारीरिक विशेषताओं का उल्लेख किया गया है - इसके शरीर, सिर, भुजाएं हाथ और उदर हैं।

यास्काचार्य ने 'इन्द्र' की निम्न निरुक्तियाँ दी हैं :-

(१) '**इरां द णाति**' या '**इरां दारयते**' अर्थात् जो अनाज (इरा) को बीज रूप में अंकुरित करने के लिए तोड़ता है। वस्तुतः कुछ विद्वानों द्वारा इन्द्र वर्षा का देवता माना गया है तो कुछ विद्वानों ने इसे सूर्य भी माना है। वर्षा और सूर्य दोनों ही बीज को अन्न रूप में अंकुरित करते हैं।

(२) **इरां ददाति, दधाति, धारयते वा** अर्थात् जो अन्न देता है या धारण करता है।

(३) **इन्दवे द्रवति** - जो सोमरस के लिए दौड़ता है।

(४) **इन्दौ रमते** - जो सोमरस में आनन्दित होता है।

कुछ विद्वानों ने इसे इद्-इन्द् - स्वामी होना से निष्पन्न मानकर इसकी व्याख्या इस प्रकार की है - '**इन्द छत्रूणां दारयिता वा द्रावयिता वा**' अर्थात् जो सबका स्वामी होता हुआ शत्रुओं को नष्ट करने वाला या भगाने वाला है।

आधिभौतिक पक्ष में इन्द्र का अर्थ जल है, आधिदैविक पक्ष में इन्द्र देवता है तथा आध्यात्मिक पक्ष में इन्द्र का अर्थ मन है। गोपथ ब्राह्मण में भी स्पष्ट रूप से कहा गया है - **यन्मनः स इन्द्रः।** शरीर के समस्त अंगों में मन की प्रधानता है तथा वह सभी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का राजा है।

कहीं द्यौ को इन्द्र का पिता माना गया है - '**द्यौरिन्द्रस्य कर्ता**' तो कहीं देवशिल्पी त्वष्टा को भी इसका पिता माना गया है। निष्टिग्री को इसकी माता कहा गया है - '**निष्टिग्रयः पुत्रमा च्यावतोतय इन्द्रम्**' (ऋग्वेद १०.१०१.१२)। सायणाचार्य के अनुसार अदिति ही निष्टिग्री है। वह जन्म से ही शत्रुरहित व दुर्जेय है - '**अशत्रुरिन्द्र जशिषे**'।

इन्द्र के शरीर के विभिन्न अवयवों का उल्लेख हुआ है। वह स्वयं भूरे रंग का है (हरि) तथा उसके बाल और दाढ़ी भी भूरी हैं। इसका शरीर बहुत गठला और बलशाली है। वह सुशिप्र (सुन्दर ठोडी वाला) व लोहे जैसी शक्तिशाली व वज्र के समान मजबूत भुजाओं (वज्रबाहुः) वाला है। इन्द्र अपनी इच्छानुसार रूप धारण कर सकता है - '**यथावशं तन्वं चक्र एषः**' (ऋग्वेद ३.८४.४) और '**इन्द्रो मायाभिः पुरूरूप ईयते**' (ऋग्वेद ६.४७.१८)। वज्र इन्द्र का विलक्षण अस्त्र है जो देवशिल्पी त्वष्टा द्वारा बनाया गया - '**त्वष्टास्मै वज्रं स्वयं ततक्ष।**' यह वज्र धातु या स्वर्ण का है। कहीं-कहीं यह पत्थर का बना हुआ भी कहा गया है। यह शतपर्व (सौ जोड़ों वाला) तथा सहस्रभ ष्टिः (सहस्त्रों नोंकों वाला) है। यह ध्यातव्य है कि पुराणों में वज्र व त्रासुर वध के लिए विश्वकर्मा ने ब्रह्मा के आदेश पर दधीचि की अस्थियों से बनाया था। वेद में वज्र का इन्द्र के साथ इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि '**वज्र**' शब्द से बने हुए विशेषण इन्द्र के लिए ही प्रयुक्त होते हैं। जैसे वज्रहस्त, वज्रबाहु, वज्रभ त, वज्रिन् इत्यादि। ऐसा प्रतीत होता है कि बिजली गिरने की क्रिया को ही वज्रपात कहा गया है क्योंकि इन्द्र के चित्र में वज्र की आक ति बिल्कुल वही होती है जो बिजली के लिए बनाई जाती है। कभी-कभी वह धनुष व बाण भी धारण करता है - ''**आ बुन्दं व त्रहा ददे**''।

इन्द्र का रथ दो घोड़ों (हरी) द्वारा खींचा जाता है - '**युक्ष्वा मदच्युता हरी**' किन्तु कभी-कभी यह संख्या हजार या ग्यारह सौ तक पहुँच जाती है। यह रथ स्वर्णिम है तथा मन की गति से भी तेज चलता है - **यस्ते रथो मनसो जवीयानेन्द्र तेन सोमपेयाय याहि** (ऋग्वेद १०.११२.२)। इन्द्र की शक्ति अतुलित है अतः इसे शक्र, शचीपति या शचीवान् भी कहा गया है। सैंकड़ों क्रियाओं से युक्त होने के कारण इसे शतक्रतु एवं सम द्ध होने के कारण मधवन् या वसुपति भी कहा गया है।

सोम का इन्द्र के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन्द्र जैसा सोमपाता अन्य कोई देवता नहीं है - '**इन्द्र इत्सोमपा एकः**'। तीव्र सोमलिप्सा के कारण इसने इसकी चोरी भी कर डाली - '**आमुष्या**

सोममपिबः'। यह इसकी आत्मा है - '**आत्मेन्द्रस्य भवसि**'। सोमपान करके यह अनेक ओजस्वी कार्य करने के लिए प्रेरित होता है। आध्यात्मिक पक्ष में इन्द्र यदि मन है तो सोम आनन्द। मन और आनन्द का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

इन्द्र समस्त संसार का एकमात्र शासक है - '**एक ईशान ओजसा**'। इसी ने कांपती हुई प थ्वी व पर्वतों को टिकाया, अन्तरिक्ष का निर्माण किया और आकाश को स्तम्भित किया। इसी ने सूर्य व उषा को उत्पन्न किया और यही जल का भी नेता है - यः सूर्य य उषसं जजान यो अपां नेता। इसके समान कोई भी दिव्य या पार्थिव न तो उत्पन्न हुआ है और नहीं उत्पन्न होगा - **न त्वावां अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते।** इन्द्र का सबसे महत्त्वशाली और शौर्यपूर्ण कार्य व त्र का वध करना है। इसी कारण '**व त्रहा**' विशेषण मुख्य रूप से इन्द्र के लिए ही प्रयुक्त होता है। परन्तु **यह व त्र कौन है** इस विषय में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत दिए हैं। यास्काचार्य के अनुसार '**व त्र**' मेघ का प्रतीक है। यह शब्द व अ्-आवरणे से निष्पन्न है। यह मेघ जल को रोके हुए थे। इन्द्र ने उस रुके हुए जल को वर्षा के रूप में बरसाया। लोकमान्य तिलक के अनुसार इन्द्र सूर्य है और व त्र हिम है। उत्तरी ध्रुव में अत्यधिक शीत के कारण जब सारी नदियाँ जम जाती हैं तो वसन्त कालीन सूर्य अपने ताप से हिम पिघलाकर उसे नदी रूप में प्रवाहित करता है। ऋग्वेद के १०.८९.२ में भी सूर्य को ही इन्द्र कहा गया है - ''**स सूर्यः .... इन्द्रः।**'' ऐतिहासिकों के अनुसार व त्र वस्तुतः एक ऐतिहासिक राजा था जिसका वध इन्द्र ने किया। कुछ विद्वानों ने व त्र को अंधकार माना है जो सर्वत्र व्याप्त था। तब इन्द्ररूपी सूर्य ने उस अंधकार का नाश कर दिया। पौराणिक आख्यानों के अनुसार व त्र नामक राक्षस गायों को चुराकर ले गया और इन्द्र ने उसका वध कर उन्हें मुक्त करवाया।

वास्तव में व त्र एक आवरक शक्ति का प्रतीक था। व त्र को ऋग्वेद में शुष्ण, नमुचि, पिप्रु, अहि, शम्बर, उरण आदि नाम से भी अभिहित किया गया है। व त्रवध के महान् कार्य में मरुत् इन्द्र के सहायक बने। अतः इन्द्र को '**मरुत्वान्**' भी कहा गया है।

इन्द्र वैदिक आर्यों की युद्ध में भी रक्षा करता है। उसके बिना योद्धा युद्ध में विजय प्राप्त नहीं कर पाते - '**यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो**'। वरुण, अग्नि, मरुत्, वायु, सीम, विष्णु, ब हस्पति और पूषन् के साथ इन्द्र का निकटतम सम्बन्ध है। अवेस्ता के **वेरेथ्रघ्न** की तुलना वैदिक इन्द्र से की जा सकती है। यहाँ इसे विजय का देवता ही माना गया है।

यह ध्यातव्य है कि वैदिक इन्द्र का स्वरूप पौराणिक काल में पूर्ण रूप से परिवर्तित हो गया। पुराणों में यह देवताओं का अधिपति बन गया। वहाँ शची को इसकी पत्नी व जयन्त को उसका पुत्र बतलाया गया है। उसे अपना सिंहासन छिन जाने का भय निरन्तर बना रहता है क्योंकि सौ यज्ञ कर लेने वाला मनुष्य इन्द्र के सिंहासन पर आसीन होने योग्य बन जाता है। इसी कारण पुराणों में इन्द्र द्वारा अनेक मुनियों की तपस्या भंग किए जाने का उल्लेख बार-बार मिलता है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इन्द्र हमेशा ही एक महत्त्वपूर्ण देवता के रूप में स्वीकार किया गया है चाहे वह वैदिक इन्द्र हो या पौराणिक इन्द्र।

विष्णु :-

यद्यपि ब्राह्मण ग्रन्थों तथा पुराणों में विष्णु सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण देवता है तथापि ऋग्वेदी में इस देवता की स्तुति केवल पाँच सम्पूर्ण सूक्तों तथा कुछ सूक्तांशों में ही हुई है। परन्तु महिमा की द ष्टि से विष्णु का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह व्याप्त्यर्थक विष् से निष्पन्न है क्योंकि व्याप्ति की भावना ऋग्वेद में सदा विष्णु के साथ विद्यमान रही है। इसी कारण इसके तीन विसत त पगों में सभी लोकों का निवास बतलाया गया है - **'यस्योरुषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा'** (ऋग्वेद १.१५४.२)। मैक्डॉनल ने इसे विश्-क्रियाशील होना से निष्पन्न माना है। तदनुसार विष्णु वह है जो बहुत अधिक क्रियाशील है। इसी कारण सम्भवतः उसे एवयावन् (तीव्रगति वाला) कहा गया है। अरविन्द घोष के

अनुसार आध्यात्मिक द ष्टि से '**विष्णु समस्त संसार का व षभ है जो शक्ति की सभी ऊर्जाओं और विचारों के समूह का भोग करने वाला और उन्हें उत्पन्न करने वाला है।**''

विष्णु का वर्णन अत्यन्त विशाल शरीर वाले युवा के रूप में किया गया है - '**ब हच्छरीरो विमिमान ऋक्वभिर्युं वा कुमारः प्रत्येत्यावहम्** (ऋग्वेद १.११५.६)। सूर्य और उषस् की भाँति वह प्राचीन भी है और नवीन भी - '**यः पूर्व्याय वेधसे नव्यसे सुमज्जानये विष्णवे ददाशति'।**

तीन पद (त्रीणि विक्रमणानि) ही विष्णु के चरित्र की प्रमुख विशेषता हैं। इसी कारण इसे त्रिविक्रम और उरुक्रम कहा गया है। सब विद्वान् इस बात पर एकमत हैं कि विष्णु के ये तीन पद सूर्य के पथ का बोध कराते हैं। अधिकांश पाश्चात्य विद्वान् और यास्काचार्य के पूर्ववर्ती और्णवाभ के अनुसार ये तीन पद सूर्य के उदय, मध्यान्ह और अस्त के बोधक हैं। दूसरे मत के अनुसार जो मैक्डॉनल को अभिप्रेत है, इन तीन पदों से सूरज के तीनों लोकों - प थ्वी, अन्तरिक्ष और द्यु लोक में होकर जाना ही सूचित होता है। आचार्य शाकपूणि के अनुसार इन तीन पगों से परमात्मा के तीन रूप सूचित होते हैं - प थ्वी पर अग्नि रूप, वायुमण्डल में विद्युत रूप तथा स्वर्ग में सूर्य रूप। अरविन्द घोष के अनुसार आध्यात्मिक पक्ष में विष्णु के तीन क्रमण - प थ्वी, आकाश और परमलोक हैं जिनके आधार प्रकाश, सत्य और सूर्य हैं।

वस्तुतः विष्णु के तीनों पग परम आनन्दमय हैं - '**यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति**'। (ऋग्वेद १.१५४.४)। परन्तु इनमें से तीसरा सर्वोच्च पद विष्णु का प्रिय धाम है - '**तद्विष्णोः परमं पदम्**'। दिव्यत्व के अभिलाषी मनुष्य यहाँ आनन्दित होते हैं - '**नरो यत्र देवयवो मदन्ति**' (ऋग्वेद १.१५४.५)। यही मधु का उत्स है - '**विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः'** (ऋग्वेद १.१५४. ५)। देवता भी यहीं आनन्द का अनुभव करते हैं - '**यत्र देवासो मदन्ति'** । यह पद मनुष्यों की पहुंच से तथा पक्षियों की उड़ान से परे है।

गति विष्णु की विशेषता है। यह उरुगाय, उरुक्रम, विक्रम, तीव्रजवस् व एवयावन् है। ऋग्वेद के १.१५५.६ में उसके लिए कहा गया है कि एक परिभ्रमणशील चक्र के समान उसने नब्बे घोड़ों को उनके चार नामों के साथ गति प्रदान की। यहाँ नब्बे घोड़े नब्बे दिन के व चार नाम चार ऋतुओं के सूचक हैं। इस उक्ति का संकेत सौर वर्ष के ३६० दिनों से है।

विष्णु अन्तर्यामी हैं क्योंकि उसे गर्भ का रक्षक कहा गया है - '**विष्णुं निषिक्तपाम्'**। गर्भ स्थिर करने के लिए भी उसका आह्वान किया गया है - '**विष्णुर्योनि कल्पयतु**'। विष्णु के चरित्र की दूसरी प्रधान विशेषता है - इन्द्र के साथ मित्रता। ६.६६ यह पूरा ही सूक्त संयुक्त रूप से दोनों देवताओं के लिए अभिहित किया गया है। व त्र वध में, शम्बर के निन्यान्वे किलों को तोड़ने में तथा गायों को बन्धन से मुक्त करवाने में विष्णु ने इन्द्र की सहायता की। इन्द्र के सहायक मरुत् भी विष्णु के मित्र बन गए।

विष्णु उदार हैं, सुक त्तर हैं तथा वरिष्ठदाता है। जो विष्णु के प्रति पूर्ण रूप से आत्मसमर्पण कर देता है, वह निश्चय ही अभीष्ट की प्राप्ति करता है - '**नू मर्तो दयते सनिष्यन् यो विष्णव उरुगायाय दाशत्**' (ऋग्वेद ७.१००.१)। यह ध्यातव्य है कि विष्णु सूर्य का प्रतिरूप है और आध्यात्मिक पक्ष में सूर्य (प्रकाश) ज्ञान का प्रतीक है। इसी कारण विष्णु (सूर्य) से सुबुद्धि प्रदान करने की भी प्रार्थना की गई है - **त्वं विष्णो सुमति विश्वजन्यामप्रयुतामेवयावो मति दाः'** (ऋग्वेद ७.१००.२)।

यद्यपि ब्राह्मण ग्रन्थों और पुराणों में विष्णु का रूप पूर्ण रूप से परिवर्तित हो गया तथापि इनका स्रोत ऋग्वेद ही प्रतीत होता है। पुराणों में विष्णु के दशावतार का बहुधा उल्लेख हुआ है जिनके बीज वेद में ही प्राप्त होते हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों में विष्णु को सर्वोच्च पद प्राप्त हो गया और पुराणों में उन्हें पुरुषोत्तम माना गया। पुराणों में उन्हें शेष नाग पर शयन करते हुए वर्णित किया गया है जो वक्षस्थल पर कौस्तुभमणि व हाथ में चक्र धारण करते हैं। गरुड़ उनका वाहन है।

यह निश्चित ही है कि वेदों में और वेदोत्तरकाल में भी विष्णु की महिमा अनन्त है - **न ते विष्णो जायमानो न जातो देव महिम्नः परमन्तमाप** (ऋग्वेद ७.६६.२)। वह महान् से भी महान् है - '**तवसस्तवीयान्**'। इन्हीं सब कारणों से स्वामीदयानन्द ने विष्णु की व्याख्या सर्वव्यापी ईश्वर के रूप में की है।

उषस् :-

उषस् वैदिक कवियों की सबसे मनोरम कल्पना है। उषा सम्बन्धी सूक्त ऋग्वेद के उत्क ष्ट काव्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। द्युस्थानीय इस देवी की स्तुति ऋग्वेद के लगभग २० सूक्तों में हुई है।

यास्काचार्य ने उषा की व्युत्पत्ति उच्छ्-विवासे से मानी है अर्थात् जो अंधकार का नाश करती है जबकि पाश्चात्त्य विद्वान् मैक्डॉनल ने इसे वस्-चमकना से निष्पन्न माना है। आधिभौतिक पक्ष में उषा प्रातः काल आकाश में व्याप्त होने वाली लालिमा है। आधिदैविक पक्ष में यह उषा देवी है व आध्यात्मिक पक्ष में अरविन्दघोष के अनुयार '**यह मनुष्य की भौतिक चैतन्य के प्रति दिव्य दीप्तियों के अभिनव द्वार का प्रतीक है।**' वस्तुतः उषा मनुष्य के अन्दर विद्यमान नवस्फूर्ति, नवचेतना, नवीन आशा व उत्साह की सूचक है।

प्रकाश और सौन्दर्य की देवी उषा के मानवीकरण की अपेक्षा उसका भौतिक रूप ही अधिक द ष्टिगोचर होता है। इसे आकाश की पुत्री कहा गया है जो प्रकाश के वस्त्रों से आव त होकर पूर्व दिशा में प्रकट होती है - '**एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि ज्योतिर्वसाना समना पुरस्तात्**'' (ऋग्वेद १.१२४.३)। दिव्य वस्त्रों से अलंक त यह एक नर्तकी के समान दिखाई देती है - ''**अधि पेशांसि वपते न तूरिव**'' (ऋग्वेद १.६२.४)। यह हिरण्यवर्णा है तथा पुरातन होते हुए भी नवयुवती है - '**पुराणी देवि युवति।**' (ऋग्वेद ३.६१.१)।

उषा का सूर्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसे सूर्य की पत्नी कहा गया है - '**सूर्यस्य पोषा**' एवं '**स्वसरस्य पत्नी**'। अतः यह नित्य सौभाग्यवती है। लेकिन कहीं-कहीं इसके विपरीत सूर्य से पहले उदित होने के कारण यह उसकी माता भी कही गई है। सूर्य की यात्रा के लिए उसने मार्ग प्रशस्त किए - ''**आरैक् पन्थां यातवे सूर्याय**'' (ऋग्वेद १.११३.१६)।

उषा रात्रि का अन्धकार दूर कर स्वर्ग के द्वार खोलती है - '**वि द्वाराव णवो दिवः**'' (ऋग्वेद १.४८.१५)। सभी जीवों को यह कार्य करने के लिए जगाती है - ''**विश्वं जीवं चरसे बोधयन्ती**'' (ऋग्वेद १.६२.६)। इसके आने पर पक्षी चहचहाने लगते हैं व फुर्र करके घोंसलों में उड़ जाते हैं - '**उत्पातयति पक्षिणः**'। केवल नास्तिक और आलसी व्यक्तियों को यह सोता हुआ छोड़ देती है। यह सबकी प्राण और जीवन रूप बतलाई गई है - '**विश्वस्य हि प्राणनं जीवनं त्वे**'। (ऋग्वेद १.४८.१०)। यह प्रतिदिन निश्चित समय व निश्चित स्थान पर प्रकट होकर प्रक ति के नियमों का उल्लंघन नहीं करती। इसी कारण इसे '**ऋतावरी**' और '**ऋत की पत्नी**' (ऋतस्य योषा) कहा गया है।

वस्तुतः उषा की किरणें ही उसका रथ हैं। प्रकट होती हुई उषा की किरणें लाल रंग की होती हैं जो शनैः-शनैः स्वर्णिम हो जाती हैं। इसी कारण इसके घोड़ों को लाल व इसके रथ को स्वर्णिम बतलाया गया है। उषा के घोड़े सुनियन्त्रित और प्रभूत बलशाली हैं (ऋग्वेद ३.६१.३)।

उषा और रात्रि दोनों बहिनें हैं। इन दोनों का नाम युगल रूप में '**नक्तोषासा**' या '**उषसानक्ता**' एक साथ दिया गया है।

उषा मघोनी, रेवती (घनवती), विश्ववारे (सब के द्वारा वरणीय), सुदसा (शुभ कर्मों वाली), वाजिनी (अन्नवती), प्रचेता (प्रक ष्ट ज्ञानवती), सुभगा (सौभाग्यवती), अमर्त्या, हिरण्यवर्णा, भास्वती, युवती आदि विशेषणों से अलंक त की गई है। यह उदार है व अपने उपासकों को विपुल धन देती है क्योंकि यह स्वाभाविक ही है कि ब्रह्म मुहूर्त में उठने वाला व्यक्ति परिश्रमी ही होगा।

मैक्डॉनल ने इसे रोम की औरोरा (Aurora) और ग्रीक की एओस् (Eos) का सजातीय माना

है।

सोम :-

सोम का ऋग्वेद के प्रमुख देवताओं में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसका महत्त्व इसी बात से प्रकट होता है कि ऋग्वेद का सम्पूर्ण नवम मण्डल इसी के लिए अर्पित है। छः सूक्त अन्य मण्डलों में भी आए हैं। वैदिक देवताओं में महत्त्व की द ष्टि से सोम का स्थान त तीय है।

वस्तुतः ऋग्वेद में सोम का द्विविध रूप प्राप्त होता है। एक तो पार्थिव पौधे और लता के रूप में तथा दूसरा देवता के रूप में। पौधे के रूप में यह प थ्वी स्थानीय देवता माना जाएगा जबकि देवता के रूप में यह द्युस्थानीय देवता बन जाता है। सोम की व्युत्पत्ति सु से हुई है जिसका अर्थ है पीसकर निकाला हुआ रस। स्वामी दयानन्द ने सोम को सु-उत्पन्न करना से व्युत्पन्न मानकर इसका अर्थ उत्पन्न जगत् किया है। ऋग्वेद के १.२२.१ में इन्होंने सोमस्य का अर्थ '**स्तोतम्यस्य सुखस्य**' किया है जबकि १.३२.३ में इन्होंने सोम का अर्थ रस ही करते हुए कहा है - '**सूयते उत्पद्यते यस्तं रसम्**'। अनेक स्थलों पर इन्होंने इसका अर्थ औषधिरस या महौषधिरस भी किया है। अरविन्द घोष ने आध्यात्मिक पक्ष में सोम का अर्थ - '**अमरत्व की परमानन्द रूपी मदिरा का स्वामी**' किया है। इस प्रकार आधिभौतिक पक्ष में सोम पार्थिव पौधा है, आधिदैविक पक्ष में सोम देवता है व आध्यात्मिक पक्ष में यह दिव्य एवं अलौकिक आनन्द है।

सोम के सन्दर्भ में वैदिक ऋषियों के मन में इसकी कल्पना एक पौधे के रूप में ही अधिक थी। अतः न तो अन्य देवताओं के समान इसका मूर्तिकरण ही हो पाया और न देवता के सद श इसकी उपासना की जा सकी। सोम का रस निकालने के लिए प्रायः इसके तन्तु (अंशु) को पत्थर से कुचला अथवा दबाया जाता था - **आ सोम सुवानो आद्रिभिः** (ऋग्वेद ६.१०७.१०)। फिर उस रस को छलनी में ढाल कर पवित्र किया जाता था और द्रोण नामक पात्रों में इसे एकत्रित किया जाता था। इस प्रकार पवित्र किए गए सोम को पवमान अथवा पुनाव (स्वच्छ होकर बहने वाला) कहा जाता था। सोम सेवन के लिए व उसे परिष्क त करने के लिए दस अंगुलियों की आवश्यकता होती थी। अतः सोम का दस युवतियों द्वारा परिष्क त किए जाने का वर्णन भी है - '**म जन्ति त्वा दश क्षिपः**'।

द्रोण में रखकर सोम में जल मिलाया जाता था। इसके अतिरिक्त उसे दूध, दही व जौ में भी मिलाया जाता था। इसी कारण गवाशिर् (दूध मिश्रित), अध्याशिर् (दही मिश्रित) तथा यवाशिर् (जौ मिश्रित) होने के कारण उसे 'त्र्याशिर्' कहा गया है।

सोम के पौधे का और तदनुसार सोम देवता का रंग भूरा (बभ्रु) लाल (अरुण) और सर्वाधिक बार हरा (हरि) बतलाया गया है। ऋग्वेद में सोम के तीन सवनों का उल्लेख है। वस्तुतः सोम के तीनों मिश्रणों में जल अवश्य डाला जाता था अतः सोम का जल से निकट सम्बन्ध था। उसे जल का नायक एवं वर्षा का शासक कहा गया है - '**ईशे यो व ष्टेः ... अपां नेता**'। सोम को वन में गरजने वाला व षभ कहा गया है **व षाव चक्रदद्वने'**। सम्भवतः यहाँ सोम के नशे से प्रभावित मनुष्य की अतुलित शक्ति अभिप्रेत हो। अपने क्षिप्र प्रवाह के कारण इसे अश्व भी कहा गया है - '**हरि नदीषु वाजिनम्**' (ऋग्वेद ६.६३.१७)। यहाँ यह भी सम्भव है कि शरीर में तीव्रता से व्याप्त होने वाले सोमपान के प्रभाव का वर्णन किया गया हो।

अनेक स्थलों पर सोम को सारे संसार का शासक '**विश्वस्य राजा**' कहा गया है। इसकी शक्ति अतुलित है। यह सूर्य का प्रकाशक (**एष सूर्यमरोवयत्**), दुष्टों का वध करने वाला (**अघशंसहा**), दोनों लोकों का उत्पादक (**जनिता रोदस्योः**), महान् अद्वितीय योद्धा, राक्षसों को भगाने वाला (**रक्षोहन्**), अपने हाथों में भयंकर और तीक्ष्ण आयुध धारण करने वाला (**सहस्रभ ष्टिः**) व अपने उपासकों को गाय, घोड़े, रथ, स्वर्ण, प थ्वी, भोजन, पशु आदि (ऋग्वेद ६.४५.३) प्रदान करने वाला है। इन सब वर्णनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सोम केवल पार्थिव लतामात्र ही हर्नी है बल्कि एक महान् द्युस्थानीय देवता भी है।

सोम स्वयं अमर है अतः अमरत्व प्रदान करने वाला है। देवताओं ने भी अमरत्व प्राप्त करने के लिए इसका पान किया - '**त्वां देवासो अम ताय कं पपुः**' (ऋग्वेद ६.१०६.८) यह मनुष्यों को भी अमरत्व देता है - '**अपां सोमम ता अभूमागना ज्योतिरविदाम देवान्**' (ऋग्वेद ८.४८.३)। वस्तुतः यदि सोम उचित मात्रा में नियमित रूप से लिया जाए तो बहुत स्वास्थ्यप्रद है। सम्भवतया इसी कारण इसकी भेषज्यमयी शक्ति का उल्लेख बहुत बार हुआ है। यह आयु पढ़ाता है - '**प्र ण आयूषि तारीर्**' तथा अन्धों को द ष्टि व लंगड़ों को चलने की शक्ति प्रदान करता है - ''**विभक्ति विश्वं यत्तुरम्। प्रेमन्धः ख्यत् निः श्रोणो भूत्**'' (ऋग्वेद ७.८६.२)। सोमपान हृदय से पापों को नष्ट कर सत्य बढ़ाता है क्योंकि नशे में मनुष्य प्रायः सत्य ही बोलता हुआ देखा जाता है। यह वाणी को भी प्रेरित कर स्फूर्तिमय बनाता है - **अयं मे पीत उदियर्ति वाचम्** (ऋग्वेद ६.४७.३)। इसी कारण इसे वाक्पति '**पतिं वाचः**' व वाणी का नायक '**वाचो अप्रिय**' भी कहा गया है।

वैसे तो सोम सभी देवताओं का प्रिय पेय पदार्थ है परन्तु इन्द्र की तो यह आत्मा ही है - '**आत्मेन्द्रस्य भवसि**'। (इसका विस्त त वर्णन इन्द्र की टिप्पणी में किया जा चुका है)। केवल एक स्थल पर ही सोम को '**भूजवत् पर्वत**' पर उत्पन्न होने वाला कहा गया है - '**सोमस्येव मौजवतस्य भक्षः**' (१०.३४.१) '**पर्वताव धृ**' और गिरिष्ठा विशेषण भी सोम की उत्पत्ति ऊँचे स्थान पर होना ही पुष्ट करते हैं। यद्यपि सोम एक पार्थिव पौधा है परन्तु उत्कोश पक्षी इसे स्वर्ग से प थ्वी पर लाया - '**श्योनो यदन्धो अभरत् परावतः**' (ऋग्वेद ६.८३.२)।

सोमपान का प्रभाव मनुष्य के मस्तिष्क पर बिल्कुल वैसा ही होता है जैसे एक विक्षिप्त मनुष्य का पागलपन चन्द्रमा से घटने-बढ़ने के साथ सम्बन्धित है। सम्भवतया इसी कारण परवर्ती साहित्य में सोम चन्द्रमा का पर्यायवाची बन गया। परन्तु यह ध्यातव्य है कि वैदिक सूक्तों में इसे केवल एक पेय के रूप में एवं कुछ वर्णनों में एक देवता के रूप में ख्याति प्राप्त है।

सोमोपासना का इतिहास भारोपीय काल से सम्बन्ध रखता है क्योंकि अवेस्ता का '**हओम'** सब प्रकार से वैदिक सोम से समानता रखता है।

सम्भवतः वर्तमान युग का खसखस (poppy seeds) जिसकी अद्भुत भैषज्यमयी शक्तियों का पूर्ण ज्ञान तो वैदिक ऋषियों को नहीं था परन्तु उन्होंने उसके सेवल के अद्भुत परिणामों का अनुभव किया, वैदिक काल का सोम हो। इसकी अद्भुत शक्तियों के कारण ही इसे देवता के रूप में मान्यता प्राप्त हो गई। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि मधु मिश्रित सोम अश्विनीकुमारों को अर्पित किया जाता था जिन्हें देवताओं का वैद्य माना गया है। मधु, दूध और घी दोनों का बोधक है। दूध में मिला खसखस ठंडाई के रूप में ग्रीष्म ऋतु में अम ततुल्य है तो घी के साथ मिश्रित किए जाने पर शीत ऋतु में। इसकी पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि सोम को हरा, भूरा और लाल कहा गया है। भांग हरे रंग की होती है तो अफीम भूरे रंग की और अंगूर का रस लाल रंग का। चूंकि इन तीनों के प्रभाव मादक पेय रूप में एक ही प्रकार के होते हैं, अतः वेद में सम्भवतया इन्हें समकक्ष मानकर एक ही नाम '**सोम**' से सम्बोधित कर दिया गया हो।

कहा जाता है कि प्राक तिक शक्तियों की भयंकरता अथवा उनकी उपयोगिता से प्रभावित वैदिक ऋषियों ने इन्हें देवता मान लिया। सम्भवतया इसी कारण सोम की भी गणना प्रमुख देवताओं में की गई।

वरुण :-

वरुण भी ऋग्वेद के महानतम देवताओं में से एक है यद्यपि इसकी स्तुति केवल १२ सूक्तों में ही हुई है। लगभग २४ सूक्तों में इसका आह्वान संयुक्त रूप से मित्र के साथ भी किया गया है क्योंकि मित्र और वरुण का घनिष्ठ सम्बन्ध है (मित्रावरुणौ)।

सायणाचार्य ने वरुण शब्द की व्युत्पत्ति व -आवरणे से मानकर इसका अर्थ ''**पापियों को बन्धन से परिवेष्टित करने वाला या बाँधने वाला किया है**।'' कहीं-कहीं उन्होंने वरुण की व्याख्या

इस प्रकार भी की है - '**जो संसार को अंधकार से आव त्त करता है।**' यास्काचार्य ने वरुण का निर्वचन व ृ-वरणे से किया है क्योंकि वरुण सज्जनों का वरण करता है - '**वरुणः व णोतीति सतः**'। परन्तु दुर्गाचार्य ने इसे अन्तरिक्ष स्थानीय देवता मानकर इसकी व्याख्या इस प्रकार की है - '**आव णोति ह्ययं मेघजालेन वियत्**' अर्थात् जो अपने बादलों के समूह से आकाश को व्याप्त कर देता है। पाश्चात्त्य विद्वान् मैक्डॉनल, कीथ आदि विद्वानों ने भी '**आकाश**' को ही वरुण माना है। पाश्चात्त्य विद्वान् ओल्डेनबर्ग के अनुसार चन्द्रमा ही वरुण है। प्रो० हिलोब्राण्ड्ट को भी यह मत अभिप्रेत है। प्रो. ओल्डेनबर्ग के अनुसार मित्र और वरुण क्रमशः सूर्य और चन्द्रमा हैं परन्तु इसकी पुष्टि का कोई आधार ऋग्वेद में प्राप्त नहीं होता।

कुछ विद्वानों ने वरुण को रात्रि का देवता माना है। उनके अनुसार मित्र का सम्बन्ध सूर्य से व वरुण का सम्बन्ध रात्रि से है। सम्भवतया इसी आधार पर पश्चिम दिशा को जहाँ सूर्यास्त होता है, वारुणी दिशा के नाम से भी पुकारा गया है और सम्भवतः इसी आधार पर कि वरुण रात्रि के प्रारम्भ होने का सूचक है, ओल्डेनबर्ग ने भी वरुण को चन्द्रमा मान लिया हो। कुछ विद्वानों ने वरुण को वर्षा का देवता माना है क्योंकि जल से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। ऋग्वेद के ५.६३ में इसकी अनुपम वर्षा शक्ति का वर्णन किया गया है। वरुण को सूर्य मान लेने पर भी कोई असंगति प्रतीत नहीं होती क्योंकि वरुण के चमकीले परिधान का उल्लेख अनेक बार प्राप्त होता है - '**विभ्रत द्रापिं**'। यह वरुण रूपी सूर्य का स्वर्णिम परिधान भी हो सकता है। उसका रथ भी स्वर्णिम तथा द्युतिमान् है। वरुण को सुपाणि व अपने द्युतमान् पाँवों द्वारा कपट दूर करने वाला कहा गया है - **स माया अर्चिना पदा स्त णात्** (ऋग्वेद ८.४१.८)। इससे सूर्य का अपनी किरणों द्वारा अन्धकार को दूर किए जाने का संकेत है। इस प्रकार वरुण को सर्वव्यापी आकाश, रात्रि का देवता, व ष्टि का नायक व सूर्य का समरूप भी माना जा सकता है। अरविन्द घोष के अनुसार आध्यात्मिक पक्ष में '**वरुण सर्वोच्च आवरक आकाश है आत्मा को घेरने वाला समुद्र, आकाशीय प्रभुत्व और अनन्त व्याप्ति है।**''

शारीरिक द ष्टि से वरुण के मुख, आँख, पैर तथा भुजाओं का वर्णन किया गया है। वह दूरदर्शी है। उसके हाथ सुन्दर व विशाल हैं (सुपाणि एवं प थुपाणि) वरुण के घर की भी कल्पना की गई है जो स्वर्णनिर्मित, सहस्रद्वारयुक्त व द्युलोक में स्थित है - '**ब हन्तं मानं वरुण स्ववादः सहस्रद्वारं जगमा ग हन्ते**' (ऋग्वेद ७.८८.५)।

वरुण को नैतिक प्रशासक के रूप में मान्यता प्राप्त है। उसके नियम निश्चित और द ढ़ हैं। इसीलिए उसे 'ध तव्रत' कहा गया है। स्वयं देवता भी इसके व्रत का पालन करते हैं - '**वरुणस्य पुरो गये विश्वे देवा अनुव्रतम्**' (ऋग्वेद ८.४१.७)। पाप करने वालों तथा इसके विधानों का उल्लंघन करने वालों के प्रति इसका क्रोध भड़क जाता है तथा यह पाशों से बांधकर उन्हें कठोर दण्ड देता है। पाशों का प्रयोग मुख्यतः वरुण की ही विशेषता है। तीन प्रकार के पाशों से मुक्ति की प्रार्थना अनेक मन्त्रों में की गई है :-

उदुत्तमं मुमुग्धि नो विपाशं मध्यमं च त।
अवाधमानि जीवसे।। (ऋग्वेद १.२५.२१)

ये पाश वस्तुतः कर्मफल रूपी बन्धन ही प्रतीत होते हैं। जो मनुष्य प्रायश्चित कर लेता है, वरुण उन पर क पा व दया करता है व उन्हें उन पापों से भी मुक्त करता है जो उनके पितरों द्वारा किए गए हैं (ऋक् ७.८६.५)। वरुण से अपराधों को क्षमा करने की प्रार्थना पौनः पुन्येन की गई है। अपने नियमों की रक्षा करने के लिए यह सतत जागरूक रहता है। इस प्रसंग में उसके गुप्तचरों (**स्पशः**) का उल्लेख भी प्राप्त होता है जिनके द्वारा वह सम्पूर्ण संसार का देवता है। इसी कारण उसे **सहस्रचक्षाः** एवं **उरुचक्षाः** भी कहा गया है।

वरुण 'ऋत' अर्थात् प्राक तिक अवस्था का भी शाश्वत रक्षक है (**ऋतस्य गोपा**)। इसी के नियमों के कारण प थ्वी, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा और सितारे अपने-अपने स्थान पर टिके रहते हैं। वह

ऋतुओं को भी नियन्त्रित करता है। आकाश में उड़ते हुए पक्षियों व समुद्र में चलने वाली नावों का भी उसे ज्ञान है - '**वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नावः समुद्रियः**' (ऋग्वेद १.२५.७)। दूरगामी वायु का मार्ग भी उसे ज्ञात है - '**वेद वातस्य वार्तिनम्**'। वरुण की इस अनिर्वचनीय शक्ति का नाम '**माया**' है। अतः उसे '**मायावी**' या 'मायिन्' भी कहा गया है। '**असुर**' विशेषण भी वरुण व मित्र के लिए उत्तम अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस सार्वभौमिक सत्ता के कारण उसे '**क्षत्र**' भी कहा गया है।

वरुण का समुद्र से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है और यह जलों का अधिपति है। ऐसा प्रतीत होता है कि वरुण का असली सम्बन्ध अन्तरिक्षीय जलों से है। इसी कारण निघण्टु के पाँचवें अध्याय में वरुण की गणना अन्तरिक्षस्थानीय और द्यु-स्थानीय दोनों प्रकार के देवताओं में की गई है। वरुण के पास सैंकड़ों उपचार हैं जिनसे वह म त्यु को भी दूर भगा सकता है।

वरुण वस्तुतः भारोपीय काल का देवता है। इसकी तुलना अवेस्ता के '**अहुरमज्दा**' से की जा सकती है, जिसमें नामगत समानता तो नहीं है परन्तु चरित्रगत समानता अवश्य है। ग्रीस देश में '**यूरेनस**' के रूप में वरुण की कल्पना की गई है। वैदिक युग में वरुण का स्वरूप व कार्यक्षेत्र अत्यन्त व्यापक व विशाल था। वह पाप पुण्यों का द्रष्टा, गुण दोषों का अन्वीक्षक व कर्मानुसार फल देने वाला था परन्तु पौराणिक युग में इसे जल या समुद्र का देवता मात्र ही बना दिया गया और इस युग में वरुण का अर्थ संकुचित हो गया।

मित्र :-

ऋग्वेद में मित्र का वरुण के साथ इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि केवल एक ही सूक्त ३.५६ में मित्र का स्वतन्त्र रूप से आह्वान हुआ है। इस नाम की व्युत्पत्ति सखा अर्थ में मिद् से मानी गई है क्योंकि मित्र देवता के दयालु स्वभाव तथा उदारता का उल्लेख बहुत बार हुआ है। तैत्तिरीय संहिता में मित्र तथा वरुण को क्रमशः प्रातः कालीन तथा सांयकालीन सूर्य माना गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी मित्र को दिन से तथा वरुण को रात्रि से सम्बन्धित कहा गया है। इसकी तुलना अवेस्ता के 'मिथ्र' से की जा सकती है जो विश्वसनीयता का रक्षक व प्रकाश देने वाला माना गया है। इस प्रकार मूलतः मित्र सखा या साथी का वाचक है और प्रक ति में यह सूर्य के लिए प्रयुक्त हुआ है।

वास्तव में व्यक्तिगत द ष्टि से मित्र के स्वरूप में कोई भी विलक्षणता प्राप्त नहीं होती क्योंकि इसके कार्य और गुण वरुण के समान ही हैं। स्वतन्त्र रूप में जो सूक्त मित्र के लिए अर्पित हैं, उसी के प्रथम मन्त्र में कहा गया है कि **मित्र बोलकर लोगों को गतिशील कर देता है। प थ्वी तथा द्युलोक को धारण करता है। अपलक नेत्रों से कर्मशील व्यक्तियों को देखता है। मित्र के लिए घ तयुक्त आहुति अर्पित करो**' (ऋग्वेद ३५६.१)। मित्र मनुष्यों मे ंएकता लाता है (**यातयज्जनः**) वरुण की भाँति इसका भवन भी स्वर्णिम व सहस्रद्वार वाला है। वह भी दूरदर्शी, सुपाणि और चारित्रिक नियमों का रक्षक है। वह अल्पबुद्धि को बुद्धि प्रदान करता है (**अचेतसं चिच्चितयन्ति दक्षैः**)। सम्भवतः सूर्य होने के कारण मित्र भी ज्ञान का प्रतीक है। मित्र से प्रार्थना की गई है कि उसकी क पा से हम रोगमुक्त, अन्न से आनन्दित व उसके सद्भाव में रहने वाले बनें - **'अनमीवास इळया मदन्तो**.......... **मित्रस्य सुमतौ स्याम'** (ऋग्वेद ३.५६.३)। अपनी महत्ता व गौरव के कारण वह द्युलोक और प थ्वी दोनों पर ही श्रेष्ठ है। उसके द्वारा रक्षित मनुष्य का न तो संहार होता है और न वह पराजित होता है। वह सब प्रकार के कष्टों से रहित हो जाता है.......... '**न हन्यते न जीयते त्वोतो नैनमंहो अश्नोत्यन्तितो न दूरात्'** (ऋग्वेद ६.५६.२)। यह केवल मनुष्यों को ही नहीं अपितु सभी देवताओं को भी धारण करता है - **स देवान्विश्वान्बिभर्ति।**

मित्र के पास वह माया है जिससे वह वरुण के साथ आकाश और प थ्वी पर शासन करता है उषाओं को भेजता है व जल को प थ्वी पर बरसाता है। चन्द्रमा और सितारों सहित सारा गगनमण्डल वरुण और मित्र के कारण ही प्रकाशित होता है - '**ययोर्धाम धर्मणा रोचते ब हत्**' (ऋग्वेद १०६४.४)। इस प्रकार मित्र और वरुण देवताओं का ऐसा युगल है, जिसके गुण और कार्य लगभग समान हैं।

वैदिकोत्तर साहित्य में भी मित्र उसे कहते हैं जो मनुष्य की विपत्ति में सहायता करे व अनुचित मार्ग से उचित मार्ग पर लाकर उसका पथ प्रदर्शन करे। इस प्रकार वैदिक मित्र के सारे गुण वर्तमान युग में एक सखा में भी वा छनीय गुण स्वीकार किए जाते हैं।

सूर्य :-

सूर्य भौतिक सूर्य के स्थूल रूप का प्रतिनिधित्व करता है। इसकी स्तुति ऋग्वेद के १० सूक्तों में हुई है। यास्काचार्य ने इसकी व्युत्पत्ति स -गतौ अथवा षु - प्रेरणे से मानी है। परन्तु कुछ अन्य विद्वानों ने इसे स्वर् - प्रकाश से सम्बन्धित माना है। सूर्य अवेस्ता के 'ह्वरे' से समानता रखता है।

द्यौ को सूर्य का पिता एवं अदिति को उसकी माता बतलाया गया है। माता के नाम पर ही इसे आदित्य एवं आदितेय भी कहा गया है। पुरुष सूक्त में इसकी उत्पत्ति पुरुष के नेत्र से बतलाई गई है - 'चक्षोः सूर्यो अजायत' (ऋग्वेद १०.६०.१३)। इसे उषा की गोद से उत्पन्न हुआ भी माना गया है - 'अजीजनन् सूर्य यशमग्निम्' (ऋग्वेद ७.७८.३)।

उषा को सूर्य की प्रेयसी एवं पत्नी भी कहा गया है - सूर्यस्य योषा'। सूर्य को मित्र, वरुण और अग्नि का नेत्र बतलाया गया है - चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। वह दूरदर्शी (उरुचक्षाः), सर्वदर्शी (सूराय विश्व चक्षसे) व विश्वचक्षाः है। उसे संसार का गुप्तचर (स्पश्) कहा गया है जो सभी प्राणियों के कुकर्मों और सुकर्मों का अवलोकन करता है - ऋजु मर्तेषु व जिना च पश्यन्नभिचष्टे सूरो आर्य एवान् (ऋग्वेद ६.५१.२)। सूर्य चेतन अथवा अचेतन सभी पदार्थों की आत्मा है - 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' क्योंकि अपने ताप व प्रकाश से वह सबकी रक्षा करता है।

सूर्य का रथ 'एतश' नामक एक अश्व या असंख्य अश्व या सात घोड़ियों द्वारा खींचा जाता है - सप्त स्वसारः सुविताय सूर्य वहन्ति हरितो रथे (ऋक् ७.६६.१५)। इसकी किरणें ही सम्भवतः इसकी अश्व हैं।

अनेक मंत्रों में सूर्य की कभी आकाश में उड़ने वाले पक्षी के रूप में, कभी लाल रंग के पक्षी के रूप में और कभी ग घ्र के रूप में कल्पना की गई है। अन्यत्र इसे चितकबरा व षभ भी कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि मेघरहित, स्वच्छ व निर्मल आकाश में इसे पक्षी व अस्त के समय लाल पक्षी बतला दिया गया है। प्रचण्ड ताप के कारण उसे ग ध्र व मेघों से युक्त होने पर चितकबरा सम्बोधित किया गया है।

सूर्य के प्रकाश में सारा संसार प्रकाशित होता है। वह अपने किरण रूपी पाश से अंधकार रूपी शत्रु को पकड़ता है - 'ग भ्णाति रिपुं निधया निधापतिः (ऋग्वेद ६.८३.४)। यह दिनों को नापता है तथा रोग, आलस्य व दुःस्वप्नों का विनाश कर भूत, प्रेतों तथा चुडैलों पर विजय प्राप्त करता है (ऋग्वेद १.१६४.२४)। यह अपनी आकर्षण शक्ति से नभोमण्डल में अन्य देदीप्यमान ज्योति पिण्डों को भी थामे रखता है। अतः सूर्य को देवों का भी रक्षक कहा गया है - 'पाति देवानां जनिमान्यद्भुतः।' अपनी महानता के कारण यह देवताओं का दिव्य पुरोहित है - 'आसुर्थः पुरोहितः'। उदित होते हुए सूर्य से प्रार्थना की गई है कि मित्र और वरुण के समक्ष वह मनुष्यों को पापरहित घोषित करे (ऋग्वेद ७.६०.१)। सूर्य के लिए 'विश्वकर्मा' उपाधि का भी प्रयोग हुआ है।

इस प्रकार सौर देवताओं में सूर्य साकार देवता है और यह वस्तुतः प्रकाश का प्रतिनिधि है।

सविता :-

सविता देव की स्तुति ऋग्वेद के ११ सम्पूर्ण सूक्तों तथा अंशतः अनेक अन्य सूक्तों में हुई है। वैदिकोत्तर साहित्य में सूर्य और सविता एक ही रूप में स्वीकार किए गए हैं। यद्यपि वेद में ये दो देवता भिन्न थे तथापि इन दोनों का सम्बन्ध इतना निकट का था कि कई बार ये दोनों एक ही देवता के रूप में सम्बोधित कर दिए गए हैं (तुलनीय ऋग्वेद ७.६३, १.१२४.१, १५८.१.४)। परन्तु फिर भी इन दोनों में अन्तर अवश्य है। सविता सूर्य का प्रेरक है व उसके आगमन की सूचना देता है, स्वयं सूर्य नहीं है।

ऋग्वेद के १.३५.६ में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि आकाश और प थ्वी के बीच सविता भ्रमण करता है व सूर्य को प्रेरित करता है - 'हिरण्यपाणि। सविता .... उभे द्यावाप थिवी अन्तरीयते। .... वेति सूर्यम्।' सविता सूर्य के समक्ष मनुष्यों के पापरहित होने की घोषणा करता है (ऋक् १.१२३.३) और तत्पश्चात् सूर्य की किरणों से संप क्त हो जाता है (ऋक् १.१५७.१, ५.८१.४, १०.१३६.१, १०.१८३.३)। इसके अतिरिक्त सूर्योदय के समय उपासकों को ऐश्वर्य प्रदान करने के लिए मित्र, भग आदि के साथ सविता की भी स्तुति की गई है (ऋक ७.६६.४)। इन सबसे यह प्रमाणित होता है कि वेद में सूर्य और सविता में अत्यन्त निकट का सम्बन्ध होने पर भी ये दो प थक्-प थक् देवता है।

यास्काचार्य के अनुसार '**उदय होने से पूर्व सूर्य को 'सविता' कहते हैं**' (निरुक्त १२.१२) और उदय से लेकर अस्त होने तक के समय को 'सूर्य' परन्तु उनकी यह धारणा निराधार प्रतीत होती है क्योंकि ऋग्वेद में सविता का आह्वान दिन के प्रारम्भ में और दिन के अन्त में, दोनों ही समय किया गया है। ऋग्वेद के २.३८ में तो सविता की स्तुति अस्त होने वाले सूर्य के रूप में ही की गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्योदय से पहले और सूर्यास्त के समय आकाश में व्याप्त होने वाली लालिमा ही सविता है। सम्भवतया वैदिक ऋषियों की द ष्टि में सूर्य भौतिक सूर्य के स्थूल रूप का प्रतिनिधित्व करता है जबकि सविता सूर्य की प्रेरक शक्ति का प्रतिरूप है जो शक्ति मनुष्यों को प्रातः कर्त्तव्य करने की और सांयकाल में विश्राम करने की प्रेरणा देती है। यह अपेक्षाक त अधिक अमूर्त देव है।

सविता की व्युत्पत्ति सू से हुई है जिसका अर्थ है - प्रेरित करना। आचार्य यास्क ने भी सविता की परिभाषा करते हुए इसे 'सर्वस्य प्रसविता' कहा है (निरुक्त १०.३१)। यह ध्यातव्य है कि सू धातु से बने शब्द भी जैसे प्रसवित , प्रासावीत्, आसुवत्, सवाय, परासुव, आसुव, सवे इत्यादि भी सविता के लिए अनेक बार प्रयुक्त हुए हैं। यद्यपि उषा का स्वरूप और कार्य भी सविता के समान ही प्रतीत होते हैं तथापि इन दोनों में मौलिक अन्तर यह है कि उषा प्रभात का वह समय है जब सूर्य क्षितिज से नीचे होता है और सविता वह समय है जब सूर्य क्षितिज पर दिखाई देने लगता है।

सविता हिरण्यमय देवता है। वह हिरण्यनेत्र (हिरण्याक्षः) हिरण्यपाणि व हिरण्यजिह्व है। इसके बाल पीले हैं तथा यह पीले वस्त्र ही पहनता है। सविता का रथ भी स्वर्णिम है जिसके द्वारा वह समस्त प्राणियों को देखता हुआ जाता है - **हिरण्ययेन सविता रथेन देवो याति भुवनानि पश्यन्** (ऋक् १.३५.२)। सविता तीन बार प थ्वी के, तीनों लोकों के तथा ज्योतिष्मान् स्वर्ग के तीनों लोकों के चारों ओर विद्यमान होता है - '**त्रिरन्तरिक्षं सविता महित्वना त्री रजांसि परिभूस्त्रीणि रोचना**' (ऋक् ४.५३.५)। यहाँ प्रातः काल और सांयकाल सविता द्वारा सर्वत्र व्याप्त होना तो स्पष्ट ही है लेकिन सम्भवतया तीसरी बार सविता का सूर्य में विलीन होकर व्याप्त होना ही अभिप्रेत हो। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो सूर्योदय से पहले सविता उसकी अगवानी करने के लिए उपस्थित हो जाता है, दिन के समय उसके साथ-साथ रहता है और संध्याकाल में पुनः उसे विदाई देता है।

मनुष्यों को जगाने और आशीर्वाद देने के लिए अपने हाथों को पसारना सविता का मुख्य कार्य है। वह रोगों को दूर करता है - '**अपामीवां बाधते'**। देवताओं को अमरत्व तथा मनुष्यों को दीर्घायु प्रदान करता है। सविता से मनुष्यों को पापरहित करने की व दुःस्वप्नों को दूर करने की प्रार्थना की गई है। यह दुष्टात्माओं तथा अभिचारियों को भी दूर भगा देता है - 'अपसेधन्रक्षसो यातुधानान् अस्थाद्देवः। उसके व्रत व नियम भी द ढ़ हैं व कोई भी यहाँ तक कि इन्द्र, वरुण, मित्र और अर्यमा भी इसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते। पूषन् और सूर्य की भाँति सविता भी चराचर जगत् का अधिपति है। यह मनुष्यों की प थ्वी पर रक्षा करता है और तत्पश्चात् परलोक में जाने पर भी उनके कुशलक्षेम का ध्यान रखता है।

सविता देव का स्मरण ऋग्वेद के प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र में सर्वोच्च देवता के रूप में किया गया है व उससे हमारी बुद्धियों को प्रेरित करने की प्रार्थना की गई है - '**तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्** (ऋग्वेद ३.३२.१०)। यह मन्त्र सविता के नाम पर ही '**सावित्री मन्त्र**'

के नाम से भी विख्यात है। इसी कारण हिन्दुओं के धार्मिक जीवन में इस देवता का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बाद में सविता विश्व की शारीरिक, मानसिक, नैतिक व प्रेरक शक्ति का भी प्रतीक बन गया। इसी कारण यजुर्वेद में उसे सम्बोधित करते हुए कहा गया है-

ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद् भद्रं तन्न आसुव।

भारोपीय काल में सम्भवतया सूर्य और सविता एक ही देवता रहे हों। अतः सविता के नाम का समरूप कोई देवता वहाँ नहीं मिलता।

पूषन् :-

ऋग्वेद के आठ सूक्तों में पूषन् की स्तुति की गई है। द्युस्थानीय इस देवता की व्युत्पत्ति पुष्-पोषणे से हुई है जिसका अर्थ है पोषणकर्ता एवं सम द्धिदाता। यास्काचार्य के निरुक्त में पूषन् का नाम सूर्य के तुरन्त बाद दिया गया है व इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है - '**अथ यद् रश्मिपोषं पुष्यति तत् पूषा भवति**' (निरुक्त १२.२.१०) अर्थात् जो किरणों से पुष्ट करता है - वह प षा है। इस प्रकार यह सूर्य की पोषकशक्ति का मानवीक त रूप है। वैदिकोत्तर काल में इसके नाम का उल्लेख क्रमशः समाप्त ही नहीं हो गया बल्कि कहीं-कहीं यह सूर्य का पर्यायवाची भी हो गया (तुलनीय ईशोपनिषद् १५ वाँ मन्त्र)।

मानव आकार सम्बन्धी विशेषताओं में पूषन् की दाढ़ी (प्रश्मश्रु हर्यतो दूधोत), गुँथे हुए बाल (कपर्दिन्), दाएँ हाथ (हस्तं दधातु दक्षिणम्), तथा शत्रुओं को दलित करने के प्रसंग में पैरों का उल्लेख भी हुआ है। वह स्वर्णिम माला (हिरण्यवाशीमत्तम), आरा (आरां विभष्यघि णे) तथा अंकुश धारण करता है। इसके रथ के पहिए, चक्रधार और बैठने के स्थान का उल्लेख है - 'पूष्णश्चक्रं न रिष्यति न कोशो वपद्यते। नो अस्य व्यथते पविः (ऋग्वेद ६.५४.३)। इसका रथ घोड़ों के स्थान पर बकरों द्वारा खींचा जाता है - 'अजाः पूष्णश्च वाजिनः'। इसे शतपथ ब्राह्मण में दन्तविहीन (अदन्तकः पूषा) कहा गया है। अतः उष्णिका (करम्भक) इसका प्रिय भोज्य पदार्थ है।

पूषन् सर्वेश्वर व सबका द्रष्टा है। वह सभी मार्गों का ज्ञाता है एवं सर्वोच्च स्वर्ग में उदित होने के कारण स्वयं दूरतम पथ पर उत्पन्न हुआ है। वह अपने उपासकों का मार्ग प्रदर्शन करता हुआ उन्हें सुरक्षित वहाँ ले जाता है जहाँ वह स्वयं तथा अन्य देवता निवास करते हैं (ऋग्वेद १०.१७.३-५)। पथों का ज्ञाता होने के कारण पूषन् पथों का रक्षक भी है। यह मार्ग से भेड़ियों, लुटेरों तथा अन्य कष्टों को दूर करता है। इसी कारण यह '**विमुचो नपात्**' (मुक्ति पुत्र) और विमोचन (मुक्तिदाता) है।

पूषन् के चरित्र की एक अन्य विशेषता यह भी है कि वह पशुओं का रक्षक (पशुपा) है। उससे प्रार्थना की गई है कि वह हमारी गायों के पीछे जाए तथा चोरों आदि से उनकी रक्षा करे - 'पूषन् गा अन्वेतु नः पूषा रक्षत्वर्वतः' (ऋक् ६.५४.५)। वह पशुओं को खोने से, क्षत होने से तथा गड्ढे आदि में गिरने से बचाता है व उन्हें सुरक्षित घर वापस लाता है - '**माकिर्नेशन्मार्की रिषन्मार्की सँ शारि केवटे। अथारिष्टाभिरागहि'** (ऋग्वेद ६.५४.७)। वह खोए हुए पशुओं को भी खोज लाता है - 'पुनर्नो नष्टमाजतु'। इसी कारण इसे 'अनष्टपशु' (किसी पशु को नष्ट न होने देने वाला) कहा गया है। पूषन् शक्तिशाली है जिसके पास सभी प्रकार का धन है - 'स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः'। अन्य देवताओं की भांति पूषन् में भी शक्स् (बल), ऐश्वर्य, प्रज्ञा, सामर्थ्य, क्षिप्रता आदि गुण पाए जाते हैं। यह धन का पोषक (पुष्टिम्भर) तथा संसार का रक्षक है।

पूषन् अन्त्येष्टि में भी भाग लेता है। उससे प्रार्थना की गई है कि वह म तात्मा को पितरों के पास ले जाए जैसे अग्नि और सविता उन्हें पवित्रात्माओं के पास ले जाते हैं।

पूषन् का साद श्य '**हर्मीज**' (एक यूनानी देवता) के साथ स्थापित किया गया है। दोनों का पशुओं के साथ सम्बन्ध है। दोनों ही मनुष्यों तथा प्रेतात्माओं को सुपथ पर ले जाते हैं। दोनों ही धन के दाता हैं तथा अज से सम्बन्धित हैं। परन्तु नाम का साद श्य न होने से इन दोनों की समानता सन्दिग्ध

हो जाती है।

इस प्रकार पूषन् भी ऋग्वेद का महत्त्वपूर्ण देवता है।

मरुत् :-

मरुद् देवताओं का एक गण (समूह) है व ऋग्वेद में इनका प्रमुख स्थान है। अकेले इनकी स्तुति ऋग्वेद के ३३ सूक्तों में हुई है। लगभग ७ सुक्तों में इन्द्र के साथ और एक-एक में अग्नि और पूषन् के साथ भी इनकी स्तुति की गई है। ऋग्वेद में कहीं इनकी संख्या २१ तो कहीं १८० बतलाई गई है।

मरुतों के स्वरूप के विषय में दो व्याख्याएँ ही अधिक प्रचलित हैं। पहली व्याख्या के अनुसार जो मैक्डॉनल महोदय को अभिप्रेत है, मरुत् झंझावात के देवता हैं जबकि दूसरी भारतीय परम्परा की व्याख्या के अनुसार वे वायु का प्रतिनिधित्व करते हैं। अपने निरुक्त ११.१३ में यास्काचार्य ने मरुतों को वर्षा से सम्बन्धित मान कर इन्हें अन्तरिक्षस्थानीय देवता माना है। उसके अनुसार मरुत् का अर्थ है - **'मरुतो मितराविणो श्रितरोचिनो वा महद् द्रवन्तीति वा'** अर्थात् जो सुश्लिष्ट होकर शब्द करते हैं या प्रकाशित होते हैं या जो बहुत अधिक द्रवित होते हैं अर्थात् बरसते हैं।

मरुत् शब्द मर् से निष्पन्न है जिसका अर्थ है **'प्रकाशित होना या कुचलना'**। ये दोनों ही निरुक्तियाँ मरुतों के लिए उपयुक्त एवं समीचीन प्रतीत होती हैं क्योंकि मरुत् मूलतः द्युतिमान देवता है और वनों को कुचलने के कारण दूसरा अर्थ भी ग्राह्य है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने इन्हें म -मरणे से निष्पन्न मान कर इन्हें प्रेतात्माओं का मूर्तीकरण माना है परन्तु ऋग्वेद में इस सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं मिलता। वस्तुतः प्रकाश, वायु, विद्युत झंझावात और वर्षा सभी के गुणों से युक्त मानकर ही मरुतों का स्वरूप पूर्ण रूप से प्रकट होता है। मरुतों के सैनिकों जैसे वर्णन और वायु के साथ इनके सम्बन्ध को देखकर स्वामी दयानन्द ने इन्हें 'मनुष्य' अथवा 'वायु' माना है। वासुदेवशरण अग्रवाल ने इनकी तेजस्विता और वायु की प्राणदायिनी शक्ति के आधार पर इन्हें प्राण माना है (वेद विद्या, भूमिका प ष्ठ ६)। अरविन्द घोष के अनुसार आध्यात्मिक द ष्टि से ''मरुत् वे जीवनी शक्तियाँ और प्राणशक्तियाँ हैं जो हमारे सभी कार्यों के लिए सत्य के प्रकाश का अन्वेषण करती हैं।''

मरुत् रुद्र के पुत्र हैं। अतः इन्हें 'रुद्राः, रुद्रियाः, रुद्रपुत्राः, रुद्रासः, रुद्रियास,: रुद्रस्य सूनवः' कहा गया है। सायणाचार्य ने प श्नि का अर्थ 'भूमि' किया है, स्कन्दस्वामी ने 'द्यौ' किया है, वेंकटमाधव ने 'गौ' किया है जबकि स्वामी दयानन्द ने **प श्निमातरः'** का अर्थ किया है **'अन्तरिक्ष है माता के सद श जिनकी'**। यास्क ने 'प श्नि' का अर्थ 'आदित्य' व पाश्चात्य विद्वानों ने 'चितकबरी गाय' किया है जिसका लाक्षणिक अर्थ है 'मेघ रूपी माता वाले'। कहीं-कहीं मरुतों को 'द्यौ' का पुत्र भी कहा गया है।

सभी मरुत् गण भाई-भाई हैं जिनकी समान आयु (सवयसः) है। इनका रूप, जन्म, आवास और मन भी एक समान है। ये सुपेशस् (सुन्दर रूप वाले), सुदानवः (शोभन दान वाले), अरेपसः (पापरहित), उग्राः (भयंकर), प्रत्वक्षसः (शत्रुओं का नाश करने वाले), सुजातासः (शोभन जन्म वाले) अम ताः, ऋतज्ञाः (ऋत के ज्ञाता) , सत्यश्रुताः (सत्य कीर्ति वाले) व कवयः (क्रान्तदर्शन वाले) हैं। मरुतों को प्रज्वलित अग्नियों के समान दीप्तिमाान् व वायु के समान तेजस्वी बतलाया गया है। ये कुठार, धनुष, बाण, तरकस और अन्य आयुधों से युक्त हैं (ऋग्वेद ५.५७.२)। वे स्वर्णमय द्रापि, शिरस्त्राण, माला, अलंकार, रुवम (रुक्मवक्षसः), खादि, अ जि (अ जिमन्तः) इत्यादि अलंकारों से स्वयं को अलंक त करते है। इनके विभित्र अस्त्र शस्त्र एवं अलंकार सम्भवतः विद्युत् का विभिन्न रूपों में प्रकट होना ही है।

मरुद्गण विद्युत के समान प्रतीत होने वाले रथ पर चलते हैं - 'विद्युद्रथा मरुतः'। ये रथ स्वर्णिम हैं (हिरण्यरथाः) व आयुधों से युक्त हैं - 'आयुधारथेषु वः'। ये तीव्र गति वाले भूरे (पिशङ्गश्वा) व लाल (अरुणाश्वा) या चितकबरे (प षदश्वा) घोड़ों द्वारा खींचे जाते हैं। मरुद्गण आकाश के समान महान् व सर्वत्र व्याप्त हैं - 'महिना द्यौरिवोरयः'। वे युवा और अजर हैं - 'युवानो रुद्रा अजराः'। ये

क्रोधी, भयंकर स्वभाव वाले परन्तु बच्चों या बछड़ों की तरह कौतुकप्रिय भी हैं क्योंकि कभी-कभी मेघ घोर गर्जन करते हुए घने और काले दिखाई देते हैं तो कभी वायु के वेग से चलायमान और अठखेलियाँ करते हुए प्रतीत होते हैं। गर्जना करने के कारण वे सिंह समान, विद्युतयुक्त होने के कारण लौहदन्त वराह तुल्य और काले होने के कारण क ष्णवर्ण हंस सद श हैं। जब ये वायु के वेग के साथ बवंडर रूप में आते हैं तो द्युलोक और प थ्वीलोक काँप जाते हैं, वन विचलित हो जाते हैं व प थ्वी क्षुब्ध हो जाती है (ऋक् ५.५७.३)। तूफान रूप में आकर ये व क्षों को विर्दीण कर वनों को कुचल जाते हैं। प्रचण्ड वायु रूपी घोड़ों से धूल उड़ाते हैं तथा समुद्रों को भी प्रकम्पित कर देते हैं। सभी इनसे भयभीत रहते हैं - 'भयन्ते विश्वा भुवना मरुद्भ्यः'।

वर्षा करना मरुतों का मुख्य कार्य है। कहीं-कहीं इन्हें दूध, मधु और घी की वर्षा करने वाला भी बतलाया गया है क्योंकि वर्षा ऋतु में गाय भैंसे ज्यादा दूध देती हैं और क षि के लिए तो वर्षा अम त तुल्य है ही। कुछ विद्वानों ने इन्हें रक्त की वर्षा करने वाला भी बतलाया है। सम्भवतः उनके मन में इनकी सैनिक रूप में कल्पना रही हो।

मरुतों को अनेक स्थलों पर गायक (ऋक्वन्) और बांसुरी वादक भी बतलाया गया है। वस्तुतः वायु के वेग से व क्षों का झूमना, पत्तों का हिलना व सांय सांय की आवाज होना ही मरुतों का गायन और बांसुरी वादन है। मरुद्गण इन्द्र के साथी हैं। इन्हें इन्द्र का पुत्र या भाई भी बतलाया गया है। इन्हें 'इन्द्रवन्तः' भी कहा गया है। व त्र वघ में तथा जलों को प्रवाहित करने में इन्होंने इन्द्र की सबसे अधिक सहायता की (ऋग्वेद १.५.६)। वस्तुतः इन्द्र (जल) से रहित मरुत् मरुस्थल में चलने वाली प्रचण्ड वायु के ही द्योतक हैं। अतः तब ये रुद्र के समान भयंकर रूप धारण कर लेते हैं। सम्भवतया इसी कारण रेगिस्तान को मरुस्थल (इन्द्र रहित मरुतों का स्थल) कहा जाता हो।

मरुतों की स्तुति विपत्तियों से रक्षा करने के लिए, रोगों के निवारण हेतु औषधियों को बरसाने के लिए तथा सब प्रकार का वैभव एवं श्रेष्ठ संतान देने के लिए की गई है - '**गोमदश्वावद् रथवत् सुवीरं चन्द्रवद्राधो मरुतो ददा नः** (ऋग्वेद ५.५७.७)।

यूनानियों का देवता मार्स सम्भवतया मरुत् का ही रूप है। वहां मार्स युद्ध का देवता भी माना गया है और साथ ही मंगलकारी भी माना गया है। इस प्रकार मरुद् गण भी ऋग्वेद के प्रमुख देवता हैं।

अश्विनौ :-

ऋग्वेद में अश्विनों का कई बार उल्लेख हुआ है। इनकी स्तुति ५० सम्पूर्ण सूक्तों तथा कुछ सूक्तांशों में भी हुई है। इनके स्वरूप की सबसे बड़ी विशेषता इनका युग्म रूप है। ऋग्वेद के एक सूक्त (२.३६) में इनकी तुलना विभिन्न युगल वस्तुओं जैसे नेत्र, हाथ, पैर, हंसों के जोड़ों तथा युगल में रहने वाले पशुओं से की गई है। इसके विपरीत कुछ स्थलों पर इनको अलग-अलग उत्पन्न (नाना) भी कहा गया है।

अश्विनों का तात्त्विक रूप क्या है, इस प्रश्न का उत्तर प्राचीनतम भाष्यकारों के लिए भी एक समस्या रही है। यास्काचार्य ने अपने निरुक्त में (१२.१.१) में विद्वानों का मत देते हुए कहा है कि ये आकाश और प थ्वी, दिन और रात, सूर्य और चन्द्रमा के जोड़े हैं तथा ऐतिहासिकों के अनुसार ये पवित्र क त्य करने वाले दो राजा भी हो सकते हैं। यास्काचार्य के अपने स्वयं के मत के अनुसार **'वस्तुतः अश्विन् का अर्थ अन्धकार से प्रकाश का प्रकट होना ही है। इस मत की पुष्टि इस उक्ति से भी होती है कि अश्विनों के प्रकट होने का समय तब है जबकि लाल गायों (किरणों) के मध्य अन्धकार विद्यमान रहता है** (ऋग्वेद १०.६१.४) अर्थात् अश्विनी कुमार तब प्रकट होते हैं जब उषा काल होने से पूर्व अन्धकार और प्रकाश दोनों ही क्षितिज पर विद्यमान हों।

प्रो. मानहार्ट और ओल्डेनबर्ग ने अश्विनों को प थक्-प थक् प्रातः काल और सांयकाल की

अरुणिमा में उदित होने वाले दो तारे माना है। सम्भवतः इस मान्यता के पीछे उनके मन में ऋग्वेद के वे दो स्थल (५.७३.४ तथा १.१८१.४) रहे होंगे जहाँ उनके प थक् प थक् होने के कुछ संकेत मिलते हैं। वस्तुतः अश्विनीकुमारों को देवताओं का वैद्य माना गया है और वैद्यक से सम्बन्धित वनस्पतियाँ सूर्योदय व सूर्यास्त के समय ही एकत्रित की जाती हैं। इसी बात से प्रभावित होकर ही सम्भवतया अश्विनों को प्रातः कालीन और सांयकालीन तारे या रात्रि पुत्र और उषापुत्र मान लिया गया हो। इन अश्विनीकुमारों का भौतिक आधार कुछ भी रहा हो परन्तु यह निश्चित ही है कि ये भारोपीय काल के देवता हैं।

अश्विन् शब्द सम्भवतया व्याप्त्यर्थक अश् से निष्पन्न है क्योंकि उषा और सूर्य की भाँति अश्विन् भी सर्वव्यापी हैं अथवा अश्विन् में अंशु-किरणों का भाव समाहित हो अर्थात् जो किरणों से युक्त हैं। अश्विनीकुमारों को आकाश का पुत्र कहा गया है - 'दिवो नपाताः' और समुद्र को इनकी माता कहा गया है (सिन्धुमातरः)। कहीं इन्हें विवस्वान् और त्वष्टा की पुत्री सरण्यू का भी पुत्र बतलाया गया है। प थन् इनका पुत्र है व उषस् इनकी बहिन। वे सूर्यपुत्री सूर्या के पति हैं जो इनके रथ पर आरूढ़ भी रहती है। वर-वधू सम्बन्ध को सफल बनाने के लिए व वधू में गर्भ धारण करने की शक्ति उत्पन्न करने के लिए अश्विनकुमारों का आह्वान किया गया है।

अश्विनों का रथ भी सूर्य के समान पूरा स्वर्णिम तो है परन्तु विचित्र बनावट वाला है। यह तीन पहियों वाला, तीन नेमियों वाला व तीन खण्डों वाला है (ऋग्वेद १.११८.१.२)। यह विचारों से तथा पलकों के झपकने से भी अधिक वेगवान् है। यह कभी-कभी ही अश्वों द्वारा (ऋक् १.११७.२) किंतु प्रायः हंस (ऋक् ४.४५.४), उत्क्रोश आदि पक्षियों द्वारा ही खींचा जाता है। कभी-कभी भैंसों, भैंसे अथवा गधों द्वारा भी खींचा जाता है। यह रथ एक ही दिन में द्यौ और प थ्वी की परिक्रमा कर लेता है। परिज्मन् (परिक्रमा करना) विशेषण का प्रयोग अश्विनों या उनके रथ के लिए भी किया गया है। ऋग्वेद में अश्विनों को प्रातः, मध्याह्न और सांयकालीन तीनों आहुतियाँ ग्रहण करने के लिए बुलाया गया है। यद्यपि उनका अपना सवन प्रातः कालीन ही है।

मधु अश्विनों का प्रिय पेय है। माध्वी, मधुपा, मधुयुवा, मधूयु इनके विशेषण हैं। ये मधुपाणि हैं व इनका रथ भी मधुवर्ण एवं मधुवाही है। इन्हें सोम में भी रुचि है। वस्तुतः औषधशास्त्र में मधु और सोम दोनों ही बहुत उपयोगी हैं। सम्भवतया इसी कारण अश्विन रुचिकर बताए गए हैं।

अश्विन् सर्वगामी हैं। इन्हें तीन स्थानों (पदानि) वाला भी कहा गया है जो कदाचित् इनके तीनों लोकों में व्याप्त होने की तरफ संकेत करता है या इनका दिन में तीन बार आह्वान किए जाने को सूचित करता है। इनके लिए 'दस्र' (आश्चर्यमय) और 'नासत्य' ये दो उपाधियाँ बहुत बार प्रयुक्त की गई हैं। अतः इन्हें 'नराः' भी कहा गया है। इन दो नेताओं ने भिन्न-भिन्न मनुष्यों की किस प्रकार रक्षा की, इसके सम्बन्ध में बहुत से आख्यान ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं। इन्होंने समुद्र के बीच फंसे हुए तुग्र के पुत्र भुज्यु को बचाया (ऋग्वेद १.११६.५)। अत्रि तथा उसके अनुयायी जिन्हें दैत्यों ने प थ्वी के नीचे जलती हुई भट्टी में फेंक दिया था, अश्विनौ द्वारा ही निकाले गए व शीतल स्थान पर पहुँचाये गए (ऋक् १.११६.८)। इसी प्रकार हत, बंधे हुए, क्षत-विक्षत होकर जल में डूबे हुए और आक्रामकों द्वारा छिपाए गए दस रात और नौ दिन तक अकेले पड़े हुए म तप्रायः रेभ को इन्होंने खोजा तथा बचाया (ऋग्वेद १.११६.२४)।

अश्विनीकुमार देवताओं के चिकित्सक हैं जो अपनी औषधियों से रोगों को दूर करते हैं व अन्धे अपंग तथा रुग्ण व्यक्तियों को स्वास्थ्य प्रदान करते हैं। इन्होंने जीर्णशीर्ण च्यवन ऋषि को नवयुवक बना दिया (१.११६.१०)। विश्पला की टाँग कट जाने पर उसे लोहे की टाँग प्रदान की (१.११६. १५) तथा ऋज्राश्व को पुनः द ष्टिदान दे दिया (१.११६.१६), वन्ध्या गाय को दुधारू बना दिया (१.११६. २२) तथा नपुंसकों की पत्नियों को भी संतान प्रदान कर दी (१.११६.१३)। इसके अतिरिक्त अनेक अन्य लोगों का ऋग्वेद में वर्णन आया है जिनके ऊपर अश्विनीकुमारों ने अपना अनुग्रह किया।

अश्विन् उदार (सुदानु) और दानी (मघवाना) हैं। ये बहुत बलशाली हैं। इनका विरोध कोई भी नहीं कर सकता। अतः ये 'तुविष्मा' और 'अधिग्रू' हैं। युवा होते हुए भी ये प्राचीन हैं। अत्यन्त सुन्दर एवं कान्तिमान् हैं; परम मेधावी और गुह्य शक्ति से युक्त हैं (ऋग्वेद ६.३५.४)।

इस प्रकार अश्विनी कुमार ऋग्वेद के महत्त्वपूर्ण युगल देवता हैं जिनसे रोग और व्याधियों के निवारण के लिए विपत्तियों से प्राणियों का उद्धार करने के लिए, शान्तिमय और स्वस्थ जीवन के लिए, दीर्घायु प्राप्त करने के लिए वर-वधू के निर्बाध ग ह प्रवेश और उनके कल्याण के लिए प्रार्थना की गई है।

ब हस्पति :-

इस देव की स्तुति ऋग्वेद के ११ समस्त सूक्तों में की गयी है और दो सूक्तों में इन्द्र के साथ युग्म रूप में की गयी है। इनके अतिरिक्त 'ब्रह्मणस्पति' के रूप में भी ५० बार इनकी स्तुति की गयी है। दोनों प्रकार के नाम एक ही सूक्त के विभिन्न मन्त्रों में यत्र-तत्र मिलते हैं। इसकी शारीरिक विशेषताएं पूरी तरह उभर नहीं पायी हैं। वह सप्त-मुख, सत्प-रश्मि (४.५०.४), मन्द्र-जिह्व (१.६०.१), तीक्ष्ण-श्र ंग (१०.१५५.२), नील-प ष्ठ (५.४३.१२), शत-पत्र (७.६७-७) हिरण्यवर्ण (५.४३.१२) लोहित-वर्ण, भास्वर (७.६७.७), शुचि (७.६७.५) और सुव्यक्त ध्वनिवाला है। उसके पास तीक्ष्ण तीर और एक धनुष् है जिसमें ऋत की डोरी लगी है। (२.२४.८; ५.१८.८,६)। वह हिरण्यवाशी लिए है और उसके हाथ में लोहे की कुल्हाड़ी भी है। उनके पास ऋत का बना हुआ एक रथ भी है जो यातुधानों को कीलता, गोव्रजों को तोड़ता और प्रकाश को जीतता है। यह रथ लोहित वर्ण के अश्वों द्वारा खींचा जाता है। ब हस्पति सर्वप्रथम प्रकाश से चमचमाते स्वर्ग में उत्पन्न हुआ था और उसने अपने स्तनयित्नु 'रव' द्वारा अन्धकार का नाश किया था (४.५०.४)। वह दोनों लोकों का तनय है, देवताओं का पिता है। अग्नि के समान ही वह पुरोहित और ब्रह्मन् है। वह उपासना योग को बढ़ाता है और उसके बिना यज्ञ सफल नहीं होता है (१.१८.७)। पथ-निर्माता के रूप में वह देवताओं के लिए भोजन तक पहुंचना सुलभ करता है। उससे देवताओं ने अपना यज्ञांश प्राप्त किया है। वह शस्त्र गाता है (१०.३६.५), उसका श्लोक स्वर्ग में पहुंचता है। उसका गायकों के साथ सम्बन्ध है। वह अपने उन मित्रों के साथ गाता है जिनकी वाणी हंसों जैसा शब्द करती है। उसके साथ भजन-मण्डली चलती है (४.५०.५)। यह ब्रह्मणस्पति अर्थात् 'स्तुति का पति' था। इसे स्तुतियों का सर्वोच्च राजा भी कहा गया है और इसे कवितम की उपाधि भी दी गयी है (२.२३.१)। ऋत के रथ पर बैठकर वह स्तुति करता और देवों के शत्रुओं पर विजय-लाभ करता है। वह मन्त्र का उच्चारण करता है और मानवीय पुरोहित को सूक्त सुझाता है। अनेक मन्त्रों में उसका तादूप्य अग्नि से किया गया है। उदाहरण के लिए ब्रह्मणस्पति-अग्नि का - जो कि सौन्दर्य में मित्र तुल्य है - आह्वान किया गया है (१.३८.१३)। अग्नि के समान ही ब हस्पति के तीन आवास हैं किन्तु सामान्यतया ब हस्पति अग्नि से भिन्न दिखाया गया है क्योंकि देवगणनाओं में उसे अग्नि के साथ निमन्त्रित किया गया है - उसका नाम प थक् रूप से लिया गया है।

अग्नि के समान ब हस्पति को भी गोमोचन सम्बन्धी इन्द्र गाथा में संप क्त किया गया है और उसे एक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है (४.५०.५)। अपनी भजन-मण्डली के साथ रव के द्वारा उसने बल को भेद दिया और गरज कर रंभाती हुई गौओं को बाड़े में से बाहर निकाल दिया। उसने धन तथा गौओं से सम्पन्न गो-वज्र को जीता। उसने अंधकार को घेर लिया और स्वर्ग को अनाव त किया। देवगणों को पानी पिलाने के लिए उसने तवस्तरा द्वारा मधु भरे पाषाण-मुख कुएं को भेद दिया (२. २४.३.४)। उसने उषा, अग्नि तथा प्रकाश को प्राप्त किया और अन्धकार को दूर भगाया। वह शत्रुओं को तितर-बितर करके उन पर विजय प्राप्त करता है। बड़े या छोटे किसी भी युद्ध में वह प्रशंसित होने वाला पुरोहित है। इसे इन्द्र के साथ बार-बार बुलाया गया है। वह इन्द्र के साथ सोम पीता है अतः इसे भी 'मघवन्' की उपाधि दी गयी है। एकमात्र इन्द्र के साथ ही वह युग्म रूप में आता है (४. ४६.१) अतः उसे 'वज्रिन्' की उपाधि भी प्राप्त हो जाती है और उसका वर्णन असुर-हन्ता के रूप में होने लगता है।

वह अपने उपासकों पर अनुग्रह करता है। वह ऋजुधर्मा मनुष्यों को सभी संकटों, उत्पातों, अभिशापों और शत्रुओं से बचाता है और उस पर अत्यधिक धन-सम्पत्ति की वर्षा करता है। वह दयालु, धनद और सम्पत्ति को बढ़ाने वाला है। वह आयुवर्द्धक और रोगों का दमन करता है। उदारव त्ति के कारण ही वह पिता भी कहा जाता है (४.५०.६) वह असुर्य है, देवों का भी देवतम है। अपने रव से उसने प थिवी के छोरों को जकड़कर थाम रखा है।

ब हस्पति विशुद्ध भारतीय देवता है। स्वर और ध्वनि की द ष्टि से उसके समकालीन नाम ब्रह्मणस्पति से ज्ञात होता है कि ऋग्वेदीय कवि इसे 'ब हत्' प्रातिपदिक का षष्ठी तत्पुरुष का रूप समझते थे और इस शब्द की निष्पत्ति उसी धातु से हुई है जिसने ब्रह्मन् की। ब हस्पति मूलतः अग्नि के ही एक पक्ष के रूप में द ष्टिगोचर होता है और वह भक्ति का अधिष्ठाता दिव्य पुरोहित था। ऋग्वैदिक युग के प्रारम्भ में वह अपने स्वतन्त्र रूप को प्राप्त कर चुका था यद्यपि अग्नि से इसका सम्बन्ध अब भी पूर्ण रूप से प थक् नहीं हो पाया था। विल्सन, लॉग्लुई और मैक्समूलर भी इसे अग्नि का एक रूप मानते हैं। रॉथ के अनुसार ब हस्पति यज्ञ-देव एवं भक्ति, शक्ति का सीधा मानवीकरण है।

रुद्र :-

ऋग्वेद में रुद्र का स्थान गौण है। ऋग्वेद में केवल ३ पूरे और एक सूक्त अंशतः रुद्र के लिए आया है और एक अन्य सूक्त में सोम के साथ उसका नाम आता है। इसकी शारीरिक विशेषताएं निम्नस्थ हैं। इसका हाथ दुःखों को दूर करने वाला और सुखों को देने वाला भेषज रूप हैं (२.३३.७), भुजाएं और अवयव द ढ़ तथा संनद्ध (२.३३.६) हैं। रंग बभ्रु है, होंठ सुन्दर हैं (२.३३.५), बाल घुंघराले हैं (१.११४.६), आकार आंखों को चकाचौंध करने वाला है (१.११४.५) और इसके रूप अनेक हैं। ये द्युतिमान् सूर्य एवं स्वर्ण के समान भासित होते हैं। यह स्वर्णिम आभूषणों से सुसज्जित हैं और भांति-भांति के रूपों वाला निष्क पहनता है (२.३३.१०;११)। यह रथ पर बैठता है। इसके शस्त्रों का भी उल्लेख किया गया है। इसके हाथ में वज्र है। इसका विद्युत्-क पाण आकाश से छूटकर प थिवी पर भ्रमण करता है (७.४६.३)। इसके पास धनुषबाण भी हैं जो स्थिर और तीव्र गति वाले हैं (२.३३.१०, ११;५.४२.११;१०.१२५.६)। इसका आह्वान क शानु और तीर चलाने वालों के साथ हुआ है। इसका मरुतों के साथ साहचर्य का भी वर्णन मिलता है। यह उनका पिता है (१.११४.६)। इसने रुक्मवक्षस् मरुतों को प श्नि के शुक्ल ऊधस् से उत्पन्न किया (२.३४.२)। रुद्र कभी भी मरुतों के युद्धकौशल से सम्प क्त नहीं हुआ क्योंकि वह राक्षसों के साथ युद्ध में प्रव त्त नहीं होता है। ऋग्वेद में उसके लिए 'त्र्यम्बक' विशेषण का भी प्रयोग मिलता है (७.५६.१२) जो कि परवर्ती साहित्य में शिव का विशेषण है। यह म ग की भांति नीम (२.३३.११) और उपहन्तु अर्थात् घातक है। यह द्युलोक में अरुष वराह है (१.११४.५), व षभ है (२.३३.८), ब हत् (१.४३.७), द ढ़ बलवानों में बलिष्ठ, अषाढ़, अमेय शक्तिवाला, त्वरित गति वाला, त्वेष, युवा, ऋष्व, अजर एवं सुषुम्न है। इसे असुर (५.४२.११) अथवा द्युलोक का सबसे महान् असुर (२.१.६) भी बताया गया है। यह स्वयशस्, क्षयद्वीर (१.११४.१) और इस प्रभूत जगत् का ईशान और जगत् का पिता है (६.४६.१०)। अपने साम्राज्य के मानवजाति के शुभाशुभ को देखता है (७.४६.२)। यह सरिताओं को धरती पर प्रवाहित करता है। यह प्रचेतस् है (१.४३.१), कवि है, इसका हाथ म ळयाकु है। कई बार इसे मीढ्वस् कहा गया है। यह कामनाओं का पूरक है, प्रभूत अन्नादि का देने वाला है, तथा कल्याणकारी है (१०.६२.६)।

अनेक बार इसकी अनुदारता का भी संकेत मिलता है; इसके निमित्त कहे गये सूक्तों में इसके भीषण अस्त्रों से भीति और इसके अमर्ष से भय के भाव भी झलकते हैं। इससे प्रार्थना की गई है कि वह क्रोध में अपने उपासकों की ओर न भेज कर उनसे दूसरों को ध्वस्त करे (२.३३.११)। क्रोध आने पर भी अपने वज्र को लौटा ले और अपने उपासकों, उनकी सन्तान और गौओं को किसी भी प्रकार की हानि न पहुंचाएं। उन सबसे अपने गोघ्न और न घ्न वज्र को दूर ही रखे (२.३३.१)। रुद्र के दौर्मनस्य

एवं मन्यु से भय दर्शाया गया है। इससे यह प्रार्थना भी की गई है कि वह मानवजाति के सहायकों के प्रति दयालु हो। उपासक प्रार्थना करते हैं कि वे नीरोग बने और उन पर रुद्र देव की क पा रहे। इसका अनुनय न केवल विपत्ति से बचाने के लिए अपितु शम् प्राप्ति के लिए भी किया गया है। अनेक स्थलों पर रुद्र की रोगनिवारक शक्ति का भी उल्लेख मिलता है। यह औषधि भी देता है; प्रत्येक औषधि का शासक है और सहस्रों औषधियां रखता है (७.४६.३)। इसका हाथ यशस्कर और पीयूषमय (२.३३.७) है। इसकी सौख्यकारी औषधियों के द्वारा इसके उपासक 'शतंहिमाः' तक जीवित रहने की आशा करते हैं (२.३३.२)। इससे प्रार्थना की गई है कि वह अपने उपासकों के परिवारों से रोगों को दूर रखे, द्विपदों और चतुष्पदों के प्रति मीठा बनकर रहे जिससे ग्रामवासी सुपुष्ट और अनातुर बने रहें (१.११४.१)। रुद्र के लिए दो विशेषण 'जलाष' और 'जलाषभेषज' भी प्रयुक्त किये गये हैं (१.३४.४)। रुद्र की विद्युत् और उसको भेषजों के एक मन्त्र में साथ-साथ उल्लेख किया गया है (७.४६.३)।

रुद्र का प्राक तिक आधार स्पष्ट नहीं है। सामान्यतः इसे तूफान का देवता समझा जाता है। लेकिन यह प्रतीत होता है कि रुद्र मूलतः तूफान के शुचि एवं भद्र पक्ष के नहीं अपितु उसके घातक वैद्युत् पक्ष के प्रतिरूप थे। इसके दया-प्रवण एवं भैषज्य कार्यों के आधार अंशतः तूफान के प्रशामक और भूमि को उपजाऊ बनाने वाले व्यापार रहे होंगे। कुछ इसी प्रकार की प्रक्रिया ने क्रोध प्रशमनार्थ की गई प्रार्थनाओं द्वारा इसके सौख्यपरक 'शिव' विशेषण को जन्म दिया होगा जो कि आगे चलकर रुद्र के ऐतिहासिक उत्तराधिकारी देवता के रूप में वेदोत्तर कालीन गाथा में परिनिष्ठित नाम बनकर देश के सम्मुख आया है।

अर्थ की द ष्टि से रुद्र शब्द की व्युत्पत्ति अनिश्चित है। सामान्यतया इस शब्द की व्युत्पत्ति रुद् 'चिल्लाना' से की जाती है जिससे इसका अर्थ होता है 'चिल्लानेवाला'।

पर्जन्य :-

ऋग्वेद में पर्जन्य का स्थान गौण है। केवल तीन सूक्तों में पर्जन्य की स्तुति की गई है। यद्यपि पर्जन्य शब्द का शाब्दिक अर्थ 'बरसनेवाला बादल' किया जाता है तथापि इस शब्द से विग्रहवान् देवता का बोध होता है, जो मेघों का अधिष्ठाता है। अतः समय-समय पर पर्जन्य ऊधस्, कोश या द ति (५.८३.७,८) भी बन जाता है। पर्जन्य को अनेक बार व षभ कहा गया है अतः यह पशु मानवीय है। द्रुतगति से बरसने वाली बूँदों के कारण पर्जन्य एक व षभ है जो वीरुधों में वीर्य का निधान करता है (५.८३.१)। वायु के द्वारा प्रेरित होने पर अभ्र परस्पर मिल जाते हैं और नभस्वान् व षभ के धारापाती सलिल धरती को तर कर देते हैं (४.१५.१)। कभी-कभी पर्जन्य को 'स्तरी गौ' भी कहा गया है (७.१.३)। कभी यह गर्भ धारण करने के योग्य होता है और कभी-कभी यह अपने शरीर को तिरोहित कर लेता है।

द ष्टि इसकी सबसे प्रमुख विशेषता है। यह जलमय रथ पर चढ़कर चारों ओर दौड़ता है और जल-द ति को खोलकर पानी को नीचे उड़ेल देता है। अपने अश्वों को हांकने वाले सारथी के समान यह अपने व ष्टि-दूतों को प्रकट करता है। जब वह धारा में पानी बरसाता है तब सिंह के गर्जन के साथ व ष्टि करता हुआ आता है (५.८३.३)। इससे वर्षा करने की प्रार्थना की गई है और उचित वर्षा के बाद इससे अपने बादलों की मशक को रोक लेने का भी अनुनय किया गया है (५.८३.१०)। यह जल दिन-प्रतिदिन घटता-बढ़ता रहता है। वर्षुक पर्जन्य भूमि को उपजाऊ बनाता है। पर्जन्य अपने वारिवाह जलधरों के द्वारा प थिवी को आप्लाविक कर देता है और दिन में भी अन्धकार का घमासान मचा देता है (१.३८.६)। वह द्युलोक के अखण्ड कोश को उड़ेलता है, दोनों लोकों के मध्य से मेघों को भगाता है, वर्षा नीरस भूमि में समा जाती है (५.५३.६)। इसके गरजने का भी अनेक बार वर्णन किया गया है। गरजते हुए यह वनस्पतियों, दानवों और पापियों को मार गिराता है। इसके दारुण अस्त्रों से सारा संसार भयभीत है (५.८३.२)। विद्युत् के साथ इसका सम्पर्क है। जब पर्जन्य प थिवी में सत्त्व निधान करता है तब वायु बहती है और विद्युत् कौंधने लगती है (५.८३.४)। व ष्टिदेव होने के कारण यह वनस्पति का उत्पादक और पोषक है। इसके वीर्य से प थिवी सत्त्ववती बनती है और पौधे उग

आते हैं। यह मानवों के पोषण के लिए औषधि उत्पन्न करता है; औषधियों को अंकुरित एवं पल्लवित करता है। इसकी देख-रेख में व क्षों पर भरपूर फल लगते हैं (७.१०१.१;५)। इसके प्रताप से घास उत्पन्न होती है। पर्जन्य केवल पौधों में ही नहीं अपितु गौओं, अश्वों और स्त्रियों में भी सत्त्वनिधान करता है। (७.१०२.२)। चर और अचर की आत्मा इसी में है (७.१०१.६)। एकच्छत्र सम्राट् के रूप में यह सम्पूर्ण जगत् पर शासन करता है, इसी में प्राणिजात और तीन स्वर्ग स्थित हैं और इसी में तीनों प्रकार के जल प्रवाहित होते हैं (७.१०१.२;३)। इसके उत्पादन-व्यापार को ध्यान में रखकर कई बार इसे 'पिता' भी कहा गया है।

प थिवी इसकी स्त्री कही गई है। एक बार इसे द्यौस् का पुत्र भी कहा गया है (७.१०२.१) और एक बार इसे सोम का पिता भी कहा गया है (६.८२.३)। पर्जन्य का सम्बन्ध कुछ और देवताओं के साथ भी है। वात के साथ इसका निकट सम्बन्ध है। अनेक स्थानों पर अग्नि-पर्जन्य का द्वन्द्व वात के साथ आया है। पर्जन्य के साथ मरुतों का भी आह्वान किया गया है (५.६३.६)। मरुतों से प्रार्थना की गई है कि वे पर्जन्य के स्रोतों को गावें (४.१५.४)। व ष्टि के प्रकरण में इसकी तुलना इन्द्र के साथ की गई है। पर्जन्य शब्द की व्युत्पत्ति सन्देहास्पद है तथापि यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऋग्वेद में पर्जन्य शब्द का विशेषण है और साथ में मानवीक त देव का भी बोधक है।

आप :-

ऋग्वेद में आपः के निमित्त चार सूक्त और कुछ स्वतन्त्र मन्त्र भी कहे गये हैं। कुछ मन्त्रों में अन्य देवताओं के साथ भी इनका उल्लेख हुआ है। इन का मानवीकरण अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही है। इन्हें केवल माता, युवती में लिखा मिलता है कि वैदिक मार्ग प्रतिष्ठापक, धर्मब्रह्माध्वन्य, महाराजाधिराज श्री हरिहर ने ब्रह्मारण्य श्रीपादस्वामी के समक्ष चतुर्वेदभाष्य प्रवर्तक, नारायण वाजपेय याजी, नरीहरि सोमयाजी तथा पणडरि दीक्षित नामक तीन ब्राह्मणों को अग्रहार देकर सम्मानित किया। इस शिलालेख का 'चतुर्वेद भाष्य प्रवर्तक' शब्द संभवतः इस बात की सूचना कर रहा है कि इन तीन पण्डितों ने सायण को वेदभाष्य बनाने में सहायता प्रदान की। विद्यारण्य स्वामी के समक्ष में अग्रहार-दान भी इस प्रसंग में विशेष महत्त्व रखता है। यह तो सिद्ध ही है कि माधव ही विद्यारणय स्वामी थे। अतः जिनके प्रोत्साहन से वेदभाष्य की रचना हुई उन्हीं के समक्ष में इन ब्राह्मणों को सम्मानित करना इन तीन विद्वानों की भाष्य प्रणयन में किसी प्रकार की सहायता देने की सूचना दे रहा है ? इसी शिलालेख के आधार पर नरसिंहाचार्य ने इन विद्वानों को भाष्य-निर्माण में सायण का सहायक माना है। डा. गुणे ने भी ऋग्वेद भाष्य की अन्तरंग परीक्षा से वेदभाष्य के एक कर्त त्व होने में सन्देह प्रकट किया है। इन्होंने वेदभाष्य के भिन्न-भिन्न अष्टकों में प्राप्त होने वाले मन्त्रांशों की विभिन्न व्याख्या शैली देखकर यह निश्चय करने का प्रयत्न किया है कि इन भागों की भिन्न-भिन्न विद्वानों ने व्याख्या लिखी है। इन विद्वानों का सन्देह किसी ही अंश में सत्य हो सकता है सर्वांश नहीं। सायणाचार्य विजयनगर के मन्त्री थे। अनेक विद्वानों का जमघट विद्याप्रेमी राजा के दरबार में अवश्य होता होगा। यह अनुमान-सिद्ध है। अतः कतिपय विद्वानों ने सायण को इस विशाल कार्य में सहायता अवश्य पहुँचाई होगी। यह कोई असंभव घटना नहीं प्रतीत होती। परन्तु इससे इस मत का खण्डन किसी अंश में भी नहीं होता कि वेदभाष्य का कर्त त्व एक ही पुरुष के ऊपर निर्भर है। वेदों के भिन्न-भिन्न संहिता भाष्यों के अनुशीलन करने से हम इसी सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि ये सब भाष्य न केवल एक ही पद्धति से लिखे गये हैं बल्कि इनके मन्त्रों के अर्थों में भी नितान्त साम जस्य है। मन्त्रार्थ में विरोधाभास को देखकर भले ही कतिपय आलोचक चक्कर में पड़ जायें और सायण के कर्त्त व्य में अश्रद्धालु हों परन्तु वेदभाष्यों की विशालता को देखकर, मन्त्रार्थों की व्याख्या का अनुशीलन कर, वेदभाष्यों के उपोद्घातों का मनन कर, हम इसी सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि बाह्य कल्पित विरोधों के अस्तित्व होने पर भी, इनके ऊपर एक ही विद्वान् रचयिता की कल्पना की छाप है और वह रचयिता सिवाय सायणाचार्य के अन्त कोई व्यक्ति नहीं है।

जिन तीन विद्वानों का ऊपर उल्लेख किया गया है वे विशेष प्रभावशाली प्रतीत होते हैं। १४३७ सं (१३८० ई.) में नारायण बाजपेययाजी को दान का उल्लेख मिलता है। १४३८ सं. (१३८१ ई.) नारायणं, नरहरि तथा पण्डरि दीक्षित को हरिहर द्वितीय के पुत्र चिक्कराम ने भूमिदान दिया जब वे 'आरग' नामक स्थान के शासक थे। इन पण्डितों ने सायण को वेदभाष्य में लिखने की सहायता अवश्य की थी। सायण के साथ सहयोग देने के लिए विद्वानों की एक मण्डली उपस्थित थी जो उनकी संरक्षरता में वेद के भिन्न-भिन्न भागों पर भाष्य लिखती थी, यह सिद्धान्त मानना युक्तिपूर्ण है। इतना होने पर भी भाष्यों की एककर्त ता में हम अविश्वास नहीं कर सकते क्योंकि इनकी रचना में सायण ही पथ प्रदर्शक थे।

दार्शनिक सूक्त :-

ऋग्वेद के १२ सूक्त दर्शन सम्बन्धी तथ्यों का विवेचन करते हैं। इन्हीं सूक्तों के द्वारा जगत की स ष्टि किस प्रकार हुई, इसका अधिष्ठाता देव कौन है, संसार का चक्र किस प्रकार चलता है, आदि दार्शनिक प्रश्नों पर प्रथम बार द ष्टिपात किया गया है।

ऋग्वेद की प्रारम्भिक अवस्था में बहुदेवतावाद में विश्वास किया जाता था परन्तु वैदिक ऋषि इससे सन्तुष्ट न हो सके और वे शनैः शनैः एकेश्वरवाद की ओर अग्रसर हुए। इन ऋषियों की असन्तुष्टि के दो कारण थे। प्रथम कारण तो यह था कि वैदिक ऋषियों ने सोचा कि जगत् की कर्त्री, धर्त्री और संहारकर्त्री केवल एक शक्ति ही हो सकती है। उन्होंने सोचा कि जिस प्रकार परिवार के सभी सदस्य ग हस्थी का स चालन नहीं कर सकते; केवल एक ही सदस्य के द्वारा मार्ग दर्शन किए जाने पर अनुशासन व सुव्यवस्था बनी रहती है उसी प्रकार अनेक देवताओं के द्वारा नियन्त्रित जगत् में अस्तव्यस्तता तथा अव्यवस्था हो जाएगी। अतः इस स ष्टि की स चालक एक ही शक्ति हो सकती है।

इस सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यद्यपि बहुदेवतावाद के साथ एकेश्वरवाद असम्भव है तथापि एकेश्वरवाद के अन्तर्गत बहुदेवतावाद सम्भव है। कारण यह है कि इस समस्त स ष्टि का स चालक और दिग्दर्शक तो एक ही ईश्वर है फिर भी वह अपनी सहायतार्थ अन्य देवताओं को भी कार्यभार सौंप सकता है, यद्यपि उन देवताओं का कार्यक्षेत्र सीमित ही होगा। यह व्यवस्था सम्भवतः उसी प्रकार की होगी जिस प्रकार वर्तमान शासन प्रणाली में एक प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता में एक सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल होता है। यद्यपि नीति निर्धारण तो प्रधानमन्त्री ही करता है तथापि प्रत्येक मंत्री अपने-अपने विभाग का प्रमुख स चालक होता है। इस तथ्य की पुष्टि कि सबकी अध्यक्षता और नियन्ता तो एक ही शक्ति है और शेष अन्य देवता उसके अधीन हैं, हिरण्यगर्भ सूक्त की प्रस्तुत पंक्ति से भी होती है - ''यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः' अर्थात् जिसकी आज्ञा की सभी देवता उपासना करते हैं।''

वैदिक ऋषियों की असन्तुष्टि का दूसरा कारण यह भी था कि वैदिक आर्यों में दैविक शक्तियों की वैयक्तिकता के सम्बन्ध में संदेह उत्पन्न होने लगे थे। यहाँ तक कि इन्द्र जैसे महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली देवता के स्वतन्त्र अस्तित्व के बारे में भी लोगों को संशय होने लगा था कि वह है भी या नहीं -

'यं स्मा प च्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषो स्तीत्येनम्।

इन दो कारणों से वैदिक ऋषियों ने एक देवता को दूसरे देवता के समान मानना प्रारम्भ कर दिया और दो या तीन-तीन देवताओं का एक साथ आह्वान करना प्रारम्भ कर दिया। यह बहुदेवतावाद से एकेश्वरवाद की तरफ अग्रसर होने का प्रथम चरण था। यह प्रव त्ति बढ़ते-बढ़ते इतनी चरम सीमा तक पहुँच गई कि ऋग्वेद के X-121 में प्रजापति की ही स ष्टि के उत्पादक तथा रक्षक के रूप में स्तुति की जाने लगी। वही समस्त महा भूतों को व्याप्त करके विद्यमान है -

''प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव।''

ऋग्वेद के कुछ दार्शनिक सूक्त ऐसे हैं जो 'स ष्टि की उत्पत्ति किस प्रकार हुई' इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न करते हैं। X.81.4 में ऋषि पूछता है कि - 'वह कौन-सा पेड़ था, वह कौन-सी लकड़ी थी, जिससे स्वर्ग और प थ्वी को बनाया गया -

''कि स्विद्वनं क उ स व क्ष आस यतो द्यावाप थिवी निष्टतक्षुः।''

इस समस्या का समाधान करने वाले ऋग्वेद में पुरुष सूक्त (X. 90), हिरण्यगर्भ सूक्त (X. 121) और नासदीय सूक्त (X.129) ये तीन सूक्त सबसे महत्त्वपूर्ण हैं।

पुरुष सूक्त के अनुसार पुरुष का शरीर ही मूल सामग्री है। वहीं उपादान कारण है जिससे जगत् की उत्पत्ति हुई। देवता केवल सहायक उपकरण हैं। वे इस स ष्टि के कर्ता हैं; स ष्टि उत्पन्न करने का कार्य एक यज्ञ है जिसमें पुरुष की बलि दी जाती है -

'देवा यद् यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम्।'

वह परम पुरुष सहस्रशीर्ष तथा सहस्रपात् है जो समस्त प थ्वी को व्याप्त करने के बाद भी शेष है -

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।

स भूमिं विश्वतो व त्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।।

इसका तात्पर्य यह है कि वह परम पुरुष असीमित शक्ति से युक्त है जिसकी शक्ति का थोड़ा-सा ही अंश प्रक ति की विभिन्न वस्तुओं में द ष्टिगोचर होता है और तब भी वह शक्ति समाप्त नहीं होती। उस परम पुरुष के विभिन्न अंग संसार के विभिन्न अंग बन गए। उसकी नाभि अन्तरिक्ष बनी, मस्तक स्वर्ग बना, पैर भूमि बने तथा श्रोत्र से दिशाएँ बनीं -

''नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।

पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकां अकल्पयन्।।

इस सूक्त में परम पुरुष को ही जगत् माना गया है -

''पुरुष एवेदं सर्वे यद् भूतं यच्च भव्यम्।'

यह ध्यातव्य है कि पुरुष सूक्त का 'पुरुष' ही उपनिषदों में 'ब्रह्म' कहलाया और पुरुषसूक्त का यही विचार कि पुरुष ही जगत् है, उपनिषदों में अपने विकसित रूप को प्राप्त हुआ।

यही पुरुष सांख्यदर्शन में 'परमात्मा' कहलाया जो प्रक ति से प थक् है और अक्रिय हैं पुरुष सूक्त में यह सक्रिय पुरुष बन जाता है जो इस संसार का उत्पादक और संहारक है। संसार का ही दूसरा नाम 'विराज' भी है क्योंकि यह विविध प्रकार से सुशोभित होता है (विविधं राजते इति) 'तस्माद्विराडजायत।'

हिरण्यगर्भ सूक्त के अनुसार संसार की उत्पत्ति हिरण्यगर्भ (सुवर्णमय गर्भ या सुवर्णमय अण्डा) से हुई। संसार में सर्वत्र व्याप्त आदिम जलों में हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति हुई (X. १२१.७)। बाद में हिरण्यगर्भ दो भागों में विभक्त हो गया। एक से प थ्वी लोक बना तो दूसरे से स्वर्ग लोक -

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।

स दाधार प थिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।।

(ऋग्वेद X. १२१.१)

यह हिरण्यगर्भ प्रजापति का पर्याय है। अतः हिरण्यगर्भ सूक्त के अनुसार प्रजापति ही इस संसार का कर्ता, धर्ता तथा संहर्ता है - **'यस्य छायाम तं यस्य म त्युः'** अर्थात् जिसकी छाया अम तत्व है और जिसकी म त्यु है।

स ष्टि की उत्पत्ति के विषय में विस्तार से विचार करने वाला नासदीय सूक्त (X. १२६) है। इसके अनुसार तब न तो असत् था क्योंकि स ष्टि की उत्पत्ति असत् (अविद्यमान) से कैसे हो सकती है और न ही सत् (विद्यमान) था क्योंकि प थ्वी, स्वर्ग इत्यादि जैसे द श्य पदार्थ नहीं थे। न म त्यु थी, न जीवन था, न रात थी, न दिन था और न ही अन्य कोई वस्तु। एक अकेला बौद्धिक तत्त्व अपनी शक्ति से विद्यमान था -

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।

न म त्युरासीदम तं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।

आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः कि चनास।।

प्रस्तुत सूक्त सर्वोत्तम दार्शनिक तथ्य का प्रतिपादन करता है क्योंकि ब्रह्म को हम अपनी सीमित शक्तियों द्वारा नहीं देख सकते। उस एक बौद्धिक तत्त्व ने इच्छा की कि ''एको हं बहु स्याम प्रजायै'' अर्थात् मैं एक हूँ, प्रजा के लिए बहुत हो जाऊं। इसकी इसी इच्छा (काम) से इस स ष्टि की उत्पत्ति हुई -

'कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।'

अर्थात् कामना इसका प्रथम विकास थी जो चेतना का प्रथम बीज है। उसकी यही कामना उसका 'तप' कहलाई। तैत्तिरीय आरण्यक में भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है -

'सो कामयत बहु स्यां प्रजायेयेति स तपो तप्यत्।

स तपस्तप्तवेदं सर्वमस जत यदिदं किं च।'' (तैतरीय आरण्यक ८.६)

अंत में यह संदेह कि कोई इस स ष्टि की उत्पत्ति के बारे में वास्तव में जानता भी है या नहीं, एक बुद्धिमान् व्यक्ति की अज्ञानता प्रकट करने का सुन्दर उदाहरण है -

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्कुत आजाता कुत इयं विस ष्टिः।

अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव।।

अर्थात् कौन सचमुच जानता है, कौन यहाँ घोषणा कर सकता है कि यह विशिष्ट स ष्टि कहाँ से उत्पन्न हुई, कहाँ से आई ? इसकी स ष्टि के पश्चात् देवता उत्पन्न हुए पर कौन जानता है कि स्वयं इसका उद्भव कहाँ से हुआ है ?

एकेश्वरवाद को प्रतिपादित करने वाला यह सूक्त ऋग्वेद का सबसे सुन्दर और काव्यात्मक सूक्त है।

ऋग्वेद के १०.७२.२ में कहा गया है कि असत् से सत् की उत्पत्ति हुई।

परस्पर भिन्नता होते हुए भी उपर्युक्त सभी प्रसंगों से यह स्पष्ट है कि स ष्टि की कर्ता एक ही शक्ति है जिसकी प्रतिच्छाया प्रक ति की प्रत्येक वस्तु में द ष्टिगोचर होती है। इस शक्ति को अग्नि, इन्द्र, प्रजापति आदि चाहे किसी भी नाम से पुकार लें, अन्ततोगत्वा ये सब उसी एक शक्ति के विभिन्न रूप हैं। जैसा कि ऋग्वेद के प्रस्तुत तंत्र से स्पष्ट है -

इन्द्र मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गुरुत्मान्।

एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वनमाहुः।।

(ऋग्वेद १.१६४.४६)

'म त्यु के बाद मनुष्य का क्या होता है ?' एक प्रश्न पर ऋग्वेद में द ष्टिपात किया गया है। वैदिक ऋषि अपने मरणोत्तर जीवन के प्रति भी आशावादी थे। उनके अनुसार मरणोपरान्त प्रेतात्मा अथवा आत्मा शाश्वत प्रकाशमय दिव्यधाम की तरफ उसी मार्ग से जाता है जहाँ उसके पूर्वज गए थे

और वहाँ स्वधा से आनन्दित होते हुए यमराज और वरुण देव को देखता है -

प्रेहि प्रेहि पथिभिर्पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः।

उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम्।।

(ऋग्वेद १०.१४.७)

उनका विश्वास था कि म त्यु के समय मनुष्य का भौतिक शरीर तो अग्नि में जलकर भस्म हो जाता है परन्तु परलोक में जाकर उसे एक और तेजस्वी शरीर प्राप्त होता है जैसा कि ऋग्वेद की प्रस्तुत पंक्ति से स्पष्ट है -

'हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि संगच्छस्व तन्वा सुवर्चाः।' (ऋग्वेद १०.१४.८)

अर्थात् तुम समस्त निन्दनीय आचरण को छोड़कर अपना स्थान पुनः प्राप्त करो और एक उत्तम दीप्तियुक्त शरीर के साथ संगत हो।

परलोक में पुनः नवीन शरीर प्राप्ति का कारण सम्भवतः यह हो कि पार्थिव शरीर प थ्वी पर ही रहने योग्य हो सकता है, परलोक के सुखों को भोगने के लिए एक अन्य दिव्य शरीर की आवश्यकता होती ही होगी।

ऋग्वेद में तीन प्रकार के स्वर्गों का उल्लेख है जैसा कि तिस्रो दिवः, तिस्रो द्यावः, त्रिनाक, त्रिदिव आदि पदों से स्पष्ट है। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वर्ग की उत्तम, मध्यम तथा अधम तीन श्रेणियां होंगी और मनुष्यों को अपने कर्मानुसार ही उनकी प्राप्ति होती होगी। ऊपर जिस यमलोक का उल्लेख किया गया है, वह अधम प्रकार का होगा। शेष दो अधिक श्रेष्ठ होंगे क्योंकि ऋग्वेद में विष्णु के तीन चरणों के संदर्भ में भी उसके अन्तिम चरण को विष्णु का परम पद बतलाया गया है '**तद् विष्णोः परमं पदम्।'** यहीं मधु का झरना है '**मध्व उत्सः।**' यह केवल पुण्यात्माओं को ही प्राप्त होता है - **'नरो यत्र देवयवो मदन्ति।'** इसे शुभ कर्मों द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। अतः इसे सुक तों का लोक भी कहा गया है। यही देवलोक और अम तलोक का भी प्रतीक है।

ऋग्वेद में सुक त् अथवा शुभ कर्मों की अत्यधिक प्रशंसा और दुष्कर्मों की निन्दा की गई है। देवताओं के लिए **'सुक तः'** एवं **'सक्रतुः'** विशेषणों का प्रयोग है। शुभ कर्म वाले ही मधुरस का भक्षण करते हैं - '**सुक त्तमाः मधुनो भक्षमाशत्'** जबकि इसके विपरीत दुष्क त् व्यक्ति ऋत् के मार्ग को पार नहीं कर सकते - '**ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्क तः**'। देवता भी दुराचारियों की सहायता नहीं करते।

यद्यपि परवर्ती साहित्य में कर्मसिद्धान्त का पुनर्जन्मसिद्धान्त से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया गया है तथापि ऋग्वेद के शुभ कर्मों के महत्व और दुष्कर्मों के अशुभ परिणाम को प्रतिपादित करने के लिए पुनर्जन्म का स्पष्ट संकेत कहीं नहीं प्राप्त होता। उषा के लिए प्रयुक्त विशेषण '**पुनः पुनर्जायमाना'** (पुनः पुनः उत्पन्न होती हुई) और '**पुनर्भू**' आदि शब्दों से यह तो प्रतीत होता है कि वैदिक ऋषियों के मन में पुनर्जन्म की धारणा का बीज प्रस्फुटित हो गया था परन्तु उसका विकास ब्राह्मण ग्रन्थों एवं उपनिषदों में ही हुआ।

सम्भवतः आशावादी विचारधारा के अनुकूल न होने के कारण वैदिक ऋषियों ने इसे महत्त्व नहीं दिया तथापि उन्होंने इतना स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि अपने द्वारा किए गए कर्मों के अनुरूप ही मनुष्य को सर्वोत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकार के स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है। वैदिक आर्यों में म त्यु का भय नहीं था क्योंकि उनका विश्वास था कि म त्यु के बाद भी मनुष्य को एक नूतन दिव्य शरीर प्राप्त होता है; वह परलोक में अपने पितरों से मिलता है और आनन्दित होता है। इ स प्रकार दर्शन सम्बन्धी कोई भी प्रश्न ऐसा नहीं है जिस पर ऋग्वेद में द ष्टिपात न किया गया हो।

लौकिक सूक्त :-

ऋग्वेद में धार्मिक तथा दार्शनिक सूक्तों के अतिरिक्त ऐसे बहुत से सूक्त हैं जिनमें तात्कालिक

लोक के विविध विषय प्रकीर्ण रूप में प्राप्त होते हैं। अतः इनका वर्गीकरण करते हुए इन्हें लौकिक सूक्त कहा जा सकता है।

इस वर्ग के अन्तर्गत कुछ प्रमुख सूक्त इस प्रकार हैं :- आप्री, पौराणिक, प्रहेलिकात्मक, यातु अथवा अभिचारात्मक, काव्यात्मक, दान स्तुति, संवाद तथा शिक्षात्मक। यहाँ यह स्मरणीय है कि उक्त वर्गीक त सूक्तों में सभी प्रतिनिधित्व करते हों ऐसी बात नहीं है। कई बार एक ही सूक्त में भिन्न-भिन्न वर्गों में वैशिष्ट्य देखने को भी मिलता है। यह वर्गीकरण तो ऋग्वेद के वर्ण्य विषय को सरलता से समझने के उद्देश्य से किया गया है।

आप्री सूक्त :-

ऋग्वेद में एक विशेष प्रकार के सूक्तों को आप्री सूक्तों का नाम दिया गया है। ये सूक्त विशिष्ट देवताओं, असुरों अथवा एक ही देवता के विशिष्ट रूपों को जिनकी एक प थक् देवता के रूप में कल्पना की गई - तुष्ट करने के लिए या मनाने के लिए प्रयुक्त किये जाते थे। ये आप्री सूक्त प थक्-प थक् ऋषि सम्प्रदायों के अनुसार प थक्-प थक् माने गये हैं। उदाहरणार्थ - शौनक शाखा के अनुसार ऋग्वेद का ५.२८, वसिष्ठ गोत्र के अनुसार ऋग्वेद का ७.२ तथा अन्यों के अनुसार ऋग्वेद का १०.११० इस प्रकार के सूक्त हैं। सायण ने ऋग्वेद १.१३ पर भाष्य करते हुए काण्व सम्प्रदाय के अनुसार १२ आप्री सूक्तों का नाम गिनाया है। उसके अनुसार ये १२ प थक् देवता हैं और इन्हें तुष्ट करने के लिए इन सूक्तों का प्रयोग किया गया है। ऋग्वेद में केवल १० आप्री सूक्त गिनाये गये हैं। अग्नि के जिन रूपों को स्वतन्त्र देवता के नाम से गिनाया है वे इस प्रकार हैं - (१) इध्मः समिद्धो ग्निर्वा, (२) तनूनपात्, (३) नराशंसः, (४) इळः, (५) बर्हिः, (६) देवीर्द्वारः, (७) उषासानक्ता, (८) दैव्यौ होतारौ प्रचेतसौ, (६) तिस्रो देव्यः सरस्वतीळाभारत्यः, (१०) त्वष्टा, (११) वनस्पतिः, (१२) स्वाहाक तयः। आप्री सूक्तों का प्रयोग पशुयज्ञों में किया जाता था। इन सूक्तों में प्रायः ११ या १२ मन्त्र हैं और इनका विनियोग देवताओं को यज्ञ में लाने के लिए अग्नि के उपर्युक्त नामों के साथ किया जाता था। चौथे या पांचवें मन्त्र का उच्चारण करते समय ऋत्विजों को उस दर्भ घास के चारों ओर खड़ा होना पड़ता था जो देवताओं के बैठने के लिए बिछायी जाती थी। सूक्तों का अन्तिम से पहला मन्त्र यूप को लक्ष्य करके बोला जाता था। यद्यपि ये सूक्त एक द ष्टि से यज्ञविषयक भी कहे जा सकते हैं परन्तु इनका परिगणन प थक् नाम से किया गया है।

पौराणिक सूक्त :-

ऋग्वेद के देवताओं के साथ कुछ इस प्रकार की घटनाएं जुड़ी हुई हैं जिनका रूप हम पौराणिक कथा, अनुश्रुति या आख्यान में देख सकते हैं। देवता वर्णन में यह दिखाया जा चुका है कि प्रत्येक देवता चाहे वह प्रक ति का अंश हो अथवा अमूर्तभाव रूप हो, अपने उच्चतम रूप में एक चेतन और मानवाकार रूप में द ष्टिगोचर होता है। इस रूप में उसके द्वारा सम्पादित नाना घटनाएं ही मूल रूप में पौराणिक कथा, अनुश्रुति और आख्यानों की आधारभूमि हैं। इन्द्र द्वारा व त्र और शम्बर का वध, उसके द्वारा द्यु लोक और प थिवीलोक को प थक् करके धारण करने की क्रिया और सोमपान आदि का वर्णन नाना रूपों में विविध कथाओं और आख्यानों के जनक कहे जा सकते हैं। एक पौराणिक आख्यान भूतकालिक ऐसी घटना की ओर इंगित करता है जो किसी देवता द्वारा सर्वप्रथम सम्पन्न मानी जाती थी। इसे हम क त्रिम इतिहास नहीं कह सकते। इसका बार-बार वर्णन एकमात्र चिन्तन का विषय नहीं था परन्तु उसका मुहुर्मुहु उपस्थापन एक शक्तिविशेष से आविष्ट माना जाता था। इसका वर्णन करने वाले ऋषि के लिए यह एक ‘सत्य’ था जो पवित्रता और विशिष्ट मर्यादा से अनुस्यूत था। भूतकाल की इस प्रकार वर्णित यह घटना शाश्वत थी और प्रतिदिन घटित होती थी। इसी कोटि में विष्णु द्वारा तीन विक्रमों में विश्व को मापना तथा अग्नि, वरुण, रुद्र, मरुत्, पूषन्, अश्विनौ आदि देवताओं से सम्बन्ध रखने वाली घटनाएं आती हैं। ऐसे आख्यानों में कभी-कभी ऐसी घटनाओं और व्यक्तियों का वर्णन मिलता है जिन्हें प्रतीकात्मक वर्णन कहने के साथ-साथ पौराणिक, ऐतिहासिक

या अनुश्रुति प्रधान वर्णन भी कहा जा सकता है। मन का सर्वप्रथम यज्ञसम्पादन, सूर्य का विवाह, उषस् का वर्णन, ऋभुओं के शिल्प आदि - ये सब इसी कोटि में माने जा सकते हैं। इन पौराणिक कथाओं और आख्यानों का उपयोग निस्सन्देह तत्कालीन मानव को ऐसे तथ्यों और तत्त्वों को समझाने के लिए भी किया गया जिनका अवबोधन अमूर्त तर्क और विश्लेषण के द्वारा नहीं हो सकता था। इनके द्वारा ब्रह्माण्डोत्पत्ति, ब्रह्माण्डविज्ञान, अन्तरिक्षीय और वायुमण्डलीय समस्याओं का समाधान तत्कालीन विश्वासों के प्रकाश में किया जा सकता था। एक सामान्य-सी प्राक तिक घटना परस्पर विरोधी आख्यानों को जन्म दे सकती थी। उदाहरणार्थ उषाकाल के पश्चात् सूर्योदय होता है, इस तथ्य को आख्यान का रूप देने पर सूर्य उषा का पुत्र बन जाता है। इसके विपरीत युवति उषा का अनुगमन करने वाला सूर्य उसका प्रेमी चित्रित किया गया है। ये दोनों ही आख्यान एक ही घटना के दो रूप हैं और अपने-अपने स्थान पर उपयुक्त हैं, परन्तु इनके मूल में विद्यमान काव्य सौन्दर्य को बिना समझे इन्हें परस्पर संश्लिष्ट कर देने पर एक अत्यन्त अनैतिक रूप उभारा जा सकता है।

ऋग्वेद में पौराणिक कथाओं और आख्यानों की कमी नहीं है पर उनमें से एक भी हमें अपने सम्पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं होता। इन तथाकथित आख्यानों के रूप को जिस रूप में अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों ने उपस्थित किया है उसके लिए ऋग्वेद से बाहर और समय की द ष्टि से दूरवर्ती खण्डित और विच्छिन्न घटकों का सहारा लिया है। इन आख्यानों को अपना मनोवा छित रूप देने के लिए जहां प्राचीन भाष्यकारों ने पश्चात्कालीन पौराणिक कथाओं की सहायता ली है वहां ए. कुह्न, मैक्समूलर आदि ने इनमें भारतयूरोपीय काल की मिथक गाथाओं का सम्बन्ध खोजने का यत्न किया है। इस विषय पर विस्त त विवेचन करने के पश्चात् हौण्डा इसी परिणाम पर पहुंचा है कि ग्रीक और भारतीय पौराणिक गाथाओं और तत्त्वों में समानता ढूंढ़ने का प्रयत्न किसी निश्चित परिणाम पर नहीं ले जाता। ऐसा प्रयत्न अत्यन्त अनिश्चयात्मक और किसी भी प्रकार के पाठों पर आधारित प्रमाण से रहित है। वैदिक देवताओं के साथ जुड़ी हुई पौराणिक कथाएं, अनुश्रुतियां और आख्यान मूलतः, ऋषियों की काव्यात्मक स्वैरकल्पनाओं से प्रादुर्भूत हुई थीं। शायद यही कारण रहा है कि एक ही चित्रण को आगे आने वाले अनेक द्रष्टाओं ने उन्हें नानारूपों में देखा और अपने-अपने काल्पनिक मनोराज्य में नवीन से नवीनतर रूप प्रदान किया।

पौराणिक कथाओं से प थक् करके कुछ अनुश्रुतियों पर स्वतन्त्र रूप से विचार करना यहां आवश्यक प्रतीत होता है। निस्सन्देह पौराणिक कथाओं और अनुश्रुतियों में भेद करने वाली कोई निश्चित रेखा नहीं खींची जा सकती तथापि इन अनुश्रुतियों के और आख्यानों में पौराणिक गाथाओं की अपेक्षा एक नवीन तत्त्व जुड़ा हुआ दिखाई देता है। पौराणिक कथाओं और गाथाओं का सम्बन्ध अतिमानवीय तत्त्वों के साथ सम्प क्त था जबकि अनुश्रुतियों और आख्यानों में अतिमानवीय पक्ष के साथ लौकिक और मानवीय तत्त्व अधिक जुड़े हुए हैं। इन्द्र और व त्र का युद्ध और विष्णु के तीन पद तथा ऐसे ही अन्य मिथक और पौराणिक गाथाएं दैवीय तथा अतिमानवीय तत्त्वों के वर्णन से भरपूर हैं। अनुश्रुतियों में अतिमानवीय तत्त्व के साथ मनुष्यों और पशुओं का संसार घुलमिल गया है। पौराणिक कथाओं की तरह इनका भी ऋग्वेद में विस्त त वर्णन नहीं मिलता पर इनके विषय में आकस्मिक और अनियमित निर्देश पर्याप्त मिलते हैं। ये अनुश्रुतियां और आख्यान किसी सम्पूर्ण सूक्त के मुख्य वर्णनात्मक विषय भी हो सकते हैं और कभी किसी देवता की स्तुति और प्रशंसा में एक अनियमित निर्देश के रूप में भी मिलते हैं। कभी-कभी ऐसे अनियमित निर्देश के विषय में अपेक्षया विस्त त वर्णन किसी अन्य सूक्त में मिलता है। उदाहरणार्थ अश्विनौ देवताओं द्वारा घोषा को पति प्राप्त कराने की अनुश्रुति एक संक्षिप्त निर्देश के रूप में ऋग्वेद १.११७.७ में मिलती है। यही अनुश्रुति ऋ. १०.४० में अधिक विस्तार के साथ निर्दिष्ट है। अनुश्रुतियों और आख्यानों की बहुलता अश्विनौ देवताओं के चामत्कारिक क त्यों के वर्णन में द ष्टिगोचर होती है। देवताओं के वैद्य के रूप में अश्विनौ देवताओं का वर्णन ऋग्वेद में उपलब्ध होता है। उनकी यह दक्षता केवल देवताओं के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है। अपनी इस

शक्ति का प्रयोग उन्होंने मनुष्यों के उपकार के लिए भी किया है। ऋग्वेद में कम से कम ७ स्थानों पर च्यवन को वार्धक्य से मुक्ति देकर उसे पुनः नवयौवन प्रदान करने का वर्णन आया है। इसी प्रकार उन्होंने विश्पला की टूटी हुई जंघा के स्थान पर लोहनिर्मित जंघा लगायी। अश्विनौ देवताओं के साथ जिन अन्य मनुष्यों और पशुओं का नाम जुड़ा हुआ है उनमें विभद, भुज्यु, अघाश्व, अत्रि, गौतम, वन्दन, दध्यङ् आथर्वन्, भद्रिमती, ऋज्राश्व, भरद्वाज तथा वर्तिका, व क, रासभ, व षभ, शिंशुमार आदि प्रमुख हैं। इन मानवों और पशुओं के साथ गहन रूप से जुड़े हुए आख्यानों का वर्णन अश्विनौ देवताओं के सूक्तों में स्थान-स्थान पर आया है। इन आख्यानों में कुछ मूल भाव अत्यंत लोकप्रिय रहे हैं। इनमें बुढ़ापे से मुक्ति प्रदान करके युवावस्था को प्राप्त कराना, अन्धत्व को दूर करके द ष्टि प्रदान करना, खोये हुए व्यक्ति को ढूंढकर उचित स्थान पर पहुंचाना, पशु-पक्षियों की सहायता करना आदि प्रमुख हैं। ऐसे आख्यान और अनुश्रुतियां स्थान-स्थान पर दोहरायी गयी हैं। ऋग्वेद में काव्यात्मक और विस्त त वीरगाथाओं का अभाव है। राजाओं की दानशीलता और विजय तथा सैनिकों की शूरता का वर्णन संक्षेप में ही किया गया है फिर चाहे इन वर्णनों को अन्यत्र दोहराना भी क्यों न पड़े। बहुत सी अनुश्रुतियां और आख्यान चाहे वह अश्विनौ देवता से सम्बद्ध हों या मरुत् आदि से चामत्कारिक घटनाओं से युक्त मिलते हैं। देवताओं द्वारा ये चामत्कारिक क त्य अपने स्तोताओं की सहायता के लिए सम्पादित किये गये थे। मरुतों और अश्विनौ देवताओं ने अपने क पापात्रों की प्यास बुझाने के लिए पहले से अविद्यमान कुएं को खोदकर उसे उल्टा कर दिया।

ऋग्वेद में मिलने वाले ऐसे आख्यानों में जिन व्यक्तियों के नाम मिलते हैं उनके विषय में यह निश्चय करना लगभग असम्भव प्रतीत होता है कि वे नाम किसी व्यक्ति विशेष के हैं अथवा किसी गोत्र या वंश के हैं अथवा नाम साद श्य के कारण उन नामों से एकाधिक व्यक्ति अभिप्रेत हैं। ऐसे नामों में वसिष्ठ, विश्वामित्र, श्यावाश्व, मेधातिथि, पुरूमीळ आदि हैं। कुछ आख्यानों में ये व्यक्ति एक पात्र के रूप में उपस्थित होते हैं और इन्हीं के नाम के व्यक्ति या ये स्वयं इन आख्यानों का वर्णन करने वाले सूक्तों के ऋषि भी बताये गये हैं। ऐसा एक आख्यान शुनःशेप का आख्यान है जो ऋग्वेद से लेकर ऐतरेय आरण्यक तक में मिलता है। एक ओर जहां शुनःशेप हरिश्चन्द्र के पुत्र रोहित के बदले वरुण को बलि रूप में दिये जाने के लिए आख्यान का मुख्य पात्र है वहीं दूसरी ओर ऋग्वेद में यह एक ऋषि के रूप में कई सूक्तों में कर्ता या द्रष्टा वर्णित है। ऐसी परिस्थितयों के कारण किसी आख्यान का प्रारम्भ कब और किस रूप में हुआ यह बात निश्चय से कह सकना सम्भव नहीं है। तथापि यह एक तथ्य है कि ऋग्वेद में पौराणिक कथाओं और आख्यानों की एक बड़ी संख्या हमें उपलब्ध होती है जो आगे चलकर ब्राह्मण साहित्य में और पुराण साहित्य में नई से नई कथाओं को जन्म देने में सहायक सिद्ध हुई।

वर्तमान में 'इतिहास' शब्द से जो तात्पर्य लिया जाता है - अर्थात् महत्त्वपूर्ण घटनाओं और व्यक्तियों का क्रमिक विवरण - उस अर्थ में ऋग्वेद में इतिहास उपलब्ध नहीं होता। जिन व्यक्तियों, राजाओं, ऋषियों, जातियों और कुलों के निर्देशक नामों को आधार मानकर ऋग्वेद में इतिहास खोजने का जो प्रयत्न किया जाता है वह भी विवादास्पद ही है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि ऋग्वेद में मिलने वाले नाम निश्चयात्मक रूप से किसी व्यक्ति विशेष को सूचित करने वाले नहीं हैं फिर भी उन नामों के साथ कुछ घटनाएं ऐसी जुड़ी हुई हैं जिनके आधार पर ऋग्वेद में इतिहास होने की बात बहुत से विद्वानों ने कही है। इन नामों में विशेष रूप से दिवोदास, सुदास्, भेद, वसिष्ठ, विश्वामित्र, जमदग्नि आदि हैं जो हमें रामायण, महाभारत और पुराणों में भी मिलते हैं। इसी प्रकार पुरु, त त्सु, भरत, आर्य, दास आदि जातियों के नाम हैं जो पौराणिक और महाभारत काल में प्रसिद्ध रही हैं। ऐसे नामों को देखकर ऋग्वेद में इतिहास की कल्पना सर्वथा निराधार नहीं प्रतीत होती। आर्यों और अनार्यों अथवा आर्यों के प थक्-प थक् कबीलों में हुए युद्धों की बात ऋग्वेद में बहुत से स्थानों पर बढ़ा-चढ़ा कर कही गयी है। निःसन्देह इन युद्धों में विजय दिलाने वाला देवता इन्द्र ही है, पर जिस बड़ी संख्या में - साठ हजार निन्यानवें, साठ हजार, निन्यानवें पुरशत्रुओं और शत्रुओं के नगरों को नष्ट करने की

बात कही गयी है वह निश्चय ही अतिशयोक्तिपूर्ण है। युद्धों के प्रसंग में सबसे महत्त्वपूर्ण उस युद्ध का वर्णन है जो सुदास् और दूसरे दस राजाओं के बीच में लड़ा गया था। ऋग्वेद ७.१८ में इस युद्ध का तथा इसमें भाग लेने वाली जातियों का वर्णन है। ऋग्वेद के वर्णन से यह भी सूचना मिलती है कि वसिष्ठ से पहले विश्वामित्र सुदास् का पुरोहित था, पर किस कारण से वह दूसरे पक्ष में चला गया इस विषय में ऋग्वेद मौन है। आर्यों और अनार्यों या दासों के मध्य लड़े जाने वाले युद्धों में कुछ ऐसे नाम भी मिलते हैं जो पूर्व वर्णित कथाओं और आख्यानों में असुरों में परिगणित हैं। शम्बर ऐसा ही एक नाम है जो असुर के साथ-साथ किसी मानव का नाम भी रहा हो।

ऋग्वेद में मिलने वाले कुछ वर्णन इस बात की ओर इंगित करते हैं कि ये भूतकाल में घटी हुई किन्हीं घटनाओं के वर्णन न होकर समसामयिक घटनाओं के वर्णन हैं। संसार की प्राचीन जातियों के इतिहास में भिन्न-भिन्न कबीलों में होने वाली लड़ाइयां, पशुओं की चोरी, रथदौड़, खेलें तथा अन्य साहसिक क त्यों के वर्णन मिलते हैं जो तत्कालीन जातियों के सामाजिक चित्र का दिग्दर्शन कराती हैं। ऐसे ही वर्णन हमें ऋग्वेद में भी उपलब्ध हैं और इस द ष्टि से इन्हें भी ऋग्वेदिक आर्यों के जीवन का ऐतिहासिक चित्रण कहा जा सकता है। जैसा कि प्रायः ऐतिहासिक विद्वान् मानते चले आये हैं कि ऋग्वेद में आर्यों और दासों के मध्य लड़े गये युद्ध द्रविड़ जातियों पर आर्यों की विजय और प्रभुत्व के सूचक हैं, पर इसकी पुष्टि ऋग्वेद के साक्ष्य से नहीं होती। जहां ऋग्वेद में वर्णित दाशराज्ञ युद्ध के प्रसंग में आर्यों के नाना कुलों और जातियों के नाम यथा तुर्वश, भ गु, द्रुह्यु, पक्थ, त त्सु आदि गिनाये गये हैं वहां द्रविड़ जातियों के कुलों का कोई नाम नहीं मिलता। इतना ही नहीं इन जातियों के लिए सामान्य रूप से प्रयुक्त होने वाला द्रविड़ या द्रमिळ नाम भी ऋग्वेद में नहीं आता। पौराणिक कथाएं, गाथाएं, अनुश्रुतियां और आख्यानों के साथ तथाकथित इतिहास सम्बन्धी तत्त्व इतने गुंथे हुए हैं कि इनमें से प्रत्येक को प थक्-प थक् करके एकमात्र इतिहास को तात्त्विक रूप में उपस्थित कर सकना असम्भव है।

प्रहेलिकात्मक सूक्त :-

ऋग्वेद में कुछ ऐसे सूक्त हैं जिनका विषय देवताओं की स्तुति या प्रार्थना नहीं है। न ही उनमें कोई ऐसा प्राक तिक वर्णन है जिसे काव्य का उत्क ष्ट रूप कहा जा सके। ऐसे ही सूक्तों में एक प्रसिद्ध सूक्त ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का एक सौ चौंसठवां (ऋ. १.१६४) सूक्त है। इस सूक्त के कुछ मन्त्र ऐसी भाषा में निबद्ध हैं जो प्रहेलिकात्मक हैं। उदाहरणार्थ इस सूक्त का सातवां मन्त्र इस प्रकार है : 'जो कोई जानता हो वह इसे बताये, इस सुन्दर पक्षी का पैर निहित किया हुआ है इसकी गौएं सिर से दूध देती हैं और रूप को धारण करनेवाली वे पैर से पानी पीती हैं। मन्त्र के इस अर्थ से कोई अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता और भाष्यकार तथा अनुवादक अपनी-अपनी इच्छानुसार इसका अभिप्राय निकाल सकते हैं। यदि इस सुन्दर पक्षी को हम सूर्य मानें जिसने अपना पैर द्युलोक में रखा हुआ है, उसकी किरणें ही उसकी गौएं हैं, वे सिर से दूध देती हैं अर्थात् आकाश में स्थित मेघमण्डल से वर्षा करती हैं और फिर अपने पैरों से भूमि पर स्थित जलाशय, नदी, समुद्र आदि से पानी को पी लेती हैं अर्थात् वाष्प बनाकर ऊपर ले जाती हैं। यह आवश्यक नहीं कि इस मन्त्र का भाव इसी रूप में लिया जाये, वस्तुतः इसे व क्ष के रूप में भी समझा जा सकता है। उस द ष्टि से सुन्दर पक्षी से व क्ष का भाव लिया जायेगा और पैर के निहित करने से प थिवी में जमी हुई जड़ें मानी जायेंगी। पेड़ पर चढ़ने वाली लताएं उसकी गौएं हो सकती हैं जो सिर से फल रूपी दूध देती हैं और पैरों (जड़ों) से पानी पीती हैं। इस प्रकार के मन्त्र इस सूक्त का पहला, दूसरा, तीसरा, चौथा, पांचवां, छठा, आठवां, नौवां, दसवां, ग्याहरवां आदि हैं। इस सूक्त की व्याख्या भारतीय विद्वानों ने आध्यात्मिक रूप से की है परन्तु बहुत से विद्वान् इन व्याख्याओं से सहमत नहीं हैं। कुछ पश्चिमी विद्वानों ने भी इस सूक्त की पहेलियों का अनुवाद किया है पर उनका अनुवाद और समाधान भी उसी प्रकार सर्वमान्य नहीं है। विन्टरनिट्स ने ऋग्वेद १.१६४.२ मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया है - सात घोड़े एक चक्र वाले रथ में जुड़ते हैं, सात

नाम वाला एक घोड़ा इसे धारण करता है, इस चक्र की तीन नाभियां हैं और यह चक्र अजर तथा अनर्व है जिस पर सारे विश्व स्थित हैं। यहां रथ में जुड़ने वाले सात ऋत्विज् हो सकते हैं जो यज्ञ के द्वारा सूर्य के रथ को जोतते हैं जो सात घोड़ों अथवा सात नाम वाले एक घोड़े के द्वारा खींचा जाता है। इस सूर्य रूपी चक्र की तीन नाभियां तीन ऋतुएं - ग्रीष्म, वर्षा और शरत्-हैं जिनमें से होकर सम्पूर्ण मानव जगत् का जीवन व्यतीत होता है। किन्तु इस मन्त्र की व्याख्या अन्य प्रकार से भी की जा सकती है। इसके विपरीत कुछ पहेलियां ऐसी भी हैं जिनका भाव बहुत स्पष्ट है। उदाहरणार्थ इसी सूक्त का ४८वां मन्त्र देख सकते हैं - बारह परिधियों वाला एक चक्र है, उसके तीन नाभियां हैं, उसमें साथ रहने वाले चल और अचल तीन सौ साठ शंकु हैं। यहां इस पहेली का भाव अत्यन्त स्पष्ट है, यह चक्र सूर्य है, इसकी बारह परिधियां बारह मास हैं तीन ऋतुएं इसकी नाभियां हैं और तीन सौ साठ दिन हैं। ऐसी ही अन्य पहेलियां ऋग्वेद में अन्यत्र भी मिलती हैं। ऋग्वेद के १.६५; १.१०५; १.१६२, १६३; १०.२७, २८, ५५ और ११४ सूक्त इसी प्रकार की पहेलियों से परिपूर्ण हैं। इसी प्रकार पहेलियों के अन्य उदाहरण ऋग्वेद २.१८.१; ३.५६.२; ४.१.११; ४.५८.३; ५.४.७; ८.६६.१५; ८.७२.७ हैं।

यातु अथवा अभिचारात्मक सूक्त :-

ऋग्वेद में कुछ इस प्रकार के सूक्त हैं जिनका स्थान विषय की द ष्टि से अथर्ववेद में अधिक उपयुक्त होता। इन सूक्तों में देवताओं से, औषधियों से, वनस्पतियों से यज्ञ के पात्रों से इस प्रकार की प्रार्थनाएं की गई हैं कि वे हमारे रोगों को, कष्टों को, हमारे घरों को, पशुओं को तथा अन्य वस्तुओं को यातु के प्रभाव से बचायें। ऋग्वेद में लगभग ३० ऐसे सूक्त हैं जिनके मन्त्रों का विनियोग इस प्रकार से दिखाया गया है कि उनके उच्चारण से तथा उनके साथ की जाने वाली विशिष्ट क्रियाओं से आने वाली विपत्तियों का नाश और सुख-सम द्धि की प्राप्ति की जा सकती है। इनमें से लगभग आधे सूक्त ऋग्वेद के दसवें मण्डल में हमें उपलब्ध होते हैं। इन सूक्तों के मन्त्रों की विषय-वस्तु पर द ष्टिपात करते ही इनका जादू रूप स्पष्ट हो जाएगा। नीचे कुछ मन्त्र उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं - 'जो कुछ मेरे में दुरित है या जो कुछ मैंने द्रोह किया है, हे जलो उसे दूर भगा ले जाओ।' 'जो तेरा मन द्युलोक में या प थिवीलोक में दूर चला गया है उसे हम यहां निवास के लिए और जीवन के लिए हम वापिस लौटाते हैं।' 'जो तेरा मन जलों में और औषधियों में चला गया है उसे हम .... वापिस लौटाते हैं। 'जिस प्रकार यह विस्त त प थिवी इन वनस्पतियों को धारण करती है इसी प्रकार तेरे मन को जीवन के लिए मैं धारण करता हूं।' 'मेरा यह हाथ ऐश्वर्य वाला है और यह उससे भी अधिक ऐश्वर्य वाला है। यह मेरा (हाथ) सब औषध रूप है और यह सब कल्याणों का करने वाला है।' 'हे अग्नि तू इस यातुधान की त्वचा को काट दे .... हे जातवेद तू इसके पर्वो को काट दे।' 'इन औषधियों को शक्तिशाली बनाते हुए जब मैं हाथ में धारण करता हूँ तो यक्ष्म की आत्मा नष्ट हो जाती है ...... ।' 'हे औषधियो तुम मुझे शपथ से लगने वाले पाप से मुक्त करो और वरुण के प्रति किये गये पाप से मुक्त करो।' 'मैं अत्यन्त बलशाली वनस्पति रूप औषधि को खोद कर निकालता हूँ जिसके द्वारा सपत्नी को दूर हटाया जाता है और जिसके द्वारा पति को प्राप्त किया जाता है।' दसवें मण्डल के एक सौ इकसठवें सूक्त (ऋ. १०.१६१) में राजयक्ष्मा को नष्ट करने के लिए, १६२वें में रोम के कीटाणुओं को नाश करने के लिए, १६४वें में दुःस्वप्न को दूर भगाने के लिए क्रमशः इन्द्राग्नि, रक्षोहा ग्नि और मन से प्रार्थनाएं की गयी हैं। इस प्रकार के जादू-क्रियाओं से युक्त मन्त्र केवल दसवें मण्डल में ही संग हीत नहीं हैं अपितु अन्य मण्डलों में भी बिखरे हुए मिलते हैं। ऋग्वेद के सातवें मण्डल का १०३ सूक्त कुछ विवाद का विषय रहा है। कुछ विद्वानों ने इसे यज्ञगीतों की विद्रूप नकल और ब्राह्मणों के प्रति व्यंग्योक्ति माना है। इसके विपरीत ब्लूमफील्ड ने इसे एक जादू-टोने का अभिचार सूक्त माना है। इस सूक्त में वर्षाकाल में ऊँची आवाज में टर्राने वाले मेंढकों की तुलना वेदपाठी ब्राह्मणों के साथ की गयी है।

काव्यात्मक सूक्त :-

कुछ विद्वानों ने ऋग्वेद की कविता में से भाव-समाधि और उल्लास को व्यक्त करने वाले,

व्यंग्य और हास्ययुक्त, गाथागीत और गीति काव्यमय मन्त्रों को प थक्-प थक् शीर्षकों में विभक्त करके उन पर विचार किया है। वस्तुतः कविता की ये सभी विधाएं स्वतन्त्र रूप से प थक्-प थक् सूक्तों में बँटी हुई उपलब्ध नहीं होतीं। ऋषियों द्वारा देवताओं के प्रति काव्यमयी भाषा में प्रयुक्त स्तुतियों में स्थान-स्थान पर फैली हुई इन विधाओं का दर्शन होता है। इसी प्रकार नैतिक सूक्तियां और नीतिवचन, प्रक ति और पशु-समुदाय का वर्णन भी नाना स्थलों पर विकीर्ण है। इन सबको स्वतन्त्र शीर्षकों में विभाजित करके वर्णन करने से ऋग्वेद की मुख्य विषय-वस्तु के बारे में कुछ भ्रान्ति हो सकती है। इन विषयों पर स्वतन्त्र रूप से मिलने वाले सूक्तों की संख्या सम्पूर्ण ऋग्वेद में १/४ दर्जन से अधिक नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए ऋग्वेद के दो सूक्तों को यहां उद्ध त किया जा सकता है जिनमें एक ही स्थान पर भाव-गाम्भीर्य, भाव-समाधि, उल्लास, नीति-गीतिकाव्य और गाथा गीत के समन्वित रूपों का दर्शन होता है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल का दसवां सूक्त जिसे 'यम-यमी' सूक्त के नाम से भी जाना जाता है उत्तम कविता का उदाहरण है। इसमें भाप्रवणता और नीति दोनों के सम्मिलित दर्शन होते हैं। कोमल कविता का एक अन्य उदाहरण इसी मण्डल का ९५वां सूक्त है। इसमें पुरूरवस् और उर्वशी के वार्तालाप का वर्णन है। कला-पक्ष और भाव-पक्ष दोनों ही द ष्टियों से उपर्युक्त दोनों सूक्त अनुपम हैं। इन्हें संवाद सूक्तों के अन्तर्गत भी परिगणित किया जाता है। विश्वामित्र और नदियों की बातचीत, जो ऋग्वेद के तीसरे मण्डल के ३३वें सूक्त में निबद्ध है, संवाद का और काव्यमयी भाषा का उत्तम उदाहरण है। पर्वत की उपत्यकाओं में से निकलकर तीव्र गति से प्रवाहमान विपाश् और शुतुद्रि की तुलना बन्धन मुक्त होकर स्पर्धा के लिए दौड़ती हुई दो घोड़ियों से की गई है। पर्वत की उपत्यकाओं में बहने वाली नदियों के प्रवाह की तीव्रता को तथा घुड़दौड़ में दौड़ने वाली घोड़ियों के वेग को जिसने देखा है वह इस सुन्दर उपमा पर भाव विभोर हुए बिना नहीं रह सकता।

ऋग्वेद के उषस्, पर्जन्य और मरुत् सम्बन्धी सूक्तों में प्रक ति चित्रण के सुन्दर उदाहरण उपलब्ध होते हैं। यथा - 'इस (बात) को मानों जानती हुई कि स्नान करने के कारण उसके अंग चमक रहे हैं यह (उषस्) अपने रूप को हमें दिखाने के लिए हमारे सम्मुख उपस्थित है। द्युलोक की पुत्री यह उषस् द्वेष और अन्धकार को दूर भगाती हुई अपनी सुषमा के साथ हमारे पास आयी है। द्युलोक की पुत्री यह (उषस्) एक भद्र महिला के समान सिर झुकाए हुए मनुष्यों के सामने झुककर खड़ी है। यह युवती अपने भक्तों को ऐश्वर्य देने के लिए पहले के समान ही प्रकाश लेकर आयी है। 'चाबुक से घोड़ों को उकसाते हुए रथी के समान पर्जन्य वर्षा के दूतों (मेघ) को प्रकट करता है। जब पर्जन्य आकाश को जलपूरित मेघों से आच्छादित कर देता है तो दूर से ही सिंह के गर्जन जैसी ध्वनि उठती है। तूफान की आंधियां चलती हैं, बिजली गिरती है, वनस्पतियां और ओषधियां फूट पड़ती हैं और चारों ओर आनन्द का संभार होता है। जब पर्जन्य प थिवी पर जल बरसता है तो सम्पूर्ण विश्व के लिए अन्न उत्पन्न होता है।' 'हे संसार को रुलाने वाले मरुतों, जब तुम अपने सुखकारी रथों पर अपनी प्रसिद्ध सेनाओं में आकर खड़े होते हो तो तुम्हारे डर से भयंकर वन भी झुक जाते हैं प थिवी और पर्वत भी कांपते हैं। विशाल और व द्ध पर्वत भी डरता है, तुम्हारा गर्जन सुनकर ऊँचा द्युलोक भी कांपता है।'

दान स्तुति सूक्त :-

याज्ञिक सूक्तों से घनिष्ठ रूप में जुड़े हुए एक अन्य प्रकार के सूक्त हैं जिन्हें 'दान-स्तुति' के नाम से जाना जाता है। इन सूक्तों की संख्या ४० के लगभग है पर यह ध्यान देने योग्य है कि ये पूरे के पूरे सूक्त दान की प्रशंसा विषयक नहीं हैं। इनके विषय में एक अन्य बात यह द्रष्टव्य है कि ब हद्देवता और अनुक्रमणी में कुछ सूक्तों को 'दानस्तुति' के अन्तर्गत परिगणित करने में मतभेद है। दोनों के रचयिता इस विषय में सहमत हैं कि दानस्तुति के अन्तर्गत परिगणित सूक्त या तो सर्वाशंतः दानस्तुति रूप होगा अथवा सूक्त का अन्तिम भाग दान-स्तुति परक होगा और यह स्तुति किसी राजा को उद्दिष्ट करके की गयी होगी। ऋग्वेद १.१२६ को दानस्तुति सूक्त माना गया है तथा ८.५५;५६ को भी इसी कोटि में रखा जा सकता है। ऋग्वेद १.१२५ का देवता 'दानस्तुति' माना गया है। ऋग्वेद ५.२७ का सम्बन्ध

अश्वमेध यज्ञ करने वाले राजाओं द्वारा दिये गये दान के साथ है। दान में मिलने वाली वस्तुओं में धन, पशु, सुवर्ण, रथ, स्त्री आदि कुछ भी हो सकती थीं और इनकी संख्या एक, दो या चार नहीं हजार, दस हजार साठ हजार तक में गिनायी गयी है। 'दान-स्तुति' सूक्तों में कुछ ऐसे भी सूक्त हैं जिनका स्थूल रूप विजय गीत जैसा है। इनमें इन्द्र की प्रशंसा की गई है क्योंकि उसकी क पा से किसी राजा ने अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त की थी। इन सूक्तों के अन्त में उस राजा की भी प्रशंसा की जाती है जिसकी क पा से युद्ध की लूट में मिलने वाली सम्पत्ति में ये स्तोता को बैल, घोड़े और दास-दासियां प्राप्त होती हैं। इन दान-स्तुति सूक्तों का पाठ यज्ञों के अवसर पर किया जाता था। शतपथ-ब्राह्मण में अश्वमेध यज्ञ के प्रकरण में गाथा-गान करने वाले ब्राह्मण और क्षत्रिय का वर्णन आता है जो राजाओं की प्रशंसा में गाथा-गान करते थे। इनमें इस बात का वर्णन होता था कि किस-किस राजा ने कितना-कितना दान दिया था। यह सम्भव है उन गाथाओं में इन सूक्तों का भी पाठ होता हो। 'दान-स्तुति' सूक्तों की भाषा में काव्यत्व का अंश न के बराबर है।

संवाद सूक्त :-

ऋग्वेद के अनेक आख्यान संवाद रूप में प्राप्त होते हैं। इन सूक्तों में कथनोपकथन की प्रधानता है। अतः इन्हें संवाद सूक्त कहा जाता है। इन सूक्तों में वर्णित आख्यान वास्तव में कल्पित हैं। इन आख्यानों में गूढ़ नैतिक, दार्शनिक व आध्यात्मिक तत्त्वों को संवाद के माध्यम से सरस, सरल तथा रोचक बनाकर प्रस्तुत किया गया है। परवर्ती साहित्य में यही आख्यान अनेक नाटकों, महाकाव्यों तथा अन्य काव्यों के लिए उपजीव्य बने। अतः इस द ष्टि से ये संवाद सूक्त ऋग्वेद के महत्त्वपूर्ण विषय हैं। इस प्रकार के लगभग २० सूक्त ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं। परन्तु ३-४ ही विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

१०.९५ पुरूरवा और उर्वशी के मध्य हुआ संवाद सूक्त है। पुरूरवा और एक मनुष्य है और उर्वशी एक अप्सरा। दोनों चार वर्ष तक साथ-साथ रहते हैं। उनके **'आयु'** नामक एक पुत्र भी होता है। परन्तु उसके पश्चात् शाप के प्रभाव से उर्वशी के मिलन की यह अवधि समाप्त हो जाती है और वह एकाएक लुप्त हो जाती है। शोकविह्वल और उसे खोजने में प्रयत्नशील पुरूरवा एक दिन उसे सरोवर के तट पर सखियों सहित क्रीड़ा करते हुए देख लेता है व उसे पुनः साथ चलने के लिए कहता है परन्तु पुरूरवा से शाप की बात बतलाकर उर्वशी अपनी असमर्थता प्रकट करती है और पुनः लुप्त हो जाती है।

यह संवाद शतपथ ब्राह्मण, विष्णु पुराण तथा महाभारत में भी प्राप्त होता है। हजारों वर्षों पश्चात् इसी संवाद सूक्त को कालिदास ने अपने प्रसिद्ध नाटक **'विक्रमोर्वशीयम्'** का कथानक बनाया।

१०.१० यम और यमी का विलक्षण संवाद सूक्त है। यम और यमी युग्म भाई बहिन हैं। यमी अपने भाई यम को अनेक प्रलोभन देकर उसके सामने उससे विवाह कर लेने का प्रस्ताव रखती है ताकि मनुष्य जाति का बीज लुप्त न हो जाए। लेकिन यम अपनी बहिन के इस प्रस्ताव की निन्दा करता है क्योंकि यह सगोत्र सम्बन्ध अनैसर्गिक तथा महर्षियों के विधानों द्वारा निषिद्ध है। वह इसे अनैतिक और अनुचित बतलाकर अस्वीकार कर देता है - **'पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्'** अर्थात् जो बहिन से विवाह करता है, वह पापी कहा जाता है।

यमी अपने भाई के कथन का यह कह कर तिरस्कार कर देती है कि स्वयं देवता चाहते हैं कि मनुष्य जाति की अभिव द्धि के लिए यम अपनी बहिन के साथ सम्पर्क स्थापित करे। यदि वह उसकी प्रार्थना को स्वीकार नहीं करेगा तो वह और भी अधिक कामातुर हो जाएगी। लेकिन यम पर इन सबका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। अन्त में क्षुब्ध होकर यमी उसे कटु शब्द कहती है कि **'तुम पुरुषत्वहीन हो, पुरुषोचित भावनाओं से रहित हो और तुम्हारा हृदय भी भावुक नहीं है'** (१०.१०. १३)। इस पर यम यह कह कर इस संवाद को समाप्त कर देता है कि **'तुम किसी अन्य पुरुष का आलिंगन करो जिसकी भावनाएँ उत्तेजित हों'** (१०.१०.१४)।

सम्भवतः इसी कारण से न केवल हिन्दुओं में ही अपितु संसार के किसी भी कोने में सगोत्र भाई-बहिन का विवाह अनुचित समझा गया है। इस सूक्त की प्रतिपादन शैली व रमणीय नाटकीयता दर्शनीय है।

१०.८५ सोम और सूर्या के मध्य हुआ संवाद सूक्त है। सूर्या सूर्य की पुत्री है। सूर्य उसका विवाह सोम से करता है। इसमें ४७ ऋचाएँ हैं। सोम और सूर्या के विवाह का वर्णन अत्यन्त रोचक है। सूर्य अपनी पुत्री को सोम को देते समय ग हस्थ धर्म की शिक्षा भी देता है। नवदम्पत्ती को दीर्घायु, धनधान्य सम्पन्न, नीरोग एवं पुत्रपौत्रादि से सम्पन्न होने का आशीर्वाद दिया जाता है -

इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।।

कीळन्तौ पुत्रैर्नप्त भिर्मोदमानौ स्वे ग हे।। (ऋग्वेद १०.८५.४२)

इस सूक्त के अन्त में विश्वेदेव से प्रार्थना की गई है कि वे वर और वधू दोनों के हृदयों को परस्पर समासक्त कर सभी क्लेशों से रहित कर दें। मातरिश्वा उनकी गति को एक-दूसरे के अनुकूल बनाएं तथा उनके बन्धन को द ढ़ रखें -

सम जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।

सम्मातरिश्वा सन्धाता समुदेष्ट्री दधातु नौ।। (ऋग्वेद १०.८४.४७)

इस सूक्त का महत्त्व इस बात से और भी बढ़ जाता है कि इसमें तत्कालीन विवाह सम्बन्धी रीति रिवाजों, परम्पराओं एवं मान्यताओं का स्पष्ट वर्णन है।

सरमापणि संवाद (१०.१३०) में सरमा नामक शुनी और पणि नामक असुरों का संवाद मिलता है। पणि लोगों ने आर्यों की गायों को चुराकर कहीं अन्धेरी गुफा में डाल दिया। इन्द्र ने अपनी शुनी 'सरमा' को उन्हें खोजने के लिए व पणियों को समझाने के लिए दूती बना कर भेजा। 'सरमा' इन्द्र के अतुलित पराक्रम के बारे में बतलाती है व पणियों को सचेत भी करती है परन्तु वे उसकी बात नहीं मानते।

ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद के सभी संवाद सूक्त अपूर्ण हैं। ये संवाद प्राचीन आख्यानों के अवशिष्ट रूप हैं' ऐसा पाश्चात्य विद्वान ओल्डेनबर्ग का मत है। इनके अनुसार वास्तव में ये आख्यान गद्यपद्यात्मक थे परन्तु गद्य भाग क्रमशः लुप्त हो गया और केवल पद्यभाग ही अधिक रोचक तथा काव्यात्मक होने के कारण शेष रह गया।

शिक्षात्मक सूक्त :-

ऋग्वेद के चार सूक्त शिक्षात्मक और उपदेशात्मक हैं। इन धर्मविहीन कविताओं में १०.३४ एक जुआरी का आत्मप्रलाप है। इसमें बहुत काव्यात्मक ढंग से एक द्यूतकार का जुए के प्रति अनायास आकर्षण, अपने ही द्वारा सम्पादित ग ह विनाश, अपने ही परिवारजन एवं समाज द्वारा उसकी गर्हणा और अन्त में स्वयं जुआरी द्वारा स्वयं परिश्रम करके, अपने हाथों से कमा कर खाने का उपदेश दिया गया है। परिश्रम द्वारा अर्जित धन से ही मनुष्य को वास्तविक सुख व आनन्द की प्राप्ति होती है -

अक्षैर्मा वीक्ष्यः क षिमित्क षस्व वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः।

तत्र गावः कितव तत्रजाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः।। (ऋग्वेद १०.३४.१३)

यह ध्यातव्य है कि प्रस्तुत मन्त्र में गाय मानसिक सुख की प्रतीक है तो जाया शारीरिक सुख की। सम्पूर्ण सूक्त की अत्यन्त मार्मिक व हृदयावर्जक है।

६.११२ में बतलाया गया है कि सुख की प्राप्ति कैसे हो सकती है जबकि १०.११७ में दान की महिमा का बखान किया गया है -

न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः।
अपास्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति प णन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत्।।

(ऋग्वेद १०.११७.४)

ऋग्वेद में पुनः पुनः कहा गया है कि दान न देकर धन को केवल अपने ही स्वार्थ के लिए जो व्यय करता है, वह निस्सन्देह पाप को ही खाता है - '**केवलाघो भवति केवलादी**'।

ऋग्वेद के १०.७१ में शुभ वाणी की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है। जो बुद्धिमान छाने हुए सत्तू की तरह परिष्क त वाणी का प्रयोग करते हैं, विद्वान् उनके गुणों को पहचान कर उनके मित्र बन जाते हैं और उनकी वाणी में लक्ष्मी सदा निवास करती है -

सक्तुमिव तितउना पतन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीमिहिताधि वाचि।।

(ऋग्वेद १०.७१.२)

यजुर्वेद

यजुर्वेद का अर्थ है **'यजुषां वेदः'**। **'यजुष्'** शब्द के अनेक अर्थ हैं -

(१) **इज्यते नेननेति यजुः'** अर्थात् जिन मन्त्रों से यज्ञ यागादि किए जाते हैं।

(२) **'अनियताक्षरावसानो यजुः'** अर्थात् अनियमित अक्षरों से समाप्त होने वाले वाक्य को यजु कहते हैं।

(३) **'गद्यात्मको यजुः'** अर्थात् ऋक् तथा साम से भिन्न गद्यात्मक मन्त्रों का नाम यजु है।

(४) **शेषे यजुः**' का भी यही अर्थ है ऋक् तथा साम से भिन्न गद्यात्मक मन्त्रों का नाम ही यजु है।

इस प्रकार यजुर्वेद में उन गद्यात्मक वाक्यों का संग्रह है जिनका प्रयोग यज्ञ के अवसर पर किया जाता है।

(५) यजुष् का अर्थ पूजा एवं यज्ञ भी है। निरुक्त में इसे यज् से निष्पन्न माना गया है जिसका अर्थ यज्ञ अथवा पूजा करना है। जिस प्रकार ऋग्वेद के मन्त्रों का विषय विभिन्न देवताओं की स्तुति करना है, उसी प्रकार यजुर्वेद के मन्त्रों का विषय उन देवताओं के लिए यज्ञ को सम्पन्न करना है। जहाँ ऋग्वेद का सम्बन्ध ज्ञान से माना गया है वहाँ यजुर्वेद का सम्बन्ध कर्म से माना गया है।

यजुर्वेद संहिता '**अध्वर्यु'** नामक पुरोहित के लिए है। जिस प्रकार ऋग्वेद में यज्ञ की विविध क्रियाओं को करने वाला अध्वर्यु-पुरोहित कुछ क्रियाओं को करते समय धीमे स्वर में छोटे-छोटे वाक्य-खण्डों का और कभी-कभी गद्य और पद्य में निर्मित लम्बी प्रार्थनाओं का उच्चारण किया करता था। इस प्रकार के वाक्य-खण्डों और मंत्रखण्डों को 'यजुष्' नाम दिया गया है। यजुर्वेद संहिता में इन गद्य-पद्यमय यजुषों और प्रार्थनाओं का संग्रह है। इनके साथ ही उन यज्ञ-क्रियाओं के संबंध में निर्धारित नियमों और उन पर विवेचन भी इसी में दिया गया है। इन सबका संग्रह अध्वर्यु पुरोहित की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर किया गया था।

शाखायें :-

पत जलि ने महाभाष्य में यजुर्वेद की १०१ शाखाओं का उल्लेख किया है और वस्तुतः यह मानने योग्य तथ्य है कि इस वेद के बहुत शाखायें रही होंगी। इसका कारण स्पष्ट ही है कि प्रत्येक अध्वर्यु अपनी स्वतन्त्र विधि से यज्ञों की विविध प्रक्रियाओं को सम्पन्न करता था और उन्हें सम्पन्न करते

समय अपनी मनोनुकूल प्रार्थनाओं की स ष्टि करता था। उदाहरणार्थ - क ष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता के प्रथम काण्ड के प्रथम प्रपाठक के प्रथम मन्त्र में दर्शपूर्णमास यज्ञों के प्रसंग में 'वत्सापाकरणम्' शीर्षक के अन्तर्गत दूध की प्राप्ति के लिए गौओं से उनके बछड़ों को दूर भगाने के लिए अध्वर्यु 'वायवः' स्थोपायवः स्थ' यजुष् का प्रयोग करता है। शुक्ल-यजुर्वेद की वाजसनेयिमाध्यन्दिन संहिता के प्रथम अध्याय में इसी प्रसंग में इस यजुष् का केवल वायवं स्थ' इतना ही पाठ मिलता है। भाव यह है कि पहले बछड़ों को वायुरूप कहा गया है अर्थात् वे वायु के समान गति करके अपनी माताओं से दूर चले जायें जिससे कि उनसे यज्ञार्थ दूध प्राप्त किया जा सके। तत्पश्चात् किसी अन्य अध्वर्यु के मस्तिष्क में यह भाव उपजा कि यदि हम गोवत्सों को वायु-रूप कहकर दूर भेजने की प्रार्थना करेंगे तो वह वायु के समान दूर ही दूर चलते चले जायेंगे। इसलिए गोवत्सों के सदा के लिए दूर चले जाने की सम्भावना को समाप्त करने के लिए उसने 'उपायवः स्थ' इस नवीन यजुष् को 'वायवः स्थ' के साथ जोड़ दिया। इसका अभिप्राय यह हुआ कि वे गोवत्स जहाँ वायु के समान दूर गति करने वाले हैं वे पुनः समीप आकर लौटने वाले भी हैं। इस प्रकार एक शाखा 'वायव स्थ' यजुष् को मानने वालों की हो गई और दूसरी शाखा वायवः स्थोपायवः स्थ' इस यजुष् को मानने वालों की हो गई। इस प्रकार नाना मतभेद और साम्प्रदायिक विभाजन पैदा हुए होंगे क्योंकि यज्ञ के विधि-विधानों में तथा उनके प्रयोग के समय निर्धारित नियम से रेखा मात्र भी दूर हटना एक नये वैदिक सम्प्रदाय की उत्पत्ति के लिए पर्याप्त कारण होता था।

वर्तमान में यजुर्वेद की छह शाखायें उपलब्ध होती हैं। जिनमें चार क ष्ण यजुर्वेद की हैं तथा दो शुक्ल यजुर्वेद की।

यजुर्वेद की शाखायें :-

कभी क ष्ण यजुर्वेद की ८५-८६ शाखायें रही होंगी किन्तु आजकल केवल चार ही उपलब्ध होती हैं - तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक और कपिष्ठल।

(१) तैत्तिरीय शाखा :- तैत्तिरीय शाखा क ष्ण यजुर्वेद की सबसे प्रमुख शाखा है। यह संहिता महाराष्ट्र, आन्ध्र एवं दक्षिणी भारत में विशेष रूप से प्रचलित है। इसमें सात काण्ड और ४४ प्रपाठक हैं। प्रत्येक प्रपाठक में अनेक अनुवाक हैं। कुल अनुवाक संख्या ६३१ है। साहित्यिक द ष्टि से भी यह शाखा अत्यन्त सम द्ध है क्योंकि इसके ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और सूत्र ग्रन्थ सभी प्राप्य हैं। इसमें मन्त्र और व्याख्या भाग का सम्मिश्रण है।

(२) मैत्रायणी शाखा :- मैत्रायणी शाखा भी तैत्तिरीय शाखा के ही समान है। इसे कालाप संहिता भी कहते हैं। इसमें चार काण्ड तथा ५४ प्रपाठक हैं।

(३) काठक शाखा :- काठक शाखा को 'कठ' भी कहते हैं। इसमें ४० स्थानक और ८४३ अनुवाक हैं। महाभाष्यकार पत जलि के अनुसार तैत्तिरीय शाखा का प्रादुर्भाव होने से पहले क ष्ण यजुर्वेद की मैत्रायणी और काठक शाखा ही लोकप्रिय थी। अयोध्या में भी ये सर्वविदित थी। इनके धार्मिक-सिद्धान्त गाँव-गाँव में प्रचलित थे। लेकिन कालक्रम से तैत्तिरीय शाखा और शुक्ल यजुर्वेद अथवा वाजसनेयी संहिता अधिक लोकप्रिय हो गयीं।

(४) कपिष्ठल शाखा :- कपिष्ठल शाखा अपूर्ण रूप में ही प्राप्त हुई है। इसमें छः अष्टक तथा ४८ अध्याय हैं। इन ४८ अध्यायों में से ६ से २४ तक, ३२, ३३, तथा ४३ अध्याय आंशिक रूप से ही प्राप्त हो पाए हैं।

वास्तव में क ष्ण यजुर्वेद की चारों शाखायें परस्पर समान हैं। इनमें केवल स्वरूप की ही नहीं अपितु वर्णित विषय वस्तु तथा शब्द संयोजन की भी पर्याप्त समानता है।

शुक्ल यजुर्वेद :-

शुक्ल यजुर्वेद का दूसरा नाम वाजसनेयी संहिता भी है क्योंकि सूर्य द्वारा वाजि (घोड़े) का रूप धारण कर याज्ञवल्क्य को उपदेश देने के कारण सम्भवतः इसका नाम वाजसनेयी पड़ा।

शुक्ल यजुर्वेद की शाखायें :-

शुक्ल यजुर्वेद की शाखायें थीं - शाकेय, तापनीय, काणीस, पौंड्रवहा, आवर्त्तिक, परमावर्त्तिक, पाराशरीय, वैनेस, बौधेय, यौधेय और गालव। याज्ञवल्क्य के १५ शिष्यों द्वारा इन शाखाओं का आविर्भाव हुआ। आजकल इन १५ शाखाओं में से केवल दो - '**काण्व**' और '**माध्यन्दिन्**' ही उपलब्ध हैं। ये दोनों शाखाएं विषय तथा अनुक्रम की द ष्टि से एकरूप ही हैं। कहीं-कहीं केवल पाठ भेद का ही अन्तर प्राप्त होता है।

क ष्ण और शुक्ल यजुर्वेद में अन्तर :- भिन्न-भिन्न विद्वानों ने '**क ष्ण और शुक्ल यजुर्वेद में क्या अन्तर हैं**' इसका उत्तर देने के लिए भिन्न-भिन्न मत दिए हैं, जो निम्नलिखित हैं :-

(१) कुछ विद्वानों के अनुसार क ष्ण यजुर्वेद में मन्त्रों के साथ-साथ ही उनकी व्याख्या एवं विनियोग भी दिए गए हैं जब कि शुक्ल यजुर्वेद में केवल मन्त्र ही हैं। उनकी व्याख्या तथा विनियोग नहीं हैं। इस प्रकार मन्त्र, व्याख्या एवं विनियोगों के सम्मिश्रण के कारण पहला भाग क ष्ण (अस्वच्छ) कहलाया जबकि इनके अभाव में दूसरा भाग विशुद्ध होने के कारण शुक्ल कहलाया।

(२) मैक्डॉनल महोदय के अनुसार क ष्ण और शुक्ल यजुर्वेद का भेद इसीलिए है कि क ष्ण यजुर्वेद विषय सांङ्कर्य, गद्य-पद्य तथा मन्त्र ब्राह्मण की उभयात्मक प्रव त्ति के कारण पाठक की बुद्धि को मोहित कर उसे कुण्ठित बना देता है जबकि शुक्ल यजुर्वेद स्पष्ट है, विषय की द ष्टि से निर्मल है तथा पाठक की बुद्धि को चमत्क त कर उसे परिष्क त करता है।

(३) कुंवर लाल जैन के अनुसार क ष्ण द्वैपायन के नाम से एक क ष्ण यजुः कहलाया और शुक्ल सूर्य या विवस्वान् का नाम था अतः सूर्य से प्राप्त यजुः शुक्ल कहलाया क्योंकि ऐसा कहा जाता है कि शुक्ल यजुः याज्ञवल्क्य ने वाजी या सूर्य की उपासना करके प्राप्त किए थे। सभी मन्त्रों और संहिताओं के नाम ऋषि और प्रवक्ता के नाम से ही प्रसिद्ध होते हैं, अतः क ष्ण तथा शुक्ल संज्ञा भी प्रवक्ता आचार्य के नाम से लोक में प्रसिद्ध हुई।

(४) क ष्ण और शुक्ल इन दोनों के विभाजन के विषय पर डॉ. मंगलदेव ने अपना मत इस प्रकार दिया है - '**क ष्ण यजुर्वेद की शाखाओं का विस्तार प्रायः दक्षिण भारत में और शुक्ल यजुर्वेद की शाखाओं का उत्तर भारत में है।**' स्वभावतः क ष्ण यजुर्वेद के साहित्य पर जितना प्रभाव वैदिकेतर विचारधारा का है उतना शुक्ल यजुर्वेदीय साहित्य पर नहीं है। अतः पहला **'क ष्ण'** और दूसरा **'शुक्ल'** कहलाया।

(५) एक अन्य विद्वान ने इनका अन्तर इस प्रकार स्पष्ट किया है :

बुद्धिमालिन्य हेतुत्वाद्यजुः क ष्णमीर्यते।
व्यवस्थितप्रकरणाद्यजुः शुक्लमीर्यते।।

अर्थात् बुद्धि को मलिन करने के कारण एक को क ष्ण यजुर्वेद कहते हैं और प्रकरणों के व्यवस्थित रूप से होने के कारण दूसरे को शुक्ल यजुर्वेद कहते हैं।

(६) इसके अतिरिक्त इन दोनों के विभाजन में सम्बन्धित एक श्रुति भी मिलती है। महीधरक त यजुर्वेदभाष्यभूमिका में उल्लेख मिलता है कि एक दिन वैशम्पायन अपने शिष्य याज्ञवल्क्य से क्रुद्ध हो गए और उन्होंने उससे वह सब वापस करने को कहा जो उसने अपने गुरु से सीखा था। इस पर याज्ञवल्क्य ने उस ज्ञान का वमन कर दिया। तब वैशम्पायन के अन्य शिष्यों ने '**तित्तिर**' का रूप धारण कर उस वान्त यजुष् का भक्षण कर लिया और यही उद्वान्त ज्ञान क ष्ण यजुर्वेद कहलाया। लेकिन याज्ञवल्क्य ने भी अपने ज्ञान और मान की रक्षा के लिए सूर्यदेव को तपस्या द्वारा प्रसन्न कर शुक्ल यजुर्वेद को प्राप्त किया।

वर्ण्य विषय :-

यजुर्वेद में ४० अध्याय हैं। इसमें अध्याय क्रम से अधोलिखित विषय वर्णित हैं।

प्रथम व द्वितीय अध्याय में दर्श और पूर्णमास के मन्त्र हैं। तीसरे में अग्न्याधान, उपस्थापन और चातुर्मास्य यज्ञों के मन्त्र हैं। चौथे अध्याय से आठवें अध्याय की समाप्ति तक अग्निष्टोम यज्ञ की विभिन्न क्रियाओं में प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों का संग्रह है। इनमें यजमान का शाला प्रवेश, सोम का क्रय, सौमिकवेदिप्रधान में आतिथ्य, यूपनिर्माण, यूप का संस्कार, सोम का अभिषव, उपांशु ग्रह आदि सवनद्वय से प्रारम्भ होकर दक्षिणा दान तक के मन्त्र, त तीय सवन के मंत्र तथा आदित्य ग्रह आदि के मन्त्र हैं। नवें अध्याय में वाजपेय और राजसूय यज्ञ सम्बन्धी मन्त्र हैं। दसवें में राजसूय के अभिषेक जलादान आदि से प्रारम्भ करके सौत्रामणि में प्रयुक्त किए जाने वाले मन्त्र हैं। ग्यारहवें अध्याय से प्रारम्भ करके अठारहवें अध्याय तक अग्निचयन के मन्त्र हैं। इनमें से ग्यारहवें में उखा संभरण, बारहवें में उखाधारण, तेरहवें में चित्युपधान में पुष्करपर्ण आदि उपधान मन्त्र, चौदहवें में द्वितीय से चतुर्थ चितिपर्यन्त उपधान मन्त्र, पन्द्रहवें में प चम चिति के मन्त्र, सौलहवें में शतरूद्रीयादिहोम मन्त्र, सत्रहवें में चित्यारोहण आदि के मन्त्र, अठारहवें में वसु की धारा सम्बन्धी मन्त्र हैं। उन्नीसवें से इक्कीसवें अध्याय तक सौत्रामणि के मन्त्र हैं जिनमें से बीसवें में से कासन्द्यादिहोत्र की समाप्ति तक के मन्त्र और इक्कीसवें में याज्यादि के सम्प्रेषण की समाप्ति तक के मन्त्र हैं। बाइसवें से पच्चीसवें तक अश्वमेध सम्बन्धी मन्त्र हैं। छब्बीसवें से पैंतीसवें अध्याय तक खिल अर्थात् जिन मन्त्रों का कहीं भी विनियोग नहीं बताया है ऐसे मन्त्रों का संग्रह है। इनमें सत्ताइसवें अध्याय में प चचितिका अग्नि के मन्त्र हैं। अट्ठाइसवें में सौत्रामणि यज्ञ में प्रयुक्त पशु प्रयाज और अनुयाज प्रैष के मन्त्र हैं। उन्नीसवें अध्याय में पुनः अश्वमेध के मन्त्र हैं। तीसवें अध्याय में वस्तुतः मन्त्रों का संग्रह न होकर उन मनुष्यों के नाम गिनाये गये हैं जिनकी किसी समय पुरुषमेध में आहुति दी जाने की कल्पना की गई होगी। उदाहरणार्थ - ब्रह्म शक्ति के लिए ब्राह्मण को, क्षत्र के लिए राजन्य को, मरूत् के लिए वैश्य को, तप के लिए शूद्र को, गीत के लिए शैलूष को, मेधा के लिए रथकार को, स्वप्न के लिए अंधे को, अधर्म के लिए बधिर को, पवित्र के लिए वैद्य को, इस प्रकार मनुष्यों की संख्या गिनाई गई है। इकतीसवें में ऋग्वेद के पुरुष सूक्त की पुनराव त्ति है। बत्तीसवें में सर्वमेध के मन्त्र हैं। तैंतीसवें में सर्वमेध विषयक पुरोरुक् ऋचाओं का संग्रह है। चौतीसवें में 'शिव-संकल्प' के मन्त्र हैं। पैंतीसवें में पित मेध मन्त्रों के साथ-साथ अन्त्येष्टि के मन्त्र भी हैं जो ऋग्वेद से लिये गये हैं। छत्तीसवें में प्रवर्ग्याग्नि और अश्वमेधोपनिषद् हैं।

प्रवर्ग्य प्रक्रिया में एक बड़ी कढ़ाई को यज्ञीय अग्नि पर इतना गर्म किया जाता है कि उसका रंग लाल-सा दिखने लगे। इसे सूर्य का प्रतीक माना जाता है। इस कढ़ाई में दूध गर्म किया जाता है और अश्विनौ को अर्पित किया जाता है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को अत्यधिक रहस्यमय माना जाता है। इसकी समाप्ति पर सम्पूर्ण यज्ञपात्रों को इस प्रकार एकत्र करके रखा जाता है जो एक मनुष्य की आक ति धारण कर लेते हैं। दूध का बर्तन शीर्षस्थानीय माना जाता है और सिर पर केशों के प्रतीक के रूप में दर्भ घास रखी जाती है। दूध दोहने के दो बर्तन कर्ण-स्थानीय होते हैं। दो छोटे पत्राकार सोने के टुकड़े आँखों का प्रतिनिधित्व करते हैं। दो कपाल पार्ष्णीस्थानीय (एड़ी) होते हैं। इस आक ति पर आटे को फैलाया जाता है जो चर्बी का प्रतिनिधित्व करता है तथा दूध और मधु का मिश्रण रक्त का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रवर्ग्य की इस प्रक्रिया को सम्पन्न करते समय जिन प्रार्थना मंत्रों और सूत्ररूप वाक्यखण्डों का प्रयोग किया जाता है वे भी इस रहस्यमय प्रक्रिया के अनुरूप ही होते हैं। सैंतीसवें अध्याय में महावीर के संभरण और प्रोक्षण आदि के मन्त्र हैं। अड़तीसवें में महावीरनिरूपण के समय धर्मधुग्दोहन आदि के मन्त्र हैं। उनतालीसवें में प्रवर्ग्य में धर्मभेद होने के कारण प्रायश्चित के मन्त्र हैं तथा चालीसवें अध्याय में ईशावास्योपनिषद् के मंत्र हैं।

उपर्युक्त विषयानुक्रमणी पर द ष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि २५वें अध्याय में अश्वमेध सम्बन्धी मन्त्रों की समाप्ति पर 'खिल' नाम से परिशिष्ट मन्त्र दिए गए हैं। इससे यह परिणाम

निकाला गया है कि मूल रूप से शुक्ल-यजुर्वेद की संहिता में शायद २५ ही अध्याय थे। इसके अतिरिक्त अधिक गहराई से विचार करने पर तथा अन्तरंग और बहिरंग प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस संहिता के पहले १८ अध्याय पिछले २२ अध्यायों की अपेक्षा पहले संग हीत किये गये थे क्योंकि इन अध्यायों की विषय-वस्तु ही 'क ष्ण-यजुर्वेद' की संहिता से मेल खाती है तथा शतपथ के पहले ६ काण्डों में इसी पर व्याख्यात्मक विवेचन मिलता है। जूलियस एग्लिग ने विस्तार से इस समस्या पर विचार किया है। पिछले २२ अध्यायों की विषयवस्तु तैत्तिरीय ब्राह्मण और तैत्तिरीय आरण्यक में ही मिलती है संहिता में नहीं। इस आधार पर विद्वानों का मत यही है कि वाजसनेयिमाध्यन्दिन संहिता में सर्वप्रथम १८ अध्यायों का संकलन हुआ तत्पश्चात् ७ अध्याय, जिनमें सौत्रामणि और अश्वमेध यज्ञ सम्बन्धी मन्त्र हैं, इस संकलन में जोड़े गए। सबसे बाद में पिछले १५ अध्याय अर्थात् २६वें अध्याय से ४०वें अध्याय तक इस संग्रह में संग हीत किये गये।

क ष्ण यजुर्वेद की विषय सामग्री शुक्ल यजुर्वेद से ही मिलती-जुलती है। अतः शुक्ल यजुर्वेदीय विषय सामग्री के विवेचन से ही क ष्ण यजुर्वेद की विषय सामग्री का भी आभास हो जाता है।

यजुर्वेद के अधिकांश मन्त्र ऋग्वेद से ही लिए गए हैं। लेकिन यज्ञ विधान सम्बन्धी व्याख्याएँ गद्य में हैं। मन्त्र या ऋचाएँ भी बहुत छोटी छोटी हैं क्योंकि इसमें ऋग्वेद के सम्पूर्ण मन्त्र संकलित नहीं किए गए। वे आंशिक रूप से ही ग हीत किए गए हैं। जैसे ''**इन्द्राय स्वाहा, अग्नये स्वाहा**' इत्यादि। गद्यात्मक वाक्य भी बहुत छोटे हैं। 'ॐ' शब्द का आरम्भ भी इसी वेद से होता है।

यद्यपि यजुर्वेदीय धार्मिक द ष्टिकोण ऋग्वेद से भिन्न नहीं हैं तथापि इस वेद में देवताओं के स्वरूप में कुछ परिवर्तन हो गया। ऋग्वेद की अपेक्षा यजुर्वेद में प्रजापति को अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया। इसी प्रकार ऋग्वेद के 'रुद्र' ने यजुर्वेद में शिव, शंकर एवं महादेव का नाम ग्रहण कर लिया। विष्णु का भी महत्त्व यजुर्वेद में अपेक्षाक त अधिक हो गया। विष्णु को यज्ञ रूप मान लिया गया। यहाँ '**असुर**' शब्द सर्वत्र दानवों व दुष्ट शक्ति के रूप में प्रयुक्त होने लगा जबकि ऋग्वेद में इसका अर्थ इसके सर्वथा विपरीत था। अप्सराओं का महत्त्व भी यजुर्वेद में अधिक हो गया। इसी प्रकार नागपूजा का ऋग्वेद में उल्लेख प्राप्त नहीं होता लेकिन यजुर्वेद में यह प्रचलित हो गई। ऋग्वेद में देवताओं का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए यज्ञ एक साधन मात्र था लेकिन यजुर्वेद में यज्ञ को सर्वोच्च स्थान प्राप्त हो गया। इस बात से यह प्रतीत होता है कि समय के साथ-साथ आर्यों का जीवन के प्रति द ष्टिकोण परिवर्तित होता गया। ऋग्वेद में शक्ति (देवता) का आह्वान होता था अतः वहाँ अध्यात्म की प्रधानता थी जबकि यजुर्वेद में अध्यात्म की अपेक्षा क्रिया (यज्ञ) अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई। जब क्रिया, कर्म या यज्ञ का प्राधान्य हो जाता है तो स्वाभाविक ही है कि अध्यात्म का ह्रास हो जाता है जैसा कि यजुर्वेद के इस तथ्य से ही स्पष्ट है कि यह वेद यज्ञ प्रधान है।

एकाक्षरी बीजरूप प्रार्थनाएँ भी यजुर्वेद में प्राप्त होती हैं जैसे ओं ह्रीं, श्रीं, ओं भूः भुवः स्वः इत्यादि। यह बात भी उपर्युक्त कथन को ही प्रमाणित व पुष्ट करती है। इसी कारण यजुर्वेद में ऋग्वेद के मन्त्रों को अत्यन्त संक्षिप्त कर दिया गया।

यजुर्वेद में देवताओं को विविध नामों से पुकारने की परम्परा भी प्रचलित हो गई जैसा कि '**शतरुद्रीय**' और '**विष्णुसहस्र नाम**' से स्पष्ट है। यजुर्वेद में यह परिवर्तन होना एक महत्त्वपूर्ण चिन्तन का विषय है। ऋग्वेद में एक समय में एक कार्य की आवश्यकतानुसार देवता विशेष की एक ही शक्ति का आह्वान किया जाता था। जैसे जब क षि की उत्पत्ति या संसार की उत्पत्ति का प्रश्न आया तो विष्णु को सूर्य कहा गया क्योंकि सूर्य का सम्बन्ध सू-उत्पन्न करना से है। जब वह सर्वत्र व्याप्त हुआ तो विष्णु कहलाया; जब उसने अन्धकार को व्याप्त कर लिया तो वरुण (व -आवरणे) कहलाया और जब उसने अपने यजमानों की रक्षा की तो '**मित्र**' के नाम से पुकारा गया। इसका अर्थ यह हुआ कि विष्णु का ऋग्वेद में उत्पत्ति के समय सूर्य नाम से आह्वान किया गया, अन्धकार नष्ट करने के समय वरुण नाम से बुलाया गया सर्वत्र व्याप्त होने के समय विष्णु नाम से पुकारा गया जबकि यजुर्वेद में

विष्णु का एक ही समय में उसकी सामूहिक शक्तियों के साथ '**सहस्रनाम**' से आह्वान किया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि यजुर्वेद के समय तक यह विस्म त हो गया था कि किस कार्य की पूर्ति के लिए किस शक्ति का आह्वान किया जाना चाहिए। अतः उन्होंने समस्त शक्तियों का आह्वान एक समय में ही करना उचित समझा।

ऋग्वेद की अपेक्षा यजुर्वेद में आध्यात्मिक प्रहेलिकाएँ भी अधिक हैं।

यजुर्वेद में जीवन के उदात्त पक्ष का चित्रण भी बहुत सुन्दरता से किया गया है। '**शिवसंकल्पसूक्त**' (वाजसनेयी संहिता ३४.१-६) के प्रत्येक मन्त्र में मन के शिवसंकल्प अर्थात् शुभ निश्चय वाला होने की प्रार्थना की गई है। संसार में मन एक बहुत बड़ी शक्ति है। यदि सबके मन में परोपकार व कल्याण की भावना आ जाए तो सब प्रकार का कलह, द्वेष व ईर्ष्याभाव नष्ट होकर सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो जाए। मनोविज्ञान के मूलभूत गूढ़ तत्त्व इस सूक्त में बहुत काव्यात्मक रूप में प्रस्तुत किए गए हैं :-

'सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयते भीशुभिर्वाजिन इव।

हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठ तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।

(वाजसनेयी संहिता ३४.६)

अर्थात् जिस प्रकार अच्छा सारथि लगाम से घोड़ों को ले जाता है उसी प्रकार घोड़ों के समान मन जो हृदय में प्रतिष्ठित है, जरारहित है और जो सबसे अधिक वेगवान् है, मनुष्यों को ले जाता है।

यजुर्वेद में विश्वबन्धुत्व की भावना इस प्रकार चित्रित की गई है -

'मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।'

(वाजसनेयी संहिता ३६.१८)

अर्थात् मित्रता की आँख से मैं सब जीवों को देखूं।

यजुर्वेद में मनुष्य के लिए शास्त्रोक्य कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीवित रहने का उपदेश दिया गया है -

'**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः'।** (४०.२)

इसमें चारों वर्णों की सम द्धि के लिए भी प्रार्थना की गई है -

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजासु नस्क धि।

रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्।। (१८.४८)

अर्थात् हमारे ब्राह्मणों को दीप्ति से युक्त कीजिए, हमारे क्षत्रियों को दीप्तिमान् कीजिए, हमारे वैश्यों और शूद्रों को दीप्ति से युक्त कीजिए और मुझे भी प्रकार से दीप्त कीजिए।

इन सब प्रार्थनाओं से यही प्रमाणित होता है कि यजुर्वेदीय युग तक आते-आते नैतिक व सामाजिक मूल्यों में भी पर्याप्त परिवर्तन आ चुका था।

यजुर्वेद के अधिकांश मन्त्र ऋग्वेद से लिए गए हैं, इस बात से यह नहीं समझना चाहिए कि यजुर्वेद का अपना कोई महत्त्व नहीं है। इसका मूल आधार चाहे ऋग्वेद रहा हो परन्तु इसका अधिकांश भाग मौलिक है। यजुर्वेद का जितना भी गद्यमय भाग है, वह तो इसकी अपनी मौलिकता है ही; इसके साथ-साथ वे मन्त्र जिनसे नवीन, देवताओं के प्रादुर्भाव की संकल्पना की गई तथा जो नए यज्ञों के विधान के हेतु संकलित किए गए, यजुर्वेद के मौलिक अंश हैं।

इस प्रकार धार्मिक द ष्टिकोण से यजुर्वेद का अत्यधिक महत्त्व है। इसकी प्रार्थनाएँ आज भी प्रचलित हैं। इसमें यज्ञानुष्ठान सम्बन्धी सभी नियम, विधि विधान व प्रार्थनाएँ संकलित हैं।

यजुर्वेद के अध्ययन से तत्कालीन भारत की सामाजिक, धार्मिक तथा भौगोलिक स्थिति का

भी ज्ञान होता है। उस समय वर्ण व्यवस्था दिन प्रतिदिन सुद ढ़ हो रही थी। यज्ञ का महत्त्व बढ़ने के साथ-साथ पुरोहितों का महत्त्व भी बढ़ गया था। यह भी ज्ञात होता है कि आर्य सिन्धु प्रान्त से पूर्व की तरफ बढ़े। कुरुक्षेत्र (ब्रह्मावर्त) एक पवित्र स्थान हो गया।

सामवेद

सांगीतिक तत्त्व की प्रौढ़ता के कारण वेद चतुष्टय के अन्तर्गत सामवेद विशिष्ट स्थान का अधिकारी है। प्राचीन भारतीय संगीत-कला के विकास की द ष्टि से यह निजी वैशिष्ट्य से संवलित एक अपूर्व रचना है, जिसमें भारतीय सांगीतिक धारा का अनादि स्रोत परिदर्शित और अभिव्यंजित होता है। 'गीता' में भगवान् ने वेदों में सामवेद को ही अपना अंश या स्वरूप मान कर इसकी महत्ता का अनुगुंजन किया है - वेदानां सामवेदो स्मि, ७।३०। शौनक की 'ब हत् देवता' में बताया गया है कि सामवेद के अध्ययन से सभी वेदों के वास्तविक ज्ञान की कुंजी प्राप्त हो जाती है।

'सामानि यो वेत्ति स वेत्ति तत्त्वम्।'

अर्थात् जो व्यक्ति साम को जानता है, वही वेद का रहस्य जानता है। 'ऋग्वेद' तथा 'अथर्ववेद' भी सामवेद की प्रशंसा करते दिखाई पड़ते हैं - 'ऋग्वेद' कहता है कि जागरणशील व्यक्ति को ही साम की प्राप्ति होती है।

'यो जागार तम् ऋचः कामयन्ते।

यो जागार तम् सामानि यन्ति।।' ५।४४।१४

एक अन्य मन्त्र में साम-गायन को पक्षियों के गान के समान माधुर्यमय कहा गया है-

उद्‌गातेव शकुने साम गायसि। २।४३।२

'अथर्ववेद' के अनेक स्थलों पर सामवेद की प्रशंसा के भाव व्यक्त हुए हैं। वहाँ साम को परब्रह्म का लोमभूत माना गया है -

सामानि यस्य लोमानि यजुर्हृदय उच्यते। - ६।६।२

सामानि यस्य लोमान्यथर्वा गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।' १०।७।२०

एक स्थान पर साम को विश्वकर्त्ता परमात्मा की आदिम स ष्टि कहा गया है -

यत्र ऋषयः प्रथमजा ऋचः साम यजुर्मही। - १७।७।१४

ऋक् और साम के घनिष्ठ सम्बन्ध की बात भी अथर्ववेद में कही गयी है और साम को वर तथा ऋक् को वधू कहा गया है।

अमो हमस्मि सा त्वं सामाहमस्म क् त्वं द्यौरहं प थिवी त्वम्।

ताविव संमवाव प्रजामा जनयावहै। १४।२।७१

उपर्युक्त प्रशस्य उक्तियों के अतिरिक्त वैदिक संहिताओं में विशिष्ट सामों के अभिधान भी प्राप्त होते हैं, जो इसकी प्राचीनता के द्योतक हैं, 'ऋग्वेद' में वैरूप व हत्, रैवत, गायत्र तथा भद्र आदि सामों के नामों के संकेत मिलते हैं और यजुर्वेद में रथ-तर, वैखनस, वामदेव्य, शाक्वर, रैवत तथा अमीवर्त के नामोल्लेख हैं। सामगान के अन्तर्गत काव्य और संगीत के सम्यक् सामंजस्य का भाव अथर्ववेद में अंकित है।

ऋग्सामाभ्याममिहितौ गावौ ते सामनावैताम्।। - १४।१।११

सामवेद में गीतितत्त्व की प्रधानता है, अतः यज्ञानुष्ठान के समय उद्‌गाता ऋत्विज उच्च स्वर से इसका गान करता था -

गीतिषु सामाख्या, जैमिनीय - सूत्र।

साम की उत्पत्ति और इसका अर्थ :-

वैदिक संहिता में सामवेद का महत्त्व विशिष्ट कारण से है। इसकी ऋचाएँ गेयता के कारण एक रूप होकर भी, अनेकात्मक होकर, विविध रूप धारण कर लेती हैं। गेय या गाने योग्य मन्त्रों को साम कहा जाता है।

'ब हदारण्यक उपनिषद्' में साम शब्द की जो उत्पत्ति दी गयी है, उसके अनुसार 'सा' का अर्थ है ऋचा और 'अम' का स्वर। इस प्रकार साम का अर्थ 'ऋक् के साथ सम्बद्ध स्वर प्रधान गायन' हुआ।

सा च अमश्चेति तत्साम्नः सामत्वम्।

तया सः सम्बद्धः अमो नाम स्वरः यत्र वर्तते तत्सामः। १।३।२२

मन्त्र और स्वर का समवाय ही साम है और स्वर में गीतित्त्व का समावेश होता है। साम शब्द के अनेक अर्थ किये गए हैं - 'छन्द की पवित्र पुस्तक' 'गेय भाषण' तथा संगीत ग्रन्थ आदि। पाश्चात्य पंडित इसे 'मैजिक साँग' कहते हैं। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के आधार पर इसके असंख्य भेद किये गये हैं। अंग्रेज विद्वान् साइमन ने स्वरों की संख्या आठ हजार बतलायी है। ऋग्वेद की ऋचाओं के आश्रय से ही साम का गान किया जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है वाणी के व्यवहार ऋक् में है और ऋक् का सार साम में निहित है। वाणी ऋक् है और साम उसका प्राण है। स्वर को साम का प्रधान अंग माना गया है अर्थात् स्वर साम का सर्वस्व है। विशिष्ट स्वरों के सन्निवेश का नाम साम है। 'साम' शब्द गान या गीति का वाचक है, पर स्वराधिष्ठान के रूप में जब इसका सम्बन्ध ऋचाओं से होता है तब यह गेय ऋचाओं का बोधक हो जाता है। ''तात्पर्य यह कि 'साम' शब्द का अर्थ वह गीतिक्रिया है। जो आभ्यन्तर प्रयन्त से उद्‌भूत स्वर विशेषों की अभिव्यंजिका है।''

'प्रगीतं मन्त्रवाक्यं सामशब्देनोच्यते।'

सायण ने साम शब्द का अर्थ इस प्रकार प्रकट किया है -

सामशब्दवाच्यस्य गानस्य स्वरूपं ऋगक्षरेषु क्रुष्टादिभिः सप्तभिः स्वरैरक्षरविकारादिभिश्च निष्पाद्यते।

शाखायें :-

पुराणों में सामवेद की शाखाओं की संख्या 'सहस्रवर्त्मा साम' कहकर एक सहस्र तक बताई गई है। चरणव्यूह में कुछ सम्प्रदायों के नाम इस प्रकार गिनाये गये हैं - राणायणीय, सात्यमुख्य या शाट्यमुख्य, कालाप, महाकालाप, कौथुम और लांगलिंक। इनमें से कौथुम सम्प्रदाय के छः भेद बताये गये हैं - सारायणीय, वातरायणीय, वैध त, प्राचीन, तैजस् और अनिष्टक। सामतर्पणविधि में सामवेद की तेरह शाखाओं के नाम दिये गये हैं - (१) राणायण, (२) शाट्यमुख्य, (३) व्यास, (४) भागुरि, (५) औलुण्डी, (६) गौल्गुलवी, (७) भानुमान-औपमन्यव, (८) कराटि, (६) मशक गार्ग्य, (१०) वार्षगव्य, (११) कुथुम, (१२) शालिहोत्र, (१३) जैमिनी।

इस समय हमें जिन तीन शाखाओं की संहितायें उपलब्ध हैं उनका नाम क्रमशः (१) राणायणीय, (२) कौथुम, (३) जैमिनीय शाखाएँ हैं। इनमें से सबसे अधिक प्रसिद्ध कौथुम शाखा की संहिता है। इसका विभाजन मुख्यतः दो भागों में किया गया है। प्रथम भाग पूर्वार्चिक (संक्षेप में आर्चिक) और दूसरा उत्तरार्चिक है। पूर्वार्चिक का विभाजन चार काण्डों में है - (१) आग्नेयकाण्ड, (२) ऐन्द्र काण्ड, (३) पावमान काण्ड और (४) आरण्य काण्ड। आरण्य काण्ड के अन्त में 'महा नाम्नी' के १० मन्त्र और हैं। इस प्रकार पूर्वार्चिक में ६५० मन्त्र हैं। आरण्य काण्ड के ५५ मन्त्र और महानाम्नी के १० मन्त्रों को विन्टरनिट्स, हॉण्डा तथा अन्य विद्वानों ने पूर्वार्चिक का भाग नहीं माना है। इस प्रकार पूर्वार्चिक के मन्त्रों की संख्या उनके अनुसार ५८५ है। आग्नेय काण्ड एक अध्याय में, ऐन्द्र काण्ड अगले तीन अध्यायों में, पावमान काण्ड एक अध्याय में और आरण्य काण्ड तथा महा नाम्नी दोनों ही एक अध्याय

में विभाजित हैं। पूर्वार्चिक के सभी काण्ड प्रपाठकों में और प्रपाठक खण्डों या दशतियों में निबद्ध हैं। इन दशतियों में अधिक-से-अधिक १४ और कम-से-कम ६ मन्त्र हैं।

उत्तरार्चिक को ६ प्रपाठकों और २१ अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक अध्याय खण्डों या सूक्तों में विभक्त है। इन खंडों या सूक्तों में एक से लेकर १२ मन्त्रों तक के प थक्-प थक् संख्या वाले मन्त्र-समूह हैं। इनमें एक मन्त्र वाले १३; २ मन्त्रों वाले ६६; ३ मन्त्रों वाले २८७; ४ मन्त्रों वाले ६; ५ मन्त्रों वाले ४; ६ मन्त्रों वाले १०; ७ मन्त्रों वाले २; ८ मन्त्रों वाला १; ६ और १० मन्त्रों वाले ३-३; और १२ मन्त्रों वाले २ समूह हैं। तीन की संख्या वाले मन्त्र समूहों की संख्या सर्वाधिक है और इन्हें 'त च्' नाम से कहा जाता है। इस प्रकार उत्तरार्चिक में १२२५ मन्त्र हैं। कौथुम शाखा के अनुसार सामवेद की कुल मन्त्र संख्या १८७५ है। दोनों भागों में ऐसे मन्त्रों का संग्रह है जो प्रायः ऋग्वेद में सबके सब उपलब्ध हैं। इनमें से बहुत से मन्त्रों का संग्रह है जो प्रायः ऋग्वेद में सबके सब उपलब्ध हैं। इनमें से बहुत से मन्त्रों की पुनराव त्ति हुई है यदि हम उन पुनराव त्ति वाले मन्त्रों को निकाल दें तो सामवेद में मन्त्रों की संख्या १६०३ रह जाती है। दोनों भागों से संग्रह किये गये इन मन्त्रों में से केवल ६८ मन्त्र ऐसे हैं जो ऋग्वेद में नहीं मिलते। अधिकांशतः सामवेद के मन्त्रों का संग्रह ऋग्वेद के आठवें और नवें मंडल में से किया गया है। राणायणीय शाखा के अनुसार सामवेद की कुल मन्त्र संख्या १८१० और जैमिनीय शाखा के अनुसार १६६३ है। जैमिनीय शाखा में पूर्वार्चिक की मन्त्र संख्या ५८७ तथा उत्तरार्चिक की मन्त्र संख्या १०४१ है। १६६३ की कुल संख्या में आरण्य के ५६ और महानाम्नी के १० मन्त्र भी सम्मिलित हैं।

वर्ण्य विषय :-

सामवेद के अधिकांश मन्त्र 'गायत्री' और 'प्रगाथ' छन्दों में निबद्ध हैं। 'प्रगाथ' छन्द में 'गायत्री' और 'जगती' छन्द के पाद मिले हुए होते हैं। इन छन्दों के नाम से ही यह सूचित होता है इनकी रचना प्रारम्भ से ही गायन के निमित्त से हुई थी। ओल्डनवर्ग ने अपने एक लेख में इस बात की ओर संकेत किया है। 'गायत्री' और 'प्रगाथ' दोनों ही नाम गा (गाना धातु) से निष्पन्न हैं। ऋग्वेद में न मिलने वाले सामवेद के ६८ मन्त्र या तो दूसरी संहिताओं में खण्डित पादों के रूप में उपलब्ध हैं या कुछ कर्मकाण्ड के ग्रन्थों में से लिये गये हैं और कुछ शाखाओं से भी लिये गये प्रतीत होते हैं जो हमें अब उपलब्ध नहीं हैं। इनमें से कुछ ऐसे भी मन्त्र हैं जिनकी रचना ऋग्वेद के मन्त्रों के अलग-अलग पादों को लेकर की गई है पर ऐसा करते हुए अर्थ की द ष्टि से एकरूपता का ध्यान नहीं रखा गया। सामवेद में उपलब्ध होने वाले ऋग्वेद के कुछ मन्त्र विभिन्न पाठ-भेद युक्त हैं और विन्टर निट्स आदि वैदिक इतिहासकारों की सम्मति में इन मन्त्रों में मिलने वाला रूप शायद मन्त्रों का प्रारम्भिक रूप रहा हो। इसके विपरीत थियोडोर ऑफ्रेक्ट ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि सामवेद में मिलने वाले इस प्रकार के पाठभेद याद च्छिक तथा आकस्मिक परिवर्तन हैं - ऐसे परिवर्तन जो गायन की द ष्टि से शब्दों में किये जाते हैं। सामवेद के पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक दोनों खण्डों में मिलने वाला पाठ एक विशेष उद्देश्य को पूरा करने का साधन है। इनका आवश्यक तत्त्व गायन था और दोनों खण्डों का उद्देश्य सामगान की पद्धति को सिखाना था। सामवेद के सम्प्रदाय में उदगात पुरोहित की शिक्षा लेने वाले छात्र के लिए सर्वप्रथम इन गायन-पद्धतियों को सीखना अत्यन्त आवश्यक था। ऐसा करने के लिए पूर्वार्चिक की सहायता ली जाती थी और तत्पश्चात् यज्ञ के स्तोत्रों का जिस रूप में गायन किया जाता था उस रूप में उन्हें कण्ठाग्र किया जाता था। इस उद्देश्य की पूर्ति उत्तरार्चिक से होती थी।

सामवेद में स्वरांन का प्रकार अन्य सब संहिताओं और ब्राह्मणों से भिन्न है। सामान्यतया संहिताओं और ब्राह्मणों में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित चिह्नों को दर्शाने के लिए रेखाओं का प्रयोग किया गया है। यथा - ऋग्वेद में अनुदात्त के नीचे अधोरेखा, स्वरित के ऊपर ऊर्ध्व रेखा तथा उदात्त पर किसी प्रकार का चिह्न नहीं दिया जाता। सामवेद में उदात्त आदि स्वर प्रदर्शन का कार्य अंकों और अक्षरों द्वारा किया जाता है। यथा -

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ र ३ २ ३क २र

आघ त्वावान् त्मना युक्तः स्तोत भ्यो ध ष्णवीयानः। ऋणोरक्ष न चक्रयोः (सा. १०८५)

पूर्वार्चिक के आग्नेय काण्ड, ऐन्द्र काण्ड और पावमान काण्ड की दशतियों की समाप्ति पर मन्त्रों में आये हुए उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों की संख्या भी दी गई है। यथा - पूर्वार्चिक के आग्नेय की प्रथम दशति की समाप्ति पर (स्वरिताः ६१ उ. ना. १ धा ३७१ (वे) ११) इस प्रकार की सूचना अंकित है। यह सूचना आरण्य काण्ड की ५ दशतियों और महानाम्नी की १० ऋचाओं तथा उत्तरार्चिक के प्रथम तीन अध्यायों के तीसरे खण्ड तक नहीं हैं। तत्पश्चात् उत्तरार्चिक के अन्य अध्यायों में त चा की समाप्ति पर उपर्युक्त प्रकार की सूचनाएँ प्रायः सर्वत्र मिलती हैं। उदात्त आदि स्वरों के अतिरिक्त सामवेद में गायन के स्वरों का भी महत्त्व है। नारदीय शिक्षा में इन स्वर मण्डलों की गणना इस प्रकार दी गई है -

सप्तस्वराः त्रयो ग्रामाः मूर्छनास्त्वेकविंशतिः।
ताना एकोनपंचाशत् इत्येतत्स्वरमण्डलम्।।

इन स्वरों को प्रथम, द्वितीय, त तीय, चतुर्थ, प चम, षष्ठ और सप्तम तथा मध्यम, गान्धार, ऋषभ, षड्ज, निषाद, धैवत, प चम के नाम से भी कहा गया है।

सामवेद के निम्न छः विकार माने जाते हैं जिनके नाम क्रमशः ये हैं - (१) विकार यथा - 'अग्ने' के स्थान पर 'ओग्नायि'; (२) विश्लेषण यथा - 'वीतये' के स्थान पर 'वोयि तोया २ यि'; (३) विकर्षण यथा - 'ये' के स्थान पर 'या २३ यि'; (४) अभ्यास अर्थात् बार-बार बोलना यथा - तोया २ यि तोया २ यि; (५) विराम यथा - 'ग णानो हव्यदातये' के स्थान पर 'ग णानोह व्यदातये' इस प्रकार बोलते हैं। मूल मन्त्र में 'ग णानोह व्यदातये' ऐसा रूप नहीं है परन्तु गाने के सौकर्य के लिए बीच में ही तोड़ दिया जाता है इसे ही विराम कहते हैं; (६) स्तोभ-स्तोभ का अर्थ है ऋचाओं में न आये हुए अक्षरों को बोलना यथा - 'औ होवा-हाऊ'। पूर्वार्चिक के मन्त्र 'योनि मन्त्र' कहे जाते हैं। इनके आधार पर बने हुए गान गाये जाते हैं। भारतीय परम्परा में जिस गान (साम) के अनुसार जो ऋचा गायी जाती है उस साम को उस ऋचा का आध त माना जाता है। छान्दोग्योपनिषद् में 'ऋषि अध्यूढं साम' ऐसा कहा गया है अर्थात् साम ऋचा पर आरूढ़ है। उत्तरार्चिक में लगभग ४०० गान हैं जिन्हें त चा का नाम दिया गया है। इस द ष्टि से उत्तरार्चिक एक गान पुस्तक है जिसका संग्रह प्रधान यज्ञों में गाये जाने वाले साम गेय (गानों) के अनुसार किया गया है। विद्वानों में यह अभी तक विवाद का विषय बना हुआ है कि उत्तरार्चिक और पूर्वार्चिक में से किस भाग का संग्रह पहले किया गया। सामान्यतया किसी भी लय से गाये जाने वाले गायन की गानपद्धति की रचना पहले होना स्वाभाविक है। तदनन्तर उसके आधार पर लय के आरोह-अवरोह को देखकर उसके पश्चात् योनिमन्त्र के रूप में संग हीत किया जाना तर्कसंगत प्रतीत होता है। तथापि अभी तक गेयगानों और योनिमन्त्रों में किसकी रचना प्रथमतः हुई यह विषय विवादास्पद ही है।

वस्तुतः 'साम' नाम उन गेय ऋचाओं को दिया जाता था। जिनका गान विविध यज्ञों में किया जाता था। कौथुम शाखा के आधार पर ४००० साम गान बने हुए हैं और राणायणीय शाखा के आधार पर भी ४००० सामगान उपलब्ध होते हैं। ये सामगान जिस ऋषि द्वारा निबद्ध किये जाते हैं उसी के नाम से प्रसिद्ध हैं। जैसे - गोतमस्य पर्कं, कश्यपस्य बार्हिषम् आदि। सामवेद का प्रथम मन्त्र जो ऋग्वेद से लिया गया है वह योनिमन्त्र के रूप में निम्न प्रकार से गाया जायेगा -

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

अग्न आ याहि वीयते ग णानो हव्यदातये।

१ २र ३ १ २

नि होता सत्सि बर्हिर्षि।।

इस योनि मन्त्र को गोतम - पर्कं के अनुसार इस प्रकार गाया जायेगा -

४ २ र र - १ २ -

ओग्नाई। आयाही ३। वोइतोया २इ।

१ - १ र २ र १ -

तोया २इ। ग णानो ह। व्यदातोया २ इ।

१ - १ २ र १

तोया २इ। नाइ होतासा २३। त्सा २इ।

३ २ र र ३

वा २३४ औहो वा। ही २३४ षी।।

तथा काश्यपस्य बार्हिषम् के अनुसार निम्न प्रकार से गाया जायेगा -

४ ५ ४र ५र ४ १ र र र

अग्न आयाहि वी। तया ३। ग णानो हव्यदाता

२ १ र र र २ १ २ १

२२ याइ। नि होता सत्सि बर्हा २ ३ इषी। बर्हा २

- ५ र र १११

इषा २३४ औ होवा। बर्ही ३ षी २३४५।।

सामवेद संहिता के दोनों भागों में मिलने वाला पाठ एक मात्र उच्चारण रूप में है गायन रूप में नहीं। गान के आरोह अवरोह और लय की शिक्षा प्रारम्भ में केवल मौखिक ही दी जाती रही होगी। इनके आधार पर गाये जाने वाले गान आगे चलकर संग हीत किये गये। वर्तमान में हमें चार प्रकार के गान मिलते हैं - (१) ग्राम गेय गान अथवा प्रक ति गान अथवा गेय गान - यह ज्ञान पूर्वार्चिक के आधार पर है। इसे ग्राम में गाया जा सकता था। इन गानों का क्रम वही है जो उत्तरार्चिक में दिया गया है। (२) आरण्य गान - यह भी पूर्वार्चिक से सम्बद्ध है। आरण्य गान या आरण्य गेय गान के बारे में यह प्रथा थी कि इसका गायन केवल अरण्य में ही किया जाता था तथा इसके आरण्य नाम से आगे आने वाले साहित्य के विषय में यह विश्वास था कि इसका पठन-पाठन और श्रवण केवल उन व्यक्तियों के लिए था जो दीक्षित थे। वह इस विषय के रहस्य को जानते थे तथा इनके मूल में विद्यमान आध्यात्मिक और धार्मिक प्रतीकों से पूर्णतः परिचित थे अतएव ऐसे व्यक्ति ग्राम और जनपद से दूर अरण्य में रहकर इस विषय का पठन पाठन और श्रवण करते थे। इनकी आधार पुस्तक आरण्य संहिता या आरण्य काण्ड थी। अगले दो गानों - 'ऊहा' और 'उह्य' का आधार उत्तरार्चिक है। प थक्-प थक स्तोम यज्ञों के विविध काल में उद्‌गाता इनका प्रयोग करता था। इस द ष्टि इसे इनका विभाजन सात पर्वों में किया गया है।

यह ऊपर कहा जा चुका है कि विभिन्न शाखाओं के अनुसार साम के इन गानों की संख्या कई सहस्र तक थी। कल्पसूत्र ग्रन्थों में इनका वर्णन कई स्थानों पर हुआ है तथा इनके साथ विविध प्रतीकात्मक अर्थ भी जुड़े हुए हैं। ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों में वर्णित प्रतीकवाद और रहस्यवाद के साथ इनका गहरा सम्बन्ध है। इनमें से कुछ नाम यथा - वैरुप, ब हद्, गौरवीति, रैवत, अर्क, गायत्र, श्लोक और भद्र आदि ऋग्वेद में मिलते हैं ; ब हद्, रथन्तर, वैराज, वैखानस, वामदेव, ययज्ञि शक्वर, रैवत, अभीवर्त, क्रोष, सत्रसर्भि इत्यादि नाम यजुर्वेद में मिलते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य नाम यथा - नोधस, रौख, यौद्धाजय, अग्निष्टोमीय, भास और विकर्ण नाम ऐतरेय ब्राह्मण में

मिलते हैं।

विन्टरनिट्स तथा बहुत से पाश्चात्य विद्वानों ने सामगायन का विकास अधिकांशतः उन अर्ध-धार्मिक गीतों से माना है जिनका गायन ऋतु परिवर्तन आदि जातीय उत्सवों के समय किया जाता था। उसके मत में इनमें से कुछ का मूल तो उस कोलाहलपूर्ण गायन में खोजा जा सकता है जिसे प्राचीन असभ्य जाति के लोग अपनी पूजाविधि के समय अपने जादूगर पुरोहितों की देख-रेख में करते थे। हाऊ, हावु, रायि, राइ आदि सामगान के समय प्रयुक्त किये जाने वाले स्तोमों को वह आदिकालीन हर्षसूचक ध्वनि समूहों का रूप मानता है। उसकी द ष्टि में 'सामन्' शब्द का अर्थ सम्भवतः उस 'प्रशंसापरक गान' से है जो देवताओं या राक्षसों को तुष्ट करने के लिए गाया जाता था। अपने मत की पुष्टि में उसने सामवेद से सम्बद्ध सामविधान-ब्राह्मण ग्रन्थ का नाम लिया है जिसके पिछले भाग की विषयवस्तु जादू सम्बन्धी है और उसके प्रयोग के समय नाना सामगानों का विधान बताया गया है। इसी प्रकार जादू क्रियाओं के साथ सामगान का सम्बन्ध दर्शाने के लिए उसने आपस्तम्ब धर्मसूत्र की ओर इंगित किया है। इस धर्मसूत्र में वेदपाठ के समय गिनायी गयी अवरोधक ध्वनियों में संगीत, रोदन, और सामगान को भी गिनाया गया है।

पाश्चात्य मनीषिओं की द ष्टि में सामवेद संहिता का महत्त्व भारतीय यज्ञ प्रक्रिया और जादूविधियों के इतिहास की द ष्टि से कम नहीं है यद्यपि साहित्यिक क ति के रूप में यह संहिता महत्त्वहीन है।

अथर्ववेद

अथर्ववेद चौथा और अन्तिम वेद है। वर्तमान जीवन को सुखमय बनाने के लिए जिन साधनों की आवश्यकता होती है, उन सभी की प्राप्ति के लिए किए जाने वाले अनुष्ठानों को विधान अथर्ववेद में है। ऐसा प्रतीत होता है कि पहले अथर्ववेद की गणना वेदों में नहीं की जाती थी। पहले '**त्रयी**' या '**वेदत्रयी**' से तीन वेदों-ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद का ही बोध होता था। ऐतरेय ब्राह्मण में भी कहा गया है-'**त्रयो वेदा अजायन्त**' अर्थात् तीन वेद उत्पन्न हुए। तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी इसकी पुष्टि की गई है-**'यं ऋषयः त्रयोविदो विदुः ऋचः सामानि यजूंषि'**।

अथर्ववेद को वेद न मानने का कारण सम्भवतः यह था कि अथर्ववेद का वर्ण्य विषय व मूल भावना तीनों वेदों से भिन्न थी क्योंकि इसका यज्ञादि से सम्बन्ध नहीं था। परन्तु आचार्य कपिलदेव द्विवेदी ने इस बात का खण्डन किया है कि अथर्ववेद को पहले वेद की संज्ञा प्राप्त नहीं थी और बाद में यज्ञीय मन्त्रों का सङ्कलन होने पर ही इसे वेद की श्रेणी में सम्मिलित किया गया। अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने निम्न तर्क दिए हैं -

(१) पूर्वमीमांसा में सिद्ध किया गया है कि **'त्रयी'** नाम ग्रन्थों पर निर्भर न होकर विषयों पर निर्भर है। पद्यबन्ध को ऋक् कहते हैं, गीति को साम और गद्य को यजु। अथर्ववेद का तीनों में ही समावेश होने के कारण प थक् उल्लेख नहीं किया गया।

(२) ऋग्वेद में कई बार 'अचर्षा' का उल्लेख आया है। इसे अग्नि का आविष्कारक और यज्ञ विद्या का प्रवर्तक कहा गया है।

(३) ऋग्वेद में चार ऋत्विजों में ब्रह्मा (अथर्ववेद का ऋत्विक्) को ब्रह्म विद्या के उपदेशार्थ प्रतिष्ठित किया गया है। ब्रह्मा का अथर्ववेदवित् होना अनिवार्य है।

ऋक्, साम और यजु, ये तीनों वेद साक्षात् यज्ञ में प्रयुक्त होते है..परन्तु अथर्ववेद यज्ञ प्रधान नहीं है, अतः इसका तीनों वेदों के साथ सर्वत्र उल्लेख नहीं मिलता।

इस प्रकार उपरिलिखित तथ्यों के आधार पर आचार्य द्विवेदी जी ने यह प्रमाणित करने का

प्रयत्न किया है कि यद्यपि अथर्ववेद को प्रारम्भ से ही 'वेद' की संज्ञा प्राप्त थी तथापि इसका उल्लेख अन्य वेदों (वेदत्रयी) के साथ प्राप्त क्यों नहीं होता।

परन्तु आचार्य जी के ये मत तर्कसङ्गत प्रतीत नहीं होते क्योंकि पूर्वमीमांसा तो बहुत परवर्तीकाल की रचना है। तब तक तो अथर्ववेद को वेद की संज्ञा प्राप्त नहीं हो ही गई थी। दूसरे 'अथर्वा' शब्द बहुत प्राचीन है। ऋग्वेद में 'अथर्वा' शब्द का प्रयोग **(यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते) 'पुरोहित'** के अर्थ में ही हुआ है, अथर्ववेद के लिए नहीं और जहां अथर्वा को अग्नि का आविष्कारक बतलाया गया है (अग्निर्जातो अथर्वणा), वह पंक्ति ऋग्वेद के दशम मण्डल (१०.१२) में आती है और दशम मण्डल स्वयं परवर्ती है। तीसरे, जहां ब्रह्मा को ब्रह्मविद्या के उपदेशार्थ प्रतिष्ठित किया गया है (**ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्याम्,** ऋग्वेद १०.७१.११) वह प्रसङ्ग भी दशम मण्डल में ही मिलता है।

पाश्चात्त्य विद्वान् मैक्ड़ॉनल के अनुसार केवल ऋक्, साम और यजु ही मूलतः धार्मिक संहिताएं मानी जाती हैं। कारण, इनका ही यज्ञीय विधि विधान से सम्बन्ध पाया जाता है। अन्तिम अध्याय को छोड़कर शेष अथर्ववेद यज्ञिय विधि से किसी तरह सम्बन्ध नहीं रखता। ऐसा लगता है कि अन्तिम अध्याय इसी उद्देश्य से जोड़ दिया हो कि अथर्ववेद का यज्ञानुष्ठान से कुछ संबंध स्थापित हो जाए। बीसवें अध्याय में आद्योपान्त प्रायः सभी सूक्त इन्द्र की स्तुति परक हैं जो बिना किसी रूपान्तर के ज्यों के त्यों ऋग्वेद से उठाकर रखे गए हैं। इसके अतिरिक्त और अधिक श्रद्धेय प्रमाण इस तथ्य को प्रमाणित करते है-परवर्ती अध्यायों में सोमयाग का कल्प वर्णित है जो अथर्ववेद के स्वरूप का अनुवर्त्ती नहीं है। निश्चय ही यह अंश अथर्व संहिता को चतुर्थ वेद का पद प्राप्त कराने के उद्देश्य से ही सङ्कलित किया गया है। यज्ञकल्प के संविधान के आधार पर ही इतर तीन वेदों के समकक्ष अथर्व संहिता की भी गणना होने लगी। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि अथर्ववेद के प्रातिशाख्य में इन दो अन्तिम अध्यायों का कहीं उल्लेख नहीं है।

परन्तु मैक्डॉनल का यह मत उचित प्रतीत नहीं होता। यह विश्वसनीय हो सकता है कि अथर्ववेद के अन्तिम दो अध्याय बाद में जोड़ दिए गए हों परन्तु अथर्ववेद को वेद का पद दिलाने के लिए ही ऐसा किया गया हो, यह समीचीन एवं तर्क सङ्गत प्रतीत नहीं होता।

वस्तुतः अथर्ववेद को परवर्ती काल में **'वेद'** के नाम से अभिहित क्यों किया गया, इसके अन्य कारण हैं।

ऋग्वेद (सामवेद और यजुर्वेद उसके ही पूरक होने के कारण प थक् रूप से अभिहित नहीं किए जा रहे) समाज के उच्च वर्ग से सम्बन्ध रखता है क्योंकि उसमें देवताओं की स्तुतियां बड़े सुश्लिष्ट एवं उदात्त रूप में की गई है जबकि अथर्ववेद प्राक तिव जन का वेद है। ऋग्वेद में मन्त्रों की उपयोगिता यज्ञ के माध्यम से है तो अथर्ववेद में मन्त्रों को स्वयं शक्ति से युक्त बतलाया गया है। वे यज्ञ की अपेक्षा नहीं रखते। अथर्ववेद की यह एक मौलिकता है (विस्त त जानकारी के लिए देखिए प्रथम अध्याय, अथर्ववेद की उत्पत्ति एवं अर्थ के अन्तर्गत)।

ऋग्वेद में परिष्क त, श्लिष्ट, उच्च स्तरीय और प्रशंसनीय आचार विचारों का समावेश है जबकि अथर्ववेद में जनसाधारण के विश्वासों, आचार विचारों, अद श्य शक्तियों, इन्द्रजाल, जादू टोने आदि का वर्णन है। इन्हीं सब कारणों से शायद अथर्ववेद को पहले वेद नहीं माना गया परन्तु तत्पश्चात् यह अनुभव किया गया कि प्रत्येक समाज में दो प्रकार के लोग होते हैं-एक तो उच्चस्तर के शिक्षित और सभ्य और दूसरे अपेक्षाक त निम्नस्तर के साधारण, अशिक्षित एवं कुछ सीमा तक असभ्य। दोनों प्रकार के लोगों की रूचियां, शिक्षा दीक्षा, आचार-विचार, धार्मिक मान्यताएं, रहन-सहन, जीवन की प्राथमिकताएं, विश्वास इत्यादि भिन्न-भिन्न होते हैं। समाज में प्रायः निम्न स्तर के साधारण लोगों की ही बहुलता होती है। अतः समाज का पूर्ण चित्र प्राप्त करने के लिए दोनों ही अङग् परमावश्यक हैं। इस प्रकार अथर्ववेद ऋग्वेद से भिन्न होते हुए भी उसका पूरक है। अथर्ववेद के अध्ययन के बिना साहित्य ज्ञान अपूर्ण रह जाता है। इस प्रकार बाद में अथर्ववेद का महत्व भी पहचाना गया। भारतीय

विश्वास के अनुसार वर्तमान जीवन को सुखमय बनाने के लिए जिन-जिन साधनों की आवश्यकता होती है, उन सभी की प्राप्ति के लिए किए जाने वाले अनुष्ठानों का विधान अथर्ववेद में है। अतः वैदिक समाज का सर्वाङ्गीण चित्र प्राप्त करने के लिए अथर्ववेद भी वेद की श्रेणी में सम्मिलित कर लिया गया।

अथर्व संहिता को 'वेद' नाम से अभिहित करने के एक दो कारण और भी थे। इसकी रचना **'ब्रह्मा'** नामक पुरोहित के लिए की गई। ब्रह्मा का कार्य है **'यज्ञ का सम्यक् निरीक्षण करना'**। ऋग्वेद के **'होता'** की भांति इसे मन्त्रों, सामवेद के **'उद्‌गाता'** के समान मन्त्रों के उच्चारण प्रकार तथा यजुर्वेद के **'अध्वर्यु'** की भांति उन यज्ञों को करने की विधि का पूर्ण ज्ञान होता था। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार ऋग्वेद में विशुद्ध मन्त्र है उसी प्रकार अथर्ववेद भी शुद्ध किए गए मन्त्रों का सङ्कलन है। इन्हीं कारणों से अथर्ववेद को चौथा और अन्तिम वेद मान लिया गया।

इसके अतिरिक्त वैसे भी यज्ञ की पूर्णता के लिये चार ऋत्विजों की आवश्यकता होती है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार यज्ञ दो प्रकार से सम्पादित किया जाता है-वाक् तथा मन। वचन के द्वारा **'वेदत्रयी'** यज्ञ के एक पक्ष को संस्क त बनाती है तो दूसरे पक्ष का संस्कार **'ब्रह्मा'** नामक पुरोहित **'मन'** के द्वारा करता है। इसी तथ्य की पुष्टि गोपथ ब्राह्मण में भी की गई है। अतः यज्ञ के पूर्ण संस्कार के लिए अथर्ववेद की अत्यन्त आवश्यकता है।

शतपथ ब्राह्मण में, जो परवर्ती काल की रचना है, स्पष्ट रूप से कहा गया है-'**अस्यमहतो भूतस्य निश्वसितमेतत् यद्ऋग्वेदो, यजुर्वेदः, सामवेदो, अथर्वाङ्गीरसः।'** मुण्डकोपनिषद् में भी कहा गया है-**'तत्रापरा ऋग्वेदी, यजुर्वेदोः' सामवेदः, अथर्ववेदः, शिक्षा, कल्पः इत्यादि।'**

अथर्ववेद का रचना काल ऋग्वेद से परवर्ती है। इसका कारण यह हो सकता है। कि शेष तीन वेदों की रचना तब हो चुकी होगी जब आर्य सप्तसिन्धु के आस-पास के क्षेत्र में ही थे परन्तु जब वे शनैः शनैः दक्षिण की तरफ बढ़े और वहां पर भी अपना आधिपत्य जमा लिया तो इनके विचारों का आदान प्रदान भारत के मूलनिवासियों द्रविड़ों या दस्युओं से हुआ। आर्यों ने देखा कि जिस प्रकार वे यज्ञादि कर अपने अभीष्ट की प्राप्ति करते हैं, उसी प्रकार ये मूलनिवासी भी अपने अभीष्ट की प्राप्ति के लिए कुछ योग साधन व सिद्धि की प्रक्रियाएं करते है। उन प्रक्रियाओं से आर्य प्रभावित हुए तथा उन्होंने स्वयं भी इनका प्रयोग किया। प्रयोजन की सिद्धि होने पर उन सफल प्रयोगों व मन्त्रों को अथर्ववेद नामक ग्रन्थ में सङ्कलित कर दिया। इस ग्रन्थ में जो मन्त्र व प्रयोग है उनको 'जादू टोने' की संज्ञा भी दी गई है।

व्याकरण की द ष्टि से भी अथर्ववेद की भाषा निश्चित रूप से ऋग्वेद की भाषा से परवर्ती है। इसमें वर्णित भौगोलिक एवं सांस्क तिक अवस्थाएं भी इसी बात को प्रमाणित करती है कि अथर्ववेद ऋग्वेद के पश्चात् ही लिखा गया। इसमें प्राप्त वैदिक देवताओं का व्यक्तित्व भी इसका ऋग्वेद से परवर्ती होना ही सिद्ध करता है। यद्यपि इन्द्र, अग्नि आदि देवता ऋग्वेदिक हैं किन्तु उनके स्वरूप एवं कार्य पूर्ण रूप से भिन्न है। ऋग्वेद में ये देवता विभिन्न प्राक तिक शक्तियों के प्रतीक थे लेकिन अथर्ववेद में उनकी प्रतीकात्मकता समाप्त हो गई।

यह ध्यातव्य है कि अथर्ववेद के कई मन्त्र ऋग्वेद के समकालीन भी प्रतीत होते हैं। इसका कारण सम्भवतः यह हो सकता है कि वैदिक आर्य भी 'जादू टोने' से परिचित तो थे क्योंकि ऋग्वेद के ३० सूक्त अभिचार से सम्बन्ध रखते है परन्तु उनका यह ज्ञान बहुत ही अल्प व सीमित रहा होगा। प्रायः वे देवताओं की स्तुति ही करते थे।

ऋग्वेद के रचना काल की भांति अथर्ववेद भी किसी एक विशेष समय की रचना नहीं है। इसकी रचना प्रक्रिया शताब्दियों तक चलती रही होगी। इसका भी श्रुति रूप से ही आदान प्रदान होता रहा होगा और तत्पश्चात् इसे संहिता रूप से सङ्कलित किया गया होगा। **अथर्ववेद का**

अर्थ व इसके विभिन्न नाम :

अथर्ववेद का अर्थ है **'अथर्वों का वेद या अभिचार मन्त्रों का ज्ञान' 'अथर्वन्'** शब्द बहुत प्राचीन है। प्राचीन समय में अथर्वन् शब्द से पुरोहित का बोध होता था लेकिन कुछ समय पश्चात् यह शब्द **'अभिचार का पुरोहित'** इस अर्थ का बोध करवाने लगा। कपिलदेव द्विवेदी आचार्य के अनुसार अथर्वन् ऋषि के नाम पर इस वेद का नाम अथर्ववेद पड़ा। इस वेद में अथर्वा ऋषि के ही मन्त्र सबसे अधिक है। इनकी संख्या १७६८ है।

अथर्ववेद के उपलब्ध अनेक नामों में से अथर्वाङ्गिरसवेद, ब्रह्मवेद व अङ्गिरोवेद कुछ प्रमुख नाम है। इसका प्राचीनतम नाम अथर्वाङ्गिरस है जिसका अर्थ है अथर्वो और अङ्गिराओं का वेद। पाश्चात्य विद्वानों की द ष्टि में अथर्वन् भाग में रोगनाशक तथा सुखोत्पादक मन्त्र है जबकि अङ्गिरस भाग में अभिचार, मारण, मोहन, वशीकरण एवं जादू टोने सम्बन्धी मन्त्र है। पाश्चात्य विद्वान् मैक्डॉनल महोदय के अनुसार अथर्वन् वस्तुतः सात्त्विक और लोकसङ्गल के साधक मन्त्रों का द्योतक है। अतः चौथे वेद का संज्ञा के लिए उपयुक्त नाम समझा गया।

आचार्य कपिलदेव द्विवेदी के अनुसार इसे 'ब्रह्मवेद' भी कहा जाता है क्योंकि इसके ६६७ मन्त्र ब्रह्मा द्वारा देखे गए थे। लेकिन मैक्डॉनल महोदय के अनुसार अथर्ववेद की रचना 'ब्रह्मा' नामक पुरोहित के लिए हुई थी, अतः इसे ब्रह्मवेद भी कहते हैं। इस प्रकार अथर्ववेद में सभी विषयों का समावेश किया गया है।

अथर्ववेद **ब्रह्मा** नामक पुरोहित के लिए सङ्कलित किया गया। यद्यपि सभी विद्वानों ने इस **'ब्रह्मा'** नामक पुरोहित का कार्य **' यज्ञ का भली-भांति निरीक्षण करना'** माना है तथापि अथर्ववेद की भावना को ध्यान में रखते हुए 'ब्रह्मा' का यह अर्थ उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि अथर्ववेद में यज्ञ का महत्त्व ही नहीं था। अतः यहां **'ब्रह्मा'** का अर्थ **सर्वज्ञ** ही है। सम्भवतः पौराणिक **'ब्रह्मा'** यही ब्रह्मा था जो सर्वज्ञाता और सर्वशक्तिमान् था। इस बात की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है पौराणिक कथाओं में राक्षस जाति अलौकिक व दिव्य शक्तियां प्राप्त करने के लिए **'ब्रह्मा'** की ही उपासना करती थी।

अथर्ववेद की शाखाएं :-

परम्परा के अनुसार अथर्ववेद की नौ शाखाएं मानी जाती हैं। इनके नाम पैप्पलाद, तौद, मौद, शौनक, जाजल, जलद, ब्रह्मवद, देवदर्श और चारणवैद्य थे। वर्तमान में हमें इनमें से केवल दो सम्प्रदायों की शाखाएं ही उपलब्ध होती है। प्रो० होण्डा का मत है कि इनमें से कुछ सम्प्रदाय अथर्ववेद के व्यावसायिक और क्रियात्मक पहलू से अधिक जुड़े हुए थे। 'चारणवैद्य' सम्प्रदाय ऐसा ही एक सम्प्रदाय रहा होगा जिसके अनुयायी भ्रमणकर्त्ता वैद्यों के रूप में विचरण करते होंगे। इस आधार पर यह परिणाम निकाला जा सकता है कि अथर्ववेद की विषय-वस्तु का विभाजन अत्यन्त प्रारम्भ में ही दो 'पाठों' में विभक्त कर दिया गया था- एक पाठ पिप्पलाद या पिप्पलादि द्वारा स्थापित पैप्पलाद सम्प्रदाय में तथा दूसरा शौनक द्वारा संस्थापित शौनकीय सम्प्रदाय में प्रचलित रहा। इन दोनों सम्प्रदायों के संस्करणों में बहुत भेद है।

पैप्पलाद शाखा की खोज डा० ब्यूहलर ने काश्मीर में की थी। इस शाखा का सर्वप्रथम प्रकाशन मोरिस ब्लूमफील्ड और गार्बे ने 'काश्मीरन अथर्ववेद' के नाम से स्टुटगार्ट से १६०१ में प्रकाशित किया था। काश्मीर से प्राप्त पाण्डुलिपि में दूसरी पाण्डुलिपियों की अपेक्षा लगभग ६५०० भिन्न मन्त्र मिलते हैं। दुर्गामोहन भट्टाचार्य के अनुसार उड़ीसा से प्राप्त पाण्डुलिपि में इस शाखा के लगभग ८००० मन्त्र प्राप्त होते हैं। अधिक संख्या में मिलने वाले इन मन्त्रों में दोनों ही प्रकार के मन्त्र हैं। कुछ ही विषयवस्तु यातु प्रधान है और कुछ का विषय दर्शन सम्बन्धी है। स्व० डा० दुर्गामोहन भट्टाचार्य ने वर्तमान में इस शाखा पर पर्याप्त कार्य किया है। पैप्पलाद शाखा की पाण्डुलिपि के उत्तर के कोने में प्राप्त होने के कारण पहले यह विश्वास किया जाता रहा कि इस शाखा का प्रभाव अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा यहां अधिक देर तक रहा। इस भ्रान्त धारणा, का खण्डन डा० दुर्गामोहन भट्टाचार्य ने प्रमाणों

सहित किया है। उन्होंने यह सिद्ध करके दिखाया कि पैप्पलाद शाखा को, जो अथर्ववेद के सम्प्रदायों में शायद सबसे मुख्य थी, प्राचीन काल में भारत के विविध क्षेत्रों में अत्यधिक मान्यता प्राप्त थी। यह क्षेत्र नर्मदा के दक्षिण तक फैला हुआ था। सन् १९५७ में उन्हें उड़ीसा से लगने वाले पश्चिम बंगाल और बिहार के प्रदेशों में इस सम्प्रदाय की शाखा के अनुयायियों का पता चला। उनमें से बहुत से लोगों को यह संहिता कण्ठाग्र थी। इस शाखा के अनुयायियों के कुछ परिवार गुजरात और सौराष्ट्र में भी मिले हैं। उड़ीसा में उड़िया लिपि में ताड़ पत्र पर लिखी बहुत सी पाण्डुलिपियां मिली हैं। अथर्ववेद संहिता की अधिक प्रचलित शौनक शाखा है। इस शाखा का प्रकाशन बहुत बार हो चुका है।

अथर्ववेद का विभाजन :-

अथर्ववेद का विभाजन २० काण्डों में उपलब्ध है। ये काण्ड सूक्तों में विभाजित है जिनकी संख्या ७३१ है। इनमें आये मन्त्रों की संख्या लगभग ६००० है। आधुनिक विद्वानों का मत है कि २०वां काण्ड अथर्ववेद संहिता में बहुत पीछे से जोड़ा गया होगा। इसकी विषयवस्तु उन उत्सवों और संस्कारों के साथ जुड़ी हुई है जिनका सम्बन्ध अधिकांशतः ग ह्यसूत्रों की विषयवस्तु के साथ है; यथा-जन्म, विवाह, म त्यु आदि। इसके अतिरिक्त कुछ उत्सव राजा के राज्यारोहण से सम्बन्ध रखने वाले है। इस प्रकार इस काण्ड की विषयवस्तु अथर्ववेद के अनन्या काण्डों से भिन्न है। इस काण्ड के लगभग सभी सूक्त ऋग्वेद से ही लिया गया है। ऋग्वेद से उद्ध त आधे से अधिक मन्त्र ऋग्वेद के दसवें मण्डल से हैं। अवशिष्ट मन्त्र ऋग्वेद के पहले व आठवें मण्डल में से लिये गये है। १९वें काण्ड के बारे में भी विद्वानों का यह मत है कि यह काण्ड भी पीछे से जोड़ा गया है।

अथर्ववेद के मूल १८ काण्डों में उपलब्ध सूक्तों की व्यवस्था एक निश्चित योजना के अनुसार की गई है, जिससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह एक सावधानीपूर्वक किये गये सम्पादकीय क्रियाकलाप का फल है। विषयवस्तु की बाह्य रूपरेखा के अनुसार इसके १८ काण्डों को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं - प्रथम भाग एक से ७वें काण्ड तक; इसे कुछ विद्वान् अथर्ववेद का मूल नाभिक बिन्दु मानते है; दूसरा भाग ८वें से १२वें काण्ड तक तथा तीसरा भाग १३वें से १८वें काण्ड तक है। अथर्ववेद के पहले ७ काण्डों में बहुत से छोटे-छोटे सूक्त हैं। इन सूक्तों में मन्त्रों की संख्या निम्न प्रकार है-प्रथम काण्ड में ४ मन्त्रों वाले सूक्त, द्वितीय में ५ मन्त्रों वाले सूक्त, त तीय में ६ मन्त्रों वाले सूक्त, चतुर्थ में ७ मन्त्रों वाले सूक्त, पांचवें काण्ड के सूक्तों में कम से कम ८ और अधिक से अधिक १८ मन्त्र है। छठे में अधिकांशत ३ मन्त्रों वाले १४२ सूक्त है और सातवें में ११८ सूक्त हैं। इनमें से लगभग आधे सूक्त ऐसे है जिनकी मन्त्र संख्या एक है। सबसे लम्बा ७३ वां सूक्त ११ मंत्रों का है। एक प्रकार से पहले से छठे काण्ड तक संग हीत मन्त्रों के परिशिष्ट के रूप में सातवां काण्ड है। ८वें से १२वें काण्ड वाले भाग में लम्बे और विविध विषयों वाले सूक्त है। इनमें जहां एक ओर यातुप्रधान और कर्मकाण्ड में प्रयुक्त किये जाने वाले मन्त्र है वहां दूसरी ओर रहस्यात्मक, दार्शनिक और स ष्टिरचना से सम्बन्ध रखने वाले तथा प्रशंसात्मक मन्त्रों की बहुतायता है। १२वें काण्ड को छोड़कर जिसकी सूक्त संख्या ५ है अन्य काण्डों की सूक्त संख्या १० है। त तीय भाग के सूक्त भी लम्बे है और इनमें सामान्यतया विषय की एकरूपता परिलक्षित होती है। १३वें काण्ड में रोहित के नाम से सूर्य सम्बन्धी मन्त्र है; १४वें में विवाह के मन्त्र हैं; १५वें में व्रात्य सम्बन्धी मन्त्र हैं; १६वें और १७वें में दुःखमोचन और अभ्युदय की प्रार्थनाएं हैं; १८वें में अन्तयेष्टि विषयक मन्त्र हैं जिनका देवता यम है।

पैप्पलाद संहिता में मंत्रों और विषयवस्तु का संकलन शौनकीय संकलन से भिन्न है। इसमें मन्त्रों की संख्या और विषयवस्तु का चयन व संकलन अपेक्षया शिथिल सा है। शौनकीय संहिता के वे छोटे-छोटे सूक्त, जो पैप्पलाद संहिता में मिलते है, अपने स्वल्प आकार को छोड़कर अन्य दूसरे छोटे सूक्तों के साथ संयुक्त होकर अपेक्षया दीर्घ आकार में प्राप्त होते हैं। इसके विपरीत शौनकीय शाखा के लम्बे सूक्त, जिनकी विषयवस्तु मिश्रित सी है, पैप्पलाद शाखा में छोटे-छोटे सूक्तों के रूप में संकलित हुए दिखायी देते हैं। इस संहिता में कोई भी सूक्त २८ से अधिक मन्त्रों वाला नहीं है जबकि

शौनकीय के १८वें काण्ड का चौथा सूक्त ८६ मन्त्रों का है।

दोनों संहिताओं में द ष्टिगोचर होने वाला यह भेद उन दोनों के परस्पर सम्बन्ध और संरचना पर प्रकाश डाल सकता है। पैप्पलाद संहिता के प्रथम ४ काण्ड शौनकीय संहिता के प्रथम ४ काण्डों के रूप में तथा १६वें से १८वें तक के काण्ड शौनकीय के ८ से १७ काण्ड के रूप में मिलते हैं। शौनकीय संहिता की शेष विषयवस्तु बहुत अधिक विच्छिन्न रूप में विद्यमान है। शौनकीय संहिता के १५वें काण्ड के व्रात्य सम्बन्धी सूक्त, १८वें के अन्त्येष्टि क्रिया सम्बन्धी मन्त्र, २०वें काण्ड तथा कुछ अन्य छुटपुट मन्त्रों को छोड़कर शौनकीय संहिता का अन्य कोई अंश पैप्पलाद संहिता में नहीं मिलता। शौनकीय संहिता का १६वाँ काण्ड पैप्पलाद में बहुत अधूरे रूप में उपलब्ध है। पैप्पलाद संहिता के अन्तिम दो काण्डों (१६वां और २०वां) की विषयवस्तु यातु सम्बन्धी है जो शौनकीय संहिता के प्रथम भाग जैसी-विशेषतया छठे और सातवें काण्ड जैसी है। इन तथ्यों के आधार पर लुई रेनो तथा अन्य पाश्चात्य विद्वान् निम्न परिणामों पर पहुंचे हैं।

(१) पैप्पलाद संहिता का उच्चावच तथा अनतिपरिमार्जित रूप इसकी स्वतन्त्रता और प्राचीनता को सूचित करते हैं।

(२) शौनकीय संहिता के छठे और ८वें काण्ड की विषयवस्तु शायद पैप्पलाद के १६वें और २०वें काण्ड से ली गई प्रतीत होती है।

(३) शौनकीय संहिता के १६वें काण्ड को पीछे से जोड़े जाने का अभिप्राय यह नहीं है कि इसकी रचना शेष काण्डों के मन्त्रों की रचना के पश्चात् की है-इसका तात्पर्य इतना ही है कि इस सारी विषयवस्तु को उत्तम पाठ वाली शाखाओं के संस्करणों से लेकर पुनः वर्गीक त किया गया है।

इसके अतिरिक्त यह तथ्य और ध्यान में रखना चाहिए कि पैप्पलाद संहिता के पाठ अधिक स्वीकरणीय है, इसमें शौनकीय शाखा की संहिता की अपेक्षा ऋग्वेद के मन्त्र और पाठ अधिक हैं। पैप्पलाद संहिता में यदि कोई ऋग्वेद का मंत्र परिवर्तित पाठ के रूप में मिलता है तो वह यजुर्वेद की परम्परा के अनुसार होता है। जबकि शौनकीय संहिता के पाठों में ऐसी बात नहीं है; इससे भी शौनकीय संहिता की अपेक्षा इसकी प्राचीनता और प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

ऋग्वेद का प्रभाव :-

यह सामान्य धारणा रही है कि दोनों संहिताओं के संकलनकर्ताओं ने कुछ प्रचलित कर असंग हीत मन्त्रों के स्रोत में से चुन-चुनकर अपना-अपना संकलन तैयार किया। इसलिए यह विचार कि इन असंग हित मन्त्रों पर आध त होने के कारण इन संहिताओं का कुछ अंश ऋग्वेद के घटकों की अपेक्षा भी अधिक प्राचीन होगा अधिक आक्षेपयोग्य नहीं है। यह ध्यान रखने योग्य है कि मन्त्रों की रचना का काल, उनमें निहित भावों के परिपक्व होने का काल और अन्त में उनके संग हीत होने का काल तीनों प थक्-प थक् थे। यद्यपि अथर्ववेद के कुछ मूलतत्त्व निस्सन्देह ऋग्वेद की तत्सद श विषयवस्तु से भी प्राचीन है तथापि उनका संहिता के रूप में संकलन बहुत पीछे जाकर हुआ। मन्त्र और भाषा के आधार पर पूर्वापरता के विषय में किसी परिणाम पर पहुंचना सम्भव नहीं लगता क्योंकि इन पर आधारित भेद सामाजिक या क्षेत्रीय विशेषताओं के कारण भी हो सकता है। तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण के अन्तिम काण्डों के लेखकों को अथर्ववेद का किसी न किसी रूप में ज्ञान अवश्य था। इसलिए इनकी रचना से तो अवश्य ही पहले इस वेद के मुख्य भाग का संकलन हो चुका होगा।

अथर्ववेद की भाषा और शैली :-

अथर्ववेद की भाषा और छन्द सामान्यतया ऋग्वेद-संहिता की भाषा और छन्दों से प्रभावित हैं तथापि अथर्ववेद की भाषा में निश्चय ही ऋग्वेद की भाषा की अपेक्षा कुछ नये तथा लोकप्रिय रूप मिलते हैं। अथर्ववेद में छन्दों का प्रयोग उतनी सावधानी से नहीं किया गया है। जितना कि ऋग्वेद

में। इस वेद के १५वें और १६वें काण्डों के अतिरिक्त जिनकी अधिकांश रचना गद्यमय है हमें अन्य स्थानों पर भी पद्य के बीच में गद्य खण्ड मिलते है पर वे इतने विक त रूप में है कि यह निर्णय करना कठिन होता है। कि इन स्थलों की मूल रचना गद्य में की गई थी अथवा पद्य में। कहीं-कहीं तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि मूलतः शुद्ध छन्द को अपपाठ जोड़कर बिगाड़ दिया गया है। डा. ह्विटने ने अथर्ववेद के छन्द के विषय पर लिखते हुए उनमें मिलने वाली अनियमितताओं की ओर ध्यान आक ष्ट किया है। कुछ स्थानों पर भाषा और छन्द सम्बन्धी तथ्य यह सूचित करते हैं कि ये दोनों ही किसी ऐसी रचना से सम्बद्ध हैं जो निश्चय ही समय की द ष्टि से पीछे की क ति है। तथापि इन दोनों के आधार पर ऐसा कोई सामान्य परिणाम नहीं निकाला जा सकता जो उनकी रचना की तिथि या संहिता रूप में संकलन की तिथि निर्धारित करने में समर्थ हो। ऐसा इसलिए है कि ऋग्वेद के मन्त्र को - जिसकी रचना मूलतः किसी देवता विशेष की स्तुति के लिए की गई थी - पश्चात्काल में आथर्वण् और आङ्गिरस् पुराधाओं ने किसी रोग रूपी राक्षस का नाश करने के लिए प्रयुक्त किया। ऐसा करते समय उन ओझा पुरोहितों के लिए यह आवश्यक था कि वे उस देवता के अन्य विशेषणों के साथ अथवा उनमें से किसी एकाध विशेषण के स्थान पर 'रक्षोहा', 'अमीवचातन', 'किमीदिन्' आदि विशेषणों का प्रयोग करें। यथा -

उप प्रागा' द् देवो अग्नी र'क्षोहामी' वचात'नः। दहन्नप' द्वयाविनो' यातुधान'ान् किमीदिन'ः।

इस प्रकार छन्द और भाषा में परिवर्तन हो जाना अनिवार्य था। ऐसी अवस्था में एकमात्र एकाध विशेषण के परिवर्तन के कारण उस रचना को नवीन काल की रचना अथवा उस छन्द को एक नवीन छन्द नहीं कहा जा सकता। अपने जादूविषयक उद्देश्य को पूरा करने के लिए ओझाओं के लिए ऐसा करना आवश्यक था।

ऋग्वेद और अथर्ववेद की पूर्वापरता :-

इसके विपरीत अथर्ववेद में ऐसे तथ्य उपलब्ध हैं जिनके आधार पर यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि अथर्ववेद संहिता का वर्तमान पाठ ऋग्वेद संहिता के पाठ की अपेक्षा पीछे का है। सर्वप्रथम तथ्य यह है कि अथर्ववेद में उपलब्ध होने वाली भौगोलिक तथा सांस्क तिक अवस्थाएं यह निश्चय से दर्शाती हैं कि इनका काल ऋग्वेद के पीछे का है। अथर्ववेद में मिलने वाले वर्णन के अनुसार वैदिक आर्य लोग दक्षिण पूर्व में आगे बढ़कर गंगा के देश में बस चुके थे। ऋग्वेद में उनकी निवास भूमि सप्तसिन्धु या उससे भी कुछ ऊपर का प्रदेश थी। द्वितीय, ध्यान देने योग्य बात यह है कि सिंह, जो ऋग्वेद के समय अज्ञात है, अथर्ववेद में सर्वशक्तिशाली हिंसक पशु के रूप में उपलब्ध होता है। इसे महाभयानक पशु माना गया है और इसका निवास-स्थान बंगाल के दलदल वाले जंगल हैं जो ऋग्वैदिक आर्यों से अत्यन्त दूर थे और इसलिए अज्ञात थे। अथर्ववेद में इस पशु को राज्यशक्ति के प्रतीक के रूप में दिखाया गया है जिसके चर्म पर राजा अपने राज्याभिषेक के समय आरूढ़ होकर अपने पराक्रम का प्रदर्शन करता था। त तीय तथ्य यह है कि अथर्ववेद में न केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों का वर्णन मिलता है परन्तु ब्राह्मणों के लिए इस वेद में सर्वाधिक प्रतिष्ठा और अधिकार स्वीकार किए गए हैं और ब्राह्मणों को प थ्वी पर रहने वाले देवता के रूप में माना गया है। यह प्रक्रिया आगे चलकर अधिकाधिक बढ़ती चली गयी परन्तु ऋग्वेद में एकाध स्थलों को छोड़कर ऐसी स्थिति अनुपलब्ध है। चतुर्थ, अथर्ववेद के जादू प्रधान गीतों का जो अपने मुख्य विषय के अनुसार निश्चय ही लोकप्रिय और प्राचीन थे - अथर्ववेद संहिता में अपना मौलिक रूप उपलब्ध नहीं होता, अपितु उन्हें ब्राह्मणीक त करके संग हीत किया गया है। ऐसा करने का मुख्य कारण पुरोहितों के लिए अपने यजमानों की संख्या बढ़ाने में देखा जा सकता है। निश्चय ही मूलतः जादू टोने का प्रयोग करने वाले ओझा यज्ञयाग कराने वाले पुरोहित नहीं थे और समाज के जिस वर्ग के लिए वे अपने जादूमन्त्रों का प्रयोग करते थे, वह वर्ग भी समाज का आभिजात्य वर्ग नहीं था। यज्ञ कर्मकाण्ड के अत्यधिक व्यय साध्य और दक्षिणा-धन के प्रभूततम होने के कारण समाज के सामान्य व्यक्तियों के लिए ऐसे यज्ञों को संपन्न करवाना सम्भव नहीं था। इस कारण आभिजात्य वर्ग के पुरोहितों के लिए अधिक संख्या

में यजमानों का खोजना आवश्यक हो गया। ये बहुसंख्यक यजमान जादू-टोनों की क्रियाओं में विश्वास रखते थे और ओझा-जादूगरों के प्रभाव में थे। पुरोहितों ने इन ओझाओं के जादू-मन्त्रों और अपने स्तुतिमन्त्रों का मिश्रण तैयार करके एक नवीन रचना को जन्म दिया। इस प्रकार निर्मित रचना मूलतः प्राचीन होती हुई भी अथर्ववेद में उस रूप में नहीं मिलती। साथ ही साथ इन पुरोहितों ने जादू शैली के नये मन्त्रों का भी निर्माण किया जो अथर्ववेद में संग हीत हैं। इन नये मन्त्रों का निर्माण करने वाले तथा प्राचीन मन्त्रों को नया रूप देकर संग्रह करने वाले पुरोहितों का द ष्टिकोण देवताओं के लिए प्रयुक्त उन नवीन विशेषणों में तथा मन्त्र-रचना में प्रकट होता है। उदाहरणार्थ - खेती का नाश करने वाले कीड़े और टिड्डियों के विरुद्ध प्रयुक्त किये जाने वाले मन्त्रों में कहा गया है कि ये कीड़े अनाज को ऐसे ही अछूता छोड़ दें जैसे कि ब्राह्मण अपरिपक्व और अपूर्ण यज्ञ-सामग्री का स्पर्श नहीं करता। अथर्ववेद में बहुत से सूक्त एकमात्र ब्राह्मणों के हित को ध्यान में रखकर बनाये गये हैं जिनमें ब्रह्मभोज कराने, यज्ञ में बड़ी-बड़ी दक्षिणा देने जैसे विषयों का वर्णन किया गया है।

प्राचीन जादूमयी कविता का ब्राह्मणीकरण जिस प्रकार अथर्ववेद के बाद में संग हीत किये जाने का द्योतक है उसी प्रकार अथर्ववेद में वर्णित देवताओं का स्वरूप भी इसी बात का द्योतक है। अथर्ववेद में भी अग्नि, इन्द्र आदि उन्हीं देवताओं का दर्शन होता है जो ऋग्वेद में थे परन्तु उनका स्वरूप अब बिल्कुल धुँधला पड़ चुका था। उनके क त्यों में एक-दूसरे से बहुत ही कम भेद है। उनका प्राक तिक शक्ति वाला रूप अधिकांश में भुला दिया गया था और अथर्ववेद के मन्त्रों का प्रयोग क्योंकि रोगों और राक्षसों को दूर भगाने तथा उनके नाश के लिए किया जाता था इसलिए अथर्ववेद में इन देवताओं का स्वरूप एकमात्र 'रक्षोहन्ता' का रह गया है। अथर्ववेद के वे सूक्त, जिनमें दार्शनिक, आध्यात्मिक और स ष्टि रचना सम्बन्धी विचारों का संग्रह है, इसके वेदत्रयी की अपेक्षा बहुत बाद में संग हीत किये जाने के द्योतक हैं। इन सूक्तों में पर्याप्त रूप से विकसित दार्शनिक शब्दावली का प्रयोग मिलता है और इनमें वर्णित अधिदेववाद उपनिषदों में वर्णित दार्शनिक स्तर का है। इन दार्शनिक सूक्तों का भी विनियोग जादू क्रियाओं के लिए किया जाता था। 'असत्' (सत्तारहित) जैसे दार्शनिक विचार को शत्रुओं, राक्षसों और जादूगरों के नाश के लिए विनियुक्त किया गया है -

असद् भूम्याः सम'भवत् तद् यामे'ति महद् व्यच':।
तद् वै ततो' विधूपाय'त् प्रत्यक् कर्तार'म च्छतु।।

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि हमारे सम्मुख एक अत्यन्त प्राचीन जादूगरी का क त्रिम तथा आधुनिकीक त रूप विद्यमान है।

अथर्ववेद को विलम्ब से मिली मान्यता का कारण :-

अन्य वेदों की अपेक्षा अथर्ववेद के बाद में संग हीत किये जाने के विषय में कुछ लोगों द्वारा यह मत प्रकट किया गया है कि अन्य वेदों की अपेक्षा इसे वेदत्रयी के साथ बहुत बाद में सम्मिलित किये जाने के कारण इसकी रचना निश्चय से बाद में हुई होगी। इस मत में अधिक सार नहीं है। अथर्ववेद को बहुत पीछे जाकर मान्यता मिलने के कारण कुछ और ही हैं। वस्तुतः वेदत्रयी के साथ समकक्षता या मुख्यता न मिलने का कारण इस वेद का अपना स्वरूप है। अथर्ववेद का मुख्य ध्येय 'अतिमानवीय शक्तियों को तुष्ट करना', 'मित्रों को आशीष देना' और 'दुश्मनों को शाप देना' माना जाता है। जादू क्रियाओं में प्रयुक्त होने वाले वे असंख्य मन्त्र जिनमें शाप और छूमन्तर की बातें कही गयी हैं 'अपवित्र यातु' का क्षेत्र मानी जाती हैं जिसका पुरोहित वर्ग और ब्राह्मणिक धर्म ने बार-बार खण्डन किया है। तथापि यदि हम 'यातु' और 'तुष्टि' अथवा 'पूजा' पर समग्र रूप में विचार करें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि दोनों में कोई मौलिक मतभेद नहीं है : दोनों के ही प्रयोग द्वारा मनुष्य अतीन्द्रिय और अतिमानवीय शक्तियों पर प्रभावी होना चाहता है। वस्तुतः पुरोहित और जादूगर मूलतः एक ही हैं। संसार के इतिहास में यह प्रक्रिया सर्वत्र द ष्टिगोचर होती है कि एक समय ऐसा आता है जब देवपूजा और जादूगर की भूतपूजा अलग-अलग होने लगती हैं तथा पुरोहित, जो कि देवताओं का मित्र होता

है, अशुभ भूत प्रेतादि के साथ सम्बन्ध रखने वाले जादूगर को हेय और तुच्छ द ष्टि से देखता है। भारतवर्ष में भी पुरोहित और जादूगर का यह विरोध विकसित हुआ। यद्यपि स्म तिग्रन्थों में जादूगरी को पाप कहा गया है और जादूगरों को दुष्ट और धोखेबाज बताया गया है पर अन्ततः अथर्ववेद के मन्त्र प्रयोग द्वारा शत्रुनाश की आज्ञा भी दी गई है। शत्रुओं के विरूद्ध प्रयुक्त किये जाने वाले मन्त्रांशों का रूप इस प्रकार है - 'यो स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः'।

लेकिन यह सत्य है कि अथर्ववेद के प्रति पुरोहित वर्ग में हीनता और असमानता का भाव पर्याप्त समय तक बना रहा। प्राचीन ग्रन्थों में ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के नाम से सर्वप्रथम वेदत्रयी को स्मरण किया जाता है और बाद में अथर्ववेद को। यहाँ तक कि कभी-कभी पवित्र साहित्यिक ग्रन्थों में वेदाङ्ग, इतिहास और पुराण को तो सम्मिलित किया गया है परन्तु अथर्ववेद का नाम-निशान भी नहीं है। शाङ्खायन ग ह्यसूत्र में नवजात शिशु का संस्कार करते हुए पुरोहित कहता है - ''मैं तुझमें ऋग्वेद को स्थापित करता हूँ, मैं तुझमें यजुर्वेद को स्थापित करता हूँ, मैं तुझमें सामवेद को स्थापित करता हूँ, मैं तुझमें वाकोवाक्य को स्थापित करता हूँ, मैं तुझमें इतिहास पुराण को स्थापित करता हूँ, मैं तुझमें सब वेदों को स्थापित करता हूँ।'' यहाँ स्पष्टतः ही अथर्ववेद का नाम जानबूझकर छोड़ दिया गया है।

दूसरी ओर यह भी एक तथ्य है कि प्राचीन संहिताओं में उदाहरणार्थ तैत्तिरीय संहिता में - तथा प्राचीन ब्राह्मणों और उपनिषद् में अथर्ववेद का अन्य वेदों के साथ नाम गिनाया गया है - 'ऋग्भ्यः स्वाहा यजुर्भ्यः स्वाहा साम'भ्यः स्वाहा ङ्गि' रोभ्यः स्वाहा वेदे'भ्यः स्वाहा'। इससे यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि 'अथर्ववेद' नाम का अभाव या परित्याग उसके बहुत बाद की रचना होने में प्रमाण रूप से उपस्थित नहीं किया जा सकता। स्तुति और प्रार्थना मन्त्रों से परिपूर्ण ऋग्वेद और अथर्ववेद दोनों की तुलना करने पर हम इस सामान्य निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अथर्ववेद के पश्चात्कालीन सूक्त ऋग्वेद के पश्चात्कालीन सूक्तों की अपेक्षा पीछे के हैं। यह भी निश्चित है कि अथर्ववेद के बहुत से सूक्त ऋग्वेद के अधिकांश सूक्तों की अपेक्षा पश्चात्कालीन हैं।

इसके विपरीत यह भी तथ्य है कि अथर्ववेद की जादूमयी कविता अधिक नहीं तो उतनी ही प्राचीन हैं जितनी कि ऋग्वेद की याज्ञिक कविता तथा अथर्ववेद के बहुत से भाग उतने ही प्राचीन प्रागैतिहासिक काल की रचना हैं जिस काल के ऋग्वेद के प्राचीनतम सूक्त। 'अथर्ववेद का काल' नाम से हम किसी समय विशेष को सूचित नहीं कर सकते। ऋग्वेद संहिता के समान ही अथर्ववेद संहिता में भी ऐसे मन्त्र और मन्त्रांश बिखरे पड़े हैं जिनकी रचनाओं में शताब्दियों का अन्तर विद्यमान है। अथर्ववेद संहिता के पिछले काण्डों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उनकी रचना ऋग्वेद के सूक्तों के अनुकरण पर हुई थी।

विन्टरनिट्स ने ओल्डनवर्ग की इस सम्मति से असहमति प्रकट की है कि भारत का प्राचीनतम जादूपरक सूत्र गद्य रूप में निर्मित हुआ था तथा जादूमन्त्रों और जादूगीतों का सम्पूर्ण साहित्य अपने सहोदर याज्ञिक सूक्तों के अनुकरण पर निर्मित किया गया था। अन्ततः यह स्पष्ट द ष्टिगोचर होता है कि ऋग्वेद के सूक्तों की अपेक्षा अथर्ववेद के जादूमन्त्रों में एक सर्वथा दूसरी ही भावना उभर रही है। यहाँ एक नया ही संसार द ष्टिगोचर होता है। एक ओर द्युलोक और प थिवीलोक तथा अन्तरिक्ष लोक के महान देवता हैं जिन्होंने प्राक तिक शक्तियों का रूप धारण किया हुआ है, जिनका गान और प्रशंसा ऋषि करते हैं, यजमान जिनको हवि प्रदान करते हैं, जिनकी शक्ति और सहायता के लिए वह प्रार्थना करता है और जिन देवताओं में से अधिकांश उसके साथ मैत्री-भाव रखते हैं - यह है ऋग्वेद का रूप।

इसके विपरीत, अथर्ववेद में वे कष्टदायिनी राक्षसी शक्तियाँ हैं जो मानव-मात्र को रोग और दुर्भाग्य द्वारा सताती हैं, भूत और प्रेत हैं जिनके विरुद्ध जादूगर डरावने शाप प्रेरित करता है अथवा चाटुभरी उक्तियों के द्वारा जिन्हें वह प्रसन्न करके दूर भगाने का यत्न करता है। अथर्ववेद के इन

जादूमन्त्रों और विश्वासों की तुलना संसार के सभी देशों की सभी प्राचीन जातियों में मिलने वाले ऐसे ही क्रियाकलापों के साथ की जा सकती है। उत्तरी अमेरिका के निवासियों में, अफ्रीका की नीग्रो जातियों में, मलयदेशवासियों और मंगोल जातियों में, प्राचीन ग्रीक और रोमन जातियों में तथा यूरोप के वर्तमान क षकों में हमें बिल्कुल इसी प्रकार के विचार, इसी प्रकार के भाव, जादूगीत, जादू क्रियाएँ द ष्टिगोचर होती हैं।

अथर्ववेद की महत्ता इस तथ्य में निहित है कि यह ब्राह्मणिक धर्म से अप्रभावित रहने वाले वास्तविक लोकप्रिय विश्वासों की सूचना प्रदान करने वाला बहुमूल्य स्रोत है। इसके द्वारा हमें अनगिनत भूत, प्रेत, पिशाच, प्रत्येक प्रकार के यज्ञ, राक्षस और जादू, तन्त्र तथा जातिविद्यायो और धर्म के इतिहास का ज्ञान मिलता है। इसकी प्रामाणिकता को परखने के लिए अब हम अथर्ववेद की विषयवस्तु का विवेचन करेंगे।

अथर्ववेद की विषय-वस्तु :-

अथर्ववेद की विषय-वस्तु का एक मुख्य भाग उन गीतों और मन्त्रों का है जिनका प्रयोग रोगनाश और स्वास्थ्यलाभ की प्रार्थनाओं के रूप में किया जाता था - यथा सूर्य'स्य रश्मय': परापत'न्त्याशुमत्। एवा त्वं कासे प्रप'त समुद्रस्यानु' विक्षरम् (अथर्व. ६.१०५.३)। शं मे पर'स्मै गात्र'ाय शमस्त्वव'राय मे। शं मे' चतुर्भ्यो अङ्गे'भ्यः शम'स्तु तन्वे' मम' (अथर्व १.१२.४)। इन्हें हम 'भैषज्यानि सूक्तानि' के नाम से कह सकते हैं। ये मंत्र स्वयं रोगों को, जिनकी कल्पना मानवीक त रूप में राक्षस या राक्षसों की श्रेणी के रूप में की गयी है, उद्दिष्ट करके अभिहित किये गये हैं। इसके मूल में यह विश्वास था कि ये ही रोगों को उत्पन्न करने वाले हैं। यह विश्वास सामान्यतया सभी प्राचीन जातियों में विद्यमान है कि ये रोग उत्पन्न करने वाले राक्षस या तो रोगी के शरीर में प्रवेश करके अथवा स्वयं बाहर रहकर उसे सताते हैं और पीड़ित करते हैं। दूसरी ओर ये भैषज्यानि सूक्त इन ओषधियों और वनस्पतियों को सम्बोधित किये गये हैं जो रोगनाशक समझी जाती थी।

यो गिरिष्वजाय'थ वीरुधां बल'वत्तमः। कुष्ठेहि' तक्मनाशन तक्मानं' नाशय'न्नितः।। (अथर्व. ५.४.१)। इसी प्रकार सूक्त जलों को सम्बोधित किये गये हैं जिनमें विशिष्ट रोगनाशक शक्ति मानी जाती थी।

आपो' हमह्य तद देवीर्दद'न् ह्वद्चोतभेषजम् (अथर्व. ६.२४.१)।

कुछ अग्नि को सम्बोधित किये गये हैं जो राक्षसों को भगाने में सर्वशक्तिशाली माना जाता था। जादूगर पुरोहितों द्वारा इन यातुमन्त्रों और इनके साथ की जाने वाली जादू-क्रियाओं का विशेष वर्णन कौशिक सूत्रों में उपलब्ध होता है।

इन सूक्तों में कभी-कभी रोग के लक्षणों का अत्यन्त स्पष्टता के साथ वर्णन किया गया है इसलिए इनका महत्त्व चिकित्सा के इतिहास की द ष्टि से भी बहुत है। ज्वर के प्रति प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों में यह विशेषता अधिक द ष्टिगोचर होती है। पश्चात्कालीन चिकित्सा ग्रन्थों में भी ज्वर को रोगों का राजा कहा गया है क्योंकि कई रोगों के बाह्य लक्षण के रूप में इसका बाहुल्य और भयंकरता द ष्टिगोचर होती थी। बहुत से जादूमन्त्र तक्मन को सम्बोधित किये गये हैं। अथर्ववेद में इस ज्वर रोग को एक राक्षस के रूप में कल्पित करके वर्णित किया गया है। अथर्ववेद के पांचवें काण्ड का २२वाँ सूक्त उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इन जादूमन्त्रों के प्रयोग के साथ यह कामना की जाती थी कि इस मन्त्र के प्रभाव से यह रोग अन्य दूसरी जातियों, विभिन्न देशों और शत्रुओं को प्रभावित करेगा।

तक्मन् मूज'वतो गच्छ बल्हि'कान् वा परस्तराम्। शूद्रामि'च्छ प्रफर्व्य। १ ता त'क्मन् वी/वधुनूहि (अथर्व. ५.२२.७)। इन जादूमन्त्रों में कहीं-कहीं अपेक्षाक त सुन्दर कविता के भी दर्शन होते हैं -

अमूर्या यन्ति' योषितो' हिरा लोहि'तवाससः। अभ्रात'र इव जामयस्तिष्ठ'न्तु हतव'र्चसः (अथर्व.

१.१७.१) पर ऐसा अपवाद रूप ही है। अधिकांश में ये जादू मन्त्र एक ही आव त्यात्मक शैली में रचित हैं। उदाहरणार्थ -

प च'चयाः प' चाशच्च' संयन्ति मन्य'I अभि। इतस्ताः सर्वा' नश्यन्तु वाका अ'पचित'तामिव।।

सुप्त च याः स'प्ततिश्च' संयन्ति ग्रैव्य'I अभि। इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अ'पचित'Iमिव।।

नव च या नवतिश्च संयन्ति स्कन्ध्या अभि। इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अ'पचित'Iमिव।।

अथर्ववेद में यह विश्वास भी पाया जाता है कि बहुत से रोग कीड़ों या कीटाणुओं से पैदा होते हैं इसलिए इनको दूर भगाने के लिए कुछ सूक्तों का प्रयोग किया जाता था। इन कीड़ों को राक्षसी प्राणी माना जाता था। कहीं-कहीं पर इनके राजा और शासक का भी वर्णन है और ये पुरुष-स्त्री के रूप में भी वर्णित हैं -

हतो राजा क मी'णा मुतैषां स्थपति'र्हतः हतो हतम'Iता क मि'र्हतभ्र'Iता हतस्व'सा।।

(अथर्व. २.२३.१७)

बहुत से जादूमन्त्र पिशाचों, राक्षसों और दैत्यों के विरुद्ध प्रयुक्त किये जाते थे। ये सभी रोगों को उत्पन्न करने वाले समझे जाते थे और इन मन्त्रों के प्रयोग द्वारा इन्हें दूर भगाया जाता था। कुछ ऐसी अतीन्द्रिय शक्तियाँ नदी, वन आदि की स्त्री देवताओं के रूप में वर्णित हैं। इन्हीं के साथ अप्सराओं को भी जोड़ा गया है जिनके सम्पर्क से गन्धर्व भी इस कोटि में आ गये हैं। इन्हें दूर भगाने के लिए 'अजश्र ङ्ग' औषध या वनस्पति का प्रयोग बताया गया है जिसकी गन्ध मधुर थी। इस सूक्त के वर्णन से ज्ञात होता है कि अप्सराएँ और गन्धर्व नाना पशुओं के रूप धारण करके मनुष्यों को पीड़ित करते थे। अथर्ववेद के इन जादूमन्त्रों में वर्णित विश्वासों की तुलना एडलबर्ट कुन्ह ने जर्मन लोकप्रिय विश्वासों के साथ की है।

एक दूसरे प्रकार के सूक्त जिन्हें 'आयुष्याणि-सूक्तानि' के नाम से कहा गया है अथर्ववेद की विषयवस्तु के प्रमुख भाग के रूप में विद्यमान हैं। ये सूक्त स्वास्थ्य प्रदान के लिए प्रयुक्त किए जाने वाले भैषज्यानि सूक्त वाले जादूमंत्रों से बहुत भिन्न नहीं हैं। ये वे प्रार्थनाएँ हैं जो बच्चों के प्रथम मुण्डन संस्कार, नौजवान के प्रथम श्मश्रुमुण्डन, उनयन आदि पारिवारिक उत्सवों के समय प्रयुक्त की जाती थी। इन आयुष्याणि सूक्तों में दीर्घायु के लिए 'जीवेम शतं शरदः' और 'जीवेम शतं हिमाः' जैसी प्रार्थनाएँ थी। उदाहरणार्थ -

संक्रामतं मा ज'हीतं शरी'रं प्राणापानौ ते' सयुज'Iविह स्त'Iम्।
शतं जी'व शरदो वर्ध'मानो ग्निष्टे' गोपा अ'धिपा वसि'ष्ठः।।
मेमं प्राणो ह'Iसीन्मो अ'पानो/वहाय परा'गात्।
सप्तर्षिभ्य' एनं परि' ददामि त ए'नं स्वस्ति जरसे' वहन्तु।।
आते' प्राणं सु'वामसि परा यक्ष्मं' सुवामि ते।
आयु'र्नो विश्वतो' दधदयमग्निर्वरे'ण्यः।।

इनमें सौ या एक सौ एक प्रकार की म त्युओं से मुक्ति की प्रार्थना, नाना प्रकार की बीमारियों से सुरक्षा की प्रार्थनाएँ बार-बार की गई हैं। १७वें काण्ड का तीस मन्त्रों वाला सूक्त ऐसा ही एक सूक्त है। जिस प्रकार भैषज्यानि सूक्तों में बहुत सी प्रार्थनाएँ यातु वैद्य द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली वनस्पतियों को सम्बोधित की गई हैं उसी प्रकार आयुष्याणि सूक्तों की कुछ प्रार्थनाएँ उन गंडे ताबीजों को सम्बोधित की गई हैं जिनका उपयोग उत्तम स्वास्थ्य और दीर्घायु की प्राप्ति के लिए पहनने वाला किया करता था।

आयुष्याणि के साथ गहरा सम्बन्ध रखने वाले 'पौष्टिकानि-सूक्तानि' हैं जिनके प्रयोग द्वारा

व्यापारी, पशुपालक और किसान अपने व्यवसाय और धन्धे में सफलता और सम द्धि की कामना करते थे -

शत'हस्त समाह'र सह'स्रहस्त सं कि'र।

क तस्य' कार्यस्य चेह स्फातिं समाव'ह। (अथर्व० ३.२४.५) ;

ये पन्थ'ानो बहवो' देवयाना' अन्तरा द्याव'ाप थिवी संचर'न्ति।

ते मा' जुषन्तां पयसा घ तेन यथ'ा क्रीत्वा धन'माहराणि (अथर्व. ३.१५.१)।

इनमें ग ह-निर्माण के समय की जाने वाली प्रार्थना, हल चलाने से पहले की जाने वाली प्रार्थना, अनाज का बीज बोए जाने से पहले की जाने वाली प्रार्थना, खेती को नुकसान पहुँचाने वाले कीड़ों के विरुद्ध प्रयुक्त किए जाने वाले यातु-मंत्र, अग्नि की विपत्ति से सुरक्षा के लिए किए जाने वाले मन्त्र, वर्षा के लिए की जाने वाली प्रार्थना, घरेलू पशु और पशुसमूह की सम द्धि के लिए की जाने वाली प्रार्थना, जंगली पशु तथा डाकुओं से सुरक्षा के लिए किए जाने वाले यातुमन्त्र, व्यापारियों द्वारा सौभाग्य और अच्छे व्यापार के लिए की जाने वाली यात्रा के समय प्रयुक्त प्रार्थनाएँ जुआरी द्वारा जुए में विजय दिलाने की स्थिति में अक्ष के गिरने की प्रार्थना तथा साँपों आदि के विरुद्ध प्रयुक्त होने वाले यातुमन्त्र सम्मिलित हैं। उदाहरणार्थ -

शिवा भ'व पुरु'षेभ्यो अश्वे'भ्यः शिवा। शिवास्मै सर्व'स्मै क्षेत्र'ाय शिवा न' इहैधि'।।

इह पुष्टि'रिह रस' इह सहस्र'सातमा भव। पशून् य'मिनि पोषय (अथर्व. ३-२८.३.४)।

यथा **व क्षमशनि'र्विश्वाहा हन्त्य'प्रति। एवाहमद्य कि'तवानक्षैर्व'ध्या समप्रति।।**

अजै'षं त्वा संलिखितमजैष' मुत संरू'धम्।

अविं व को यथा मथ'देवा म'थ्नामि तेक तम्।।

क तं मे दक्षि'णे हस्ते' जयो मे' सव्य आहि'तः। (अथर्व. ७.५०.१.५.८)

ऐसी प्रार्थना में कविता कोई ऊंचे दर्जे की नहीं है। हां, यह सत्य है कि एक सामान्य लम्बी कविता में कभी-कभी सुन्दर कवित्वमय भाषा का प्रयोग भी मिलता है। अथर्ववेद का ४.१५ अच्छी कविता का एक उत्तम उदाहरण है। उकताहट पैदा करने वाली कविता का दर्शन निम्नलिखित मन्त्र में देखा जा सकता है -

स्वप्तु' माता स्वप्तु' पिता स्वप्तु श्वा स्वप्तु' विश्वपति':।

स्वप'न्त्वस्यै ज्ञातयः स्वप्त्वयमभितो जन':।

एक अन्य प्रकार का विषय - जिसका 'म गार सूक्तानि' के अन्तर्गत वर्णन किया जाता है - सामान्य प्रसन्नता और आशीर्वाद के लिए प्रयुक्त किया जाता था। ऐसे छः सूक्त अथर्ववेद के चौथे काण्ड में सूक्त संख्या २३ से २६ तक हैं। इनमें से प्रत्येक सूक्त में ७-७ मन्त्र हैं जिन्हें क्रमशः अग्नि, इन्द्र, वायु, सविता, द्यावाप थिवी, मरूत्, भव और शर्व तथा मित्र और वरुण के प्रति सम्बोधित किया है। इन सबका अन्तिम मन्त्र 'स नो मु चत्वहसः' इस टेक के साथ समाप्त होता है।

वैदिक साहित्य में और विशेषतया ऋग्वेद और अथर्ववेद में प्रयुक्त 'अंहस्' शब्द का सामान्य अर्थ पाप लिया जाता है परन्तु इस प्राचीन शब्द का प्रयोग कष्ट, विघ्न, विपत्ति, दुरित, अपराध आदि सभी अर्थों में हुआ है। इसलिए ऐसे सूक्तों को जिनमें अंहस् से छुटकारे की प्रार्थना की गई है हम 'प्रायश्चित्तानि सूक्तानि' के अन्तर्गत भी कर सकते हैं। इन सूक्तों की संख्या ४० के लगभग है। आर्यों में प्रायश्चित के कई रूप थे। यह न केवल पाप और अपराध से मुक्ति के लिए किया जाता था अपितु कर्तव्य कर्मों के न करने अथवा अपूर्ण रूप में करने या उचित रूप में न करने के लिए भी किया जाता था। यथा -

यद् दु'ष्क तं यच्छम'लं यद् व'ा चेरिम पापय'ा।

त्वया तद् वि'श्वतोमुखाप'ामार्गाप' म ज्महे।

इसमें नैतिक तथा धार्मिक नियमों के उल्लंघन और नैमित्तिक कर्मों के अपूर्ण या उचित रूप में करने और न करने के लिए भी प्रायश्चित का किया जाना अनिवार्य था। ये अपराध जाने-अनजाने रूप में मन, वचन कर्म द्वारा किये जाने पर भी प्रायश्चित द्वारा शान्त किये जा सकने वाले माने जाते थे। अपराध माने जाने वाले कर्मों में कर्ज का न लौटाना, जुए में हारे गये धन की अदायगी न करना, निषिद्ध गोत्र या सपिण्ड वर्ण में शादी करना, बड़े भाई से पूर्व छोटे भाई का विवाह करना आदि क त्य भी शामिल थे। प्रायश्चित्तानि के अन्तर्गत परिगणित सूक्तों का प्रयोग मानसिक और शारीरिक कमजोरियों, अपशकुनों, अशुभ नक्षत्र में सन्तान जन्म, बुरे स्वप्न, दुर्घटना आदि के प्रभाव को नष्ट करने या कम करने के लिए भी किया जाता था। अपराध, पाप, बुराई, दुर्भाग्य सम्बन्धी विचार परस्पर एक-दूसरे से सम्बद्ध माने जाते थे। वस्तुस्थिति यह थी कि प्रत्येक अनिष्ट - चाहे वह रोग व दुर्भाग्य हो और चाहे अपराध व पाप हो बुरी आत्माओं द्वारा पैदा किया माना जाता था। अपंग या पागल के समान बुरा काम करने वाला भी पापी था और किसी दुष्टात्मा या राक्षस द्वारा अधिष्ठित माना जाता था। वही प्रेत, पिशाच आदि जो रोग आदि से हमें सताते हैं - हमारे लिए दुर्भाग्य व अपशकुन लाते हैं। अथर्ववेद के १०.३ के मन्त्र एक तावीज को बाँधते समय प्रयुक्त किये जाते हैं। इस तावीज को धारण करने वाला व्यक्ति हर प्रकार के कष्ट, विपत्ति, बुराई, बुरे स्वप्न, जादू या उसके सगे-सम्बन्धियों यथा - माता-पिता, भाई-बहिन द्वारा किये गये दुष्क त्यों से भी सुरक्षा प्राप्त कर लेता है। इसके साथ ही वह सब प्रकार की बीमारियों से छुटकारा दिलाने में समर्थ माना जाता था।

परिवारों और जातियों में वैमनस्य, राक्षसों और द्वेषी जादूगरों के प्रभाव से उत्पन्न किया गया माना जाता था। इस वैमनस्य को दूर करके मैत्री और सद्‌भावना उत्पन्न करने के लिए कुछ जादू-मन्त्रों का प्रयोग किया जाता था जिन्हें 'सांमनर्स्यान सूक्तानि' के नाम से जाना जाता है। उदाहरणार्थ -

समानो मन्त्रः समि'तिः समानी स'मानं व्रतं सह चित्तमे'षाम्।

समानेन' वो हविष'ा जुहोमि समानं चेतो' अभिसंवि'शध्वम्।।

समानी व आकू'तिः समाना ह्वद'यानि वः।

समानम'स्तु वो मनो यथ'ा वः सुसहास'ति।। (अथर्व. ६.६४.२, ३)।

इन जादूमन्त्रों में न केवल शान्ति और सद्भाव पैदा करने की शक्ति मानी जाती थी अपितु स्वामी के क्रोध को शान्त करने, सभा तथा समाज में प्रभावोत्पादकता प्राप्त करने की शक्ति, न्यायालय में उपस्थित विवाद में विजय दिलवाने की शक्ति मानी जाती थी।

नाके' राजन् प्रति' तिष्ठ तत्रैतत् प्रति' तिष्ठतु। विद्धि पूर्तस्य' नो राजन्त्स दे'व सुमन'ा भव।। (अथर्व. ६.१२३.५)। दो समुदायों में साम जस्य उत्पन्न करने के लिए ३.३० का प्रयोग किया जाता था। इस प्रकार के सूक्तों का प्रयोग पारिवारिक विवादों में शान्ति स्थापना तथा पति-पत्नी में मेल उत्पन्न करने के लिए भी किया जाता था। यथा -

सह्व'दयं सांमनस्यमविद्वेषं क णोमि वः।

अन्यो अन्यमभि ह'र्यत वत्सं जातमि'वाध्न्या।।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वस'ारमुत स्वस'ा।

सम्य चः सव्र'ता भूत्वा वाचं' वदत भद्रय'ा।।

समानी प्रपा सह वो' न्नभागः स'माने योक्त्रे' सह वो' युनज्मि।

सम्य चो ग्निं स'पर्यतारा नाभि'मिवाभित': (अथर्व. ३.३०.१, ३, ६)।

विवाह के समय तथा प्रेमी-प्रेमिकाओं में सद्भाव की स्थापना के लिए एक अन्य प्रकार के यातुमन्त्रों या प्रार्थनाओं का प्रयोग किया जाता था। कौशिक सूत्रों में इन्हें 'स्त्री कर्माणि' के नाम से कहा गया है। ये मन्त्र दो प्रकार के हैं - एक तो वे जो सद्भावना तथा शान्त प्रक ति के हैं - जिनका प्रयोग विवाह और सन्तानोत्पत्ति के लिए किया जाता था। इनका सम्बन्ध हानिरहित जादूक त्यों के साथ है और इनका प्रयोग युवक-युवति द्वारा अभीष्ट कन्या या वर की प्राप्ति के लिए किया जाता था। यथा -

यथेदं भूम्या अधि त णं वातो' मथायति'।

एवा म'थ्नामि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नाप'गा अस':।।

यदन्त'रं तद्वाह्य यद् बाह्य तदन्त'रम्।

कन्या/ नां विश्वरू'पाणां मनो' ग भायौषधये (अथर्व. २.३०.१, ४)।

नवविवाहित दम्पतियों के लिए आशीर्वाद के लिए भी बहुत से मन्त्रों का प्रयोग होता था। ऐसे मन्त्रों का संग्रह अथर्ववेद के १४वें काण्ड में है और यह संग्रह ऋग्वेद में उपलब्ध ऐसे ही मन्त्रों का प्रव द्ध रूप है। दूसरे प्रकार के मन्त्रों का सम्बन्ध, जो संख्या में कहीं अधिक है, विवाहित जीवन में आने वाली विपत्तियों को दूर भगाने के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले यातु के साथ है। इनमें से कुछ जादूमन्त्र तो हानिकारक नहीं हैं - जिनके प्रयोग द्वारा पत्नी या पति एक-दूसरे के क्रोध या ईर्ष्या के भाव को शान्त करना चाहते हैं। कुछ ऐसे भी यातुमन्त्र हैं जिनका प्रयोग किसी व्यक्ति के मन को जीतने के लिए किया जाता था -

यथेमे द्याव'ाप थिवी सद्यः पर्येति सूर्यः'।

एवा पर्ये'मि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नाप'गा अस':।

(अथर्व. ६.८.३)।

संसार में अन्यत्र भी माने जाने वाले इस विश्वास का रूप भारत में भी विद्यमान था कि किसी व्यक्ति पर प्रभाव डालने के लिए या उसके मन को जीतने के लिए उस व्यक्ति की मूर्ति या चित्र बनाकर उस पर जादू का प्रयोग करने से उस व्यक्ति के मन को वश में किया जा सकता है। इस कार्य के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले मन्त्र अथर्ववेद ३.२५ तथा छठे काण्ड में संग हीत हैं। ऐसे ही मारण उच्चाटन के लिए प्रयुक्त किये जाने के लिए बहुत से मन्त्र हैं जिनके उदाहरण अथर्व. १ १४; ७.४५, ९०; ६.१४८ हैं।

इसी प्रकार बलात् किसी व्यक्ति के मन को जीतने के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले जादूमन्त्र अङ्गिरा पुरोहित द्वारा प्रयुक्त किये जाते थे। इनमें राक्षसों, जादूगरों तथा शत्रुओं के विरुद्ध प्रयुक्त किये जाने वाले जादूमन्त्र सम्मिलित हैं। इन कर्मों के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले मन्त्रों को 'आभिचारिकाणि-सूक्तानि' का नाम दिया गया है। १६वें काण्ड का पिछला आधा भाग ऐसे ही मन्त्रों का है। इनका प्रयोग दुःस्वप्न नाश के लिए भी किया जाता था। यथा -

यदि'न्द्र ब्रह्मणस्पते पि म षा चर'ामसि।

प्रचेता न अङ्गिसरागे दु'रितात् पात्वंहसः।।

(अथर्व. ६.४५.३)

विद्यते' स्वप्न जनित्रं' देवजामीनां पुत्रो सि यमस्य कर'णः।

अन्त'को सि म त्युरसि। तं त्वा स्वप्न तथा सं वि'द्म स न': स्वप्न दुष्वप्न्य'ात् पाहि

(अथर्व ६.४६.२)।

इसी नाम के राक्षस से कहा गया है कि वह हमें छोड़कर हमारे शत्रुओं पर प्रभाव डाले। इन

अभिशापों का प्रयोग करते समय राक्षसों, द्वेषी जादूगरों और जादूगरनियों में कोई भेद नहीं किया जाता था। 'रक्षोहा' अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वह इन सब यातुधानों का नाश करे। इन मारण और उच्चाटन के मन्त्रों में हमें राक्षसों और यातुधानों के ऐसे लोकप्रिय नाम मिलते हैं जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। इन मंत्रों में हमें द ढ़ता से जमे हुए एक ऐसे विश्वास के दर्शन भी होते हैं कि रोग और दुर्भाग्य न केवल राक्षसों द्वारा भेजे जाते हैं अपितु यातुशक्ति सम्पन्न द्वेषी मनुष्यों द्वारा भी पैदा किये जाते हैं। इस यातुशक्ति का मानवीकरण करके इसका साम्मुख्य एक स्वास्थ्यवर्धक वनस्पति या तावीज से कराया जाता है। इस दुःखदायी और कष्टदायक यातु से सम्बद्ध मन्त्रों में जहाँ एक ओर भाषा की चुलबुलाहट और भयंकरता के दर्शन होते हैं वहीं मधुरता और सुन्दरता भी द ष्टिगोचर होती है। अथर्ववेद के इन अभिशापों और यातुमन्त्रों में याज्ञिक मंत्रों और ऋग्वेद की प्रार्थनाओं की अपेक्षा भावपूर्ण लोकप्रिय कविता का दर्शन अधिक मात्रा में मिलता है। अथर्ववेद के पांचवें काण्ड के चौदहवें सूक्त के कुछ मन्त्र इसके उदाहरणार्थ प्रस्तुत किये जा सकते हैं -

सुपर्णस्त्वान्ववि'न्दत् सूकरस्त्व'ा खनन्नसा।
दिप्सौ'बधे त्वं दिप्स'न्तमव' क त्याक तं' जहि।। (१)
रिश्य'स्येव परीशासं प'रिक त्य परि' त्वचः।
क त्यां क 'त्याक ते' देवा निष्कमि'व प्रति' मु चत। (३)
क त्याः स'न्तु क त्याक ते' शपथ': शपथीयते।
सुखो रथ' इव वर्ततां क त्या क 'त्याक तं पुन':। (५)
पुत्र इ'व पितरं' गच्छ स्वज इ'वाभिष्ठि'तो दश।
बन्धमि'वावक्रामी ग'च्छ क त्ये' क त्याक तं पुन':। (१०)

एक सुन्दर कविता हमें अथर्ववेद के वरुणसूक्त में उपलब्ध होती है। इसमें वरुण की सर्वशक्तिमत्ता, सर्वव्यापकता का वर्णन ऐसी सुन्दर भाषा में किया गया है जिसका दर्शन पाश्चात्य लेखकों को बाइबिल की प्रार्थना में मिलता है।

यस्तिष्ठ'ति चरति यश्च व च'ति यो निलायं चर'ति य प्रतंकम्।
द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रये'ते राजा तद् वे'द वरु'णस्त तीय':।
उतेयं भूमिर्वरु'णस्य राज्ञ' उतासौ द्यौर्ब'ह' ती दूरेअ'न्ता।
उतो स'मुद्री वरु'णस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्प' उदके निली' नः।
उत यो द्याम'तिसर्पात्' परस्तान्न स मु'च्यातै वरु'णस्य राज्ञ':।
दिव स्पशः प्र च'रन्तीदम'स्य सहस्राक्षा अति' पश्यन्ति भूमि'म्।।
सर्वं तद् राजा वरु'णो वि च'ष्टे यद'न्तरा रोद'सी यत् परस्तात्।
संख्य'ाता अस्य निमिषो जनान'ामक्षानि'व श्वघ्नी नि मि'नोति तानि'

(अथर्व. ४.१६.२-५)

उनकी द ष्टि में भारतीय साहित्य में ऐसी सुन्दर कविता अन्यत्र दुर्लभ है। रॉथ के शब्दों में 'सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में ऐसा कोई दूसरा गीत नहीं है जो इतने प्रभावपूर्ण शब्दों में दैवी सर्वज्ञता को प्रकट करता हो।' उसने इस बात पर खेद व्यक्त किया है कि इतनी सुन्दर कला का प्रयोग एक यातुक्रिया के लिए किया गया है। यहाँ और अथर्ववेद के अन्य भागों में ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन गीतों और गीतखण्डों का प्रयोग यातुमन्त्रों को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए किया गया है। इस सूक्त के पहले पाँच-छ मन्त्र पिछले मन्त्रों के साथ ऐसा ही एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। रॉथ की इस सम्मति से विन्टरनिट्स भी पूर्णतः सहमत हैं। इसके विपरीत ब्लूमफील्ड का विचार था कि इस सारी

कविता की रचना एकमात्र यातुक त्यों के लिए ही की गई थी। शताब्दियों पश्चात् रचे गये कौशिक सूत्रों में निर्दिष्ट विनियोग के आधार पर आधुनिक वैदिक विद्वानों का - जिनमें पाश्चात्य और पौरस्त्य दोनों ही सम्मिलित हैं - मानस विनियोग से इतना आक्रान्त है कि वे इस वेद में कविता के सौन्दर्य, भाव की गम्भीरता तथा शब्द सौष्ठव को स्वतन्त्र रूप से देखने में असमर्थ हैं और सम्पूर्ण अथर्ववेद को यातु और यातुक त्यों के लिए निर्मित रचना के अतिरिक्त और कुछ मानने को तैयार नहीं हैं।

अथर्ववेद में मन्त्रों की ऐसी संख्या भी है जिनका प्रयोग राजाओं के विभिन्न क त्यों के लिए किया जाता था। इनमें से कुछ शत्रुनाश के लिए प्रयुक्त होते थे और कुछ राजा, राज्य तथा प्रजा के कल्याण के लिए। भारतीय परम्परा के अनुसार अत्यन्त प्राचीन काल से राजाओं को अपना एक कुलपुरोहित रखना होता था जो अथर्ववेद में वर्णित राजकर्मों से पूर्णतया अभिज्ञ होता था। इन क त्यों का वर्णन करने वाले सूक्तों को 'राजकर्माणि सूक्तानि' के नाम से कहा गया है। कुछ विद्वान् अथर्ववेद को क्षत्रियों के क त्यों के साथ बहुत गहराई से जुडा हुआ मानते हैं। इन क त्यों में राजा के राज्याभिषेक का वर्णन है। उस समय राजा पर पवित्र जलों के छींटे दिये जाते हैं और वह एक सिंह चर्म पर आरूढ़ होता है। इस क त्य का सम्बन्ध उस राजा का अन्य राजाओं पर प्रभुत्व पाने और सामान्यतया उसकी शक्ति और यश के विस्तार के साथ जुड़ा हुआ है। अथर्ववेद ३.४ में एक ऐसी प्रार्थना दी गई है जिसका प्रयोग राजा के चुनाव के समय किया जाता था।

त्वां विशो' व णतां राज्याय त्वामिमाः प्रदि'शः प च' देवीः।

इस सूक्त में वरुण शब्द के कर्त निमित्त अर्थ को लेकर वरुण द्वारा राजा के चुनाव के वर्णन की बात कही गयी है -

'तदयं राजा वरु'णस्तथ'ाह स त्वायम'ह्वत् स उपेदमेहि'।'

इसी सूक्त के त तीय मन्त्र में एक निर्वासित राजा के पुनः राज्यारूढ़ होने की बात भी वर्णित की गई है -

अच्छ' त्वा यन्तु हविन'ः सजाता अग्निर्दूतो अ'जिरः सं च'रातै।
जायाः पुत्राः सुमन'सो भवन्तु बहुं बलिं प्रति' पश्यासा उग्रः।

इन राजकर्माणिक सूक्तों में युद्ध के समय प्रयुक्त किये जाने वाले यातु मन्त्रों में अत्यन्त सुन्दर और प्रभावोत्पादक कविता द ष्टिगोचर होती है। योद्धाओं में उत्साह भरने के लिए अथर्ववेद ५.२०, २१ के कुछ मन्त्र उल्लेखनीय हैं।

सिंह इ'वास्तानीद् द्रुवयो विबद्धो भिक्रन्द'न्नषभो व'ासितामि'व।
व षा त्वं वध्र'यस्ते सपत्न'ा ऐन्द्रस्ते शुष्मो' अभिमातिषाहः।
पूर्वो' दुन्दभे प्र व'दासि वाचं भूम्य'ाः प ष्ठे व'द् रोच'मानः।
अमित्रसेनाम'भिज' जभानो द्युमद व'द दुन्दुभे सून तावत्।।

(अथर्व. ५.२०.२, ६)।

विह्र'दयं वैमनस्यं वदामित्रे' षु दुन्दुभे विद्वेषं कश्म'शं
भयममित्रे' षु निद'ध्मस्यवै' नान् दुन्दभे जहि।।
उद्वेपमाना मन'सा चक्षु'षा ह्रद'येन च।
धाव'न्तु बिभ्य'तो मित्र'ाः प्रत्रासेनाज्ये' हुते।।
यथा व क'ादजावयो धाव'न्ति बहु बिम्य'तीः।
एवा त्वं दु'न्दुभे मित्र'ानभि क्र'न्द प्र त्र'ासयाथो' चित्तानि' मोहय।।

(अथर्व. ५.२१.१,२,५)

राजा सम्बन्धी इन क त्यों के करने करवाने में राजपुरोहित की सर्वप्रधान भूमिका होती थी और ब्राह्मण पुरोहित राजा की उन्नति और सम द्धि के क त्य करवाते हुए भी अपने स्वार्थ को सदा सुरक्षित रखते थे। राजकर्माणि में कुछ ऐसे क त्य भी हैं जिनका राजा की अपेक्षा पुरोहित के साथ अधिक गहरा सम्बन्ध होता था। इन क्रियाओं में ब्राह्मण-वाक्य का उल्लंघन न करने की शिक्षा देना भी एक प्रमुख क त्य था और उल्लंघन करने वाले के लिए पश्चाताप करना या दण्ड भोगना भी अनिवार्य था। प्रत्येक क त्य के साथ राजपुरोहित को दक्षिणा देना राजा का आवश्यक कर्तव्य था। यद्यपि यातु और मारण-उच्चाटन की क्रियाओं के विरोध में धर्मशास्त्रों में बहुत कुछ कहा गया है फिर भी मनुस्म ति में यह स्पष्ट निर्देश है कि ब्राह्मण बिना हिचकिचाहट के अथर्ववेद के पवित्र मन्त्रों का प्रयोग करें। ये मन्त्र ही उसके शस्त्र हैं और उनके द्वारा वह अपने शत्रुओं का नाश कर सकता है। अथर्ववेद में एक लम्बी श्रेणी ऐसे यातु और यातुमन्त्रों की है जो ब्राह्मणों की अनुल्लंघनीयता और उनकी सम्पत्ति को बल प्रयोग द्वारा न लिए जाने के विषय में पर्याप्त बल दिया गया है। इसके विरुद्ध आचरण करने वालों पर बड़े से बड़ा अभिशाप गिरता है। ब्राह्मणों पर अत्याचार करने वाला सबसे बड़े पाप का भागी होता है और इन्हें बहुतायत में दान दक्षिणा देने वाला दयालुता की मूर्ति समझा जाता था। अथर्ववेद के राजक त्यविषयक सूक्तों में इन बातों पर पर्याप्त बल दिया गया है। इनके साथ कुछ ऐसे भी सूक्त हैं जिनमें धार्मिक ज्ञान, प्रकाश, यश और ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रार्थनाएँ की गई हैं। विद्वानों की सम्पति में अथर्ववेद में ऐसे सूक्त सबसे बाद में जोड़े गए होंगे।

यातु और कर्मकाण्ड का मिश्रण :-

अथर्ववेद के कुछ सूक्त और कुछ यातु प्रयोग कर्मकाण्ड की प्रक्रिया से भी सम्बन्ध रखते हैं। इन मंत्रों का प्रयोग हविर्प्रदान के साथ किया जाता है जिसमें दूध, घी और ओदन का मिश्रण होता था -

स सं स्र'वन्तु सिन्ध'वः सं वाताः सं प'तत्रिण'ः।

इमं यज्ञं प्रदिवो' में जुषन्तां सस्राव्येण हविष'ा जुहोमि।।

ये सर्पिष'ः संस्रव'न्ति क्षीरस्य चोदकस्य' च।

तेभि'र्मे सर्वै'ः संस्रावैर्धनं सं स्र'ावयामसि (अथर्व. १.१५.१, ४)।

इस प्रकार के कुछ अन्य सूक्त भी हैं। इन हविषों से प्राप्त होने वाली सम द्धि और शक्ति निम्न दो मन्त्रों में देखी जा सकती है -

यशो' हविर्व' र्धतामिन्द्र'जूतं सहस्र'वीर्यं सुभ 'तं स'हस्क तम्।

प्रसर्स्रा'णमनु' दीर्घाय चक्ष'से हविष्म'न्तं मा वर्धय ज्येष्ठत'ातये।।

(अथर्व. ६.३६.१.)

अभ'यं द्यावाप थिवी इहास्तु नो भ'यं सोम'ः सविता न'ः क णोतु।

अभ'यं नो स्तूर्व' १ न्तरि'क्षं सप्तऋषीणां च' हविषाभ'यं नो अस्तु।।

(अथर्व. ६.४०.१)

अपानाय' व्यानाय' प्राणाय भूरि'धायसे।

सर'स्वत्या उरुव्यचे। विधेम' हविष'ा वयम्

निरमुं नु'द ओक'सः सपत्नो यः प 'तन्यति'।

नैर्बाध्ये न हविषेन्द्र' एनं पराशरीत्ः, सांत'पन।

इदं हविर्मरुतस्तन्जुजु'ष्टन।

इन मन्त्रों से ऐसा प्रतीत होता है कि इन हविषों को स्वीकार करने के लिए विशिष्ट देवताओं

का, जिनमें मरुत् भी शामिल हैं, आह्वान किया जाता था। ऋग्वेद के कुछ सूक्तों में इस प्रकार की हविर्प्रदान का वर्णन मिलता है जिनका स्वरूप अथर्ववेद में वर्णित इन हविओं जैसा ही है। अथर्ववेद में दीर्घायु, सम्पत्ति और सुरक्षा सम्बन्धी ऐसी प्रार्थनाओं का वर्णन है जिनसे प्रतीत होता है कि इन हविओं की आहुति प्रातःकाल, मध्याह्न और सांयकाल सोम रस के अभिषवण के समय दी जाती थी। ये तीनों पाठ तैत्तिरीय संहिता में भी उपलब्ध हैं परन्तु कौशिक सूत्र इस विषय में मौन हैं।

अग्निः प्र'ातः सवने प'ात्वस्मान् वैश्वानरो वि'श्वक द् विश्वशं'भूः।
स न'ः पावको द्रवि'णे दधात्वाय' ष्मन्तः सहभ'क्षाः स्याम।।
विश्वे'देवा मरूत इन्द्रो' अस्मानस्मिन् द्वितीये सव'ने न ज'ह्युः,
इदं त तीयं सव'नं कवीना म तेन ये च'मसमैर'यन्त

(अथर्व. ६.४७.१, २अ, ३अ)

तुलनीय -

अग्निः प्र'ातः सवने पात्वस्मान् वैश्वानरो म'हिना विश्वशम्भूः।
स न'ः पावको द्रविणं दधात्वा - (१) यु'ष्यन्तः सहभ'क्षाः स्याम।।
विश्वे' देवा मरूत इन्द्रो' अस्मानस्मिन् द्वितीये सव'ने न ज'ह्युः।
इदं त तीय सव'नं कवीनाम तेन ये च'मसमैरयन्त (तै. सं. ३.१.६.१,२,३)

अथर्ववेद में मिलने वाले इस याज्ञिक कर्मकाण्ड में तत्कालीन सामाजिक तथा धार्मिक रीतिरिवाजों को भी देखा जा सकता है। इसके ६.६ के गद्यमय भाग में अतिथियों के सत्कारार्थ की जाने वाली क्रियाएँ और उनके महत्त्व का वर्णन है। ग हस्थी के घर में अतिथि की उपस्थिति की तुलना ब्रह्म के साथ की गयी है और उसके विविध अंकों की तुलना तीनों वेदों के साथ की गई है। जब ग हस्वामी अतिथि को देखता है तो वह यज्ञ को देखता है, जब वह अतिथि का स्वागत करता है तो वह यज्ञ की दीक्षा में दीक्षित होता है, अतिथि को दिया जाने वाला यह सम्मान एक इस प्रकार की हवि है जो ग हस्वामी के पापों को नष्ट कर देती है, उसे स्वर्ग में पहुँचाती है तथा अतिथि के प्रति किया जाने वाला अपमान यज्ञफल को नष्ट कर देता है।

एते वै प्रियाश्चाप्रि'याश्चर्त्विज'ः स्वर्गं लोकं ग'मयन्ति यदति'थयः,
इष्टं च वा एष पूर्तं च' ग हाण' मश्नाति यः पूर्वो ति'थे रश्नाति'

(अथर्व. ६.६.२३,३१)

'सवयज्ञ' विधान :-

कुछ सूक्त जिनमें प्रतीकात्मक वर्णन हैं विशुद्ध आथर्वणिक याज्ञिक प्रक्रिया के लिए प्रयुक्त होते थे। 'सवयज्ञ' में प्रयुक्त होने वाले सूक्त इसी प्रकार के हैं। इस यज्ञ की प्रक्रिया अथर्ववेद की अपनी याज्ञिक प्रक्रिया है और इस विषय पर डॉ. होण्डा ने विशेष प्रकाश डाला है। अथर्ववेद में यातु प्रयोग और कर्मकाण्ड की प्रक्रिया में सम्बन्ध जोड़ने की आवश्यकता का अनुभव शायद इसलिए किया गया होगा कि इस वेद की अन्य वेदों के साथ समानता दर्शायी जा सके और इसे अन्य वेदों के साथ 'वेद' रूप में परिगणित किया जा सके। इस प्रकार के सूक्तों में दो आप्री सूक्त भी हैं जिनकी तुलना ऋग्वेद के ऐसे ही सूक्तों के साथ की जा सकती है। इसी प्रकार यजुर्वेद की गद्यमय रचनाओं की समता रखने वाले कुछ गद्यमय भाग अथर्ववेद के १८वें काण्ड में मिलते हैं। इसी प्रकार अथर्ववेद के १८वें काण्ड के वे सूक्त जिनमें अन्त्येष्टि तथा पित पूजा विषयक प्रार्थनाएँ मिलती हैं वे सभी यजुर्वेद के कर्मकाण्ड की याद दिलाती हैं। ऋग्वेद के १०वें मण्डल का अन्त्येष्टि सूक्त मन्त्रव द्धि के साथ इसमें उपलब्ध है। यद्यपि २०वें काण्ड में मिलने वाले अधिकांश मन्त्र ऋग्वेद से ही उधार लिए गए हैं पर इसके कुछ अपवाद भी हैं जिनमें इसी काण्ड के १० सूक्त हैं। इनका नाम 'कुन्ताप-सूक्त' दिया गया

है। इनका स्वरूप याज्ञिक कर्मकाण्ड जैसा है और विषय में ये ऋग्वेद की दानस्तुतियों जैसे हैं जिनमें कुछ उदार और दानी राजाओं की प्रशंसा की गयी है। इनमें से कुछ पहेलियों और उनके उत्तर के रूप में हैं कुछ उदार और दानी राजाओं की प्रशंसा की गयी है। इनमें से कुछ पहेलियों और उनके उत्तर के रूप में हैं कुछ का विषय अश्लील और अशिष्ट हंसी-मजाक वाला है। कई दिन तक चलने वाले यज्ञों के अवसर पर पुरोहितों द्वारा इनका प्रयोग निर्धारित था।

दार्शनिक विचार :-

अथर्ववेद का अन्तिम महत्त्वपूर्ण विषय दार्शनिक तथा ब्रह्माण्ड सम्बन्धी सूक्तों का है। दर्शन से बढ़कर यातु का विरोधी विषय और कुछ नहीं हो सकता और यह देखकर आश्चर्य होता है कि अथर्ववेद में यातु के साथ-साथ इस विषय को भी सम्मिलित किया गया है। अथर्ववेद के इन दार्शनिक सूक्तों के विषय में आधुनिक विद्वानों का मत कुछ आवश्यकता से अधिक पक्षपातपूर्ण द ष्टिगोचर होता है। यह सत्य है कि सब सूक्तों में एक समान ऊँचे और उदात्त दार्शनिक विचार नहीं हैं पर इसीलिए सबको रहस्यवादी जादूगरों की रचना नहीं कहा जा सकता। विन्ट्रनिट्स ने लिखा है कि इनके लेखकों में सत्य की खोज और विश्व की गहन पहेलियों को सुलझाने की रुचि नहीं है। ये केवल कल्पना की उड़ान भरने वाले हैं जो अपने आपको दार्शनिक के रूप में प्रगट करने के लिए सुप्रसिद्ध दार्शनिक विचारों को क त्रिम और अविवेकपूर्ण कल्पना के जाल में ढककर इसे रहस्यवाद के नाम से प्रकट करते हैं। आपाततः जो हमें गूढ़ दार्शनिक सत्य प्रतीत होता है वास्तविकता में वह खोखला रहस्यवाद निकलता है जिसके पीछे गम्भीरता की अपेक्षा अविवेकिता द ष्टिगोचर होती है। रहस्यवाद के पर्दे के पीछे वस्तुतत्त्व को छिपाना और रहस्यवाद का डंका बजाना जादूगरों के व्यापार का मूलतत्त्व है। तथापि इन 'तथाकथित' दार्शनिक सूक्तों से यह तो स्पष्ट ही है कि उनकी रचना से बहुत पहले पर्याप्त ऊँचे स्तर के दार्शनिक विचारों का विकास हो चुका था।

संसार की उत्पादक और पालक सर्वोच्च सत्ता की कल्पना और इनके अतिरिक्त एक निर्वैयक्तिक उत्पादक सिद्धान्त का प्रणयन तथा ब्रह्मन्, तपस्, असत्, प्राण, अनस् आदि दार्शनिक शब्दावली - इन सूक्तों की रचना से पहले ही एक विस्त त क्षेत्र में प्रचलित हो चुके थे। इसलिए इस कारण से भी हमें अथर्ववेद के दार्शनिक और ब्रह्माण्ड रचना सम्बन्धी सूक्तों को भारतीय दर्शन के विकास में एक नये चरण के रूप में नहीं देखना चाहिए। ऋग्वेद के वास्तविक दार्शनिक सूक्तों में वर्णित उत्पादक विचारों का और अधिक विकास हमें उपनिषदों में ही प्राप्त होता है और हम अथर्ववेद के दार्शनिक सूक्तों को इन दोनों के बीच की एक कड़ी के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते। कुछ ऐसी ही सम्मति ड्यूसन की भी है। उसके अनुसार अथर्ववेद के इन सूक्तों की स्थिति दार्शनिक विचारधारा के मध्य की न होकर उसके परिपार्श्व के प थक् रूप की है।

अथर्ववेद के इन रहस्यवादी सूक्तों के धुँधलके में कभी-कभी गम्भीर और वस्तुतः दार्शनिक विचारों का प्रकाश फूट पड़ता है। अपनी पूर्वाग्रहयुक्त धारणा के कारण बहुत से विद्वानों ने इसका श्रेय भी अथर्वन् ऋषियों को नहीं दिया है। उनकी द ष्टि में यह सब प्राचीन विचारों को नूतन आवरण प्रदान करने के तुल्य है। संपूर्ण सत्ता के मूल कारण के रूप में 'काल' की कल्पना निश्चय ही एक उत्तम दार्शनिक का विचार होने के योग्य है तथापि जिस भाषा में यह व्यक्त किया गया है वह एक दार्शनिक की न होकर एक रहस्यवादी की है। अथर्ववेद १६.५३ तथा ५४ इसकी दार्शनिकता को प्रामाणित करते हैं। इनमें एक यांत्रिक प्रक्रिया के रूप में नाना प्रकार की वस्तुओं का परिगणन किया गया है जिन सबको काल से उत्पन्न हुआ माना है। जहाँ तक कि काल द्वारा उत्पन्न वस्तुओं में प्रजापति, ब्रह्मन्, तपस् और प्राण इत्यादि दैवीय शक्तियों को भी इन्हीं में गिना दिया है। उदाहरणार्थ-

कालो अश्वो' वहति सप्तर'श्मिः सहस्राक्षो ऊजरो भूरि'रेताः।

तमारो'हन्ति कवयो' विपश्चितस्तस्य' चक्रा भुव'नानि विश्वा'।।

सप्त चक्रान् व'हति काल एषः सप्तास्य नाभी'रम त न्वक्ष'ः।

स इमा विश्वा भुव'नान्य जत् कालः स ईयते प्रथमो नु देवः।।

काले तप': काले ज्येष्ठं' काले ब्रह्म समारितम्।

कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासी त् प्रजाप'तेः।।

तेने षितं तेन जातं तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम्।

कालो ह ब्रह्म' भूत्वा विभर्ति परमेष्ठिनम्।। (अथर्व. १६.५३.१,२,८,६)।

कालो ह भूतं भव्यं' च पुत्रो अ'जनयत् पुरा।

कालाद चः सम'भवन् यजु': कालाद'जायत।।

काले यमङ्गि'रा देवो थ'र्वा चाधि' तिष्ठतः।

इमं च' लोकं परमं च' लोकं पुण्यां श्च लोकान् विध 'तीश्च पुण्याः

सर्वांलोकानंभिजित्य ब्रह्म'णा कालः स ईयते परमो नु देवः (अथर्व. १६.५४.३,५)

अथर्ववेद में कुछ इस प्रकार के सूक्त हैं जिनके वास्तविक उद्देश्य और सच्चे अर्थ के विषय में विद्वानों में मतभेद हैं। ऐसे सूक्तों में अथर्ववेद के १३वें काण्ड का 'रोहित-सूक्त' भी एक है। रोहित जिसका सामान्य अर्थ लाल है उसे सूर्य या सूर्य की प्रतिभा के रूप में मानवीक त करके वर्णित किया गया है। कुछ मन्त्रों में उसका रूप एक उत्पादक शक्ति के रूप में वर्णित किया गया है -

रोहितो द्याव'प थिवी ज'जान तत्र तन्तुं' परमेष्ठी त'तान।

तत्र' शिश्रिये ज एक'पादो द हद् द्यावाप थिवी बले'न।।;

रोहि'तो द्याव'प थिवी अद हत तेनस्व स्तम्भितं तेन नाक'ः।

तेनान्तरि'क्षं विमिता रजां सि तेन' देवा अम तमन्व'विन्दन्।।

(अथर्व. १३.१.६,७)

उसने द्यावा प थिवी को उत्पन्न किया है और अपनी शक्ति से इन्हें धारण किया हुआ है पर बीच के कुछ मन्त्रों में रोहित नामक पार्थिव राजा का वर्णन प्रतीत होता है जिसके साथ यह दिव्य रोहित एकाकार दिखाया गया है -

दिवं' च रोह प थिवीं च' रोह राष्ट्रं च रोह द्रवि'णं च रोह।

प्रजां च रोहाम तं चरोह रोहितेन तन्वं' सं स्प 'शस्व।।

ये देवा राष्ट्रभूतो भितो यन्ति सूर्य'म्।

तैष्टे रोहितः संविदानो राष्ट्रं द'धातु सुमनस्यम'ानः (अथर्व. १३.१.३४, ३५)

इस प्रकार के सम्मिश्रण के कारण विन्टरनिट्स ने इस ओर ऐसे अन्य सूक्तों को जिनमें 'उक्ष सूक्त' (४.११), ब्रह्मचारी सूक्त (११.५), व्रात्य काण्ड (१५) आदि सम्मिलित हैं वास्तविक दार्शनिक सूक्त न मानकर व्यर्थ के प्रलापपूर्ण तथाकथित रहस्यात्मक सूक्त माना है। विन्टरनिट्स का यह मत सर्वांश में सही नहीं माना जा सकता। यह ठीक है कि इस संहिता के संकलन के समय बहुत से भिन्न-भिन्न विषय के मन्त्रों को एक स्थान पर एकत्र किया गया होगा और इसलिए अपने मूल स्थान से हट जाने के कारण उन मन्त्रों में न तो परस्पर एकरूपता दिखाई देती है और न विषय की सम्बद्धता। इसके विपरीत, ड्यूसन ने इनमें से बहुत से सूक्तों में दार्शनिक तत्त्व का दर्शन किया है उसने अथर्ववेद ११. ८ में सूक्ष्म (मनोवैज्ञानिक) और स्थूल (भौतिक) तत्त्वों के समन्वय द्वारा, जो अपने आप में ब्रह्मन् पर आधारित हैं, मानव की उत्पत्ति का वर्णन माना है -

यन्मन्युर्जायामाव'हत् संकल्पस्य' ग हादधि'।

क अ'ासं जन्याः के वराः क उ' ज्येष्ठ्वरो भवत्।।

तप'श्चैवास्तां कर्म' चान्तर्म' हत्यवेर्ण।

त आ सं जन्यास्ते वरा ब्रह्म' ज्येष्ठवरो भवत्।। (अथर्व. ११.८.१, २)।

इसी प्रकार ब्रह्मचारी सूक्त में भी अध्यात्म के दर्शन किये जा सकते हैं -

इमां भूमिं' प थिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामा ज'भार प्रथमोदिवं' च।

ते क त्वा समिधा वुप'ास्ते तयोरार्पि'ता भुवनानि विश्वा।।

अर्वागन्य इतो अन्य प ' थिव्या अग्नी समेतो नभसी अन्तरेमे।

तयो' श्रयन्त रश्मयो धि द ढास्ताना तिष्ठति तप'सा ब्रह्मचारी।।

(अथर्व. ११..५.६,११)।

व्रात्य शब्द का क्या अर्थ था इस विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है। वेबर, ऑफ्रेक्ट, हिल्लेब्रान्ड्ट, ब्लूमफील्ड, लॅनमॅन, मैक्डानल, कीथ, भागवत और विन्टरनिट्स आदि विद्वानों ने इसकी विभिन्न व्याख्याएँ की हैं। ऐसी स्थिति में अर्थ निर्धारण के पूर्व ही किसी विषय का खण्डन कर देना उचित नहीं प्रतीत होता। उदाहरणार्थ अथर्ववेद के १०.२ और ११.८ में उपनिषदों के प्रसिद्ध 'अयमात्मा ब्रह्म' के सिद्धान्त का पूर्वरूप देखा जा सकता है। ड्यूसन ने भी ऐसा ही मत व्यक्त किया है। अथर्ववेद का एक अन्य सूक्त जिसे हम 'प थिवी-सूक्त' या 'भूमि-सूक्त' (१२.१) कहते हैं - एक अत्यन्त उदात्त कविता का उदाहरण प्रस्तुत करता है। इसका प्रथम मन्त्र उन तात्त्विक सिद्धान्तों का परिगणन करता है जिन पर सार्वभौमिक समाज व्यवस्था टिकी रहती है। आलंकारिक और कवित्वमयी भाषा में इस तथ्य को इस रूप में व्यक्त किया जा सकता है कि सत्य, महत्, ऋच, दीक्षा, उग्र, तपस्, ब्रह्म तथा यज्ञ ने इस प थिवी को धारण किया हुआ है -

सत्यं ब हद तमुदग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म' यज्ञः प 'थिवीं धारयन्ति।

सा नो' भूतस्य भव्य'स्य पत्न्युरुं लोकं प थिवी न' क णोतु।।

शब्दों के शुष्क अर्थ को एकमात्र चरम सत्य मानने पर इतनी सुन्दर कविता की दार्शनिकता में भी पूर्वाग्रही विद्वानों को यातु क्रियाओं की नीरसता ही द ष्टिगोचर होगी। इसमें सन्देह नहीं कि सम्पूर्ण अथर्ववेद में विभिन्न प्रकार के विषयों का वर्णन है जिनका स्तर ओझा वैद्यों के जादूमन्त्रों से लेकर उच्चतम कोटि की दार्शनिकता तक द ष्टिगोचर होता है।

Unit-II
ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् एवं वेदाङ्ग

ब्राह्मण

वैदिक साहित्य के अन्तर्गत संहिताओं के पश्चात् ब्राह्मण ग्रन्थों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वस्तुतः ब्राह्मण साहित्य का प्रणयन सहिंता साहित्य के व्याख्यान रूप में हुआ। अतः वैदिक संहिताओं में वर्णित विषयों के परिज्ञान के लिए ब्राह्मणग्रन्थों में वर्णित विषयों का ज्ञान अपरिहार्य है। इन ग्रन्थों के इसी महत्त्व के कारण इन्हें वेद संज्ञा से अभिहित किया जाता है। यथा - मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः। मन्त्र ब्राह्मणयोर्वेद नामधेयम्। यहाँ यह तथ्य अवधेय है कि वस्तुतः वेद और ब्राह्मण प थक् प थक् हैं। यहाँ पर इन उक्तिओं का लाक्षणिक अर्थ ही अभिप्रेत है। ये उक्तियाँ ब्राह्मण ग्रन्थों को वेदों को समझने के लिए उपयोगिता बतलाती हैं। वेद और ब्राह्मण ग्रन्थ एक दूसरे के पूरक हैं जो मन्त्र संहिताओं में दिए गए हैं, ब्राह्मण ग्रन्थ उनकी व्याख्या करते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों के बिना वेदों को पूर्ण रूप से समझना असम्भव है, अतः लाक्षणिक रूप में ब्राह्मण ग्रन्थों को भी वेद कह दिया जाता है।

शास्त्रकारों ने 'ब्राह्मण' शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ किए हैं जो इस प्रकार हैं -

(क) 'ब्राह्मण' शब्द ब हू - वर्धने से निष्पन्न है जिसका अर्थ है 'बढ़ाना'। अधिकांश विद्वानों का यह मत है कि 'ब्राह्मण' उन ग्रन्थों का नाम है जो वेदों में प्रतिपादित यज्ञ विधियों का विस्तार से वर्णन करते हैं "ब्राह्मण नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां व्याख्यान ग्रन्थः"।

(ख) 'ब्रह्मन्' का अर्थ मन्त्र भी है। तदनुसार ब्राह्मण का अर्थ होगा 'मन्त्रों की व्याख्या करने वाले एवं उनका विनियोग देने वाले ग्रन्थ।

(ग) आपस्तम्ब ऋषि ने ब्राह्मणों की परिभाषा देते हुए लिखा है - 'कर्मचोदना ब्राह्मणानि' अर्थात् जिनमें वेदविहित कर्मकाण्ड का यथावत् प्रतिपादन किया गया है' वे ब्राह्मण हैं।

(घ) कुछ विद्वानों के अनुसार ब्राह्मण जाति के विद्वानों के सङ्कलित विचार ही ब्राह्मण ग्रन्थ हैं।

(ङ) महाभाष्यकार पत जलि ने ब्रह्मन् और ब्राह्मण शब्द का एक ही अर्थ माना है। 'समानार्थावेतौ ब्रह्मन् शब्दो ब्राह्मणशब्दश्च' (महाभाष्य ५-१-१)। यह अर्थ स्वीकार कर लेने पर 'ब्राह्मण' का अर्थ 'चारों वेदों को जानने वाले ब्राह्मणों के द्वारा किया गया वेद का व्याख्यान' होगा।

वस्तुतः ब्राह्मण शब्द का अर्थ है "यज्ञ के विविध विधानों में पूर्ण निपुणता रखने वाले पुरोहित वर्गों के द्वारा यज्ञों के अनुष्ठान के अवसर पर प्रयोग में लाई जाने वाली संहिता भाग की विधियों की व्याख्या का सङ्कलन"। यही अर्थ सबसे समीचीन व उपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि यह ब्राह्मण ग्रन्थों के मुख्य वर्ण्य विषय को अपने अन्दर समाहित करता है। ब्राह्मणों का मुख्य विषय है यज्ञ-सम्बन्धी नियमों, विधियों तथा विनियोगों की विस्त त विवेचना'। ये ब्राह्मण ग्रन्थ मन्त्रों और प्रार्थनाओं के साथ याज्ञिक कर्मो का पारस्परिक सम्बन्ध जोड़ते हुए स्वतन्त्र रूप में विधि विधानों का निर्देश करते हैं।

वाचस्पति मिश्र के अनुसार ब्राह्मण ग्रन्थों का वर्ण्य विषय निरुक्ति, मन्त्रों का विनियोग, अर्थवाद (प्रतिष्ठान) और विधि बतलाना है। जैसा कि कहा गया है -

"नैरुक्त्यं यस्य मन्त्रस्य विनियोगः प्रयोजनम्।

प्रतिष्ठानं विधिश्चैव ब्राह्मणं तदिहोच्यते।।"

बाह्मण ग्रन्थों की रचना स्थान और काल :-

ब्राह्मण ग्रन्थों में इस बात का कहीं भी स्पष्ट निर्देश नहीं है कि उनका रचनास्थल कौन सा है, फिर भी भौगोलिक परिस्थितियों को देखते हुए और जिन प्रदेशों का वर्णन इन ग्रन्थों में प्राप्त होता है, उन अन्तः साक्ष्य प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इनकी रचना कुरुप चाल नगर में हुई। वैदिक आर्य सप्तसिन्धु से धीरे-धीरे आगे की तरफ बढ़े और ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना के समय तक वे गङ्गा तथा यमुना के दोआबे तक आ गए और वहीं इन नदियों के बीच में विद्यमान कुरुप चाल नगर में ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना हुई।

जैसा कि वेदों की रचना तिथि का निर्णय करना दुष्कर ही नहीं बल्कि असम्भव भी है, उसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना किस समय हुई, इसके लिए भी कोई निश्चित तिथि निर्धारित करना सम्भव नहीं है क्योंकि वेदों और ब्राह्मणों की रचना काल परस्पर सम्बन्धित है। इनकी रचना में शताब्दियों का समय लगा होगा। सामवेद के 'वंश ब्राह्मण' में गुरु शिष्य परम्परा में ५० गुरुओं के नाम दिए हैं, जिनकी ऐतिहासिकता के विषय में तनिक भी संशय नहीं किया जा सकता। इसका कारण एक तो यह है कि वैदिक साहित्य में अनेकों बार इनके नाम प्राप्त होते हैं और दूसरे पुराणों में भी यह वंशावलि इसी क्रम से दी गई है। इन ५० गुरु शिष्यों की नामावलि को ध्यान में रखते हुए तो ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना में १००० वर्ष से भी कहीं अधिक समय लगा होगा।

पाश्चात्त्य विद्वान् मैक्डॉनल इन्हें ८०० से ५०० ईस्वी पूर्व का मानते हैं। मैक्समूलर ने इनका रचना काल ८०० से ६०० ईस्वी पूर्व निश्चित किया है। प्रो० एस० बी० दीक्षित ने अपने ग्रन्थ 'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एस्ट्रोनॉमी' में शतपथ ब्राह्मण को ईसा से ३००० वर्ष पूर्व का माना है। उन्होंने यह निष्कर्ष क त्तिका नामक नक्षत्र की व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए निकाला है। लोकमान्य तिलक इन्हें २५०० से २४०० ईस्वी पूर्व का मानते हैं।

प्रो० भगवद्दत ने ब्राह्मण ग्रन्थों को महाभारत का समकालीन माना है लेकिन इस बात का कहीं भी निर्देश नहीं किया कि महाभारत का रचना काल क्या है। वस्तुतः महाभारत का रचनाकाल स्वयं ही अनिश्चित है, अतः भगवद्दत्त का यह कथन निरर्थक सा प्रतीत होता है।

वास्तव में ब्राह्मण ग्रन्थों के रचनाकाल की कोई एक तिथि नहीं बताई जा सकती। इनकी रचना में शताब्दियाँ लगी होंगी। कुछ विद्वानों का मत है कि इन ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रणयन जिस समय हुआ, उस समय तक समस्त संहिता साहित्य का सङ्कलन हो चुका था। यही मत अधिक तर्क सङ्गत व समीचीन प्रतीत होता है क्योंकि वैदिक संहिताओं के सङ्कलन में एक विशेष तारतम्य और सातत्य है। प्रतीत होता है जब ऋग्वेद के मन्त्रों में आरोह, अवरोह, लय व उच्चारण विधि की स्म ति शिथिल होने लगी तो सामवेद का सङ्कलन हुआ और जब यज्ञीय विधि भी विस्त त होने लगी तो यजुर्वेद को सङ्कलित किया गया। इसी प्रकार जब वैदिक मन्त्रों का अर्थ अस्पष्ट होने लगा और उनके विधि विधान भी विस्म त होने लगे तो ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना की गई। ये ग्रन्थ वैदिक मन्त्रों के अर्थ की पूर्ण रूप से व्याख्या आख्यान, उपाख्यान, निरुक्ति, व्युत्पत्ति आदि देकर करते हैं।

यह निश्चित रूप से अवश्य कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म का उदय होने से पूर्व सम्पूर्ण ब्राह्मण साहित्य लिखा जा चुका होगा क्योंकि बौद्ध धर्म ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रिया मात्र ही है। ब्राह्मण

-धर्म का खण्डन, प्रतिकार, अवहेलना और आलोचना करने के उद्देश्य से ही बौद्ध धर्म की उत्पत्ति हुई। ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर महात्मा बुद्ध की जन्मतिथि ईसा से ५०० वर्ष पूर्व की निश्चित है। अतः इस आधार पर ब्राह्मण ग्रन्थों के रचनाकाल की अन्तिम सीमा तो निश्चित की जा सकती है। कि ये ग्रन्थ ईसा से ६०० ईस्वी पूर्व के पश्चात् के नहीं हैं, तथापि इनका प्रारम्भिक रचनाकाल क्या है, यह कहना सम्भव नहीं। इनका रचनाकाल वेदों के रचनाकाल पर आश्रित है और जब वेदों का ही रचनाकाल निश्चित नहीं तो ब्राह्मण ग्रन्थों का रचनाकाल कैसे निर्धारित किया जा सकता है। हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वेदों के रचनाकाल और उनके रचनाकाल में पर्याप्त अन्तराल रहा होगा और ईसा से छठी शताब्दी पूर्व तक उनकी समाप्ति हो चुकी होगी।

ब्राह्मण ग्रन्थों की संख्या :-

इस बात में कोई संशय नहीं कि ब्राह्मण साहित्य उससे कहीं अधिक विशाल रहा होगा जितना कि आज उपलब्ध है। सम्प्रति उपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थों तथा ग ह्य सूत्रों में अनेकों ऐसे लेखकों का उल्लेख प्राप्त होता है, जिनकी रचनाएँ आज प्राप्त नहीं होती। फिर भी आजकल प्राप्त ब्राह्मण ग्रन्थों की संख्या पर्याप्त है। प्रायः प्रत्येक वेद के तथा उसकी शाखाओं के अपने-अपने ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। क ष्ण और शुक्ल यजुर्वेद के ब्राह्मण ग्रन्थ तो पहले से ही थे लेकिन बाद में यह नियम बना दिया गया कि प्रत्येक वेद के लिए कम से कम एक ब्राह्मण ग्रन्थ आवश्यक है। परिणामस्वरूप एक ओर तो ऐसे अंश जो वेदों के अर्वाचीनतम भाग थे, ब्राह्मणों की संज्ञा को प्राप्त हो गए और दूसरी ओर कुछ नए ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना भी की गई। इस प्रकार के ब्राह्मणों में सामवेद के ब्राह्मण तथा अथर्ववेद का गोपथ ब्राह्मण है। सामवेद के ब्राह्मण इसी वेद के अर्वाचीनतम भाग हैं और गोपथ ब्राह्मण की रचना तब हुई जब प्रत्येक वेद के लिए एक ब्राह्मण ग्रन्थ का होना आवश्यक हो गया।

ऐतरेय और कौषीतकि या शांखायन ऋग्वेद के, प चविंश या ताण्ड्य महाब्राह्मण, षड्विंश, अद्भुत तथा जैमिनीय सामवेद के, तैत्तिरीय क ष्ण यजुर्वेद का, शतपथ शुक्ल यजुर्वेद का तथा गोपथ ब्राह्मण अथर्ववेद के ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। उपर्युक्त वेदों के ब्राह्मण ग्रन्थों में सूक्ष्म सा ही अन्तर है। ऋग्वेद के ब्राह्मण ग्रन्थ होता तथा उसके कार्यों का, सामवेद के ब्राह्मण ग्रन्थ 'उद्गाता' तथा उसके कार्यों का, यजुर्वेदीय ब्राह्मण ग्रन्थ 'अध्वर्यु' एवं उसके कार्यो का एवं, अथर्ववेद के ब्राह्मण ग्रन्थ 'ब्रह्मा' और उसके कार्यों का प्रतिपादन करते हैं, तथापि प्रतिपाद्य विषय की द ष्टि से ये ब्राह्मण ग्रन्थ परस्पर भिन्न नहीं हैं। सभी के उद्देश्य व प्रयोजन समान ही हैं।

ऋग्वेदीय ब्राह्मण ग्रन्थ :-

ऋग्वेद संहिता के दो ब्राह्मण ग्रन्थ प्राप्त होते हैं (१) ऐतरेय और (२) कौषीतकि या शांखायन ब्राह्मण।

ऐतरेय ब्राह्मण :-

ऐतरेय ब्राह्मण का महत्त्व कौषीतकि ब्राह्मण से अधिक है। इसके रचयिता व सङ्कलनकर्ता का नाम ऐतरेय महीदास है। सायणाचार्य के अनुसार ये इतरा के पुत्र थे। इतरा ने प थ्वी (मही) की उपासना की। प थ्वी के आशीर्वाद से उसका पुत्र विद्वान् हो गया और इस प्रकार अपनी माता इतरा के नाम पर वह 'ऐतरेय' (इतरायाः अपत्यं पुमान्) और प थ्वी के आशीर्वाद के कारण 'महीदास' कहलाया और इस लोक में ऐतरेय महीदास के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ऐतरेय ब्राह्मण पर आचार्य सायण का भाष्य उपलब्ध है। सन् १८८३ में मार्टिन हाग ने इसे अग्रेजी अनुवाद के साथ प्रकाशित किया था।

ऐतरेय ब्राह्मण में जो कुछ थोड़ी बहुत भौगोलिक जानकारी प्राप्त होती है और जिन भारतीय जातियों का इसमें उल्लेख किया गया है, उससे यह प्रतीत होता है कि इस ब्राह्मण ग्रन्थ की रचना

कुरुप चाल में हुई।

ऐतरेय ब्राह्मण में ४० अध्याय हैं जो ८ प चकों में विभक्त हैं। इस ब्राह्मण में मुख्य रूप से सोमयाग का वर्णन है। एक से सोलह अध्याय तक एक दिन में होने वाले अग्निष्टोम नामक सोमयाग का वर्णन है। २७ वें और १८ वें अध्यायों में ३६० दिन में होने वाले गवामयन नामक सोमयाग का वर्णन है। १६ से २४ वें अध्याय तक १२ दिन में सम्पन्न होने वाला 'द्वादशाह' नामक सोमयाग वर्णित है २५ वें अध्याय में कोई अपराध हो जाने पर किए जाने वाले प्रायश्चित्त सम्बन्धी उत्सवों व अग्निष्टोम करते समय ऋत्विक् के कर्त्तव्यों का वर्णन है। २६ से ३० वें अध्याय तक छोटे-छोटे कुल पुरोहितों का वर्णन है। ३१ से ४० वें अध्याय तक राज्याभिषेक तथा राजपुरोहित आदि की स्थिति तथा उनके अधिकारों का वर्णन है। कुछ विद्वान् ऐतरेय ब्राह्मण के अन्तिम दस अध्यायों को प्रक्षिप्त तथा परवर्तीकाल की रचना मानते हैं क्योंकि इन अध्यायों में 'लिट् लकार' का प्रयोग पाणिनि के सूत्र 'परोक्षे लिट्' के अनुसार परोक्षार्थ में ही हुआ है जबकि अन्य अध्यायों में वैदिक भाषा के अनुरूप इसका प्रयोग वर्तमान कालिक अर्थ में भी हुआ है। इतना ही नहीं कौषीतकि ब्राह्मण जो ऐतरेय ब्राह्मण से निकट सम्बन्ध रखता है, ऐतरेय ब्राह्मण के अन्तिम दस अध्यायों में वर्णित विषय सामग्री का उल्लेख नहीं करता। इसके अतिरिक्त ऐतरेय ब्राह्मण के पहले ३० अध्यायों में सोमयाग का ही वर्णन मुख्य रूप से प्राप्त होता है जबकि अन्तिम १० अध्यायों में उस मुख्य विषय से हटकर राज्याभिषेक तथा राजपुरोहित के अधिकार व कर्त्तव्यों का वर्णन किया गया है अतः यह कहा जा सकता है कि ऐतरेय ब्राह्मण के अन्तिम १० अध्याय बाद में जोड़े गये हैं।

ऐतरेय ब्राह्मण के ३३ वें अध्याय में प्राप्त होने वाला शुनः शेप आख्यान बहुत प्रसिद्ध है। इस आख्यान में इक्ष्वाकुंशीय राजा हरिश्चन्द्र की कथा द्वारा मनुष्य को जीवन में निरन्तर उत्साहपूर्वक आगे बढ़ते रहने का उपदेश दिया गया है। यह कथा इस प्रकार है - 'राजा हरिश्चन्द्र संतानहीन थे। नारद मुनि के कहने से उन्होंने वरुण की यह कहकर उपासना की कि उनके जो पुत्र होगा, उससे वह उसका यजन करेंगे। लेकिन जब उनके रोहित नामक पुत्र हुआ तो वह वरूण को टालते रहे। धनुर्विद्या से युक्त होने पर पिता ने पुत्र को सारी बात बतलाई। यह सुनकर रोहित वन में भाग गया। इधर उसके पिता को जलोदर रोग हो गया। अपने पिता की बीमारी का समाचार सुनकर रोहित वन से गांव की और चला। परन्तु इन्द्र ने उसे रोका। इस प्रकार पाँच वर्ष तक इन्द्र उसे रोकते रहे। छठे वर्ष रोहित को अजीगर्त नाम के ऋषि मिले। वे अपने पुत्र शुनः-शेप को रोहित के बदले देने को तत्पर हो गये लेकिन उन्होंने यह शर्त रखी कि रोहित उसे सौ गाय देगा।

इस कथा का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि यदि हरिश्चन्द्र कुछ उपाय करते और वरुण को किसी अन्य ढंग से सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करते तो वह अपनु पुत्र को भी बचा पाते और उसे स्वयं को भी जलोदार रोग न होता। उधर वन में विचरण करता हुआ रोहित अपनी रक्षा का उपाय ढूंढ पाने में सफल हो जाता है। इसीलिए इन्द्र पुनः पुनः रोहित को चलते ही रहने का उपदेश देते हैं। वे कहते हैं कि सोता हुआ व्यक्ति कलियुग होता है, निद्रा त्यागता हुआ द्वापर होता है, खड़ा होता हुआ त्रेता होता है और चलता हुआ सतयुग होता है, अतः चलते ही रहो -

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।

उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति क तं सम्पद्यते चरंश्चरैवेति, इति।।

जो मनुष्य निरन्तर गतिशील रहता है, देवता भी उसकी सहायता करते हैं। मनुष्य का भाग्य उसके अपने हाथ में है। जैसा और जितना कार्य मनुष्य करता है, उसके अनुरूप ही उसका भाग्य भी होता है। जो मनुष्य अकर्मण्य होकर सोया रहता है, उसका भाग्य भी मानों सोता है। परन्तु कार्यशील व्यक्ति का भाग्य उसे समुचित फल देता है। इसी बात को इन्द्र द्वारा रोहित से कहे गए कथन में स्पष्ट

किया गया है -

"आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।

शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगश्चरैवेति, इति।।

अर्थात् बैठे हुए का भाग्य बैठ जाता है, उठकर खड़े होने वाले का ऊँचा खड़ रहता है, सोने वाले का सोया रहता है व चलने वाले का भाग्य चलता है अतः चलते ही रहो। यह शुनः शेप का आख्यान 'चरैवेति चरैवेति' गाथाओं के नाम से भी प्रसिद्ध है।

ऐतरेय ब्राह्मण में स्त्रियों को भी समानाधिकार दिए गए हैं। उसे पुरुष की मित्र बतलाया गया है - 'सखा ह जाया'। पत्नी की म त्यु हो जाने पर श्रद्धा को पत्नी मानकर यज्ञ करने का विधान किया है - 'अपत्नीकः कथमग्निहोत्रं जुहोति? श्रद्धा पत्नी सत्यं तदित्युत्तमं मिथुनम्' अर्थात् बिना पत्नी के अग्निहोत्र कैसे करें? श्रद्धा पत्नी है, सत्य यजमान है। श्रद्धा और सत्य ये उत्तम युगल हैं।

वास्तव में हिन्दू धर्म में पत्नी को पुरुष की अर्द्धांगिनी बतलाया गया है। बिना पत्नी के पुरुष यज्ञ करने का अधिकारी नहीं होता - 'अयज्ञो एव यो पत्नीकः'। लेकिन यदि किसी की पत्नी की म त्यु हो जाए तो क्या वह सब कार्य करना छोड़ दे या दूसरा विवाह करे? ऐसी स्थिति होने पर यहाँ यह विधान किया गया है कि वह मनुष्य यह विश्वास रख कर कि यद्यपि उसकी पत्नी की भौतिक रूप से म त्यु हो गई है तथापि उसकी प्रेरणा स्रोत के रूप में वह उसी के साथ विद्यमान है, अपने कार्य करता रहे। उनसे विमुख न हो जाए।

दूसरे शब्दों में, वास्तव में इस पंक्ति में जीवन की सफलता का सार निहित है। मनुष्य के लिए अपना जीवन यापन करना ही अग्निहोत्र है। यदि वह रागात्मकव त्ति (श्रद्धा) और मन, वचन और कर्म की अकुटिलता (सत्य) से युक्त होकर कोई भी कार्य करता है तो अवश्य ही सफलता प्राप्त करता है। कोई भी मनुष्य कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व लक्ष्य निर्धारित करता है यदि वह अपने लक्ष्य प्राप्ति के प्रति विश्वस्त है और पूर्ण सत्यता (शक्ति) से कार्य करता है तो कोई कारण नहीं कि वह सफल न हो पाए। यही अग्निहोत्र है, यही सत्य और श्रद्धा है।

इस प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण के आख्यान जीवन सम्बन्धी बहुमूल्य तत्त्वों से ओत-प्रोत हैं। इन आख्यानों के माध्यम से सरल, सरस, रोचक तथा सारगर्भित भाषा से मुनष्यों को उपदेश दिया गया है जो उसे प्रगति के पथ पर अग्रसर कर सकता है।

कौषीतकि ब्राह्मण :-

ऋग्वेद का दूसरा ब्राह्मण कौषीतकि ब्राह्मण है। इसे शांखायन ब्राह्मण भी कहते है। इसमें ३० अध्याय हैं। इस पर मौलिक रूप से ऐतरेय ब्राह्मण का प्रभाव द ष्टिगोचर होता है। इसका भी मुख्य विषय सोमयाग ही है। इसके पहले छः अध्यायों में अन्य यज्ञों का वर्णन है तथा ७ से ३० अध्याय तक अग्निहोत्र, दर्शपौर्णपास, चातुर्मास्य आदि सोमयागों का ही वर्णन है जो ऐतरेय ब्राह्मण से मिलता-जुलता है। लेकिन इस ब्राह्मण के वर्णन कुछ अधिक विस्त त हैं। यह ऐतरेय ब्राह्मण से परवर्ती प्रतीत होता है।

'ऐतरेय ब्राह्मण' के अन्तिम दस अध्यायों की विषय-सामग्री कौषीतकि में नहीं मिलती जिसके कारण प्रो० वेबर का कथन है कि ये अध्याय 'ऐतरेय ब्राह्मण' में बाद में प्रक्षिप्त हुए हैं।

पं. भगवद्दत्त का मत है कि कौषीतकि एवं शांखायन ब्राह्मण वास्तव में अलग-अलग ग्रन्थ हैं। इन्होंने प थक् प्रकाशित शांखायन ब्राह्मण का उल्लेख करते हुये विवेचन प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ में भी कौषीतकि की ही भाँति तीस अध्याय हैं। इन दोनों ब्राह्मणों में वास्तविक भिन्नता नगण्य है। वर्ण्य-विषय की द ष्टि दो दोनों एक ही प्रतीत होते हैं। इसीलिये परम्परया इन्हें एक ही माना जाता

रहा है।

कौषीतकि के प्रणयनकाल में समाज में मांसाहारिता के विरूद्ध उदीयमान संस्कारों का सम्यक् परिचय मिलता है, क्योंकि ग्रन्थ में मांसाहार के विरुद्ध घ णा का भाव स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त दिखायी देता है। उस समय समाज में मांस-भक्षण को गर्हणीय समझा जाता था। इस ग्रन्थ में कहा गया है कि पशु परलोक में जाकर मनुष्यों (यज्ञकर्त्ताओं) को खा जाते हैं। इस ब्राह्मण के अध्ययन से स्पष्ट है कि इस का व्यापक वर्चस्व था, क्योंकि अन्य ब्राह्मणों की अपेक्षा कौषीतकि के प्रभूत उद्धरण विभिन्न ग्रन्थों में उद्ध त मिलते हैं। तत्कालीन समाज में इनकी व्यवस्थाओं की बड़ी मान्यता परिलक्षित दिखाई देती है। कौषीतकि में आये अनेक स्थल अतिसम द्ध, परमोन्नत आध्यात्मिक चेतना के अमूल्य निदर्शन हैं। उदाहरणार्थ, यह कहा गया है कि बोलते समय मनुष्य सांस नहीं लेता है, क्योंकि भाषणक्रिया में मानव प्राणों की आहुति देता है तथा जब मनुष्य श्वास लेता है तो वह भाषण नहीं करता, क्योंकि श्वसन क्रिया के मध्य वह प्राणों में वाणी की आहुति देता है।

इस प्रकार की अम तमयी आहुतियाँ हैं जिनका उत्सर्ग जाग्रत्, स्वप्नावस्था एवं सुषुप्ति में अजस्र रूप से मनुष्य करता रहता है।

कौषीतकि में अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास आदि यागों एवं चातुर्मास्यों का विशद रूप से प्रतिपादन किया गया है। विभिन्न प्रकार के सोमयागों एवं इतर यागों का सविस्तर निरूपण मिलता है। कौषीतकि को 'कडोह' अथवा 'कहोल' के नाम से भी अभिहित किया गया है। आश्वलायन ग ह्यसूत्रों में इसका उल्लेख किया गया है। इस ब्राह्मण को सर्वप्रथम लिण्डनर ने सन् १८८७ ई. में प्रकाशित किया था। आर्थर बेरेडेल कीथ ने अपने वैदुष्यपूर्ण सम्पादन के साथ इसे सन् १६२० ई. में प्रकाशित किया था।

यजुर्वेदीय ब्राह्मण ग्रन्थ :-

यजुर्वेद के भी दो ब्राह्मण ग्रन्थ प्राप्त होते हैं (१) शुक्ल यजुर्वेद का शतपथ ब्राह्मण और (३) क ष्ण यजुर्वेद का तैत्तिरीय ब्राह्मण।

(१) शतपथ ब्राह्मण :-

शतपथ ब्राह्मण शुक्ल यजुर्वेद से सम्बन्धित है। इसमें १०० अध्याय हैं। सम्भवतः १०० अध्याय होने के कारण ही इसे शतपथ कहा जाता है। महत्त्व की द ष्टि से यह समस्त वैदिक साहित्य में ऋग्वेद के पश्चात् दूसरे स्थान पर आता है। यह सभी ब्राह्मण ग्रन्थों में परवर्ती है। इसका प्रतिपाद्य विषय तथा भाषा शैली इसका अर्वाचीन होना प्रमाणित करते हैं।

वाजसनेयी संहिता की भांति इस ब्राह्मण ग्रन्थ की भी दो शाखाएँ प्राप्त होती हैं - काण्व और माध्यन्दिन। काण्व शाखा में १०१ अध्याय हैं जो १८ काण्डों में विभक्त हैं जबकि माध्यन्दिन शाखा के अन्तर्गत १०० अध्याय हैं जो १४ काण्डों में विभक्त हैं। इन दोनों में से माध्यन्दिन शाखा ही प्रचलित है।

माध्यन्दिन शाखा के पहले ६ काण्ड तो वाजसनेयी संहिता के पहले १८ अध्यायों पर टीका मात्र हैं। ये ६ काण्ड बाद के पाँच काण्डों के अधिक प्राचीन हैं। प्रथम से लेकर पाँच काण्ड तक विषय की द ष्टि से समान हैं इनमें याज्ञवल्क्य को गुरु रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। छः से नौ काण्ड तक अग्निष्टोम का वर्णन है। इन काण्डों में याज्ञवल्क्य का नाम प्राप्त नहीं होता बल्कि एक दूसरे आचार्य शाण्डिल्य का नाम मिलता है। यही आचार्य शाण्डिल्य दसवें काण्ड में वर्णित 'अग्निरहस्य' के भी उपदेशक हैं। ११ से १३ काण्ड तक उपनयन, स्वाध्याय, अन्त्येष्टि सम्बन्धी क्रियाओं, अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध आदि यज्ञों का वर्णन है। १४ वें अध्याय में प्रवर्ग्य अर्थात् संन्यास लेने का वर्णन है। इस काण्ड के अन्त में दार्शनिक तत्वों से भरपूर ब हदारण्यकोपनिषद् है। यहीं पर अन्त में याज्ञवल्क्य को शतपथ

ब्राह्मण का रचयिता बतलाया गया है।

याज्ञिक विधि विधानों का इस ब्राह्मण में पूर्ण प्रकर्ष मिलता है। इसमें यज्ञ तथा उसके विधि विधानों का आध्यात्मिक वर्णन किया गया है। यह ब्राह्मण ग्रन्थ पाश्चात्त्य विद्वानों की ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रति कही गई कटूक्ति 'यज्ञसम्बन्धी बकवाद' का पूर्ण रूप से खण्डन कर देता है। इस प्रसङ्ग में शतपथ ब्राह्मण का 'अग्निहोत्रावयवोपासना प्रकारः' अंश (११.३.१)' दर्शनीय है जिसमें अग्निहोत्र की आध्यात्मिक व्याख्या सहज, सुन्दर, मार्मिक और रोचक ढंग से की गई है।

आख्यान साहित्य की द ष्टि से भी शतपथ ब्राह्मण अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें पुरूरवा-उर्वशी, दुष्यन्त-शकुन्तला, जलप्लावन, वाणी और सोम, वसिष्ठ और विश्वामित्र सम्बन्धी आख्यान प्राप्त होते हैं। लौकिक साहित्य के कवि कालिदास ने इसी ब्राह्मण में प्राप्त पुरूरवा और उर्वशी के आख्यान पर आधारित 'विक्रमोर्वशीयम्' तथा दुष्यन्त और शकुन्तला के आख्यान पर आश्रित 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नामक दो नाटकों की रचना की। शतपथ ब्राह्मण में जलप्लावन, मनु तथा मत्स्यावतार की कथा बड़े ही मार्मिक व सरस ढंग से दी गई है। प्रलय कालीन बाढ़ आने पर उसी मत्स्य ने जिसे भगवान् मनु ने पाला पोसा था, मनु की रक्षा की। यह कथा इसी रूप में 'अवेस्ता' तथा 'बाइबिल' में भी प्राप्त होती है। जयशंकर प्रसाद द्वारा रचित छायावादी महाकाव्य 'कामायनी' भी शतपथ ब्राह्मण से ही प्रेरित है।

शतपथ ब्राह्मण में सर्वप्रथम सांख्य दर्शन के आचार्य आसुरि, कुरुपति, जनमेजय तथा जनक उपाधिधारी राजाओं का उल्लेख भी मिलता है। यहीं पर प्रथम बार बौद्ध साहित्य में प्राप्त होने वाले अर्हत्, श्रमण और प्रतिबुद्ध जैसे शब्दों का प्रयोग हुआ है, यद्यपि इन शब्दों का अर्थ उस समय तक रूढ़ नहीं हो पाया था।

शतपथ ब्राह्मण में प्राप्त भौगोलिक वर्णनों से ज्ञात होता है कि उन दिनों कुरुपा चाल ब्राह्मण सभ्यता के केन्द्र बन चुके थे। इसमें ऐतिहासिक तथ्य भी प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते हैं। इस ग्रन्थ में दिए गए विधि विधानों एवं आख्यानों से तत्कालीन सामाजिक जीवन एवं नैतिक स्तर का परिचय भी मिलता है। भाषाशास्त्र की द ष्टि से भी यह ब्राह्मण महत्त्वपूर्ण है क्योंकि भाषा के विकास का अध्ययन इसकी भाषा के माध्यम से किया जा सकता है। सांस्क तिक एवं धार्मिक द ष्टि से भी यह ब्राह्मण बहुत उपयोगी है। इसकी शैली भी सरल, सरस तथा प्रसाद गुणमयी होने के साथ - साथ ओजस्विनी व प्रभावशालिनी भी है।

इस प्रकार वर्ण्य विषयों के विस्तार, विचार परम्परा, आख्यान उपाख्यान, ऐतिहासिक, भौगोलिक, सामाजिक, सांस्क तिक, धार्मिक तथा दार्शनिक विवरणों के कारण शतपथ ब्राह्मण सभी ब्राह्मण ग्रन्थों का शिरोमणि स्वीकार किया जा सकता है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण :-

तैत्तिरीय ब्राह्मण क ष्ण यजुर्वेद से सम्बन्ध रखता है। रचनाकाल की द ष्टि से यह प्राचीनतम प्राप्य ब्राह्मण ग्रन्थ माना जा सकता है। इसका स्वरयुक्त होना तथा इसकी शब्दावली और वाक्य रचना भी इसे प्राचीनतम प्रमाणित करती हैं।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में तीन काण्ड हैं। वास्तव में यह क ष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता का परिशिष्ट सा ही जान पड़ता है। यह उससे किसी भी तरह भिन्न नहीं है। तैत्तिरीय संहिता में दिए गए यज्ञों के प्रयोग की विधि का यह विस्तारपूर्वक वर्णन करता है। इसमें कुछ ऐसे यज्ञों का वर्णन भी है जो तैत्तिरीय संहिता में प्राप्त नहीं होते जैसे पुरुषमेध'।

तैत्तिरीय ब्राह्मण के तीन काण्डों में अग्न्याधान, वाजपेय, सोम, राजसूय, सौत्रामणि, पुरुषमेध आदि यज्ञों के वर्णनों के साथ - साथ चतुर्वर्ण और चतुर्विध आश्रमों की व्याख्या और उनके कर्तव्यों

का विस्त त विवेचन भी है। शतपथ ब्राह्मण की अपेक्षा इसका महत्त्व काफी कम है।

'तैत्तिरीय ब्राह्मण' में ऋग्वेद के कुछ प्रश्नों का उत्तर भी वर्णित मिलता है। उपनिषदों में वर्णित दार्शनिक महत्त्व के विषय भी यहाँ वर्णित मिलते हैं, किन्तु इन सभी वर्णनों की उपादेयता के पीछे यज्ञविधान ही प्रमुख है। त तीय काण्ड में नक्षत्रेष्टि का वर्णन किया गया है। त तीय काण्ड के चतुर्थ प्रपाठक में 'पुरुषमेध' के पशुओं का अभिधान है। इस काण्ड के अन्तिम तीन प्रपाठक 'काठक' के अभिधान से यजुर्वेदियों द्वारा अभिहित किये जाते हैं। आचार्य पंडित बलदेव उपाध्याय के मतानुसार संभवतः यह काठक शास्त्रीय ब्राह्मण का अंश रहा हो तथा किसी उद्देश्य-विशेष से यहां संग हीत किया गया हो।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी यज्ञों का विशद विवेचन किया गया है। यह ब्राह्मण ग्रन्थ पुराणों के लिए उपजीव्य एवं आकर स्रोत सिद्ध हुआ है; क्योंकि पुराणों के अनेक आख्यानोपाख्यान एवं इतर वर्ण्यवस्तु यहीं से प्रेरणा-प्राप्त हैं। 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' में अनेक कथाएं वर्णित हैं जैसे, अहल्या, शुनःशेप, नचिकेता, प्रजापति कन्याएं तथा सोमकथा आदि। इनमें शुनः शेप की तथा अतिमहत्त्वपूर्ण है। यम और नचिकेता की कथा का वर्णन अत्यन्त विशद एवं व्यापक ढंग से किया गया है।

प्रोफेसर डा. सूर्यकान्त ने इस ब्राह्मण में आये कतिपय अंशों को 'काठक ब्राह्मणसंकलनम्' के नाम से प्रकाशित किया है। क ष्ण यजुर्वेद की अन्य शाखाओं, कठ एवं मैत्रायणी का कोई स्वतन्त्र ब्राह्मण उपलब्ध नहीं होता। 'शतपथ ब्राह्मण' के बाद तैत्तिरीय ब्राह्मण अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें यज्ञ-कर्मकाण्ड का सांगोपांग विवेचन उपन्यस्त है।

सामवेदीय ब्राह्मण ग्रन्थ :-

पंचविंश :-

इस ब्राह्मणग्रन्थ में 'उद्गाता' नामक ऋत्विक् के कार्यकलाप विस्त त रूप से वर्णित हैं। विविध यज्ञों एवं अनुष्ठान-पद्धतियों का विशद विवेचन इसका प्रमुख विषय रहा है। एक दिन से लेकर सहस्रों वर्षों तक चलने वाले यागों का विवरण देने एवं इतर विषय व्यापकत्व के कारण इसका 'महाब्राह्मण' नाम पूर्णतः चरितार्थ हो जाता है।

द्वितीय प्रपाठक में त्रिव त्, त तीय प्रपाठक में प चदश एवं सप्तदश आदि सोमों का विवेचन किया गया है। चौथे तथा पांचवें प्रपाठकों में सभी सत्रों के प्रक तिस्वरूप एक वर्ष तक चलने वाले 'गवामयन' याग का वर्णन किया गया है। छठे प्रपाठक से लेकर नवें प्रपाठक तक एकाह एवं अहीन यागों के प्रक तिभूत ज्योतिष्टोम, उक्थ्य एवं अतिरात्र का विवरण अंकित है। नवें प्रपाठक के मध्य भाग से अन्त तक सोम प्रायश्चित्तों का विधान बताया गया है। दसवें प्रपाठक से पन्द्रहवें प्रपाठक तथा द्वादशाह यागों का विवरण दिया गया है। सोलहवें प्रपाठक से उन्नीसवें प्रपाठक तक एकाह यागों का विवरण अंकित किया गया है। बीसवें से लेकर बाईसवें प्रपाठक तक अहीन यागों का वर्णन किया गया है। तेईसवें से लेकर पचीसवें प्रपाठक तक तेरह दिन के सत्रों से लेकर सहस्रों वर्षों तक सम्पन्न होने वाले सत्रयागों की अनुष्ठान विधियाँ अंकित हैं। इनमें हजारों वर्ष के 'प्रजापति' एवं 'विश्वस ज' नामक सत्र प्रमुख हैं।

सामवेदीय ग्रन्थ होने के कारण साम गान एवं सोम यागों का विशिष्ट रूप से प्रतिपादन करना ही इसका प्रधान विषय है। यज्ञ के सम्बन्ध में आये विभिन्न मतमतान्तरों का भी विशद उल्लेख इसमें किया गया है। यज्ञों के विवेचन की द ष्टि से इस ग्रन्थ का अपना प थक् महत्त्व है। इस ग्रंथ का प्रकाशन दो भागों में सायण भाष्य सहित 'विब्लियोथिका इण्डिका' में श्री आनन्दचन्द्र वेदान्त-वागीश द्वारा १८७०-१८७४ ई. में किया गया।

'षड्विंशब्राह्मण' सामवेद का दूसरा महत्त्वपूर्ण ब्राह्मण है। षड्विंशनाम का अर्थ ही 'छब्बीसवाँ' है। यह नामकरण इसलिए है, क्योंकि यह प चविंश ब्राह्मण (पचीसवें) अर्थात् ताण्ड्य ब्राह्मण के ठीक

बाद आता है तथा प चविंश ब्राह्मण का ही आगे का पूरक अंश है। 'षड्विंश' ब्राह्मण की विषयवस्तु को देखने से यह धारणा पुष्ट होती है, क्योंकि इसके अन्तिम भाग को छोड़कर जिसमें शुभाशुभ का प्रतिपादन है, शेष समग्र ग्रन्थ में अनुष्ठानों एवं क्रियाओं के विवेचन से यही प्रतीत होता है कि यह ताण्ड्य अर्थात् प चविंश के आगे का परिशिष्ट भाग है। इस प्रकार षड्विंश के छः अध्याय प चविंश के आगे का परिशिष्ट भाग हैं। इस प्रकार षड्विंश के छः अध्याय प चविंश के बाद के समन्वित अध्याय मात्र प्रतीत होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व में 'षड्विंश' में केवल पांच अध्याय थे, और अशुभ एवं उत्पात-शान्ति हेतु प्रायश्चित्तादि क्रियाओं सम्बन्धी छठा अध्याय बाद में जोड़ दिया गया। ऐसी धारणा इसलिये बनती है कि केवल प चम अध्याय ही एक ऐसा अध्याय है जिसके अन्त में 'इति' शब्द का प्रयोग मिलता है। इस पर सायण ने अति समीचीन टीका की है कि 'इति' शब्द अध्याय की समाप्ति का सूचक है -

'इतिशब्दो ध्याय परिसमाप्त्यर्थः।'

यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान पाँचवें अध्याय के अन्त तक का समूचा विषय एक अध्याय था जो कि महाब्राह्मण का छब्बीसवाँ अध्याय (षड्विंश) था। 'षड्विंश' का अन्तिम अध्याय इस प्रकार आरम्भ होता है, अथातो द्भुतानां कर्मणां शान्ति व्याख्यास्यामः। छठें अध्याय में अद्भुत कर्मों की शान्ति हेतु जो क्रियायें बतलायी गयी हैं उन्हें देखकर यह जिज्ञासा अवश्य होती है कि क्या इन क त्यों को ब्राह्मणग्रन्थ का वर्ण्य-विषय माना जाये; किन्तु क्योंकि मन्त्रों एवं साम के साथ ही अग्नि में आहुतिविधान था, अतः इन विविध प्रायश्चित्त कर्मानुष्ठानों का वर्णन गौण प्रक ति के वैदिक यागों के प्रतिपाद्य विषय के रूप में सर्वथा समीचीन ही प्रतीत होता है।

'षड्विंश, के अध्याय खण्डों में विभक्त हैं। प्रथम अध्याय में सात खण्ड हैं। प्रथम एवं द्वितीय खण्ड में 'सुब्रह्मण्या' देवता का वर्णन है। ग्रन्थारम्भ में ब्रह्माण्ड से 'ब्रह्मा' एवं 'सुब्रह्मा', का उद्भव बताया गया है। द्वितीय खण्ड में 'सुब्रह्मण्या' का गरिमागान है तथा ब्राह्मण ने यजमान को यह परामर्श दिया है कि 'सुब्रह्मण्या जैसे ऋत्विक् का वरण करना चाहिए जो कि क ताक त की शान्ति के लिये प्रायश्चित्त क त्यों का भी ज्ञाता हो। द्वितीय अध्याय में भी सात खण्ड हैं। त तीय अध्याय में नौ खण्ड हैं। पाँच से नौ तक के खण्डों में अभिचार यागों का वर्णन है। चतुर्थ अध्याय में छः तथा पंचम में सात खण्ड हैं। छठे अध्याय में बारह खण्ड हैं। इसमें अद्भुत शान्ति क्रियायों का सविस्तर विवरण है। इसके अन्तर्गत दिव्याद्भुत, भवनाद्भुत एवं जलाद्भुत आदि उत्पातों का वर्णन है। इनकी शान्ति के लिये विधियाँ भी बतलायी गयी हैं। खण्ड एक में १००८ पलाशखण्डों की आहुति वर्णित है। इन्द्र, यम, वरुण, धनद, अग्नि, वायु, सोम एवं विष्णु के स्वस्तिवाचन में आठ श्लोक अभिहित हैं। खण्ड दो में देवों और असुरों में द्वन्द्व का वर्णन है। देवतागण प्रजापति के पास मार्गदर्शन हेतु पहुँचते हैं जिसकी सहायता से देवगण असुरों पर विजय प्राप्त करते हैं। इस शान्ति होम में आठ देवों को समर्पित मन्त्रों के उच्चारण सहित आठ द्रव्यों की आहुति का वर्णन है। इस ब्राह्मण ग्रन्थ में दैवी उत्पातों में भूकम्प, अकाल, फूल न फूलने, मादा हाथी के डूबने, प्रासाद के भग्न होने आदि का वर्णन तथा प्रायश्चित्त में शान्ति की विधियाँ बतायी गई हैं।

'षड्विंश ब्राह्मण' का सायणभाष्य सहित प्रकाशन श्री सत्यव्रत सामश्रमी द्वारा सन् १८७३ ई. में किया गया था। तदनन्तर श्री जीवानन्द विद्यासागर ने 'देवताध्याय ब्राह्मण' सहित 'षड्विंशब्राह्मण' को सम्पादित कर एक भाग में १८८१ ई. में प्रकाशित किया। इन दोनों ही प्रकाशनों के बहुत पहले ए. वेबर ने १८५६ ई. में पाँचवें प्रपाठक को जिसे कि 'अद्भुत ब्राह्मण' की संज्ञा दी गयी है जर्मन भाषा में अनूदित करते हुए सम्पादित व प्रकाशित किया था। इसके अतिरिक्त हरमन फ्रीड्रिक ईलसिंग ने 'षड्विंश ब्राह्मण' की रोमन लिपि में व्याख्या, जिसे उन्होंने विज्ञानयानभाष्य कहा है, के साथ अत्यन्त उपयोगी प्रकाशन लीडेन से सन् १९०८ ई. में किया था। डब्लू, बी. बोली ने सन् १९५६ ई. में ईलसिंग के संस्करण के आधार पर इस ग्रन्थ का उत्तम कोटि का अंग्रेजी रूपान्तरण किया था। सन् १९८३ ई. में रामचन्द्र शर्मा ने इसे सम्पादित करते हुए केन्द्रीय संस्क त विद्यापीठ, तिरुपति से प्रकाशित किया।

सामविधान ब्राह्मण :-

'सामविधान' सामवेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों की श्रेणी में त तीय अतिमहत्त्वपूर्ण ब्राह्मणग्रन्थ है। सामवेद के प्रथम दो ब्राह्मणग्रन्थ, 'ताण्ड्य' एवं 'षड्विंश' अन्य संहिताओं के ब्राह्मणों की तरह अपने-अपने निर्धारित विषय-सीमा में व्यवस्थित हैं, किन्तु सामविधान ब्राह्मण प्रायः अपनी वर्ण्यवस्तु की सीमा का अतिक्रमण करता है। यज्ञ कर्मकाण्डों के स्थान पर इस ग्रन्थ में जादू-टोना, शत्रु-उच्चाटन तथा उपद्रवों को शान्त करने आदि विषयों का भी प्रतिपादन किया गया है। अतएव प्रथम दो ग्रन्थों की अपेक्षा इसमें पर्याप्त विषयान्तर-बाहुल्य है। इसकी विषय सामग्री प्रायेण धर्मशास्त्रों में वर्णित सामग्री के अनुरूप है। इस ब्राह्मण में तीन प्रपाठक हैं। ये प्रपाठक खण्डों में विभक्त हैं। प्रथम एवं द्वितीय प्रपाठक में आठ-आठ खण्ड तथा त तीय प्रपाठक में नौ खण्ड हैं। प्रथम प्रपाठक के आठ अनुवाकों में से चार अनुवाकों में क ताक त हेतु प्रायश्चित्तादि का वर्णन किया गया है। द्वितीय प्रपाठक में स्त्रीवशीकरण, मारण, मोहनादि काम्य कर्मों की विधि बतायी गयी है। त तीय प्रपाठक द्वितीय प्रपाठक का पूरक भाग है, किन्तु इसी में अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्ण्य श्रौत क्रियाओं-अनुष्ठानों आदि का उल्लेख किया गया है। त तीय प्रपाठक के आठवें अनुवाक् में अपुनर्भव प्राप्त करनेहेतु रात्रिव्रत का विधान बताया गया है। जन्म-मरण के बन्धनचक्र से मुक्ति पाने के लिए इस अपुनर्भव क्रिया की विधि बतायी गयी है। इसी प्रपाठक में ही अनुष्ठानकर्ता पर दिव्य शक्तिपात हेतु क्रियाएँ भी अभिहित हैं। त तीय प्रपाठक के अन्तिम भाग में यह कहा गया है कि अपनी अपनी रुचि के अनुसार व्यक्ति क्रियाओं का अनुष्ठान कर सकते हैं। साथ-साथ यह भी कथन है कि समस्त वैदिक शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त गुरुकुल से प्रस्थान करने के ठीक पूर्व ब्राह्मण ब्रह्मचारी को सामविधान की शिक्षा दी जानी चाहिए। इस ग्रन्थ में उन आचार्यों की परम्परा भी दी गयी जिन्होंने इन गुप्त विधियों का ज्ञान भावी पीढ़ी के लिए प्रदान किया है। इस प्रकार इस ब्राह्मण-ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय में श्रौत कर्मकाण्ड, जादूटोना के प्रयोग, काम्य अनुष्ठान जो एक दिन से लेकर अनेक वर्षों तक के यागों में सम्पादनीय हैं, सब मिश्रित हैं। इस ग्रन्थ में साम गानों का प्रयोग विशुद्ध यज्ञानुष्ठानों के अतिरिक्त उक्त क्रियाओं के सम्पादन में किया गया है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सामविधान का उक्त वस्तुविषय कोई अपवाद स्वरूप नहीं है, ऋग्विधान एवं अथर्व परिशिष्ट के भी सामविधान जैसे ही प्रतिपाद्य विषय हैं, किन्तु उन्हें ब्राह्मण ग्रन्थ की संज्ञा नहीं दी गयी है। इस ग्रन्थ पर लिखे गये भाष्यों से प्रतीत होता है कि सामविधान का प्रणयन साम ऋचाओं के प्रयोग के निमित्त उन लक्ष्यों एवं उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु किया गया है जो लक्ष्य एवं उद्देश्य एक दिन से लेकर सहस्र वर्षों में सम्पादनीय यागों द्वारा प्राप्त किये जाते थे। इन अर्थसाध्य कठिन क्रियाओं को वे ही कर सकते थे जो कि इनके अधिकारी थे।

समाज में ऐसे भी व्यक्ति हैं जो यज्ञ करने के न तो अधिकारी होते हैं तथा न उनके पास सामर्थ्य और साधन ही हैं, किन्तु वे स्वर्गादि लक्ष्यसिद्धि की कामना अवश्य करते हैं। इस ब्राह्मण ग्रन्थ की रचना ऐसे ही लोगों के लिये की गयी थी जिससे कि वे इन अनुष्ठान-विधानों का अध्ययन कर सकें। इसीलिये इसका सामविधान नामकरण किया गया है अर्थात् वह ग्रन्थ जिसमें क्रियाओं में सामों के प्रयोग की विधि बतलायी गयी है। इस ग्रन्थ में अनेक व्रतों का विधान भी बतलाया गया है। यह ग्रन्थ सामवेदीय ब्राह्मण होकर भी अथर्ववेद के ब्राह्मण की भाँति तान्त्रिक क्रियाओं आदि का प्रतिपादन करता है। इस द ष्टिकोण से सामविधान का विशिष्ट महत्त्व है।

सर्वप्रथम 'सामविधान ब्राह्मण' का सम्पादन एवं प्रकाशन ए. सी. बर्नेल द्वारा रोमन लिपि में लन्दन से १८७३ ई. में तथा देवनागरी लिपि में आचार्य सत्यव्रत सामश्रमी द्वारा १८६५ ई. में कलकत्ता में किया गया था। सायण के पूर्वाचार्यों में भरतस्वामी का इस ब्राह्मण ग्रन्थ पर भाष्य एक महत्त्वपूर्ण भाष्य है। भरतस्वामी ने सामवेद पर किये गये अपने भाष्य में अपना संक्षिप्त परिचय दिया है जिससे ज्ञात होता है कि वह कश्यप गोत्रीय नारायणदेव एवं यज्ञदा के पुत्र थे। उनके गुरु नागनाथ थे।

आर्षेय ब्राह्मण :-

सामवेदीय कौथुम शाखा का यह चतुर्थ ब्राह्मण ग्रन्थ है। यद्यपि 'आर्षेय' नाम से ही विदित होता है कि यह ग्रन्थ साम मन्त्रों के ऋषियों का विवरण प्रस्तुत करता है, किन्तु वास्तविकता में सामगान के ऋषियों का उतना अधिक वर्णन नहीं करता और न ही यह 'उद्गाता' ऋषियों की प्रामाणिक सूची ही प्रस्तुत करता है। इसमें साम गानों के प्रामाणिक नाम अवश्य दिये गये हैं। ये सामगान प्रायेण अपने प्रणेता ऋषियों के नामों को अभिव्यक्त करते हैं। इस प्रकार इसका नामकरण सार्थक ही है, क्योंकि इसका प्रतिपाद्य विषय सामगीतों के गायक ऋषियों से सम्बद्ध है।

सामवेद की चार प्रकार की सामगीतियों में से प्रथम दो उदाहरणार्थ, ग्रामगेय एवं आरण्यक ही आर्षेय की प्रमुख गीतियां हैं। सामवेद संहिता के सम्पूर्ण पूर्वार्चिक में ये दोनों ही सामगान व्यवहृत हैं। इस ग्रन्थ में 'ऊह' एवं 'ऊह्य' अर्थात् रहस्य का प्रतिपादन नहीं किया गया है, जो कि उत्तरार्चिक पर आध त है। 'आर्षेय ब्राह्मण' की वर्णन शैली सूत्र पद्धति पर है जो परवर्ती सामवेदीय ब्राह्मणग्रन्थों की विशिष्टता रही है। यह ग्रन्थ तीन प्रपाठकों में विभक्त है। प्रथम प्रपाठक में २८, द्वितीय प्रपाठक में २५, तथा त तीय प्रपाठक में २६ खण्ड हैं। पूर्व में 'देवताध्याय' तथा 'आर्षेय ब्राह्मण' एक ही ग्रन्थ में सम्मिलित थे जैसा कि 'देवताध्याय' के सूत्र 'स्वस्ति देवऋषिभ्यश्च' से स्पष्ट होता है। सायण का कथन है :-

'आर्षेयदेवताध्यायद्वयप्रतिपादितार्थवेदितुः फलं दुष्टतादुरुपयुक्तादित्यादि। तत्र वेदाध्ययने सावित्रीजपे च संभावितार्थदोषात् स्वस्ति भवतीति। अतएव देवऋषिभ्यश्च इति। देवा ऋषयश्च ये आर्षेय देवताभ्यां प्रतिपादितास्तत्सकाशाच्च स्वस्ति भवति।' यद्यपि सायण इन ब्राह्मणों की व्याख्या करते हुए स्पष्टतः आठ ग्रन्थ प थक् मानते हैं, किन्तु कई स्थानों पर यह धारणा अवश्य व्यक्त की है कि 'आर्षेय' एवं देवताध्याय' एक ब्राह्मण ग्रन्थ के अंग हैं। इसकी पुष्टि में वह देवताध्याय खण्ड में 'आर्षेय' का एक सूत्र सन्दर्भित करते हैं, 'पूर्वस्मिन् खंडे तत्सवितुरित्यस्यां सावित्र्यां गायत्रं गीतम् तस्य च देवता उक्ताः। आर्षेये च अयातयामत्वं ऋषयश्च प्रतिपादिताः। गानप्रकारस्य च लक्षणमुक्तं वा इत्यादिना।'

आगे भी निम्नांकित कारिका पर सायण की टीका विचारणीय है :-

ऋषीणां विषयज्ञो यः स शरीराद् विमुच्यते।
अतीत्य तमसः पारं स्वर्गे लोके महीयते।।

सायण लिखते हैं - 'यद्वा साम्नाम् ऋषिदेवतयोरुभयोरप्यपेक्षितत्वात् तदुभयप्रतिपादकार्षेय देवताध्यायाख्यग्रन्थद्वयस्य एकत्वाभिप्रायेण ऋषीणां विषयज्ञ इत्युपन्यासः। ऋषीणामित्युपलक्षणम्। देवतानां विषयज्ञस्याप्युक्तं फलमस्त्येवेत्यभिप्रायः.............. ' इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'देवताध्याय' एवं 'आर्षेय' को दो प थक् ग्रन्थों के रूप में स्वीकार कर चुके थे, अत एव अपने पूर्व मत का आग्रह वास्तविकता होते हुए भी वह छोड़ नहीं सके। इसी कारण उनका कथन है कि यहाँ 'ऋषि' शब्द का अर्थ 'देवता' भी है तथा यह कि 'ऋषि' का देवता अर्थ इसलिये है कि दोनों ही ब्राह्मणों में परस्पर एकरूपता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि बहुत समय तक यह धारणा रही है कि 'देवताध्याय ब्राह्मण' त तीय अध्याय के साथ समाप्त हो गया था। 'देवताध्याय ब्राह्मण' के त तीय एवं चतुर्थ अध्याय 'आर्षेय ब्राह्मण' के अंतिम अध्याय हैं। देवताध्याय उसका एक अध्याय मात्र था। यह ज्ञातव्य है कि ऋषियों और सामगान के देवताओं का ज्ञान छन्दोग का अभिन्न अंग है। 'ऋचा' तथा उस पर आध त गान दोनों के लिए ही देवता एवं छन्दस् एक थे, किन्तु गीति के उद्भावक ऋषि भिन्न-भिन्न थे। अतएव सामगानों के ऋषि यद्यपि इस ब्राह्मण ग्रन्थ के प्रमुख प्रतिपाद्य रहे, किन्तु देवता तथा सामगानों के संगीतात्मक छन्द 'देवताध्याय' नामक अध्याय के मुख्य वर्ण्य विषय रहे। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ जो अब 'आर्षेय'

तथा 'देवताध्याय' नाम से प थक्-प थक् रूप में जाना जाता है वस्तुतः आर्षेय ग्रन्थ ही था। यही कारण है कि 'देवताध्याय ब्राह्मण' में केवल ऋषियों का उल्लेख किया गया है। 'आर्षेय' तथा 'देवताध्याय' के अंतिम भाग के विषयसाम्य को देखते हुए यह निःसन्देह रूप से कहा जा सकता है कि 'देवताध्याय' एवं 'आर्षेय' एक ही ग्रन्थ में सम्मिलित थे, अन्यथा जहाँ केवल 'देवता' शब्द का उल्लेख किया जाना चाहिए था वहाँ 'ऋषि' शब्द का उल्लेख करना असंगत होगा। इस ब्राह्मण ग्रन्थ में आया हुआ वाक्यांश 'देव ऋषिभ्यश्च' (देवताध्याय ब्राह्मण) देवता एवं ऋषि को ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय के रूप में प्रस्तुत करता है। 'देवताध्याय का शीर्षक ही स्पष्ट कर देता है कि इस अध्याय में देवताओं का वर्णन अभीष्ट है। अतएव वर्णित परिस्थितियों के फलस्वरूप आठों सामवेदीय ब्राह्मण एक प्रमुख ब्राह्मण जिसे महाब्राह्मण कहा गया, के आठ अध्याय हैं। इसका 'महाब्राह्मण' नामकरण न केवल इस ग्रन्थ की विशालता के कारण है, अपितु इसमें वर्णित विषयों की विविधता एवं व्यापकता के कारण भी है।

सत्यव्रत सामश्रमी ने 'आर्षेय' ग्रन्थ का मूल पाठ सन् १८७४ में प्रकाशित किया था।

तदनन्तर, ए.सी. बर्नेल ने रोमन लिपि में सन् १८७६ में 'आर्षेय ब्राह्मण' का संस्करण सायण भाष्य के साथ निकाला था। केन्द्रीय संस्क त विद्यापीठ, तिरूपति से सन् १९८४ में वे. राम चन्द्र शर्मा ने सायणभाष्य सहित इस ग्रन्थ का प्रकाशन टिप्पणी आदि सहित किया है।

देवताध्याय अथवा दैवतब्राह्मण :-

'देवताध्याय ब्राह्मण' अथवा 'दैवत ब्राह्मण' सामवेदीय ब्राह्मणों में अति लघुकाय ग्रन्थ हैं। इस ग्रंथ में कुल तीन खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में २६, द्वितीय खण्ड में ११ और त तीय खण्ड में २५ कण्डिकाएं हैं। इस ग्रन्थ में छन्दों का विशिष्ट रूप से प्रतिपादन किया गया है। छन्दों के नामों के निर्वचन की भी सम्यक् जानकारी करायी गयी है। अतः इसे सामवेदी छन्दों का ग्रन्थ कहा जाता है। परवर्ती छन्दस् शास्त्र एवं भाषा-शास्त्र के लिए यह ब्राह्मण ग्रंथ उपजीव्य ग्रंथ के रूप में मान्य रहा है। इस प्रकार प्रथम खण्ड में सामदेवताओं, द्वितीय खण्ड में छन्दस् देवताओं तथा त तीय खण्ड में छंदों की निरूक्तियां ही इस ग्रंथ में प्रतिपादित की गयी हैं।

उपनिषद् ब्राह्मण :-

'उपनिषद् ब्राह्मण' दो ग्रन्थों का मिश्रित नाम है। प्रथम ग्रंथ 'छन्दोग्य ब्राह्मण' अथवा 'मंत्र ब्राह्मण' के नाम से जाना जाता है। इस ग्रन्थ में दो प्रपाठक हैं। प्रत्येक प्रपाठक में आठ-आठ खण्ड हैं। 'मंत्र ब्राह्मण' का विषय ग ह्य सूत्रों में प्रयुक्त मंत्रों को संकलित करना है। इसमें गर्भाधान, पुंसवन, विवाह आदि संस्कारों से सम्बद्ध मंत्र तथा भूत-बलि, आग्रहायणी कर्म, पिण्ड दान, देवबलि, होम, दर्शपौर्णमास आदि अनुष्ठानों से सम्बद्ध मंत्रों का विधान बताया गया है।

इसमें सम्मिलित दूसरा ग्रंथ 'छान्दोग्य उपनिषद्' है। इसमें आठ प्रपाठक हैं। इस ग्रंथ में उपनिषद् संबंधी विषयों का विस्त त विवेचन है। 'मंत्र ब्राह्मण' को सत्यव्रत सामश्रमी ने कलकत्ता से सन् १९४७ ई. में प्रकाशित किया था। दुर्गामोहन भट्टाचार्य ने कलकत्ता से ही सन् १९५८ ई. में छान्दोग्य ब्राह्मण का प्रकाशन किया था।

संहितोपनिषद् ब्राह्मण :-

साम मन्त्रों के गूढ़ रहस्यों का प्रतिपादन करने वाला यह ब्राह्मण ग्रन्थ एक विशिष्ट ग्रन्थ है। इसमें एक प्रपाठक है जो पाँच खण्डों में विभक्त है। इसमें सामवेद के विभिन्न सूत्र तथा सामतन्त्र आदि उपन्यस्त हैं। गान संहिता की विधि, स्तोम, अनुलोम, प्रतिलोम तथा अन्य प्रकार के स्वरों का विशद विवेचन किया गया है। सामगानों का विवेचन अतिवैज्ञानिक द ष्टि से किया गया है। सामगानों का विशद ज्ञान इसी ब्राह्मण ग्रन्थ से प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ में अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों के भी मंत्र उद्ध त किये गये हैं। इस पर सायण भाष्य के अतिरिक्त द्विराजभट्ट का भाष्य भी उपलब्ध है। ए.सी. बर्नेल ने इसका प्रकाशन बंगलौर से १८७७ ई. में किया था। तिरुपति से बे. राम चन्द्र शर्मा ने १९६५ ई. में

टिप्पणियों के साथ इसका उपयोगी संस्करण निकाला है।

वंश ब्राह्मण :-

'वंश ब्राह्मण सामवेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों में सर्वाधिक लघुकाय ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ तीन खण्डों में विभक्त है। इसमें प्रपाठक नहीं है। इस ग्रन्थ में सामवेदीय ऋषियों की वंश परम्परा का विवरण अंकित है। उस समय के समाज एवं वैदिक ऋषियों के जीवन के बारे में इस ग्रन्थ से पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है।

जैमिनीय ब्राह्मण :-

सामवेद की जैमिनीय शाखा का यह ब्राह्मण ग्रन्थ विषय वस्तु की द ष्टि से अति महत्वपूर्ण स्थान रखता है। अविकल रूप से सम्पूर्ण ग्रन्थ आज तक उपलब्ध नहीं हो सका है। इसके छिन्न-भिन्न भागों को एकत्र कर डॉ. ऑर्टल ने इसे सम्पादित किया। डॉ. कैलेण्ड ने जर्मन अनुवाद सहित इस ग्रन्थ का प्रकाशन कराया था। तदनन्तर, डा. रघुवीर ने इस ग्रन्थ के सम्पूर्ण भाग को १९५४ ई. में प्रकाशित किया। इस ब्राह्मण ग्रन्थ पर सायण का भाष्य उपलब्ध नहीं है। इस द ष्टि से डा. रघुवीर का प्रकाशन अत्यन्त उपादेय है। विविध यज्ञों एवं अन्य अनुष्ठानों का विनियोग सहित विवरण इस ग्रंथ में उपलब्ध है। इसमें यज्ञों के रहस्यों की जानकारी करायी गयी है। प्राणों की उत्पत्ति, मनस्, चक्षु, श्रोत्र, एवं वाणी की उत्पत्ति, प्रजापति की स ष्टि उनकी एक से अनेक होने की कामना, यज्ञ-स ष्टि, पशु-स जन सरीस प, मत्स्य आदि का स जन, लोक स ष्टि, विद्याओं की उत्पत्ति इन्द्र-स जन, ग्रीष्म, वर्षा, हेमन्त, वसन्त आदि ऋतुओं का स जन, अक्षर स ष्टि, अग्नि-स जन, प्रक ति विधान तथा विश्व की अति विशाल स ष्टियों का वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया है। उक्त समस्त वर्णन यागों की भूमिका के रूप में लिया गया है।

'प्रपंचहृदय' नामक ग्रन्थ में इस ब्राह्मण ग्रन्थ का विस्त त परिचय मिलता है। 'प्रप च हृदय' ग्रन्थ के अनुसार जैमिनीय ब्राह्मण में १३४८ खण्ड हैं। इसके अतिरिक्त इसके आरण्यक में प थक १५० खण्ड हैं। इस ग्रन्थ का नामकरण सामवेद के आचार्य व्यास के शिष्य जैमिनि के नाम पर हुआ है। जैमिनि का 'तलवकार' भी एक नाम था। अतः इसे तलवकार ब्राह्मण भी कहा जाता है।

अथर्ववेदीय ब्राह्मण :-

गोपथब्राह्मण :-

अथर्ववेद से सम्बद्ध मात्र एक ही ब्राह्मण उपलब्ध है, जो गोपथब्राह्मण है। पूर्वगोपथ एवं उत्तरगोपथ नामक दो भागों में यह विभक्त है। पूर्वगोपथ में पाँच एवं उत्तर गोपथ में छः प्रपाठक हैं। प्रपाठक कण्डिकाओं में बंटे हुए हैं। सम्पूर्ण गोपथब्राह्मण में कुल मिलाकर २५८ कण्डिकाएँ हैं। इस ब्राह्मण ग्रन्थ में पूर्व में १०० प्रपाठक रहे। यह संख्या बाद में न्यून हो गयी।

वैदिक वाङ्मय की परम्परा में अथर्ववेद के गोपथ ब्राह्मण का महत्त्वपूर्ण स्थान स्थान है। जिस प्रकार कालक्रम से वैदिक ज्ञानधारा विलुप्त विच्छिन्न होती हुई आज भी अपने कुछ अवशेषों द्वारा अपने चिरजीवित होने का तथा देदीप्यमान अतीत का प्रमाण दे रही है, इसी रूप में गोपथ ब्राह्मण की इस समय उपलब्धि समझनी चाहिये। यद्यपि वर्तमान में उपलब्ध ऐतरेय शतपथादि ब्राह्मणों की तुलना में यह सर्वाधिक उपेक्षित ब्राह्मण ग्रन्थ है ऐसा निश्चित रूप से उसके बहुसंख्य भ्रष्टपाठों, मूल संस्करणों की न्यूनताओं एवं इसके किसी भी भाष्य की अनुपलब्धि को देखकर कहा जा सकता है। महाभाष्य में 'नवधा अथर्वणः' कहकर अथर्ववेद की नौ शाखायें थीं ऐसा प्रकट किया गया है। इन सभी शाखाओं के अपने-अपने ब्राह्मण रहे होंगे, ऐसी पूर्ण सम्भावना है। परन्तु अथर्ववेद जिसे ब्रह्मवेद भी कहते हैं, उसका इकलौता जीवित ब्राह्मण होने के कारण गोपथ की उपादेयता एवं महत्त्व स्वतः सिद्ध है।

गोपथ ब्राह्मण के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर यह मानना होगा कि जिस शौनक शाखा वाला अथर्व आज उपलब्ध है उस शाखा का यह ब्राह्मण नहीं है। उपलब्ध गोपथ ब्राह्मण पैप्पलाद शाखा का है। पैप्पलाद शाखा का प्रथम मन्त्र 'शन्नो देवीरभिष्टये.... ' से प्रारम्भ होता है किन्तु शौनक शाखा में ऐसा नहीं। गोपथ ब्राह्मण में ''शन्नो देवीरभिष्टय इत्येवमादिं क त्वा अथर्ववेदमधीयते'' ऐसा कहा है इससे स्पष्ट पता चलता है कि यह पैप्पलाद शाखा वाले अथर्व का ही ब्राह्मण है।

ज्ञानकाण्ड वाला होने के कारण विषय की द ष्टि से अथर्ववेद का अन्तर्भाव प्रायः ऋग्वेद में ही हो जाता है अतः प्राचीन ग्रन्थों में 'त्रयो वेदाः' ऐसा कहने की परिपाटी है। प्रस्तुत ब्राह्मण ग्रन्थ में भी कतिपय स्थलों में तीन वेद बताये हैं किन्तु एक स्थल पर स्पष्ट रूप से अथर्व को मिलाकर चार वेद बताये हैं। यह अथर्व के प थक् अस्तित्व का प्रतिपादन उसकी अपनी महत्ता का ज्ञापन ही है, इस प्रकार गोपथ ब्राह्मण ने अथर्ववेद के महत्व को बढ़ाया है यह कहा जा सकता है।

इस ब्राह्मण में अथर्व का उल्लेख करते समय 'अथर्वाङ्गिरस्' शब्द का प्रयोग बार-बार देखा गया है। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि अङ्गिरस् ऋषि में ही अथर्ववेद का प्रकाश हुआ है।

यह गोपथ ब्राह्मण अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों की अपेक्षा बहुत अर्वाचीन प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ में कहीं भी उदात्तादि स्वरों का प्रयोग नहीं प्राप्त होता, तथा इसकी भाषा में वैदिक शब्दों एवं निपातों का भी उतना प्रयोग नहीं है। ग्रन्थ की भाषा शैली एवं वाक्य-विन्यास भी इस प्रकार का प्रतीत होता है कि इसकी रचना काल तक संस्क त भाषा की व्यापकता में न्यूनता आ चुकी थी, यह सब इसकी अर्वाचीनता का ही द्योतक है।

इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों के उद्धरण दिये गये हैं, जिन्हें कई स्थान पर ''तदप्येतद चोक्तम् इति ब्राह्मणम्'' कहकर प्रस्तुत किया गया है। इनमें सर्वाधिक उद्धरण ऐतरेय ब्राह्मण के हैं। इस प्रकार यह अन्य ब्राह्मणों की अपेक्षा अर्वाचीन है ऐसा प्रतीत होता है।

गोपथ ब्राह्मण का विषय :-

जैसा कि ब्राह्मण ग्रन्थों का मुख्य लक्ष्य यज्ञ निष्पत्ति, याज्ञिक-प्रक्रियाओं द्वारा विज्ञान के रहस्यों का उद्घाटन करना है तदनुसार इस ब्राह्मण ग्रन्थ में भी मुख्य प्रतिपाद्य याज्ञिक प्रक्रिया ही है। अथर्ववेद में आधि-व्याधि नाश एवं भैषज्य-कर्म का बाहुल्य है पर गोपथ में अथर्व के इस प्रमुख विषय को छुआ भी नहीं गया, इसका कारण ब्राह्मण ग्रन्थों की यज्ञ प्रतिपादन परिपाटी ही है। यज्ञ प्रतिपादन में बहुत सी आख्यायिकाओं एवं कण्डिकाओं के भाग तद्वत् अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों एवं श्रौत ग्रन्थों से लिये गये हैं, जिनमें अधिक भाग ऐतरेय ब्राह्मण का है। 'ओ३म्' की विवेचना या अन्य वर्णनों में इस ब्राह्मण ने व्याकरण तथा उपनिषद् से भी कुछ ऋण लिया है। इस प्रकार कुछ सुभाषितादि एवं अथर्व की प्रशंसा-परक आख्यान ही इस ब्राह्मण के अपने अंश कहे जा सकते हैं।

ग्रन्थ के पूर्वभाग के प्रारम्भ में ही 'ओ३म्' की महिमा विस्त त रूप से गाई गई है। ओ३म् के इस वर्णन में माण्डूक्य तथा छान्दोग्य उपनिषद् का बहुत सा अंश वर्त्तमान है। एक विशेषता यह है कि इस ब्राह्मण में ओम् को द्विवर्ण तथा चतुर्मात्र माना है। एकमात्रिक ''अ'' तथा द्विमात्रिक ''ऊ'' = ओ एवं म् ये चार मात्रायें हैं। इन चारों मात्राओं से जगत् के विभिन्न पदार्थों की उत्पत्ति बताई गई है, पर माण्डूक्य आदि उपनिषदों में तो इसे तीन ही मात्रा वाला बताया गया है। सम्भवतः माण्डूक्य के 'सो यमात्मा चतुष्पात्' इस वचन के द्वारा चतुष्पात् आत्मा को मानने के कारण ओ३म् को चतुर्मात्र मानना उचित समझा हो, इसी प्रसंग में ओम् की प्रक ति प्रत्ययादि के विषय में ३६ प्रश्न किये गये हैं तथा उनके उत्तर भी दिये गये हैं, जो बहुत ही रोचक हैं।

इस प्रकरण में ओंकार के सम्बन्ध में दो आलङ्कारिक मनोर जक आख्यायिकायें उद्घ त करते हुये यह भी सिद्ध किया गया है कि उच्चारण करते समय प्रत्येक मन्त्र से पूर्व ओ३म् को बोलना चाहिये।

द्वितीय प्रपाठक के प्रारम्भ में ही ब्रह्मचारी का महत्त्व तथा उसके कर्त्तव्यों का विवेचन बहुत ही उत्तमता से हुआ है। इन वर्णनों के मध्य में अथर्ववेद के प्रसिद्ध ब्रह्मचर्य सूक्त की ऋचाओं को पुष्ट्यर्थ उद्घ त किया गया है। यहां वर्णित ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों का वर्णन प्रमुख रूप से तैत्तिरीय उपनिषद् से तुलनीय है। इसी प्रकरण में ब्रह्मचारी को ग हपत्नी द्वारा भिक्षा न दिये जाने पर उस ग हपत्नी का पुण्य-कर्म और धनादि का नष्ट होना लिखा है, इस प्रकार ब्रह्मचारी को भिक्षा देना अत्यावश्यक है यह बताया गया है। आज के युग में यह बड़ी उत्तम सीख है। ब्रह्मचारी के लिये चारों वेदों का अध्ययन अत्यावश्यक है। अतः प्रत्येक वेद के पढ़ने के लिये बारह-बारह वर्ष बांट देने पर ४८ वर्ष का ब्रह्मचर्य आवश्यक है, यह बात भी इस प्रकरण में कही है।

इसके आगे अन्त तक यज्ञों का ही वर्णन है। बीच-बीच में यज्ञों के विभिन्न अवयवों का वर्णन करते समय आख्यायिकायें भी दी गई हैं। दर्शपौर्णमास तथा अन्य छोटे यज्ञों के साथ-साथ अग्निष्टोम आदि बड़े-बड़े सोमयागों की भी चर्चा है तथा उस सम्बन्ध में बहुत सी बातें आख्यायिकाओं के माध्यम से बताई गई हैं।

गोपथ ब्राह्मण में यथावसर ज्योतिष एवं खगोल विद्या की भी बातें आई हैं जिनसे कई वैदिक तथ्यों का महत्त्वपूर्ण उद्घाटन होता है।

ऋतु, संवत्सर तथा मासों का वर्णन इस ग्रन्थ में मिलता है। यहां ३, ६ अथवा ७ ऋतुयें भी मानी गई हैं। स्पष्टतः यह उस समय के प्रचलित विभिन्न मत हैं। इसी प्रसंग में १२ मासों की चर्चा भी हुई है। यद्यपि उनके नामों का विवरण इसमें नहीं है। बिना कोई नाम लिये १३वें अधिमास का भी वर्णन हुआ है अर्थात् १२ अथवा १३ मास के वर्ष का उल्लेख है।

ज्योतिष से सम्बन्धित एक प्रसंग यहाँ अत्यन्त उद्धरणीय है - एक स्थान पर 'फल्गुनी पौर्णमासी' का नाम लिया गया है इससे ज्ञात होता है कि चित्रा, विशाखादि नक्षत्रों के नाम से पूर्णमासी तथा मासों के नाम रखने की परम्परा तब प्रारम्भ हो चली थी।

इसी वाक्य का पूरा उद्धरण यह कहता है - कि फल्गुनी पौर्णमासी ही संवत्सर का मुख है। यह उद्धरण ज्योतिर्विदों के लिये अतीव ध्यातव्य है। आज तो वर्ष का प्रारम्भ फाल्गुन पौर्णमासी के अनन्तर होता है। यह उचित नहीं जंचता। जब से नये मास का प्रारम्भ हुआ है तब से ही नये वर्ष का प्रारम्भ मानना चाहिये। चैत्र का प्रारम्भ १५ दिन बाद तथा वर्ष का प्रारम्भ १५ दिन पूर्व होने में कोई औचित्य या सामंजस्य नहीं लगता पर गोपथ ब्राह्मण के इस महनीय वाक्य से यह संकेत मिलता है कि वर्ष का प्रारम्भ भी चैत्र माघ के प्रारम्भ के साथ ही अर्थात् फल्गुनी पौर्णमासी के ठीक अनन्तर माना जाता था। यही ज्योतिष की द ष्टि से तर्क संगत भी है। बाद के समय में १५ दिन की यह भूल कब से प्रारम्भ हुई, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

इस ग्रन्थ में एक स्थान पर उत्तरायण तथा दक्षिणायन का भी वर्णन है जो कि अन्य प्राचीन ग्रन्थों से तुलनीय है। इसमें ही एक यह भी उद्धरण है कि प थ्वी गोल है तथा घूमती है। सूर्य कभी छिपता नहीं अपितु प थिवी की ओट में पड़ जाता है।

गोपथब्राह्मण का प्रथम प्रकाशन हरचन्द्र विद्याभूषण ने सन् १८७० ई. में कलकत्ता में किया था। बाद में डी. गास्ट्रा ने जर्मनी से सन् १६१६ में तथा राजेन्द्रलाल मित्र ने सन् १८७२ में कलकत्ता से प्रकाशन किया। जिसका प्रोफेसर डॉ. सूर्यकान्त ने 'अथर्ववेद एवं गोपथब्राह्मण' नाम से हिन्दी अनुवाद किया है। १८६१ में श्री पं. जीवानन्द सागर ने भी कलकत्ता से इस ब्राह्मण का प्रकाशन किया था।

उक्त ब्राह्मण ग्रंथों के अतिरिक्त अन्य अनेक अनुपलब्ध ब्राह्मण ग्रंथों की सूची डॉ. र जना ने अपने ग्रंथ ''ब्राह्मणग्रन्थ-एक अनुशीलन'' में दी है। इनमें से कुछ के तो उद्धरण प्राप्त होते हैं, किन्तु अन्यों के तो मात्र नाम का उल्लेख मिलता है।

१. शाट्यायन ब्राह्मण :-

इसके अधिकांश उद्धरण ऋग्वेद तथा ताण्ड्यब्राह्मण के सायण भाष्य में मिलते हैं। कतिपय उद्धरण ब्रह्मसूत्र के शांकरभाष्य में मिलते हैं। जैमिनीय ब्राह्मण ग्रन्थ में भी अनेक उद्धरण मिलते हैं।

२. आह्वरक ब्राह्मण :-

यह चरक शाखा से सम्बद्ध ब्राह्मणग्रन्थ है जिसका संकेत चरणव्यूह में मिलता है।

३. कालवव्रि ब्राह्मण :-

इसका पुष्पसूत्र में उल्लेख किया गया है।

४. माल्लवि ब्राह्मण :-

यह सामवेदीय शाखा का ब्राह्मण है जिसका उल्लेख श्रौत ग्रन्थों, महाभाष्य एवं काशिका व त्ति में मिलता है।

५. चरक ब्राह्मण :-

यह यजुर्वेदीय चरक शाखा से सम्बद्ध है।

६. शैलालि ब्राह्मण :-

इसका उल्लेख महाभारत एवं काशिकाव त्ति में मिलता है।

७. हारिद्रविक ब्राह्मण :-

इस ग्रन्थ का उल्लेख चरणव्यूह में अंकित है। यह यजुर्वेदीय शाखा से सम्बद्ध था।

८. गालव ब्राह्मण :-

यह शुक्ल यजुर्वेदीय गालव शाखा से सम्बद्ध था, इसी कारण इसका नाम गालव है।

इन ब्राह्मणों के अतिरिक्त डॉ. वटक ष्ण घोष के ग्रन्थ से निम्नांकित ब्राह्मण ग्रन्थों के नाम की जानकारी मिलती है :-

१. कंकति	२. जाबालि	३. पैंगायनि	४. माषशरावि
५. मैत्रायणीय	६. रौरुकि	७. श्वेताश्वतर	८. काठक
६. खाण्डिकेय	१०. औरवेय	११. तुम्बरु	१२. आरुणेय
१३. सौलभ	१४. पराशर	१५. अध्वर्यु	१६. वल्लभी
१७. सात्यायनी।			

इन ब्राह्मणों के उद्धरण नहीं मिलते, मात्र इनकी नाम चर्चा हुई है। स्पष्ट है कि ये ब्राह्मण ग्रन्थ अपनी शाखा के प्रणेता आचार्यों के नाम से ही अभिहित हैं।

विषय वस्तु :-

ब्राह्मणों की विषयवस्तु को हम मुख्यतः दो श्रेणियों विधि और अर्थवाद में विभक्त कर सकते हैं।

विधि के अन्तर्गत अर्पूव विधि, नियम विधि और परिसंख्या विधि परिगणित की जाती हैं। ब्राह्मणों में वर्णित अपूर्व-विधि से अभिप्राय उस विधि से है जिसके विषय में अन्यत्र कुछ न कहा गया हो। नियम-विधि से अभिप्राय उस विधि से है जिसके अनुसार शास्त्रप्रतिपादित अनेक पक्षों में से एक ही पक्ष को ग्रहण करने का विधान हो तथा परिसंख्या विधि से अभिप्राय उस विधि से है कि जिसके विषय का ज्ञान तो पहले से विद्यमान हो पर विशिष्ट परिस्थिति में उसका परिगणन न किया गया हो।

'विधि' से तात्पर्य नियम या सिद्धान्त पक्ष से है और अर्थवाद का अभिप्राय व्याख्या, प्रशंसा अथवा अर्थ से है। ब्राह्मणों में प्रायः सर्वप्रथम प थक् - प थक् याज्ञिक प्रक्रियाओं को करने के नियम दिये जाते हैं और तत्पश्चात् याज्ञिक क्रियाओं तथा उनसे सम्बद्ध मन्त्र और प्रार्थनाओं की व्याख्याएँ तथा उन पर विचार-विमर्श किया जाता है। उदाहरणार्थ- शतपथ ब्राह्मण का प्रारम्भ दर्श और पूर्णमास यज्ञ को प्रारम्भ करने से एक दिन पूर्व यजमान द्वारा ली जाने वाली ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा से होता है। प्रतिज्ञा लेने वाला व्यक्ति आहवनीय और गार्हपत्य अग्नियों के बीच में उत्तराभिमुख खड़ा होकर जल का स्पर्श करता है। जल के स्पर्श करने का कारण यह है मनुष्य असत्य भाषण आदि करने के कारण यज्ञ की द ष्टि से अपवित्र होता है। 'जल स्पर्श द्वारा' आन्तरिक पवित्रता उत्पन्न होती या मिलती है क्योंकि जल, यज्ञ की द ष्टि से, पवित्र होता है। 'यज्ञ की द ष्टि से पवित्र होकर अब मैं प्रतिज्ञा करूँगा' ऐसा वह सोचता है क्योंकि जल वस्तुतः पवित्र करने वाला है। 'पवित्र जल के द्वारा पवित्र होकर अब मैं व्रत धारण करूँगा ऐसा वह मन में सोचता है और यही कारण है कि वह जल का स्पर्श करता है।

व्रतमुपैष्यन्नन्तरेणाहवनीयं च गार्हपत्यं च प्राङ् तिष्ठन्नप उपस्प शति। तद्यदप उपस्प शति। अमेध्यो वै पुरुषो यदन तं वदति, तेन पूतिरन्तरतः। मेध्या वा आपः। मेध्यो भूत्वा व्रतमुपायानीति। पवित्रं वा आपः। पवित्रपूतो व्रतमुपायानीति। तस्माद्वा अप उपस्प शति।

इतनी सरल प्रक्रिया और व्याख्या पर अनेक स्थानों पर विविध आचार्यों के मत इस द ष्टि से उपस्थित किये जाते हैं कि वह प्रक्रियाविशेष किस प्रकार से की जानी चाहिए। उदाहरणार्थ इसी उपर्युक्त प्रसंग में यह विवाद उठाया गया है कि प्रतिज्ञा करने से पहले यजमान को उपवास रखना चाहिए या नहीं यथा-'अब उपवास के विषय में (विचार प्रारम्भ होता है।) इस विषय पर आषाढ़ सावयस्य का एक ओर यह मत है कि व्रत का अर्थ ही उपवास करना है (उसके अनुसार) देवता मनुष्य के मन की बात जान लेते हैं, वे यह जानते हैं कि जब वह व्रत ग्रहण करता है तो उसका अभिप्राय अगले दिन प्रातः उनके प्रति यज्ञ करने का है। इसलिए सब देवता उसके घर पहुँच जाते हैं और उसके घर में उसके समीप रहते हैं। इसीलिए इस दिन को उपवसत कहते हैं।

'अथातो शनानशनस्यैव। तदु हाषाढ़ः सावयसो नशनमेव व्रतं मेने। मनो ह वै देवा मनुष्यस्या जानन्ति। त एनमेतद् व्रतमुपयन्तं विदुः - 'प्रातर्नो यक्ष्यते' इति। ते स्य विश्वेदेवा ग हानागच्छन्ति, ते स्य ग हेषूपवसन्ति-स उपवसथः।

अब जबकि अपने घर में रहने वाले मानव के लिए अतिथियों के भोजन करने से पहले भोजन करना अनुचित होता है तो यह और भी अधिक अनुचित होगा यदि वह अपने साथ में निवास करने वाले देवताओं के भोजन करने से पूर्व भोजन कर ले।

'तन्वेवानवक्ल प्तम्-यो मनुष्येष्वनश्नत्सु पूर्वो श्नात्, अथ किमु यो देवेष्वनश्नत्सु पूर्वो श्नीयात्। तस्मादु नैवाश्नीयात्'।

इसके विपरीत याज्ञवल्क्य ने कहा 'यदि वह भोजन नहीं करता तो इस प्रकार वह पितरों के प्रति यज्ञ करने वाला हो जाएगा और यदि वह भोजन करता है तो वह देवताओं से पहले भोजन करने के (अनौचित्य वाले भाग्य वाला होगा) इसलिए उसे ऐसी वस्तु का भोजन करना चाहिए जो भुक्त होने पर भी अभुक्त जैसी मानी जाए। जिस वस्तु की हवि नहीं दी जाती यदि उसका भोजन कर लिया जाये तो वह भोजन भुक्त के किये जाने के समान ही है। इसलिए यदि वह भोजन कर लेता है तो वह पितरों के प्रति यज्ञ करने वाला नहीं बनता और ऐसी वस्तु का भोजन करने के कारण जिसकी हवि नहीं दी गई वह देवताओं के भोजन करने से पूर्व भोजन करने वाला नहीं होता।

'तदुहोवाच याज्ञवल्क्यः यदि नाश्नाति-पित देवत्यो भवति, यद्यु अश्नातिदेवानत्यश्नाति, इति। स यदेवाशितमनशितं तदश्नीयाद् इति। यस्य वै हविर्न ग हणन्ति तदशितम्-अनशितम्। स यदश्नाति

तेनापित देवत्यो भवति। यद्यु तदश्नाति-यस्य हविर्नग ह्णन्ति तेनो देवान् नात्यश्नाति।'

इसलिए उसे केवल वह वस्तु खानी चाहिए जो जङ्गल में उगती हो चाहे वह अरण्य वनस्पति हो अथवा व क्षों के फल।

ब्राह्मणों में वर्णित विषयवस्तु का एक रूप यज्ञ से सम्बन्ध रखने वाले पारिभाषिक शब्दों की व्युत्पत्ति देना भी है। ये व्युत्पत्तियाँ यदि स्पष्ट न हों अथवा पूर्णतः शुद्ध न हों तो इसे विशेष महत्त्व का माना जाता है क्योंकि ब्राह्मणों में यह कहा गया है 'परोक्ष प्रिया हि देवाः प्रत्यक्ष-द्विषः।' ऐसी व्युत्पत्तियों का एक उदाहरण हम 'इन्द्र' शब्द की व्युत्पत्ति में देख सकते हैं। 'इन्द्र' शब्द की व्युत्पत्ति 'इन्ध' (दीप्त होना) से मानी गयी है। इसलिए इन्द्र का वास्तविक नाम 'इन्ध' होना चाहिए, किन्तु उसे 'इन्द्र' कहा जाता है क्योंकि देवाताओं को परोक्ष वस्तु प्रिय होती है। इसी प्रकार का उदाहरण 'उलू-खल' शब्द है जिसकी व्युत्पत्ति 'उरुकर' से मानी गई है जिसका अभिप्राय विशाल करना, फैलाना होता है।

व्युत्पत्तियों की तरह ब्राह्मणों की विषयवस्तु में तादात्म्यता और प्रतीकात्मकता का भी बहुत अंश है। ऐसे वर्णनों में ब्राह्मण यजुर्वेद से भी बढ़कर है। तादात्म्यता की प्रक्रिया को तो इस सीमा तक आगे बढ़ाया गया है कि अत्यन्त असद श वस्तुओं अथवा विवरणों को एक साथ मिलाकर उन्हें एक दूसरे से सम्बद्ध बताया जाता है। उदाहरणार्थ-शतपथ ब्राह्मण का यह प्रसंग द्रष्टव्य है 'अब वह दर्भग्रास को अग्नियों के चारों ओर फैलाता है और दो - दो यज्ञ पात्रों को एक बार में लाता है - यथा सूप (छाज) और स्त्रुवा को, लकड़ी की तलवार और कपालों को, कीलक और म गचर्म को, ऊखल और मूसल को, तथा बड़े और छोटे प्रस्तरों को। इनकी संख्या दस है क्योंकि विराज् छन्द की पंक्ति दस वर्णों की होती है और यज्ञ भी चमकीला, प्रकाशमान (विराज्) होता है। इसलिए वह यज्ञ को विराज् के समान बना लेता है। दो-दो के युगल में (यज्ञपात्रों) को एक स्थान पर लाने का कारण यह है कि युगल का अर्थ है 'शक्ति' जब कोई दो व्यक्ति कुछ कार्य करना प्रारम्भ करते हैं तो उनमें शक्ति होती है।

'अथ त णैः परिस्त णाति। द्वन्द्वं पात्राण्युदाहरति - शूर्प चाग्निहोत्रहवर्णी च। स्फ्यं च कपालानि च। शम्यां च क ष्णाजिनं च। उलूखल-मुसले। द षदुपले। तद्दश। दशाक्षरा वै विराट्। विराट् वै यज्ञः। तद्विराजमेवैतद्यज्ञमभि संपादयति। अथ यद् द्वन्द्वम्। द्वन्द्वं वै वीर्यम्।'

यजमान यज्ञ है 'यज्ञो वै यजमानः''। यज्ञ को यजमान इस कारण से कहा गया है कि मनुष्य ही उसका विस्तार करता है और फैलाये जाने पर यज्ञ मनुष्य के सर्वथा बराबर विस्तार वाला हो जाता है। यही कारण है कि यज्ञ मनुष्य है।

ब्राह्मणों में अनेक स्थलों पर यज्ञ का विष्णु के साथ तादात्म्य बताया गया है और इतने ही विस्तार में प्रजापति के साथ तादात्म्य बताया गया है - 'यज्ञो वै विष्णुः', 'यज्ञो वै प्रजापतिः'। इसके साथ ही संवत्सर का तादाम्य भी अनेक स्थानों पर प्रजापति के साथ वर्णित है। इसके विपरीत अग्नि का संवत्सर के साथ तादात्म्य बताया गया है क्योंकि यज्ञवेदि के निर्माण में एक वर्ष लगता है। इस प्रकार हमें ब्राह्मणों में यह वर्णन मिलता है - 'अग्नि ही संवत्सर है और यह संवत्सर यह लोक है -

'संवत्सर एषो ग्निः, इम उ लोकाः संवत्सरः'।

इसके तुरंत ही बाद ऐसा वाक्य मिलता है -

अग्नि प्रजापति है और प्रजापति ही संवत्सर है -

'प्रजापतिरेषो ग्निः। संवत्सर उ प्रजापतिः।'

अथवा प्रजापति ही निश्चय से यज्ञ और संवत्सर है, अमावस्या इसका द्वार है और चन्द्रमा

इस द्वार की कुण्डी है -

'संवत्सरो वै यज्ञ प्रजापतिः। तस्यैतद्द्वारम्।

यदमावस्या। चन्द्रमा एव द्वारपिधानः।'

संख्याओं को प्रतीक बनाकर इस विषय को बहुत फैलाया गया है। उदाहरणार्थ - चार मन्त्रों को बोलकर वह कुछ यज्ञ की राख उठाता है इस प्रकार वह अग्नि को चतुष्पाद पशु समर्पित करता है और पशुओं के भोजन होने के कारण वह उस अग्नि को अन्न समर्पित करता है। वह तीन मन्त्रों के साथ फिर कुछ राख उठाता है। वह तीन मन्त्रों के साथ यज्ञ की राख को जल तक लाता है, इस प्रकार यह संख्या सात हो जाती है, क्योंकि यज्ञ की वेदि में सात तह होती हैं, वर्ष में सात ऋतुएँ होती है और संवत्सर अग्नि है, इसलिए जितना महान् अग्नि है जितना उसका आयाम है यह सब उतना ही विस्तार वाला हो जाता है -

चतुर्भिरपादत्ते। तद् ये चतुष्पादाः पशवः। तैरेवैनमतत्सम्भरति। अथो अन्नं वै पशवः। अन्नेनैवैनमेतत् सम्भरति। त्रिभिरभ्यवहरति। तत् सप्त। सप्तचितिको ग्निः। सप्तर्तवः सम्वत्सरः। सम्वत्सरो ग्निः। यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत्तद्भवति।

अर्थवाद :-

विधि से सम्बद्ध ये और ऐसे विषय ब्राह्मणों में भरे पड़े हैं। अब यहाँ विधि के पश्चात् ब्राह्मणों के दूसरे महत्त्वपूर्ण विषय अर्थवाद पर विचार प्रस्तुत हैं। अर्थवाद भी मीमांसकों के अनुसार तीन प्रकार का माना गया है - (१) गुणवाद, (२) अनुवाद और (३) भूतार्थवाद। 'गुणवाद' से अभिप्राय इस प्रकार के विधान से है जहाँ प्रतिदिन उपलब्ध तथ्य से विपरीत या विरुद्ध पक्ष ग्रहण किया जाये। 'अनुवाद' से अभिप्राय ऐसे विधान से है जिसका ज्ञान दूसरे स्त्रोतों से भी उपलब्ध हो और 'भूतार्थवाद' से अभिप्राय किसी अज्ञात और अविरुद्ध तथ्य का आधिकारिक रूप से विधान करना है।

अर्थवाद के एक भाग का सम्बन्ध इतिहास, आख्यान और पुराणों से है। इनका वर्णन यज्ञ की किसी प्रक्रिया को समझाने के लिए या उनका महत्त्व बताने के लिए किया गया है। ब्राह्मणों में वर्णित शुष्क कर्मकाण्ड की नीरसता से छुटकारा इन वर्णनों में मिलता है। यहाँ कविता रूपी पुष्प, अकाव्यात्मक भाषा में वर्णित आख्यान तथा स जन-सम्बन्धी विचारपूर्ण कथाएँ मनोविनोद का साधन उपस्थित करती हैं। ऋग्वेद से ज्ञात पुरुरवा और उर्वशी का आख्यान शतपथ ब्राह्मण में अत्यन्त भावुकतापूर्ण शब्दों में वर्णित है। इसमें ऋग्वेद के मन्त्रों का उद्धरण भी दिया गया है और कथा के सूत्र को जोड़कर किस प्रकार मनुष्य एक विशेष यज्ञाग्नि की सहायता से गन्धर्वत्व को प्राप्त कर सकता है यह दर्शाया है।

प्रथम काण्ड के आठवें अध्याय में 'जल-प्लावन' की कथा वर्णित की गई है। कथा के अन्त में उसका सम्बन्ध यज्ञ के साथ भी दिखाया गया है। यह वर्णित है कि मनु ने सन्तति के विकास के लिए एक यज्ञ भी किया जिससे एक स्त्री का प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रकार मानव जाति का श्रीगणेश प्रारम्भ हुआ। यज्ञसमुद्भूत मनु की पुत्री का नाम इडा है और इस कथा का समावेश यहाँ यज्ञ में दी जाने वाले इडा नामक एक भेंट का महत्त्व प्रतिपादित करने के लिए किया गया है।

ब्राह्मणों में मिलने वाले ये आख्यान और कथाएँ हमारे लिए इसलिए भी महत्त्वपूर्ण हैं कि इनमें प्राचीन कथा-गद्य का उदाहरण हमें मिलता है। ऐसा ही एक आख्यान ऐतरेय ब्राह्मण में हमें मिलता है जो गद्य और गाथा के मिश्रित रूप में लिखा गया है। इस आख्यान के रूप में मिलने वाली गाथा या पद्य भारतीय राष्ट्रीय महाकाव्यों के पद्यात्मक रूप के समकक्ष है। यह आख्यान 'शुनःशेप' आख्यान के नाम से प्रसिद्ध है जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। इस आख्यान का महत्त्व याज्ञिक

कर्मकाण्ड की द ष्टि से ओर अधिक महत्त्व का है। पाश्चात्य आलोचकों की द ष्टि में इसमें उस प्रागैतिहासिक पुरुषमेध यज्ञ का संकेत मिलता है जब राजसूय के समय नरबलि दी जाती रहीं होगी। यद्यपि न तो इस प्रकरण में और न ही अन्यत्र कहीं किसी और ब्राह्मण में इस नरबलि का संकेत विद्यमान है। आख्यान में विभिन्न देवताओं की स्तुति के परिणामस्वरूप शुनःशेप वरुण के पाश से मुक्ति प्राप्त करता है। स्वयं वरुण द्वारा शुनःशेप को जीवित रूप से स्वीकार कर लेने के कारण ब्राह्मणों ने उसे अपने में से एक बना लिया और विश्वामित्र ने उसे अपने सौ पुत्रों से अधिक मानकर अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया।

इस आख्यान की समाप्ति इस रूप से हुई है 'यह शुनः शेप का आख्यान है जिसमें सौ से अधिक ऋग्वेद के मन्त्र और गाथाएँ है। इस आख्यान को राजसूय यज्ञ में राजा के अभिषिक्त होने के बाद होता उसे सुनाता है। 'सोने के सिंहासन पर बैठकर वह यह आख्यान कहता है। सोने के सिंहासन पर बैठे हुए ही वह उत्तर देता है। स्वर्ण वास्तव में कीर्ति का प्रतीक है - इसके द्वारा वह कीर्ति को बढ़ाता है। ऋग्वेद के मन्त्र का प्रत्युत्तर 'ओ३म्' है और गाथा का 'हाँ' है। क्योंकि 'ओ३म्' का देवताओं से सम्बन्ध है और 'हाँ' का मनुष्यों से। इस प्रकार वह देवता और मनुष्य दोनों के सम्बन्ध द्वारा अपने को दुर्भाग्य और पाप से मुक्त कर लेता है। इसलिए जो राजा विजयी होना चाहता है चाहे वह राजसूय यज्ञ न भी कर रहा हो शुनःशेप के आख्यान को (अपने लिए) सुनवाये जाने का प्रबन्ध करे। तब उसे स्वल्प-सा भी पाप का संसर्ग नहीं रहता। राजा आख्यान सुनाने वाले को एक हजार गौएँ दे और उस अध्वर्यु को जो ऋचा और गाथा का प्रत्युत्तर देता है सौ गौएँ दे और उन दोनों को वह सोने के सिंहासन दे जिस पर वे बैठे थे। इसके अतिरिक्त होता का हक एक रजत से अलंक त अश्वयुक्त रथ पर भी होता है। जो पुत्र प्राप्त करना चाहते हैं वे भी इस आख्यान को सुनाये जाने का उपाय करें। उन्हें निश्चय ही पुत्र की प्राप्ति होगी।

शुनःशेप का यह आख्यान ऐतरेय ब्राह्मण के सम्पादकों और संकलनकर्ताओं के लिए यदि प्राचीन आख्यान था और इसका राजा के राज्याभिषेक के समय सुनाया जाना यज्ञविधि का एक अङ्ग था तो अपने आप में यह कितना प्राचीन रहा होगा? शुनःशेप के इस आख्यान के विषय में यह बताना आवश्यक है कि ऋग्वेद की ऋचाओं के द्रष्टा जिस शुनःशेप का वर्णन है वह सम्भवतः इसी नाम का कोई ऋ षि रहा होगा। ऋग्वेद १.२४.१२, १३ में से प्रसंग वर्णित हुआ है कि बंधे हुए शुनःशेप ने जिसका आह्वान किया वह राजा वरुण हमें बन्धनमुक्त कर दे। इससे प्रतीत होता है कि ऋग्वेद के ऋषि के सामने भी शुनःशेप का आख्यान किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान था। इसके साथ - साथ यह भी सम्भावना हो सकती है कि इस आख्यान में वर्णित ऋषि शुनःशेप द्वारा कुछ ऋचाओं की रचना की गई हो जिन्हें ऋग्वेद के संकलन के समय उसमें सम्मिलित कर लिया गया हो। तथापि यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णित शुनःशेप का यह आख्यान अत्यन्त प्राचीन है।

दुर्भाग्य से ब्राह्मणों में ऐसे बहुत कम आख्यान मिलते हैं जो शुनःशेप के इस आख्यान के सद श इतने विस्तार में उपलब्ध हों। ब्राह्मणों में मिलने वाले अधिकतर आख्यान यज्ञप्रक्रिया के किसी अंश को स्पष्ट करने के लिए लिखे गये थे और उनमें से किसी प्राचीन आख्यान के केन्द्र को ढूँढ़ पाना कठिन है। इसके अतिरिक्त यह भी सत्य नहीं है कि ब्राह्मणों के सारे आख्यान प्राचीन कथाओं और आख्यानों से लिये गये हैं। इन कथाओं में बहुत कुछ ऐसी कथाएँ भी है जिनका अपना स्वतन्त्र महत्त्व है। ये कथाएँ प्रतीकात्मक है और विशेष उद्देश्य को ध्यान में रखकर लिखी गयी हैं। उदाहरणार्थ प्रजापति के निमित्त से भेंट रूप में दी जाने वाली आहुतियों के समय मन्त्रों का उच्चारण अत्यन्त धीमे स्वर में किया जाता है। इसकी व्याख्या के रूप में दी गई शतपथ ब्राह्मण की यह कथा दर्शनीय है।

मन और वाणी में विवाद हुआ और दोनों अपनी श्रेष्ठता के विषय में निर्णय लेने के लिए

प्रजापति के पास गये। प्रजापति ने अपना निर्णय मन के पक्ष में दिया। इसलिए वाणी ने प्रजापति से कहा मैं कभी भी तुम्हारी आहुति लेने वाली नहीं बनूँगी।

'अथातो मनसश्चैव वाचश्चाहंभद्र उदितम्। मनश्च ह वै वाक् चाहं भद्र ऊदाते। तद्ध मन उवाच-अहमेव त्वच्छ्रेयो स्मि, न वै मया त्वं कि चनाभिगतं वदसि सा यन्मम त्वं क तानुकारानुवर्त्मासि, अहमेवत्वच्छ्रेयो स्मीति अथ ह वागुवाचअहमेव त्वच्छेयस्यस्मि यद्वै त्वं वेत्थ-अहं तद्विज्ञयामि, अहं संज्ञपयामीति। ते प्रजापति प्रतिप्रश्नमेयतुः। स प्रजापतिर्मनस एवानूवाच-मन एवं त्वच्छ्रेयः, मनसो वै त्वं क तानुकरानुवर्त्मासि, श्रेयसो वै पापीयानु क तानुकरो नुवर्त्मा भवतीति। सा ह वाक् परोक्ता विसिष्मये। तस्यै गर्भः पपात। सा ह वाक् प्रजापतिमुवाच अहव्यवाडेवाहं तुभ्यं भूयासम्। यां मा परोवोच इति। तस्माद् यत्कि च प्राजापत्यं यज्ञे क्रियते, उपांश्वेव तत् क्रियते। अहव्यवाड्ढि वाक् प्रजापतय आसीत्।

इसलिए जब कभी प्रजापति के निमित्त से यज्ञ किया जाता है तो नीची आवाज से किया जाता है। वाणी को माध्यम बनाकर और भी बहुत सी कथायें ब्राह्मणों में मिलती हैं। ऐसी ही एक कथा सोम की चोरी के साथ जुड़ी हुई है। स्वर्ग से सोम को लाते हुए पक्षी रूप गायत्री से गन्धर्वों ने उसे चुरा लिया और चुराये गये सोम को देवताओं ने स्त्री रूपी वाणी द्वारा पुनः प्राप्त किया।

ऋग्वेद और यजुर्वेद के पुरुष सूक्त में चारों वर्णों की उत्पत्ति क्रमशः पुरुष के मुख, बाहु, ऊरु और पैरों से बतायी गयी है। ब्राह्मणों में यह कथा कुछ परिवर्तित रूप में मिलती है। ब्राह्मणों की कथा के अनुसार प्रजापति ने ब्राह्मण और अग्नि को अपने मुख से उत्पन्न किया, अपने वक्षस्थल और बाहुओं से क्षत्रिय और इन्द्र को पैदा किया, अपने शरीर के मध्य भाग से वैश्य और विश्वेदेवा को उत्पन्न किया और अपने चरणों से शूद्र को पैदा किया। क्योंकि शूद्र के साथ किसी देवता को पैदा नहीं किया इसलिए वह यज्ञ करने का अधिकारी नहीं है। अपनी- अपनी उत्पत्ति के इसी क्रम के अनुसार ब्राह्मण अपना कार्य मुख से करता है, क्षत्रिय अपनी भुजाओं से ओर क्योंकि वैश्य उदरस्थानीय है अतः उसका कितना भी शोषण क्यों न किया जाये वह कभी क्षीण नहीं होता। वैश्य के क्षीण न होने का कारण यह है कि शरीर की धारक शक्ति शरीर के मध्य भाग में निवास करती है। धार्मिक उत्सव में शूद्र उच्च वर्ण वालों का चरण प्रक्षालन करता है।

ब्राह्मणों में स ष्टि उत्पत्ति सम्बन्धी कथाओं की संख्या बहुत है। इन कथाओं में याज्ञिक क्रियाओं सम्बन्धी प्रसंगों के साथ आध्यात्मिक विचारों को भी मिश्रित कर दिया गया है। शतपथ ब्राह्मण के दूसरे काण्ड में अग्निहोत्र की उत्पत्ति और महत्त्व के विषय में एक कथा आती है जिसका संक्षेप इस प्रकार है।

पहले एकमात्र एकाकी प्रजापति था। उसने सोचा मैं किस प्रकार सन्तति प्राप्त करूँ। उसने श्रम किया और तपस्या की। उसके मुख से अग्नि उत्पन्न हुई और क्योंकि प्रजापति ने अग्नि को मुख से उत्पन्न किया इसलिए अग्नि अन्न का भक्षण करने वाला है। अतः निश्चय ही जो यह जानता है कि अग्नि अन्नाद (अन्न को खाने वाला) है वह भी अन्नाद हो जाता है क्योंकि देवताओं में उसने सबसे पहले अग्नि को ही पैदा किया इसलिए उसे अग्नि कहते हैं वस्तुतः उसका नाम 'अग्रि' था। फिर प्रजापति ने मन में सोचा कि मैंने अग्नि को अन्नाद के रूप में उत्पन्न किया है और यहाँ मेरे अतिरिक्त कुछ भी भोजन नहीं है तो शायद वह मुझे ही खा लेगा। उस समय यह प थिवी सकल चराचरविहीन थी, उस समय न वनस्पतियाँ, न औषधियाँ और न व क्ष थे। जब प्रजापति इस विषय में चिन्तित थे तब अग्नि मुख खोलकर उनकी आरे मुड़ा क्योंकि प्रजापति उस समय डरा हुआ था इसलिए उसकी अपनी महिमा उससे दूर चली गयी। प्रजापति की महिमा उसकी वाणी थी और इस प्रकार उसकी वाणी रूपी महिमा उससे दूर चली गई। पुनः प्रजापति ने अपने लिए एक यज्ञ की कामना की और अपने हाथों को रगड़कर उसने दूध या घी की आहुति प्राप्त की। उसमें से वनस्पतियाँ और व क्ष उत्पन्न हुए। घी की दूसरी हवि के द्वारा सूर्य और वायु उत्पन्न हुए। इस प्रकार प्रजापति ने यज्ञ की आहुति

देकर एक ओर अपनी सन्तति को भी बढ़ाया और दूसरी और अग्नि और म त्यु से अपनी रक्षा की। जो इस रहस्य को जानते हुए अग्निहोत्र यज्ञ को करता है वह प्रजापति की तरह एक ओर तो अपनी सन्तति की व द्धि करता है और दूसरी और अग्नि रूपी म त्यु से अपनी रक्षा करता है, जब वह उसे नष्ट करना चाहती है। म त्यु उपरान्त जब उसे चिता पर रखते हैं तो अग्नि केवल उसके शरीर को जलाती है और वह अग्नि द्वारा फिर उत्पन्न हो जाता है। कथा में आगे चलकर यह भी कहा गया है कि जो अग्निहोत्र नहीं करता उसे कभी नवजीवन नहीं मिलता।

स ष्टि उत्पत्ति सम्बन्धी ये सब कथाएँ प्रजापति के श्रम और तप से प्रारम्भ होती हैं और इस कार्य को समाप्त करने के बाद प्रजापति श्रान्त और निर्बल हो जाता है। अतः किसी नये यज्ञ का वर्णन किया जाता है जिसके द्वारा उसे शक्ति प्राप्त होती है। इन प्रसंगों में एक बार तो देवताओं द्वारा यज्ञ किये जाने का वर्णन है। एक अन्य अवसर पर अग्नि इस यज्ञ को करके प्रजापति पर क पा करता है और एक अन्य अवसर पर स्वयं प्रजापति स्तुतिगान और तपस् द्वारा यज्ञ-पशुओं को उत्पन्न करके और उन्हीं की आहुति देकर अपनी शक्ति को प्राप्त करता है। यहाँ एक ओर इस स ष्टिकर्ता प्रजापति की महिमा का वर्णन है जो ब्राह्मणों मे सर्वोच्च देवता के रूप में वर्णित है वहीं अन्यत्र एक बार देवता लोग यज्ञ के रूप में उसकी हवि देते हैं। ऐतरेय-ब्राह्मण तथा शतपथ में प्रजापति को उसके दुराचरण के लिए रुद्र द्वारा विद्ध किये जाने का वर्णन है। इस रुद्र की उत्पत्ति देवताओं ने अपने भयंकर अंश से की थी। रुद्र के बाण द्वारा विद्ध होने पर म गशीर्ष आदि नक्षत्रों का जन्म हुआ।

जैसा कि यूरोप में या अन्यत्र द ष्टिगोचर होता है - ब्राह्मणों में भी स ष्टि उत्पत्ति सम्बन्धी एक भी कथा ऐसी नहीं है जो सर्वमान्य रही हो। स ष्टि उत्पत्ति के प्रसंग में अनेकानेक कथाओं का वर्णन है और इनमें से प्रत्येक में नई - नई कल्पनाएँ और विविध विचार अनुस्यूत हैं - जिनमें किसी प्रकार का समन्वय नहीं किया जा सकता। अभी ऊपर वर्णित की गई शतपथ की कथा के पश्चात् एक बिल्कुल नई कथा दी गई है। इसमें भी प्रजापति ने श्रम और तप करके प्राणियों को उत्पन्न किया जिनमें सर्वप्रथम पक्षी, उसके बाद छोटे-छोटे सरकने वाले जन्तु, तत्पश्चात् सर्प आदि उत्पन्न किये। उत्पन्न होने के साथ ही ये सब प्राणी अद श्य हो गये और प्रजापति फिर एकाकी रह गया। उसने विचारपूर्वक इसका यह कारण जाना कि ये सब भोजन के अभाव में नष्ट हो गए। इसलिए उसने नये प्राणियों को उत्पन्न किया और उनके स्तनों में दूध भर दिया और इस प्रकार वे जीवित रहे-

'प्रजापतिर्ह वा इदमग्र एक एवास। स ऐक्षत-कथं नु प्रजायेयेति। सो श्राम्यत्, स तपो तप्यत, स प्रजा अस जत। ता अस्य प्रजाः स ष्टा पराबभूवुः। तानीमानि वयांसि। पुरुषों वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्। द्विपादा अयं पुरुषः। तस्माद् द्विपादो वयांसि। स ऐक्षत प्रजापतिः - यथा न्वेव पुरैको भूवम् - एवमु न्वेवाप्येतर्ह्येक एवास्मीति। स द्वितीयाः सस ज इत्याहुः। ता अस्य परैव बभूबुः। त इमे सर्पाः। एता ह न्वेवद्वयीर्याज्ञवल्क्य उवाच। त्रयीरु तु पुनर्ऋचा। सो र्च छ्राम्यन्प्रजापतिरीक्षा चक्रे-कथं नु मे प्रजाः स ष्टाः पराभवन्तीति। स हैतदेव ददर्श अनशनतया वै मे प्रजाः पराभवन्तीति। स आत्मन एवाग्रे स्तनयोः पय आप्याययां चक्रे। स प्रजा अस जत। ता अस्य प्रजाः स ष्टाः स्तनावेवाभिपद्य, तास्ततः सम्बभूवुः। ता इमा अपराभूताः।

स ष्टि उत्पत्ति विषयक एक अन्य कथा इसी ब्राह्मण में पुनः आती है उसके अनुसार प्रजापति ने अपने शरीर के मुख्य अङ्गों से प्राणियों को उत्पन्न किया। अपने मन से उसने मनुष्य को बनाया, आँखों से घोड़े को, अपने श्वास से गौ को, अपने कान से भेड़ को और अपनी वाणी से बकरी को बनाया। यतः मनुष्य की उत्पत्ति प्रजापति के मन से हुई है और मन सबसे प्रधान इन्द्रिय है इसलिए मनुष्य सब प्राणियों में सबसे अधिक शक्तिशाली है।

प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीदेक एव। सो कामयत अन्नं स जेय, प्रजायेयेति। स प्राणेभ्य एवाधि पशून्निरमिमीत, मनसः पुरुषम्, चक्षुषो श्वम्, प्राणाद्‌गाम्, श्रोत्रादविम्, वाचो जम्। तद्यदेनान्प्राणेभ्यो धि

निरमिमीत - तस्मादाहुः - प्राणाः पशव इति। मनो वै प्राणानां प्रथमम्। तद्यन्मनसः पुरुषं निरमितीतं-तस्मादाहुः - पुरुषः प्रथमः पशूनां वीर्यवत्तम इति। मनौ वै सर्वे प्राणाः। मनसि हि सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः। तद्यन्मनसः पुरुष निरमिमीत-तस्मादाहुः - पुरुषः सर्वे पशव इति। पुरुषस्य ह्येवैते सर्वे भवन्ति।

ब्राह्मणों की स ष्टि - उत्पत्ति - सम्बन्धी कथाओं में अधिकतर प्रजापति स ष्टिकर्ता के रूप में वर्णित किया गया है जिससे संसार और उसके प्राणियों की उत्पत्ति हुई है। इसके साथ साथ ब्राह्मणों में ऐसा वर्णन भी मिलता है जहाँ प्रजापति की उत्पत्ति किसी अन्य से बताई गई है और स ष्टि की उत्पत्ति का प्रारम्भ या तो आदिकालीन जल से अथव असत् से अथवा ब्रह्म से बताया गया है। शतपथ ७.१.१ में एक और ही नवीन कल्पना की गई है। इसका प्रारम्भ 'असदेव वा इदमग्रआसीत्' से होता है। अगले ही वाक्य में इस 'असत्' को ऋषि कहा गया है और इन ऋ षियों ने तप और श्रम के द्वारा प्रत्येक वस्तु को उत्पन्न किया। ये ऋषि प्राण थे और इन्होंने पहले पुरुषों को उत्पन्न किया और पुनः उन्हें मिलाकर एक पुरुष बनाया जो प्रजापति था। इस पुरुष प्रजापति ने कामना की कि मैं बहुरूप हो जाऊँ और प्रजाओं को उत्पन्न करूँ। उसने तप और श्रम किया। उसने सर्वप्रथम ब्रह्म अर्थात् त्रयीविद्या को उत्पन्न किया। यह उसकी प्रतिष्ठा (आधार) थी। इसलिए ऐसा कहा जाता है कि ब्रह्मा ही सबकी प्रतिष्ठा है। अतः जब कोई वेद को जान लेता है तो वह स्थिर होकर खड़ा रहता है क्योंकि ब्रह्म अर्थात् वेद ही उसकी प्रतिष्ठा है।

इसके आगे पुनः इस प्रकार वर्णन किया गया है कि किस प्रकार प्रजापति ने ब्रह्म पर प्रतिष्ठित रहकर श्रम किया और जल को उत्पन्न किया। वेद की सहायता से उसने एक अण्ड को उत्पन्न किया और अण्ड से अग्नि उत्पन्न हुआ और अण्डे का वह छिलका प थिवी बनी। यह सारी ही परिकल्पना जटिल और दुरुह है। ब्रह्म का प्रारम्भिक अर्थ प्रार्थना या मन्त्रशक्ति था, तत्पश्चात् इसका अर्थ पवित्र ज्ञान या वेद हुआ। उस ब्रह्म को सम्पूर्ण सत्ता की प्रतिष्ठा बताया गया है। इस 'ब्रह्म' (वेद) से उपनिषद् में वर्णित ब्रह्म के स्वरूप तक पहुँचने के लिए जिसके अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र सर्जक-सिद्धान्त है - केवल एक ही कदम आगे बढ़ाना है। शतपथ ब्राह्मण के ग्यारहवें काण्ड में हम यह सिद्धान्त पर पहुँच जाते हैं जिसका प्रारम्भ इस प्रकार है -

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्। तद्देवानस जत। तद्देवान् स ष्ट्वैषु लोकेषु व्यारोहत्। अस्मिन्नेव लोके ग्निम्, वायुमंतरिक्षे, दिव्येव सूर्यम्। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मणों में भारत की दार्शनिक और धार्मिक विचारधार का इतिहास किस प्रकार क्रमिक रूप से वर्णित है। इसी तथ्य में ब्राह्मणों की महत्ता निहित है। ब्राह्मणों की यह दार्शनिक और आध्यात्मिक विचारधारा आरण्यकों और उपनिषदों में परिपूर्णता को प्राप्त हुई। शाण्डिल्य द्वारा प्रतिपादित उपनिषदों के मूल सिद्धान्तों का दर्शन हमें शतपथ ब्राह्मण में ही हो जाता है।

यज्ञ :-

ब्राह्मणों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि यज्ञ का मूलभूत उद्देश्य धरती पर मानव जीवन को सुखमय एवं कल्याणमय बनाया था। मानव जीवन का सुख एवं कल्याण भौतिक सम्पत्ति के समुचित वितरण एवं स्वामित्व पर निर्भर था। भौतिक सम्पदा मनुष्य के मात्र निजी ऐन्द्रिक सुख के लिए ही नहीं थी। उसका सम्पूर्ण मानव समाज में न्यायिक वितरण आवश्यक था। इस प्रयोजन की पूर्ति की दिशा में जीवन के द श्य एवं परोक्ष सभी अंगों एवं क्षेत्रों में यज्ञ कर्म समतुल्यता लाने के निमित्त आरम्भ किया गया। डा. वासुदेवशरण अग्रवाल का यह मत है कि प्राचीन भारतीय वैदिक समाज में यज्ञ का प्रयोजन प्रक ति को मित्र बनाकर प्रसन्न रखना था, क्योंकि मानव का समस्त भौतिक सुख प्रक ति की विभिन्न शक्तियों से मैत्री होने पर ही सम्भव था। यह बड़ी ही व्यापक एवं महत्त्वपूर्ण आस्था थी जो सदा हमारी प्राचीन संस्क ति के मूल में रही है।

अग्निहोत्र सम्पादित कर मनुष्य देवताओं के निमित्त अपनी आहुति देता है। निश्चित है कि इस आहुति से देवता मनुष्य पर प्रसन्न होते हैं। यज्ञ करने से मनुष्य समस्त भौतिक शक्तियों एवं पदार्थों को विधिवत् समझने की शक्ति प्राप्त कर लेता है। यज्ञाचरण से ही उसे उस मानसिक चिन्तन हेतु पात्रता एवं सामर्थ्य प्राप्त होता है। जिससे उसको प्राक तिक शक्तियों का पारस्परिक ज्ञान मिलता है। इस ज्ञान को प्राप्त कर ही मनुष्य परमसुख की स्थिति (स्वर्ग) प्राप्त कर सकता है। यज्ञ सम्पादन से मनुष्य को बाह्य भौतिक सुख, जैसे पुत्र-पौत्र पशु एवं सम्पत्ति आदि की प्राप्ति एवं उनकी अभिव द्धि होती है, साथ ही आध्यात्मिक क्षेत्र में उसे तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है। वैदिक परम्परानुसार यही यज्ञों के फल हैं।

यज्ञों का वर्गीकरण :-

ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञों का विभिन्न प्रकार से वर्गीकरण प्राप्त होता है। यज्ञों का वर्गीकरण मुख्य आहुति पर निर्भर करता है। प्रमुख रूप से यज्ञ की तीन विधाएँ हैं, (१) इष्टि, (२) पशुबन्ध एवं (३) सौमिक। इष्टि में पुरोडाश की मुख्य आहुति दी जाती है। पशुबन्ध में पशु एवं सौमिक में सोमरस की प्रमुख आहुतियाँ दी जाती हैं। ब्राह्मणों में यज्ञों को देवसव एवं मनुष्यसव के अन्तर्गत भी विभाजित किया गया है। सोम एवं पशुबन्धयज्ञ देवसव की श्रेणी में तथा इष्टि यज्ञ को मनुष्यसव की श्रेणी में रखा गया है, 'यो वै सोमेनं सूयते स देवसवः। यः पशुना सूयते स देवसवः। यः इष्ट्या सूयते स मनुष्यसवः। एवं वै प थये देवाः प्रायच्छन्।' (तै. ब्रा. २.७.५.१.)।

इसी प्रकार यज्ञों का एक अन्य विभाजन (१) नित्य (२) नैमित्तिक एवं (३) काम्य श्रेणियों के अन्तर्गत किया गया है। नित्य वे हैं जिनमें स्वेच्छा नहीं चलती, ये अपरिहार्य प्रक ति के हैं तथा जिन्हें प्रतिदिन करना होता है। नैमित्तिक विशिष्ट अवसरों पर किये जाते हैं। काम्य वे यज्ञ हैं जो विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिये किये जाते हैं। प्रोफेसर हिलेब्रांट ने यज्ञों का वर्गीकरण इष्टि, पशुबन्ध एवं सौमिक श्रेणियों में नहीं किया है। उन्होंने यज्ञों को केवल नित्य एवं नैमित्तिक श्रेणियों में वर्गीक त किया है। स्पष्ट है कि इस वर्गीकरण में यज्ञ प्रक्रिया की विशिष्टता को ही उन्होंने आधार माना है, सिद्धान्तपक्ष को नहीं।

एक अन्य आधार पर भी यज्ञों का वर्गीकरण मिलता है। यज्ञ का एक वर्ग प्रक ति तथा दूसरा विक ति कहलाता है। प्रक तियाग यज्ञ के मानक हैं। जबकि विक ति प्रक तियाग का संशोधित रूप है। इस आधार पर दर्शपौर्णमास सभी इष्टियों हेतु मानक है। इसी प्रकार निरूढ़-पशुबन्ध पशुयाग एवं अग्निष्टोम सोमयाग के लिए मानक है।

सोम यागों का वर्गीकरण उनके सम्पादन के दिवसों की संख्या के आधार पर भी किया गया है। इस प्रकार सोमयाग चार प्रकार के होते हैं, जैसे - (१) साद्यस्क्र (२) एकाह (३) अहीन तथा (४) सत्र। यह यज्ञ जिसमें दीक्षा से लेकर अवभ थ तक समस्त कर्मकाण्ड एक दिन में समाप्त कर दिया जाय तो वह साद्यस्क्र ढंग का यज्ञ कहलाता है। एकाह यज्ञ में प्रधान कर्मकाण्ड एक दिन में पूर्ण कर दिया जाता है, दीक्षा एवं अवभ थ क्रियाएँ अन्य दिन पूरी की जाती हैं। यदि यज्ञ का प्रधान कर्मकाण्ड एक दिन से अधिक, किन्तु बारह दिन से कम की अवधि तक पूर्ण किया जाता है तो वह अहीन कहलाता है। वह यज्ञ उस स्थिति में सत्र कहलाता है जिसका प्रधान कर्म बारह दिनों से अधिक अवधि तक चलता रहता है।

सत्र दो प्रकार के होते हैं, (१) रात्रि सत्र जो बारह से लेकर दो सौ रात्रियों तक चलता रहता है, तथा (२) अयन सत्र जो एक सौ से अधिक रात्रियों तक चलता है। अनेक इष्टियों एवं सोमयागों को ही मुख्यतया सत्र के नाम से जाना जाता है। कतिपय काम्य यज्ञ 'सव' कहलाते हैं। ये एकाह होते हैं। राजसूय, अश्वमेध एवं पुरुषमेध अहीन के अन्तर्गत आते हैं।

कतिपय विशिष्ट यज्ञों का परिचय

१. अग्निहोत्र :-

आहिताग्नि द्वारा सपत्नीक प्रातः सांयकालीन दोनों सन्ध्याओं में नित्य किये गये यज्ञ को अग्निहोत्र कहा जाता है। हविर्यज्ञ के अन्तर्गत अग्निहोत्र दूसरे स्थान पर गिनाया गया है। अग्नि को उद्दिष्ट कर इसमें आहुतियाँ दी जाती हैं। आहुतियां देकर एवं पूजामन्त्र पढ़कर अग्नि का आवाहन किया जाता है। अग्निहोत्र में घी आज्यों के अतिरिक्त शालि अथवा दूध की हवि दी जाती है। अग्निहोत्र दार्शिकी वेदि में किया जाता है। नित्य किये जाने के कारण ही अग्निहोत्र को आजीवन सत्र कहा गया है। अग्निहोत्र को कभी समाप्त नहीं करना चाहिये। व द्धावस्था अथवा म त्यु ही अग्निहोत्र को समाप्त अथवा उसमें व्यवधान उत्पन्न कर सकते हैं। जैमिनीय ब्राह्मण में अग्निहोत्र को अग्निष्टोम, वाजपेय, अश्वमेध, पुरुषमेध, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य तथा पशुबन्ध का रूप बतलाया गया है। ब्राह्मणों में अग्निहोत्र को अपराजित कहा गया है तथा उसके यजमान दम्पति को अपराजेय बतलाया गया है। शतपथ ब्राह्मण में सूर्य को ही अग्निहोत्र की संज्ञा दी गयी है। सांयकाल आहुति देने का उद्देश्य यह है कि सांय सन्ध्या में देवगण घर में प्रविष्ट होते हैं। इसी प्रकार प्रातः काल सूर्योदय के पूर्व आहुतियाँ इसलिए दी जाती हैं कि देवों के घर के जाने से पूर्व ही ये उन्हें प्राप्त हो जायें।

सूर्यास्त के समय की आहुति अग्निदेव के लिए तथा प्रातः काल की आहुति सूर्यदेव के लिये होती है। 'अग्निर्ज्योतिः ज्योतिरग्निः स्वाहा' मन्त्र अग्निदेव तथा 'सूर्यो ज्योतिः ज्योतिः सूर्यः' मन्त्र सूर्यदेव के लिए प्रयुक्त होता है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार नित्य अग्निहोत्र करने वाला गायत्री लोक में पहुँच जाता है। अग्निहोत्र सम्पादित करने से अनन्त सन्तति व वैभव की प्राप्ति बतलायी गयी है। इसे स्वर्ग की नौका कहा गया है। अन्ततोगत्वा यजमान ब्रह्मवर्चस् प्राप्त कर लेता है तथा म त्यु के बन्धन से मुक्ति पा लेता है।

२. इष्टि :-

वह यज्ञ जिसमें प्रमुख आहुति पुरोडाश की डाली जाती है, इष्टि कहलाती है। ब्राह्मणों में इष्टि का विशिष्ट वर्णन मिलता है। इस कर्मकाण्ड में एक विशिष्ट देवता आराध्य होता है तथा इनमें कपालों (मिट्टी के घड़ों) की संख्या महत्वपूर्ण होती है। कपालों की संख्या के आधार पर इष्टि का नामकरण मिलता है। उदाहरणार्थ, आग्नेयाष्टकपाल, अग्निसोमीय कपाल, एवं एकादश कपाल आदि। इन मिट्टी के पात्रों में पुरोडाश पकाया जाता है। उत्सव एवं देवताओं के गुणों के अनुसार इन पात्रों की संख्या एक से सोलह के बीच रखी जाती है। पिसे हुए चावल की बनायी गयी हवि को पुरोडाश कहते हैं। इष्टि सम्पादित करने के लिए यजमान को चार ऋत्विजों की सहायता लेनी पड़ती है। इष्टि कर्मकाण्ड में अधोलिखित विवरण उल्लेखनीय है :- हविष् की तैयारी - जैसे, चावल को कूट पीस कर उसकी लोई बनाकर पुरोडाश को पकाना; सामिधेयिकर्म-पवित्राग्नि को प्रज्वलित करना अयाज; प्रधान होम अर्थात् प्रमुख आहुति, स्विष्टक त होम, इड़ा त्याग, अवशिष्ट हवि; अनुयाज; पत्नीसंयाज एवं अन्य होम।

सामान्यतया एक पक्ष (१५ दिन) में एक बार इष्टि करनी आवश्यक बतलायी गयी है। पूर्णमासेष्टि पूर्णिमा के दिन जब चन्द्र समस्त कलाओं से पूर्ण रहता है तथा दर्शेष्टि जब चन्द्रोदय होता है की जाती है। कतिपय बातों को छोड़कर इन दोनों इष्टियों में परस्पर प्रक्रियागत समानता है। कुछ इष्टियाँ पूर्णतया स्वतन्त्र होती हैं जबकि अधिकांश इष्टियाँ किसी न किसी यज्ञ की सहायिका हुआ करती हैं। उदाहरण स्वरूप वर्ष में दो बार जब नयी फसल कटकर घर आती है तो आग्राहयणेष्टि अपने में स्वतन्त्र रूप से की जाती है, जबकि प्रायणीयेष्टि सोमयाग में एक सहायिका के रूप में की जाती है। इससे ही सोमयाग प्रारम्भ होता है।

कुछ महत्त्वपूर्ण इष्टियाँ इस प्रकार हैं :- आग्राहयणेष्टिः, आतिथ्येष्टिः, दर्शेष्टिः, दीक्षणीयेष्टिः,

नवशस्येष्टिः, पवमानेष्टिः, पवित्रेष्टिः, पूर्णमासेष्टिः, प्राजापत्येष्टिः, प्रायणीयेष्टिः, महावैराजेष्टिः, मित्रविन्देष्टिः, वैश्वानरेष्टिः, साङ्ग्रहण्येष्टिः, तथा सावित्रेष्टिः।

३. चातुर्मास्य :-

वर्ष के प्रत्येक त्रैमास में पूर्णिमा के दिन कुछ यज्ञ किये जाते हैं। इन यज्ञों को चातुर्मास्य कहा गया है। इन तीनों के नाम हैं, (१) वैश्वदेव, (२) वरुण प्रघास एवं (३) शाकमेध।

वैश्वदेव एक इष्टि की तरह सम्पादित होता है, किन्तु इसकी प्रक्रिया अति विस्त त है। इसमें चरु, पुरोडाश, आमीक्षा आदि अनेक आहुतियाँ दी जाती हैं। वरुणप्रघास इस इष्टि से कई बातों में भिन्न होती है। इसकी प्रमुख आहुतियों में से पशु की आहुति मुख्य है। इसके अतिरिक्त नौ देवताओं को नौ प्रधान आहुतियाँ दी जाती हैं। इस आयोजन में एक विशिष्ट प्रकार की वेदि उपयोग में लायी जाती है। प्रथम दार्शिकी वेदी के अतिरिक्त उसके दक्षिण में एक अन्य वेदी तैयार रहती है। वरुणप्रघास में दो और ऋत्विजों की आवश्यकता पड़ती हैं इस यज्ञ में एक अति महत्त्वपूर्ण क त्य सम्पादित होता है जिसमें पत्नी की शुद्धि के सम्बन्ध में कर्मकाण्ड होता है। उस कर्मकाण्ड में अध्वर्यु द्वारा पत्नी से यह पूछा जाता है कि क्या उसने अपने पति (यजमान) के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष के साथ सम्भोग किया है। यदि पत्नी ने ऐसा कुक त्य किया हो तो उसके द्वारा प्रश्नगत पुरुष का नाम बतलाये जाने पर पत्नी की शुद्धि की जाती है। इस प्रकार पत्नी के दुष्क त के पश्चात्ताप एवं परिमार्जन पर इसलिये गम्भीरतापूर्वक शुद्धि सम्बन्धी क्रिया सम्पादित की जाती है ताकि उस दुष्क त से यजमान की पत्नी को मुक्ति मिल सके एवं यज्ञ की पवित्रता अक्षुण्ण बनी रहे। इसलिये यदि पत्नी स्पष्ट अभिधान द्वारा त्रुटि (यदि की हो तो) स्वीकार नहीं करती थी तो उसे उसके घनिष्ठ परिवारजनों से बहिष्क त कर दिया जाता था। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यज्ञों के अनुष्ठान से समाज में किस स्तर तक अनिन्द्य गुणों, चारित्रिक पवित्रता एवं निष्ठा उत्पन्न की जाती थी। साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पवित्रात्मा व्यक्ति ही यज्ञ सम्पादन हेतु पात्र हो सकते हैं, इतर व्यक्ति नहीं।

शाकमेध यज्ञ में चार भाग होते हैं। इनके बाद सुनासीरीय क त्य किये जाते थे। इस यज्ञ की प्रक्रिया भी वैश्वदेव के समान ही है, यत्र-तत्र थोड़ी भिन्नता अवश्य होती है।

४. सोमयाग :-

सोमयाग का श्रीगणेश दीक्षणीयेष्टि के साथ होता है। उसी दिन से यजमान दीक्षा लेता है। दूसरे दिन प्रायणीयेष्टि की जाती है। वास्तव में दूसरे दिन के क्रियाकलाप के साथ ही सोमयाग आरम्भ होता है। सोमलता को लाकर उसकी पूजा में आतिथ्येष्टि की जाती है। उसके बाद तानूनप्त्र किया जाता है जिसमें सभी ऋत्विक् एवं यजमान एक पात्र में रखे हुए आज्य का स्पर्श करते हैं। यह उनकी सद्भावना एवं सहशान्ति भाव का प्रतीक होता है। उपर्युक्त इष्टियाँ दार्शिकी वेदि पर ही की जाती हैं। तीसरे दिन प्रवर्ग्य एवं उपसद की क्रियाएँ सम्पन्न की जाती हैं। इसके साथ ही इन्द्र देवता को लक्ष्यकर सुब्रह्मण्याह्वान भी किया जाता है। ये सभी क्रियाएँ सांयकाल तथा आगामी दो दिनों तक भी की जाती हैं। चौथे दिन प्रातःकालीन प्रवर्ग्य एवं अन्य क्रियाओं के बाद महावेदि तैयार की जाती है। पांचवें दिन एक प्रारम्भिक पशुयाग किया जाता है। अग्नि, सोम देवता को पशु चढ़ाया जाता है। छठें दिन से विस्त त कर्मकाण्ड आरम्भ होता है। उस दिन प्रातः काल होता प्रातरनुवाक का पाठ करता है। दधि से होम करने के बाद सोमलता को दो टुकड़ां में तोड़ दिया जाता है। छोटे वाले टुकड़े को मध्यान्ह सवन हेतु रख कर प्रातःकाल के लिये रखे गये बड़े सोमलता के टुकड़े को पत्थर में पेरकर उसका रस निकाला जाता है जिसे महाभिषव कहते हैं। सोमरस को छानकर एक पात्र में रख दिया जाता है। तदनन्तर, सोमरस एवं पशु वपा की आहुति एक के बाद एक के क्रम से दी जाती है। स्तोत्र एवं शास्त्रों का पाठ किया जाता है। इस प्रकार सोमरस की आहुति के साथ प्रातः सवन सम्पन्न होता है।

मध्यान्ह के सवन में प्रातःकालीन सवन की ही भाँति एक ओर ऋत्विक्‌गण सोमरस पेरकर निकालते हैं, तो दूसरी ओर ग्रावस्तुत रस निकालने वाले पत्थरों की प्रशस्ति में साम की ऋचाएँ गाते हैं। कतिपय होम के बाद दक्षिणा बाँटी जाती है और स्तोत्रों एवं शास्त्रों का पाठ किया जाता है। मध्याह्न सवन से अवशिष्ट सोमलता को पुनः पेरकर त तीय सवन हेतु रस निकाला जाता है। पुनः पशु के अंगों की आहुति दी जाती है तथा निर्धारित पाठ किये जाते हैं। इस प्रकार रात ढलने तक तीनों सवन सम्पन्न किये जाते हैं। त तीय अर्थात् सायन्तन सवन के बाद आग्नीध्रेय में दधि त्याग करते हैं जो इस तथ्य का द्योतक होता है कि प्रातःकाल तानूनप्त्र द्वारा लिया गया संकल्प निरस्त हो गया।

आगामी दिन अवभ थ सम्बन्धी अन्तिम क्रिया का दिन होता है। यज्ञोत्सव का समापन एवं दीक्षा से मुक्ति की चरम परिणति सरोवर अथवा सरिता में यजमान एवं उसकी पत्नी के स्नान के साथ होती है। इस स्नान एवं तत्सम्बद्ध अन्य कर्मकाण्ड को अवभ थ कहते हैं। यजमान एवं उसकी पत्नी को एक शोभा-यात्रा में सरोवर अथवा सरिता तट तक ले जाया जाता है। उनके साथ-साथ यज्ञ में प्रयुक्त बर्तन, एवं सोमलता के अवशिष्ट अंश (ऋजिष्) भी उक्त जलाशय तक ले जाये जाते हैं। तब जलाशय में अवभ थेष्टि सम्पन्न होती है। जल में उक्त ऋजिष् का विसर्जन किया जाता है। तदन्तर, सपत्नीक यजमान ऋत्विजों के साथ जल में डुबकी लगाकर स्नान करता है। फिर वे दोनों यज्ञशाला में वापस आकर उदयनेष्टि करते हैं। सोमयाग के इस रूप को अग्निष्टोम की संज्ञा दी गयी है। अन्य सोमयाग इसी प्रकार सम्पादित किये जाते हैं। सामान्यतः छः प्रकार के सोमयाग वर्णित हैं (१) उक्थ्य (२) षोडशी (३) अतिरात्र, (४) अत्यग्निष्टोम, (५) वाजपेय एवं (६) अप्तर्याम। इनमें प्रक्रिया में कुछ भेद हैं तथा इनमें से क्रमशः एक और स्तोत एवं शस्त्र सायं सवन कर्म में जोड़ दिया जाता है। इस प्रकार अप्तर्याम में सवन कर्म सारी रात चलता रहता है। यह उल्लेखनीय है कि सोमयाग का नामकरण उसके आयोजन सम्बन्धी रातों की संख्या पर रखा गया है, उदाहरणार्थ; त्रिरात्र चतुरात्र आदि।

५. वाजपेय यज्ञ :-

वाजपेय याग अग्निष्टोम का एक विक तियाग है। भिन्न-भिन्न विचारकों ने 'वाजपेय' शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं। वेबर ने वाजपेय का अर्थ शक्ति लगाया है। उनके अनुसार इस शब्द में पा धातु (पा रक्षणे) रक्षणार्थक है। प्रो. कीथ एवं एगलिंग 'पा' धातु पान करने के अर्थ में लेकर इसका अर्थ शक्तिवर्द्धक सोमरस का पान करना बताते हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण में वाजपेय का अर्थ देवों द्वारा शक्ति प्रदान किया जाना बतलाया गया है। अतएव ब्राह्मणों के अनुसार इस यज्ञ में भोजन एवं पान का ही प्राधान्य चर्चित है। तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा कौषीतकि ब्राह्मण में सोम को देवगणों का श्रेष्ठ पेय बतलाया गया है।

इस यज्ञ को सम्पादित करने की पात्रता मात्र ब्राह्मण एवं क्षत्रिय वर्ण के व्यक्तियों को प्रदान की गयी है, वैश्यों को नहीं। यह याग शरद ऋतु में सम्पन्न किया जाता है। इसके पूर्व व अन्त में ब हस्पतिसव सम्पादित करना होता है। ब हस्पतिसव के स्थान पर वैकल्पित व्यवस्था में ज्योतिष्टोमयाग करने का भी विधान बतलाया गया है। वाजपेय याग की अपनी कुछ विशेषताएं हैं। इसमें सातदीक्षा-दिवस होते हैं तथा तीन उपसद एवं एक दिन का सोम कर्मकाण्ड होता है। सत्रह आक तियों के बराबर ऊँचाई वाला उदुम्बर का यूप सत्रह कपड़ों से वेष्टित किया जाता है। सोमयाग के अतिरिक्त इसमें बाईस पशुओं (सवनीय पशुओं) की आवश्यकता होती है। अग्नि आदि पाँच देवों को पशुओं की वपा का होम किया जाता है। प्रजापति को सत्रह पशुओं की वपा का होम होता है। यागान्त में यजमान तथा अन्य सहयोगी रथ पर चढ़कर घोड़े दौड़ाते हैं। इसे आजिधावन कहा गया है। इस समय वाजसनेयि संहिता का मन्त्र उच्चारित होता है।

७. सौत्रामणी यज्ञ :-

सौत्रामणी का वर्णन तैत्तरीय ब्राह्मण (१.८.५ एवं ६) तथा शतपथब्राह्मण (५.५;१२.७) में मिलता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार सौत्रामणी क्लीब की भाँति न पूर्ण इष्टि है और न पशुबन्ध ही है।

अग्नि चयन के ठीक बाद सौत्रामणी नामक पशुयाग करना निर्धारित किया गया है, 'अग्निं चित्वा सौत्रामण्या यजेत, मैत्रावरुण्या वा।' (तै. ब्रा. ३.१२.५.१२) इस याग में तीन पशुओं तथा पशु पुरोडाशों की भी प्रमुख हवि दी जाती है।

सौत्रामणी याग के मुख्यतया दो भेद हैं (१) स्वतन्त्र (२) अङ्गभूत। स्पष्ट है कि जिसका सम्पादन स्वतन्त्र रूप से किया जाता है वह स्वतन्त्र सौत्रामणी याग कहलाता है तथा अङ्गभूत सौत्रामणी वह याग है जिसका सम्पादन अङ्ग के रूप में किया जाता है। स्वतन्त्र के तीन भेद हैं; नित्या, काम्या, तथा नैमित्तिकी। बिना किसी फल की कामना से आचरित नित्या, फल के उद्देश्य से सम्पादित काम्या तथा सोम-वपन के बाद अनुष्ठित सौत्रामणी को नैमित्तिकी कहा गया है। स्वतन्त्र प्रक ति की सौत्रामणी केवल ब्राह्मण वर्ण के लोग सम्पादित कर सकते हैं, अङ्गभूत को क्षत्रिय एवं वैश्यवर्ण भी कर सकते हैं। इस याग में अश्विनी कुमार, सरस्वती, और इन्द्र देवगण होते हैं जिनके लिये क्रमशः बकरा, भेंड़ एवं ऋषभ का प्रयोग विहित है। आपस्तम्ब तीन पशुओं वाली सौत्रामणी का उल्लेख करता है जिसे कौकिल सौत्रामणी कहा गया है। यह याग चार दिनों में सम्पादित होता है। इसमें ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु, आग्नीध्र, प्रतिप्रस्थाता और मैत्रावरुण ऋत्विक्गण अनुष्ठानरत होते हैं।

सौत्रामणी याग करने का मुख्य उद्देश्य पाप से शुद्धि प्राप्त करना बतलाया गया है। इस यागानुष्ठान से रोगी को रोग से छुटकारा पाने के अनेक उल्लेख ब्राह्मणों में मिलते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि यह याग ब्राह्मणों द्वारा अति आदर को प्राप्त हुआ। इस याग का सम्बन्ध प्रजापति से बतलाया गया है। कहा जाता है कि प्रजापति स्वयं रिक्त हो गये थे, वह इसी याग के अनुष्ठान से पुनः पूर्ण हुए थे। शतपथ ब्राह्मण में इसे इन्द्र का भी याग कहा गया है।

८. राजसूय यज्ञ :-

राजसूय यज्ञ के बारे में शथपथ ब्राह्मण (५.२) एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण (१.६.७) में उल्लेख मिलता है। इसे सम्पादित करने का अधिकार केवल क्षत्रिय को ही दिया गया है। जब राजा राज्यसत्ता का कार्यभार ग्रहण करता है तो राजसूय यज्ञ सम्पादित होता है। राजसूय में अनेक इष्टियाँ एवं सोमयाग किये जाते हैं। राजसूय सम्पन्न करने में सामान्यतया चौदह महीनों की अवधि में छः सोमयाग, दो पशुयाग, १२६ इष्टियाँ एवं सात दर्वी होम सम्पादित करने होते हैं। सामान्यतया राजसूय फाल्गुन मास के शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को आरम्भ किया जाता है। सर्वप्रथम पवित्र अथवा हेम पवित्र नामक सोमयाग किया जाता है। तदनन्तर, एक वर्ष तक चातुर्मास्य किये जाते हैं। उसके बाद कतिपय इष्टियां एवं होम किये जाते हैं। लगभग बारह इष्टियां 'रत्नमणि हर्वीषि के नाम से प्रसिद्ध हैं। रत्नी के घर में ही ये इष्टियाँ सम्पन्न होती हैं। इन इष्टियों के बाद अभिषेचनीय अथवा पवमान नामक सोमयाग किया जाता है। मध्याह्नकालीन सवन में मुख्य आहुति के बाद ऋत्विक् ब्रह्मा यजमान (राजा) को हाथ से पकड़कर जनता के समक्ष ले जाकर उद्घोषणा करता है, 'अमुक व्यक्ति का पुत्र यह व्यक्ति अब आपका राजा है, आपका रक्षक है ? - 'एष वो चरतो राजा' - तै.ब्रा. (१.७.४.२; १.७.६.७)। सवन कर्म पूर्ण हो जाने पर राजा का अभिषेक (स्नान कर्म) किया जाता है। समुद्र, सरिता, सरोवर, झील, सोता (झरना) आदि सोलह जलस्रोतों से लाये गये जल को दधि, दुग्ध, आज्य एवं शहद में मिश्रित कर अभिषेक जल (स्नानीय जल) तैयार किया जाता है। यजमान (राजा) हाथ में धनुषबाण लेकर आहवनीय के समक्ष बिछाये गये व्याघ्र चर्म पर बैठता है। तब छः पार्थ होम किये जाते हैं एवं वे ही ऋत्विक्गण माहेन्द्र स्तोत्र का पाठ करते हैं। अध्वर्यु, ब्रह्मा, होता एवं उद्गाता यजमान के चारों ओर खड़े होकर दधियुक्त पवित्र जल को यजमान पर छिड़कते हैं। एक राजपुरुष एवं यजमान के व्यापारवर्गीय निकट के मित्रगण भी जलाभिषेक (जल छिड़कने) में सम्मिलित होते हैं। तब राजा नवीन वस्त्र धारण कर छः इतर पार्थ होम सम्पन्न करता है। तीन घोड़ों से खींचे जाने वाले रथ में जिसके पीछे दो सेवक अनुधावन करते हैं, राजा बैठता है। तब एक दिखावटी युद्ध का अभिनय किया जाता है जिसमें राजा एक कवचधारी वीर राजपुरुष पर वाणों से प्रहार कर उस पर विजय प्राप्त करता

है। राजा के रथ से उतरते ही कतिपय होम किये जाते हैं। आहवनीय के सामने एक चौकोर चबूतरा निर्मित किया जाता है जिसके ऊपर व्याघ्र चर्म से आव त एक कुर्सी रखी जाती है। राजा इस कुर्सी पर बैठता है। उसके चारों ओर ऋत्विक् एवं प्रजागण बैठते हैं। राजा अध्वर्यु एवं अन्य तीन विशिष्ट ऋत्विजों का स्वागत एवं प्रशस्ति करता है जिसके उत्तर में वे राजा का यशोगान करते हैं। अब यजमान को देश का राजा स्वीकार कर लिया जाता है। इस अवसर पर होता शुनःशेप की कथा सुनाता है। इसी के साथ सोमयाग समाप्त होता है। दूसरे दिन से दस दिनों तक सरीस पा हवि नामक इष्टियाँ की जाती हैं। सातवें दिन दशपेय नामक एक अन्य सोमयाग किया जाता है। इसे दशपेय इसलिए कहा जाता है, क्योंकि दस श्रोत्रियों द्वारा सोम पीने वाले सामान्य कटोरों के अतिरिक्त दस अन्य कटोरों (चमषों) का भी उपयोग इस याग में आहुतियों हेतु किया जाता है।

एक वर्ष के बाद केशवपनीय नामक चतुर्थ सोमयाग किया जाता है जिसे एक व्रत की अवधि के रूप में माना जाता है। जब तक यजमान केशवपनीय सोमयाग नहीं कर लेता तब तक वह क्षौर नहीं करा सकता। उसके बाद व्यस्ति द्विरात्र एवं क्षत्रस्यध ति नामक दो अन्य सोमयाग करने पड़ते हैं। तब जाकर राजसूय का समापन होता है। राजसूय की समाप्ति पर सौत्रामणी की जाती है।

राजसूय याग में प्रमुख रूप से सम्पन्न होने वाली क्रिया राज्याभिषेक क्रिया होती है। इसका माहात्म्य ब्राह्मणग्रन्थों के अतिरिक्त 'महाभारत' में भी वर्णित है। ऐतरेय ब्राह्मण में सोमसुषमा वाजरत्नायन के द्वारा शतानीक के अभिषेक, नारदपर्वत के द्वारा अम्बष्ट राजा के राजसूय अभिषेक तथा कश्यप द्वारा विश्वकर्मा के राजसूयाभिषेक के विवरण उदात्त हैं। 'महाभारत' में युधिष्ठर द्वारा सम्पादित याग में उनके अभिषेक का सुन्दर चित्रण किया गया है।

६. अश्वमेध :-

अश्वमेध यज्ञ भारत का सुप्रसिद्ध राजवंशीय यज्ञ रहा है। इसका वर्णन तैत्तिरीय ब्राह्मण (३. ८-६) एवं शतपथब्राह्मण में आता है। यह भी मूलतः एक सोमयाग ही है जिसमें सवनीय पशु के रूप में 'अश्व' उपयुक्त होता है। अश्वमेध में अश्व के अतिरिक्त बहुत से अन्य पशु भी उपयोग में लाये जाते हैं। 'अश्व' के प्रधान सवनीय पशु होने के कारण ही इस याग को 'अश्वमेध' कहा गया है। अश्वमेध याग का श्रीगणेश सांग्रहण्येष्टि से किया जाता है। इस इष्टि के बाद एक पशुयाग किया जाता है जिसमें यजमान ऋत्विजों के साथ यज्ञशाला में जाता है। निर्धारित गुणों वाले एक अश्व को किसी नदी, झील अथवा सरोवर के पास ले जाया जाता है, घुटने भर पानी में उसे खड़ा कराकर चारों ओर से ऋत्विक्गण एवं अन्य लोग उस पर अभिमन्त्रित जल छिड़कते हैं। अध्वर्यु एक सौ राजकुमारों के साथ पूर्व में, ब्रह्मा एक सौ अन्य शूरवीरों के साथ दक्षिण में, होता एक सौ रथियों एवं ग्राम्य प्रधानों के साथ पश्चिम में, तथा उद्गाता एक सौ क्षत्रों एवं सांग्रहीताओं के साथ उत्तर में खड़े होते हैं। अश्व को स्वेच्छा से संक्रमण करने दिया जाता है। अश्व के पीछे उसकी रक्षा हेतु सेना प्रयाण करती है। यजमान कतिपय होम करता है तथा श्रोत्रिय द्वारा स्तोत्रों एवं क्षत्रियों द्वारा वाद्ययन्त्र की धुन पर अपनी वीरगाथाओं की प्रशस्तियाँ सुनता है। यजमान राजा होता द्वारा परिप्लव शस्त्र गान सुनता है। यह क त्य एक वर्ष तक प्रतिदिन चलता रहता है तथा अश्व की वापसी की प्रतीक्षा की जाती है। इस प्रकार जब तक अश्व प्रयाण करता रहता है, अनेक निर्धारित होम किये जाते हैं।

अश्वमेध यज्ञ में तीन मुख्य दिवस होते हैं, प्रथम दिन प्रारम्भिक क त्य होते हैं, दूसरे दिन अश्व एवं अन्य पशुओं की आहुति दी जाती है। अश्व को प्रमुख यूप से बाँधा जाता है। उसके दोनों तरफ एक पंक्ति में दस-दस अन्य यूप गाड़े जाते हैं। वाजसनेय के अनुसार इन यूपों से बाँधे जाने वाले पशुओं की संख्या ३४० होती है, तैत्तिरीय के अनुसार यह ३६० होती है। ये सभी ग्राम्य (घरेलू उपयोग के) पशु होते हैं। इन दोनों के बीच ३६० जंगली पशु निर्धारित किये गये हैं जिन्हें प्रयज्ञीकरण के बाद छोड़ दिया जाता है।

अश्वमेध को यज्ञों का राजा कहा गया है। शतपथब्राह्मण का कथन है कि इस यज्ञ के करने से मनुष्य सभी पातकों तथा ब्रह्महत्या से मुक्ति पा लेता है। सार्वभौम भूपति बनने हेतु अश्वमेध याग करना अनिवार्य है। अश्वमेध करने वाला सभी दिशाओं में विजयी होता है। अश्वमेध से सभी कामनाएँ पूर्ण होती हैं, पाप नष्ट होते हैं, इससे सब अनिष्ट का प्रायश्चित्त होता है तथा मनुष्य रोगमुक्त हो जाता है। शतपथब्राह्मण में अति ओजस्वी ढंग से अश्वमेध से सिद्ध होने वाले समस्त प्रयोजनों-उद्देश्यों का विशद वर्णन किया है। इसी ब्राह्मण-ग्रन्थ में परीक्षित, भीमसेन, उग्रसेन, पुरूकुत्स, मत्सराज, ध्वास, दैवतवन तथा दौष्यन्ति भरत के विश्वविश्रुत अवश्वमेधयाग का विवरण अंकित है। अवश्वेमध का सम्बन्ध मुख्यतया प्रजापति से है, किन्तु शतपथ ब्राह्मण के अनुसार इस याग के अनुष्ठान से सभी देव वशीभूत हो जाते है।

१०. पुरूषमेध :-

पुरूषमेध यज्ञ का वर्णन तैत्तिरीय ब्राह्मण (३.४) तथा शतपथब्राह्मण (१३.४.२.१) में मिलता है। शतपथब्राह्मण के अनुसार पुरूष भगवान् की यह इच्छा हुई कि मैं समस्त जीवों में सर्वोपरि हो जाऊँ तो उन्होनें पुरूषमेध प चरात्र यज्ञ की ओर द ष्टि डाली और उसे सम्पन्न किया। इस यज्ञ के फलस्वरूप वह विश्व में सर्वश्रेष्ठ बन गये। इस प्रकार मनुष्य भी इसके अनुष्ठान से सर्वश्रेष्ठ बन सकता है। पुरूषमेध भी सोमयाग है। जिसके मुख्य कर्मकाण्ड पाँच दिन में सम्पन्न होते है। 'मनुष्य' को सवनीय 'पशु' की संज्ञा दी गयी है। पाँच रातों में सम्पन्न होने के कारण इसे पंचरात्र यज्ञ भी कहा गया है। प्रथम दिन अग्निष्टोम, दूसरे दिन उक्थ्य, तीसरे दिन अतिरात्र, चौथे दिन उक्थ्य तथा पंचम दिन पुनः अग्निष्टोम किया जाता है। सोम इष्टियों के दिन ग्यारह पशुओं का तथा अतिरात्र के दिन प्रत्येक यूप पर एक-एक पशु को बाँधकर बीच के यूप पर ४८ पशुओं को बाँधा जाता है। यूप से पशुओं के बँध जाने के बाद पुरूषसूक्त का स्तवन कर पुरूषनारायण की पूजा की जाती है। तदनन्तर पशुओं के पर्यग्निक त हो जाने के बाद उन सभी पुरूषों को छोड़ दिया जाता है। जिन-जिन देवों को उद्दिष्ट कर पुरूष पशुओं को बाँधा जाता है। उन-उन देवों को आज्याहुति प्रदान की जाती है। तदनन्तर यजमान आदित्य की पूजा करते हुए पीछे मुड़ कर न देखते हुए वन में जाकर वानप्रस्थ स्वीकार कर लेता है। उसे जीवन पर्यन्त अपने घर नहीं आना चाहिए। यदि वह व्यक्ति अपने ग हस्थाश्रम में वापस आना चाहे तो अरणी और उत्तरारणी में दो अग्नियों को लेकर आदित्य की उपासना उसे करनी चाहिए। ग हस्थाश्रम में रहते हुए उसे आजीवन अग्निहोत्र आदि क त्य करते रहने चाहिए।

कतिपय विद्वानों की यह धारणा है कि पुरूषमेध में वास्तविक रूप से पुरूष की बलि दी जाती थी। शतपथब्राह्मण में इस प्रकार की हिंसा का पूर्णतः परित्याग किया जाना वर्णित है (श०ब्रा०१३.६.२.१३-१३)। विलसन पुरूषमेध में हिंसा मानते है। अपने कथन के समर्थन में वह शुनःशेप की कथा उद्ध त करते है। मैक्समूलर भी इसी अभिमत का समर्थन करते है। कोलब्रुक ने इस मत के विरूद्ध मत प्रतिपादित किया है। उनकी धारणा है कि पुरूषमेध में लाक्षणिकता है। ओल्डेनबर्ग ने पुरूषमेध में हिंसा के भाव को कल्पना-मण्डित माना है। प्रो० कीथ ओल्डेनबर्ग का समर्थन करते है। उनका अभिमत है कि पुरूषमेध ब्राह्मणों का मात्र पूजा क त्य है इसमें आराधना सम्पन्न होती है। इसी प्रकार हिंसाराहित्य का मत विन्टरनिट्ज ने भी प्रतिपादित किया है। इनका कथन है कि पुरूषमेध की उत्पत्ति यज्ञों में आध्यात्मिक ज्ञान हेतु हुई है। पाश्चात्य विद्वानों में वेबर का मत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व सही दिशा बोध कराने वाला प्रतीत होता है। उनके अनुसार ब्राह्मणों के परिशीलन से यह स्पष्टतः ज्ञात होता है कि पुरूषमेध में मानव बलि नहीं होती थी। पुरूषमेध एक प्रतीक मात्र था।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पुरुषमेध में सवनीय पशुओं का वर्णन उन उन देवताओं के साथ किया गया है जिनके उद्देश्य से वे हैं तथा जिन्हें वे अर्पित किये जाते हैं। पुरुषमेध के देवता भी कुछ असाधारण प्रक ति के दिखाई देते हैं। इस यज्ञ में 'पशु' को जलाया नहीं जाता बल्कि उन्हें छोड़ दिया जाता है। यज्ञार्थ निर्धारित मानव पशुओं की सूची देखने से यह धारणा पूर्णतया द ढ़ हो जाता है कि

पुरुषमेध एक प्रतीक है। समूचा पुरुषमेध विशिष्ट प्रतीकों से भरा पड़ा है। इन प्रतीकों को देखकर कतिपय पाश्चात्त्य विद्वानों ने पुरुषमेध में अहिंसा के बीज वपन की बात कही है। उनका कथन है कि यहीं कर्मकाण्ड परक धर्म से आध्यात्मिकता की ओर प्रव त्ति दिखायी देती है।

यज्ञ के आवश्यक तत्त्व :-

ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ के विधि-विधानों के वर्णन के साथ यज्ञ से सम्बद्ध तत्त्वों के स्वरूप और कार्यादि का वर्णन उपलब्ध है। कतिपय प्रमुख तत्त्वों का परिचय यहां प्रस्तुत है।

१. दीक्षा :- याग प्रारम्भ करने के पूर्व यजमान को कतिपय पवित्र करने वाली क्रियाएँ करनी होती हैं। यह क्रिया दीक्षा कहलाती है। यजमान अपनी धर्मपत्नी के साथ ही यज्ञ करने का अधिकारी होता है 'अर्धो वा एष आत्मनः यत्पत्नी'। तै० ब्रा० (३.३.३.१) अर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया। श० ब्रा० (५. १.६.१०)। ऐतरेय ब्राह्मण में (३२.६-२०) बिना पत्नी के यजमान को भी यज्ञ करने का पात्र माना गया है - 'तदाहुः अपत्नीको अपि अग्निहोत्रमाहरेत् नाहरेत् इति। आहरे-दित्याहुः।

सपत्नीक यजमान भी तभी यज्ञ कर सकता है जब वह दीक्षा की क्रिया पूर्ण कर लेता है। दीक्षा के संस्कार से यजमान का एक प्रकार से नया जन्म होता है, जो उसे पवित्र कर आध्यात्मिक क्षेत्र में ऊँचा उठा देता है जिससे कि वह देवताओं को हविष् देने योग्य हो जाय। वास्तव में दीक्षा के माध्यम से यजमान स्वयं को समर्पित कर देता है, 'सर्वाभ्यो वा एष देवताभ्य आत्मानं वालभते यो दीक्षते' (ऐ० ब्रा० ६.३)।

दीक्षा के परिणामस्वरूप यजमान को पत्नी सहित मौन तथा यज्ञ क्रिया के अतिरिक्त क त्यों से पराङ्मुख रहना पड़ता हैं यह इसलिये आवश्यक माना जाता है जिससे कि दीक्षित यजमान एवं उसकी धर्मपत्नी एकाग्रचित्त होकर पवित्र निष्ठा से देवताओं के निमित्त समस्त यागादि क्रियाएँ निर्विघ्न सम्पन्न कर सकें। जब कभी उन्हें अपरिहार्य कारणवश बोलना पड़ता है तो वे अत्यन्त विनीत एवं सुसंस्क त वाणी में बोलते हैं। इसी प्रकार यजमान को निश्चलभाव से बिना घूमे फिरे बैठना पड़ता है। वह केवल लघुशंका एवं दीर्घशंका निवारणार्थ ही उठ सकता हैं याग की अवधि में वह सामान्य आहार भी नहीं ग्रहण कर सकता, केवल दूध पी सकता है।

२. ऋत्विज् :-

यजमान द्वारा आहूत, यज्ञ को सविधि सम्पन्न कराने वाला, दक्षिणाप्राप्त, विद्वान् ऋत्विक् कहलाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार ऋत्विज् बनने का अधिकार केवल ब्राह्मणों को प्राप्त है। यज्ञानुष्ठान को यजमान एवं उसकी पत्नी ही सम्पन्न कर सकते हैं। नित्य अग्निहोत्र को तो यजमान स्वयं भी कर सकता है किन्तु अन्य यागादि क्रियाओं के सम्पादन हेतु यजमान को ऐसे व्यक्तियों की सहायता लेनी पड़ती है जो यागादिक कर्मकाण्ड में निष्णात व तपोनिष्ठ हों। ऐसे तपोनिष्ठ व्यक्तियों को ऋत्विक् कहा गया है। ऋत्विक्गण यज्ञ में सीधे भाग ले सकते हैं। प्रसंगवश यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि ऋत्विज् अथवा पुरोहित यजमान एवं उसकी पत्नी को यज्ञ में मात्र सहायता ही पहुँचा सकते हैं, जबकि यज्ञ करने का अधिकार व दायित्व सीधा यजमान व उसकी पत्नी का होता है। इष्टियों में ऋत्विक्गण अध्वर्यु, होता, ब्रह्मा एवं अग्नीध्र यजमान की मदद करते हैं। पशुयाग में प्रतिप्रस्थाता, प्रशस्ता अथवा मैत्रावरुण नामक दो अन्य ऋत्विजों की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार पशुयाग में उपर्युक्त छः ऋत्विजों के अतिरिक्त निम्नांकित दस अन्य ऋत्विजों को लेकर कुल १६ ऋत्विजों की आवश्यकता पड़ती है :- नेष्टा, उन्नेता, अच्छावाक, ब्राह्मणाच्छंसी, पोता, ग्रावास्तुत्, उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता एवं सुब्रह्मण्य। कभी-कभी सत्रहवें सदस्य नामक ऋत्विक् एवं अठारहवें उपद्रष्टा नाम के ऋत्विक् का भी उल्लेख मिलता है।

उपर्युक्त सोलह ऋत्विजों को निम्नांकित चार वर्गों में बाँटा जा सकता है :-

१ अध्वर्युगण - अध्वर्यु, प्रपिप्रस्थाता, नेष्टा एवं उन्नेता।

२. होतागण - होता, प्रशस्ता अथवा मैत्रावरुण, अच्छावाक् एवं ग्रावास्तुत्।

३. उद्गातागण - उद्गाता प्रस्तोता, प्रतिहर्त्ता एवं सुब्रह्मण्य।

४. ब्रह्मागण - ब्रह्मा, ब्रह्मणाच्छंसी, आग्नीध्र एवं पोता।

सदस्य एवं उपद्रष्टा स्वतन्त्र ऋत्विक् होते हैं। बौधायन श्रौतसूत्र ने सदस्य, अभिगर, ध्रुवगोप एवं संश्रव नामक चारं को सदस्यगण के रूप में उल्लिखित किया है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि ब्राह्मणों में ऋत्विजों का इस प्रकार का वर्गीकरण वर्णित नहीं है। ब्राह्मणों में ऋत्विजों के नाम यत्र-तत्र उल्लिखित मिलते हैं।

ऋत्विजों का संक्षिप्त परिचय तथा उनके कर्त्तव्य निम्नांकित हैं :-

अध्वर्यु :-

अध्वर्यु यज्ञ क्रिया में प्रमुख ऋत्विक् होता है। यह यजुर्वेद का ज्ञाता होता है तथा यजुर्वेद से सम्बद्ध कार्य सम्पादित करता है। यज्ञशाला में अपने क त्यवाहुल्य एवं महत्त्वपूर्ण अन्य व्यावहारिक कार्यों के कारण वह प्रमुख स्थान प्राप्त करता है। शतपथब्राह्मण में अध्वर्यु को मस्तिष्क कहा गया है। उसके मुख्य कार्य यज्ञकर्ता के लिए यज्ञ की सम्पूर्ण सामग्रियों को ले जाना, तथा यज्ञिय घ त का प्रेक्षण करना आदि हैं। इस प्रकार अध्वर्यु को ही यज्ञ के समस्त क त्य करने पड़ते हैं तथा अन्य लोगों को भी सभी आवश्यक निर्देश उसे ही देने होते हैं। वस्तुतः यज्ञ का वही प्रमुख कार्यकर्त्ता होता है। शतपथब्राह्मण में अध्वर्यु को यज्ञ का पूर्वार्ध कहा गया है। वही यज्ञ का विस्तार करता है। वह यज्ञ की मुख्य प्रतिष्ठा है।

प्रतिप्रस्थाता :-

यह अध्वर्यु का प्रथम सहायक होता है। यह निरन्तर अध्वर्यु के साथ रहता है तथा उसी के संकेत पर कार्य करता है। अध्वर्यु तथा प्रतिप्रस्थाता को 'अध्वर्यू (द्विवचन का रूप अर्थात् अध्वर्युयुग्म) कहा जाता है। इसी आधार पर अश्विनीकुमारों (देव युग्म) को देवताओं का 'अध्वर्यू' (अध्वर्युयुग्म) कहा जाता है - 'अध्वर्यू (अश्विनावध्वर्यू)'। यज्ञ में अध्वर्युयुग्म का वही स्थान है जो मानव शरीर में दो हाथों का होता है।

उन्नेता :-

उन्नेता का कार्य सोमरस को छानकर उसे सोम चषकों भरकर होम के लिए देना है। होम के बाद वही उन चषकों को साफकर भावी यज्ञ के लिए तैयार भी रखता है। द्वादशाह याग में उन्नेता नेष्टा, आग्नीध्र, सुब्रह्मण्या एवं ग्रावास्तुत् को दीक्षित करता है। तदनन्तर स्नातक या ब्रह्मचारी उन्नेता को दीक्षित करते हैं। जैमिनि ब्राह्मण में उन्नेता को विष्णु का स्वरूप माना गया है। इसे प्राण की संज्ञा दी गयी है।

ब्रह्मा :-

जो ऋत्विक् व्याहृतियों को जानता है वह ब्रह्मा होने के लिए पात्र है। सम्पूर्ण यज्ञ क्रिया का यह अधीक्षक होता है। सामान्यतया वह यजमान के समीप बैठता है तथा यज्ञ का रक्षक होने के नाते वह समस्त कर्मकाण्ड पर कड़ी द ष्टि रखता है। गोपथ ब्राह्मण के अनुसार ब्रह्मा अथर्ववेद से सम्बद्ध होता है। सामान्यतया ब्राह्माणों के अनुसार ब्रह्मा को तीनों वेदों का ज्ञानी होना चाहिए। वेदि के एक कोने में ऐसी जगह बैठने हेतु उसका स्थान नियत रहता है जहाँ से कि वह सम्पूर्ण यज्ञशाला पर द ष्टिपात कर सके। वह त्रुटि हेतु प्रायश्चित्त करता है। प्रवर्ग्य इष्टि में अनुमन्त्र पढ़ता है। वाजपेय याग में वाजिन साम का गान करता है। सम्पूर्ण यज्ञकर्म ब्रह्मा पर आध त होता है, उसे सर्वविद् कहा गया है। उसके बिना यज्ञ अधूरा रहता है।

होता :-

ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार होता यज्ञ में 'अमुक देवता का आवाहन करो' 'अमुक देवता का आवाहन करो' वाक्य कहता रहता है। इसी कारण उसका नाम होता दे दिया गया। यज्ञ के विभिन्न क त्यों को सम्पादित करने से भी यह होता कहलाता है। होता विविध मन्त्रोच्चार से अग्नि को प्रज्ज्वलित करता है। सोम यज्ञ में वह प्रातरनुवाक का गान करता है तथा यज्ञान्त में त ष्णीशंस सूक्त उच्चरित करता है। राजसूय यज्ञ में वह यजमान राजा को उपदेश करता है। अश्वमेध याग में पारिप्लवाख्यान सुनाता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार होता के सिर के केश कटे हुए होने चाहिये तथा मात -पित वंश एवं आचरण से उसे पवित्र होना चाहिए। ताण्ड्य-महाब्राह्मण में होता को सत्य का नाम दिया गया है। होता का कार्य होम के साथ सम्बद्ध मन्त्रों एवं शास्त्रों का सस्वर उच्चारण करना है। यह मन्त्रोच्चार अध्वर्यु के निर्देशानुसार करता है। होता द्वारा आहुति मन्त्रों का उच्चारण करते समय जब होता 'पौषट्' शब्द का उच्चारण करता है तो अध्वर्यु हविष् को अग्नि में डालता है।

प्रशस्ता अथवा मैत्रावरुण :-

अध्वर्यु के निर्देश पर प्रशस्ता यज्ञ का नियन्त्रण करता है। यह 'होत वर्ग' के छोटे ऋत्विजों का प्रणेता होता है। इसे यज्ञ के मनस् की संज्ञा दी गयी है। होता के समीप वेदि के बीचों-बीच प्रशस्ता औदुम्बर लेकर खड़े होकर अपना कार्य सम्पादित करता है। औदुम्बर (गूलर की छड़ी) ही उसकी पवित्र पहचान है। होता की ही भाँति वह भी मन्त्रोच्चार करता है।

अच्छावाक :-

इस ऋत्विक् का भी कार्य होता के कार्यकलाप की ही भाँति होता है। यह होता का सहायक होता है। कौषीतकि ब्राह्मण में आये एक आख्यान में कहा गया है कि मनु का पुत्र नाभानेदिष्ट अंगिरसों द्वारा बुलाया गया था जहाँ वह अच्छावाक का कार्य देखता था। इससे यह आभास होता है कि यह ऋत्विक् संभवतः बाद की उपज है।

पोता :-

इसका भी कार्य होता के कार्य की ही भाँति होता है। यह भी होत क कहलाता है। इसका भी कार्य मन्त्रपाठ करना है। सोमयाग में यह प्रातः एवं मध्याह्न सवन में मन्त्रोच्चारण करता है।

ब्राह्मणाच्छंसी :-

यह ऋत्विक् भी होता की ही तरह के कार्यकलाप वाला होत क कहलाता है। इसका भी मुख्य कार्य मन्त्रपाठ करना है। यह त तीय सवन में इन्द्र और ब हस्पति के मन्त्रों का उच्चारण करता है। यह यज्ञशाला में दक्षिण भाग में बैठता है। देवों को असुरों से होने वाले विघ्नों से बचाने के निमित्त ही वह दक्षिण में आसीन होता है।

नेष्टा :-

नेष्टा भी अध्वर्यु की सहायता के लिये होता है। यह सोमयाग में पशु के संज्ञपन के बाद यजमान की पत्नी को लाता है। वह त्वष्टा का मन्त्रपाठ करता है। वाजपेय याग में वह ग्रहों में रस उड़ेलकर उन्हें यथास्थान रखता है। वह यज्ञकर्म में प्रतिप्रस्थाता, पोता, प्रतिहर्त्ता तथा अच्छावाक को दीक्षा देता है।

आग्नीध्र :-

आग्नीध्र ब्रह्मा का सहायक ऋत्विक् है। यह अग्नि को देखभाल तथा विभिन्न वेदियों पर अग्नि को पहुँचाने का कार्य सम्पादित करता है। वह अग्नि को प्रज्ज्वलित करता है। आग्नीध्र का एक प्रमुख कर्त्तव्य यह भी सुनिश्चित करना होता है कि देवों के आवाह्न के पूर्व कर्मकाण्ड की समस्त तैयारियाँ पूर्ण कर ली गयी हैं। वह अपने हाथ में लकड़ी का चाकू भी लिये रहता है जो उसकी पहचान होता है। आग्नीध्र को अग्नि का स्वरूप माना गया है। इस ऋत्विक् को द्यावाप थिवी का प्रतिनिधि

बतलाया गया है - 'द्यावाप थिव्यो वा एष यदाग्नीध्रः।' इस प्रकार होता से आग्नीध्र तक कुल सात ऋत्विज सात होतागण कहलाते हैं।

ग्रावास्तुतः :-

ग्रावास्तुत होता का सहायक ऋत्विक् होता है। सोमयाग में जिन पत्थरों द्वारा सोमलता को पेरकर सोमरस निकाला जाता है उन पत्थरों की प्रशस्ति-स्तुति में मन्त्र पढ़ना ग्रावास्तुत का मुख्य कार्य होता है। वह आँखों में पट्टी बाँधकर पत्थरों की स्तुति में मन्त्रोच्चार करता है।

उद्‌गाता :-

सोमयाग में साम ऋचाओं का गान करने वाले ऋत्विजों का प्रधान गायक उद्‌गाता कहलाता है। जहाँ साम की प्रतिष्ठा सर्वाधिक होती है, वहाँ देवगण यथेष्ट भोजन करते हैं, क्योंकि साम ही उनका विशिष्ट भोजन है। जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण के अनुसार वह यजमान की म त्यु से रक्षा करता है।

प्रस्तोता :-

यह उद्‌गाता का सहायक है। यह भी सामवेद से सम्बद्ध ऋत्विक् है। प्रस्तोता साम ऋचाओं का पाठ आरम्भ करता है, उद्‌गाता ऋचाओं का मध्यभाग गाता है तथा प्रतिहर्त्ता अन्तिम भाग का सस्वर गान करता है। सोमयाग में साम गान हेतु उपर्युक्त क्रम से ये तीनों ऋत्विज बैठते भी हैं। अश्वमेध यज्ञ में अश्व के संज्ञपन के समय वह यम से सम्बद्ध सामगान करता है। राजसूय यज्ञ में दशपेय के समय उस ऋत्विक् को अश्व की दक्षिणा दी जाती है। इसकी तुलना वाणी से की गयी है 'प्रस्तोता वागेव यज्ञः।' इसे प्रजापति का स्वरूप कहा गया है।

सुब्रह्मण्य :-

यह उद्‌गाता का सहायक है। सोमयाग के प्रारम्भिक दिनों में सुब्रह्मण्य ही इन्द्रदेवता का आवाहन साम ऋचाओं के गान द्वारा करता है। उसका कार्य सुब्रह्मण्याह्वान कहलाता है। ऐतरेय ब्राह्मण में सर्वाधिक व द्ध व्यक्ति को सुब्रह्मण्य ऋत्विक् बनाया जाता है। यज्ञकर्म में इसे व षभ की दक्षिणा दी जाती है।

प्रतिहर्त्ता :-

यह भी उद्‌गाता का सहायक ऋत्विक् होता है। इसका मुख्य कार्य प्रतिहार साम गान करना है। यह ऋत्विक् ऋचाओं का अन्तिम भाग गाता है। यह गायों की देखभाल करता है जिससे वे सुरक्षित रहती हैं। कौषीतकि ब्राह्मण में प्रतिहर्त्ता को यज्ञ का व्यान कहा गया है। शतपथ-ब्राह्मण इसे भिषक् कहता है।

सदस्य, उपद्रष्टा :-

इन्हें वैकल्पिक व्यवस्था में यज्ञ की सहायता एवं निर्देश हेतु चुना जाता है। सूत्रकारों ने इनके कार्यकलाप को गिनाया तो है, किन्तु वे इन्हें 'ऋत्विक्' की पदवी प्रदान नहीं करते।

उपगातागण :-

इन्हें उपगाता इसलिये कहा जाता है कि ये भी यज्ञ-क्रिया में सीधा भाग लेते हैं तथा साम गायकों, का साथ देकर सामगायन में सहायता पहुँचाते हैं। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि पूर्वमीमांसा सूत्र इन्हें अलग प्रकार के ऋत्विज नहीं मानता - 'उपगाश्च लिंग-दर्शनात्' १३.७.३. शबरस्वामी-'तेषामेव केचित् स्युः।'

चमसाध्वर्यु :-

सोमरस छानकर नौ अथवा दस प्यालों (कटोरों) में आहुति हेतु सुरक्षित रखा जाता है। केवल

दो ही ऋत्विक् अध्वर्यु एवं प्रतिप्रस्थाता होम करते हैं। अग्नि में सोम की आहुति देने में उक्त सभी प्यालों (कटोरों) से सोमरस एक साथ निकालना होता है, अतएव उन प्यालों को हाथ में पकड़े रखने के लिए जिन सहायकों की आवश्यकता पड़ती है, वे चमसाध्वर्यु कहलाते हैं।

वेदि

यज्ञशाला में वह स्थान जहाँ विभिन्न अग्निकुण्ड स्थित होते हैं, वेदि कहलाता है। पाश्चात्त्य धारणाओं के अनुसार वेदि साधारण भूमि से कुछ उन्नत भूमि पर स्थित मानी जाती है। स्पष्ट रूप से वेदि का अर्थ यह अर्थ संहिता कालीन (वेदि) के अर्थ से भिन्न है। संहिता कालीन धारणा के अनुसार वेदि वह भूस्थल है जो एक निश्चित माप का तथा शुद्धीक त होता है। यही भाव 'अमरकोश' में भी सन्निहित है - 'वेदिः परिष्क ता भूमिः।'

यज्ञ की तीनों विधाओं इष्टि, पशुबन्ध एवं सोमयाग की अपनी अलग-अलग वेदि होती है। वरुणप्रघास (एक प्रकार का चतुर्मास्य) में एक अन्य विशिष्ट ढंग की वेदि उपयोग में लायी जाती है। इष्टि में प्रयुक्त की जाने वाली वेदि 'दार्शिकी वेदी' ही अन्य सभी तरह की वेदियों की मानक स्वरूप होती है। अन्य सभी वेदियाँ दार्शिकी की रूपान्तर अथवा संशोधित रूप में हुआ करती हैं। सभी वेदियाँ पूरब-पश्चिम दिशाओं को आधार बनाकर स्थित होती हैं।

दार्शिकी वेदि :-

इस वेदि पर नित्य के अग्निहोत्र एवं दर्शपूर्णमासेष्टि सम्पन्न किये जाते हैं। यह सबसे सरल ढंग की वेदि होती है। उस स्थान पर जहाँ यह वेदि निर्मित की जाती है, सर्वप्रथम गार्हपत्य का स्थान चिह्नित किया जाता है।

वरुणप्रघास वेदि :-

दार्शिकी वेदि के दक्षिण में गार्हपत्य एवं दक्षिणाग्नि के कुण्डों के बिना एक अन्य दार्शिकी वेदि का निर्माण किया जाता है जो वरुणप्रघास वेदि कहलाती है।

सौमिक वेदि :-

सौमिक वेदि एक चौकोर आकार की वेदि होती है जो कि यजमान के घुटनों तक ऊँची होती है। उपर्युक्त महावेदि की पूर्वी सीमा पर 'यूप' गाड़ा जाता है। यज्ञशाला में पूर्वी-पश्चिमी पंक्ति में यूप, उत्तरवेदि (आहवनीय) का केन्द्र, औदुम्बरी, गार्हपत्य का केन्द्र (अर्थात् प्राग्वंश में आहवनीय) एवं प्रजनित (अर्थात् प्राग्वंश में गार्हपत्य) स्थित रहते हैं।

पशुबन्ध वेदि :-

आकार में पशुबन्ध वेदि सौमिक वेदि की तरह ही होता है। इसमें उत्तरवेदि तथा महावेदि पर यूप गड़ा होता है, किन्तु कोई मण्डप नहीं होता। महावेदि की पश्चिमी सीमारेखा के बाहर होता और प्रशास्ता पास-पास बैठते हैं।

चयन :-

सौमिक वेदि की उत्तरवेदि चयन के लिये संशोधित कर तैयार की जाती है। उत्तरवेदि प्रायेण चौकर आक ति की होती है तथा यजमान के घुटने तक ऊँची होती है। चयन की वेदि से संशोधित-परिवर्द्धित कर अनेक आकार की वेदियाँ बनायी जाती हैं। उदाहरणस्वरूप निम्नांकित प्रमुख हैं :-

१ श्येनचित् - (पंख फैलाये हुए गिद्ध की आकार वाली)।

२. कंकचित् - (बिना पंख के सारस के आकार वाली)।

३.	प्राङ्चित्	-	(त्रिकोणात्मक)।
४.	उभयतः प्राङ्चित	-	(दोनों ओर से त्रिकोणात्मक)।
५.	रथचक्रचित्	-	(चक्राकार वाली)।
६.	द्रोणचित्	-	(हत्था लगे हुए पात्र के आकार वाली)।
७.	परिच्छाय	-	(छः व त्तों के आकार वाली)।
८.	समूह्य	-	(गोलाकार, कच्चे ईटों से बनी)।
६.	कूर्म	-	(कछुए की आकार वाली)।

ये सभी वेदियाँ तथा चौकोर आक ति की वेदि सुन्दर परतों में बनायी जाती हैं। प्रथम (सबसे नीचे वाली) एवं त तीय परतें एक आकार की तथा द्वितीय एवं चतुर्थ परतें अन्य आकार की होती हैं। ईंटों में गारा लगाकर इनका निर्माण किया जाता है। वेदि निर्माण के बारे में ब्राह्मणों में पर्याप्त निर्देश दिये गये हैं। शतपथब्राह्मण के चयनकाण्ड में विभिन्न प्रकार की वेदियों का विवरण अंकित है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के त तीय काण्ड में कुछ वेदियों के प्रकार वर्णित हैं। इनके अध्ययन से विदित होता है कि वेदियों के आकार प्रकार का पूरा रेखागणित निश्चित व्यवस्था सहित इनमें विवेचित है।

प्रवर्ग्य :-

प्रवर्ग्य की क्रिया सोमयाग के प्रारम्भिक दिनों में सम्पन्न की जाती है। प्रवर्ग्य में उबले हुए घी को बकरी तथा गाय के दूध में मिलाकर आहुति दी जाती है। सोमयाग में यह दिन में दो बार किया जाता है। प्रतिदिन प्रातः. प्रवर्ग्य के बाद उत्तर-वेदि की एक परत रखी जाती है। उत्तर वेदि में पाँच परतें रखी जाती हैं, अतएव प्रवर्ग्य निरन्तर पाँच दिन तक किया जाता है। प्रवर्ग्य को धर्म भी कहा जाता है। इस क्रिया में वह पात्र जिसमें घ त उबाला जाता है, महावीर कहलाता है। 'वीर' का अर्थ 'अग्नि' है, अतएव महावीर का अर्थ है महा (विशाल) अग्नि। संभवतः यह क्रिया ही 'महा अग्नि' के नाम से ज्ञात रही होगी। तदनुसार पात्र का नाम पड़ गया। यह पात्र विशिष्ट ढंग से निर्मित होता है। जैसे ही पात्र में उबलते हुए घी में दूध डाला जाता है, अग्नि की अति विशाल लपटें उत्पन्न होती हैं।

उपसद :-

प्रवर्ग्य की महाग्नि की क्रिया के बाद जो क्रिया महाग्नि के शमन हेतु सम्पन्न की जाती है, उपसद कहलाती है।

सोमयाग के सवन :-

कर्मकाण्ड के आधार पर सोमयाग का प्रधान दिवस तीन भागों में विभक्त होता है। प्रत्येक भाग को सवन कहा जाता है। प्रत्येक सवन में सोमलता से रस निकालने, स्तोत्र एवं शस्त्र पाठ करने आदि की क्रियाएँ प्रमुख होती हैं। उद्गाता एवं अन्य ऋत्विक्गण सामगान करते हैं जिसे शस्त्र कहा जाता है। एक तरफ शस्त्र गान होता है, दूसरी ओर अध्वर्यु या प्रतिप्रस्थाता गायक ऋत्विक् के सामने खड़े होकर अपने दोनों हाथों को घुटनों पर रखकर गायक को प्रोत्साहित करते हुए 'ओमामोद इव' शब्दों का उच्चारण करता है। इसे प्रतिगर कहते हैं। शस्त्र पाठ के अन्त में, अध्वर्यु ग्रह (पात्र) में सोमरस उत्स जित करता है तथा साथ ही नौ अथवा दस चमसों में आहवनीय में इस प्रकार रस डाला जाता है कि चमसों (पात्रों) में सोमरस की कुछ बूँदें शेष रह जाती हैं। इस प्रकार होम करने के बाद 'ग्रहों' एवं 'चमसों' को होता के पास लाया जाता है और तब प्रत्येक चमसी अर्थात् होता, उद्गाता आदि को उसका अपना चमस दे दिया जाता है। वे चमस में बची सोमरस की बूँदों का एक दूसरे को संसूचित करने के बाद पान करते हैं।

तीनों सवन दिन के कालभाग के आधार पर ही प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन एवं त तीय सवन के नाम से प्रसिद्ध हैं। पंचब्राह्मण (६.५.५) ने ही एकमात्र अपवाद के रूप में त तीय सवन को अपराह्ण

सवन की संज्ञा दी है। बाद के लौकिक साहित्य में त तीय सवन को सायन्तन सवन भी कहा गया है। कालिदास ने 'सायन्तने सवनकर्मणि सम्प्रव त्ते' में इसी नाम का अभिधान किया है। इस सवन क्रिया में सोमलता को दो टुकड़ों में तोड़कर प्रथम दो सवनों हेतु बाँट दिया जाता है। प्रथम दोनों सवनों में पेरी गयी सोमलता को त तीय सवन हेतु पुनः पेरा जाता है तथा जो भी थोड़ा सा रस निकलता है उसे मथे हुए दही में मिलाया जाता है। इसीलिये जैमिनिब्राह्मण में त तीय को 'बचा हुआ' भी कहा गया है।

दक्षिणा :-

आचार्य यास्क ने दक्षिणा का अर्थ सम द्ध करना लगाया है - दक्ष धातु सम द्ध करने के अर्थ में ली गयी है। अकि चन ऋत्विक् को दक्षिणा सम द्ध कर देती है। शतपथब्राह्मण में कहा गया है कि जब यज्ञानुष्ठान किया जाता है तो यज्ञ को आघात पहुँचता है, जब सोमरस पेरा जाता है तो उसको आघात पहुँचता है, जब पशु का संज्ञपन किया जाता है तो उसको आघात पहुँचाया जाता है, ऊखल मूसल तथा चक्की के दो पत्थर हविष् को आघात पहुँचाते हैं। इस प्रकार आघात पहुँचाया हुआ यज्ञ आहत हो जाता है। देवों ने दक्षिणा देकर यज्ञ को दक्ष (शक्तिमान्) बनाया। इसलिये इसका नाम दक्षिणा पड़ गया। यज्ञ की सम द्धि हेतु दक्षिणा दी जाती है। यास्क की एक अन्य व्युत्पत्ति के अनुसार चूँकि अग्निष्टोमादि में दक्षिणा को वेदि के दक्षिण भाग में रखा जाता है, अतएव दिशाबोध कराने के कारण यज्ञसम्पादन के बदले पारिश्रमिक के रूप में दिये गये पदार्थ भी दक्षिणा कहलाये। प्रत्येक देवताविषयक अनुष्ठान या कर्मकाण्ड में नकद रूप में दक्षिणा देने का निश्चित विधान होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में दक्षिणा का सविस्तर वर्णन मिलता है। इनमें स्पष्ट रूप से निर्देश किया गया है कि किस कर्मकाण्ड में किस ऋत्विक् को क्या दक्षिणा दी जानी चाहिए। ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञ में दक्षिणा देना अनिवार्य क त्य माना गया है। जैसे बिना बैलों के बैलगाड़ी चालक के लिये कष्टकारक होती है वैसे ही बिना दक्षिणा के यज्ञ भी यष्टा के लिये हानिकारक होता है।

कतिपय विद्वानों की दक्षिणा के बारे में कुछ भिन्न राय है। ये विद्वान् जिनमें मोनियर विलियम्स सम्मिलित हैं दक्षिणा को 'शुल्क' की संज्ञा देते हैं, शुल्क अर्थात् क त कर्मकाण्ड में निहित श्रम के बदले में माँगा गया पारिश्रमिक अथवा धन। इस प्रकार ये महानुभाव 'पौरोहित्य' कर्म को ही गर्हणा की द ष्टि से देखते हैं। उनकी प्रायः यह धारणा रही है कि ब्राह्मण पुरोहित पारिश्रमिक अथवा 'शुल्क' के पीछे ही भागते रहते थे। किन्तु दक्षिणा के बारे में ऐसी धारणा एकांङ्गी ही कही जाएगी। ब्राह्मण ग्रन्थ इस विषय में स्पष्ट विधान करते हैं। उनका कथन है कि 'दक्षिणा' अपने साथ 'विपत्ति' भी लाती है। इस द ष्टिकोण के रहते हुए ऋत्विक् को दक्षिणा के पीछे भागने वाला नहीं ठहराया जा सकता। तैत्तिरीय ब्राह्मण का कहना है कि दक्षिणा लेने के बाद प्राप्तिकर्त्ता को सत्रहगुना अधिक प्राणायाम (अपान्यात्) करना पड़ेगा जिससे कि वह स्वयं प्रजापति बन जाय। कहने का तात्पर्य यह है कि दक्षिणा लेने के बाद प्राप्तिकर्ता के लिये अन्तः शुद्धि हेतु प्राणों का संयमन करना अनिवार्य था जिससे कि वह अपने तेज की अभिव द्धि करते हुए प्रजापतित्व को प्राप्त करे। ऐसा करने पर ही वह पुरोहित दक्षिणा-जन्य विपत्ति (अनार्ति) से बच सकता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में मुख्तया स्वर्ण, गाय, वस्त्र तथा अश्व को दक्षिणा के रूप में दिये जाने का विधान है - 'चतस्रो वै दक्षिणाः। हिरण्यं गौर्वासो श्वो.....'

शतपथ के अनुसार जो दक्षिणा उदारमना होकर बिना संकोच दी जाती है, उससे महती जय होती है। कर्मकाण्ड बिना दक्षिणा के अपूर्ण रहता है, क्योंकि दक्षिणा दे देने से यजमान एक प्रकार से ऋत्विक् के ऋण का प्रतिदान करता है। परस्पर दक्षिणा देकर व लेकर यजमान एवं ऋत्विक् ऋणमुक्त हो जाया करते थे। ऋत्विक् द्वारा सम्पूर्ण मनोयोग एवं निष्ठा से यजमान का यज्ञ कर्मकाण्ड सम्पादित होता था। दक्षिणा पाकर वह ऋत्विक् प्रसन्न व सन्तुष्ट हो जाता था। दक्षिणा देने से सम्पादित कर्मकाण्ड की जाने अनजाने में की गयी मन, वचन एवं कर्मगत त्रुटियों का मर्षण हो जाता

है। इस प्रकार दक्षिणा प्रायश्चित्त का भी कार्य करती है। अतएव दक्षिणा-रहित सम्पादित यज्ञ कर्मकाण्ड या धार्मिक क त्य निष्फल हो जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार श्रद्धा साथ दी गयी व स्वीकार की गयी दक्षिणा सही अर्थ में दक्षिणा है। वह यजमान एवं ऋत्विक् दोनों को अनिष्ट से बचाती है।

प्रायश्चित्त :-

ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रायश्चित्त विषय पर उपलब्ध सामग्री का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि कर्मकाण्ड एवं याग क्रियाओं को नियमित करने वाले सिद्धान्तों एवं प्राविधानों का कड़ाई एवं अनुशासनयुक्त ढंग से पालन कराये जाने पर बहुत बल दिया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थ इस तथ्य की ओर पूर्णतया जागरूक हैं कि नियम, आचार संहिता, आदेश तथा स्पष्टीकरण चाहे जितने कट्टर हों तथा उनका अनुपालन कराने वाले ऋत्विक् एवं यजमान चाहे जितने शुद्धमन से जागरूक एवं विवेकी होकर यज्ञानुष्ठान सम्पन्न करायें, जाने अनजाने उनमें कहीं न कहीं कोई न कोई कमी या त्रुटि अवश्यमेव रह जाती है। इतने व्यापक क्षेत्र वाले यज्ञानुष्ठान में त्रुटि का रह जाना मानव सुलभ है। ये त्रुटियाँ या कमियाँ, चाहे यजमान की अनवधानता के कारण रह जायें या उससे साक्षात् अथवा परोक्ष रूप में सम्बद्ध व्यक्तियों द्वारा रह जायें, इन कमियों एवं त्रुटियों का प्रायश्चित्त अथवा मार्जन आवश्यक है। जिस प्रकार शरीर के टूटे-फूटे अंगों को शल्योपचार के माध्यम से जोड़कर पुनः एक संयुक्त रूप दिया जाता है ठीक उसी प्रकार प्रायश्चित्त द्वारा त्रुटि का मार्जन किया जाता है। प्रायश्चित्त कर्म जप अथवा मार्जन (मन्त्रोच्चार सहित शरीर पर पवित्र जल का छिड़काव) अथवा होम करके किया जाता है। किये गये संकल्प में कमी रह जाने अथवा अन्य त्रुटि प्रायश्चित्त द्वारा तिरोभूत हो जाती हैं प्रायश्चित्तकर्म अत्यन्त स्वाभाविक क त्य होता है जिसके द्वारा देवों का स्तवन कर त्रुटि के लिए उनसे क्षमा माँगी जाती है। प्रायश्चित्त सदैव कर्मकाण्ड के अन्त में अत्यन्त विनीत भाव से किया जाता है ताकि त्रुटि की माफी मिल जाय और सम्पद्यमान क त्य सफल हो जाय।

ब्राह्मणों में त्रुटियों के स्वरूपों के अनुरूप ही प्रायश्चित्तों की भारी संख्या दी गयी है। ये प्रायश्चित्त कर्मकाण्ड की गरिमा, महत्ता एवं उसके फल के अनुरूप हुआ करते हैं। प्रत्येक क त्य के उपरान्त एक सामान्य प्रायश्चित्त के रूप में व्याहृति सहित एक होम सम्पन्न किया जाता है।

देवगण

यज्ञ सम्बन्धी विधि विधानों के प्रसंग में ब्राह्मण ग्रन्थों में विभिन्न देवों के चरित्र तथा उनकी प्रक ति के विषय में वर्णन उपलब्ध होते हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि देवताओं का जैसा वर्णन ऋक् संहिता में मिलता है वैसा ब्राह्मणग्रन्थों में नहीं उपलब्ध होता। ब्राह्मणग्रन्थों में उपलब्ध ऋचाओं में देवताओं के बारे में किये गये उल्लेख की प ष्ठभूमि को देखते हुए उनके विषय में नये-नये अर्थ मिलते हैं। प्रोफेसर ब्लूमफील्ड के मतानुसार ब्राह्मणग्रन्थ तथा यज्ञ कर्मकाण्ड से सम्बद्ध अन्य साहित्य वेदों का अर्थ समझने में बहुमूल्य सहायता-स्रोत के रूप में सिद्ध होते हैं। विविध देवताओं से सम्बद्ध विभिन्न यज्ञानुष्ठान के सन्दर्भों तथा देवताओं के वारम्वार वर्णित आवाह्नों एवं विवरणों के आधार पर देवताओं के गूढ़ स्वभाव और प्रक ति को भलीभाँति समझने में बड़ी सहायता तथा मार्ग दर्शन मिलता है।

देवताओं की संख्या एवं उनका वर्गीकरण :-

प्रायेण देवताओं की संख्या ३३ बतलायी जाती है। इनकी संख्या अनिश्चित या संख्यातीत नहीं बतलायी गयी है। कभी-कभी प्रजापति का चौंतिसवें देवता के रूप में भी उल्लेख मिलता है। 'आवेस्ता' में भी दैवी शक्तियों की संख्या ३३ ही बतलायी गयी है। देवताओं के वर्णन प्रसंग में तीन तथा तीन के गुणा की संख्या विशेष रूप से सम्बद्ध मिलती है। ब हस्पति की अध्यक्षता एवं नेत त्त्व में ये सभी ३३ देवतागण स ष्टि की उत्पत्ति, संरक्षण एवं विघटन के विशिष्ट कार्य सम्पादित करने में समर्थ होते हैं। तीन लोकों के अनुरूप ही देवताओं के तीन वर्ग किये गये हैं। वैसे तो देवताओं की संख्या केवल ३१

ही रहती है, किन्तु प्रजापति एवं वषट्कार को जिन्हें दो देवों की तरह गिना गया है, मिलाकर ३३ देवगण बनते हैं। देवताओं के तीन वर्ग इस प्रकार हैं :-

१ आठ वसु, (जलमय, प थ्वीलोक के देवता)

२. ग्यारह रुद्र, (अन्तरिक्ष लोक के देवता) तथा

३. बारह आदित्य (द्युलोक के देवता) - कुल मिलाकर ३१ देवतागण।

वसुओं के वर्ग के प्रमुख देवता अग्नि हैं। रुद्रों का नेत त्व इन्द्र करते हैं तथा आदित्यों के अगुआ वरुण हैं। ये देवताधिपति अपने-अपने वर्ग के ज्येष्ठ देव तो हैं ही साथ ही साथ ये क्रमश जलमय प थिवी लोक, नभोमण्डल (अन्तरिक्ष लोक), तथा महः लोक (द्युलोक) के अधिपति एवं नियन्ता भी हैं। इसी प्रकार आठ वसुदेवता वसन्त ऋतु, ग्यारह रुद्र देवता ग्रीष्म ऋतु, एवं बारह आदित्यगण वर्षा ऋतु का नियमन करते हैं।

उक्त तीनों वर्गों के अतिरिक्त ऋभुगण, मरुद्गण, साध्य, विश्वेदेव तथा भ ग्वङ्गिरस भी हैं। एक अन्य वर्गीकरण के अनुसार समस्त देवों को अग्नि अथवा इन्द्र की अगुवाई में रखा गया है।

देवताओं की सामान्य प्रक ति :-

ब्राह्मणग्रन्थों में देवताओं की प्रक ति पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। उदारद ष्टि से ब्राह्मणों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि देवतागण वस्तुतः विभिन्न शक्तियाँ हैं जिनकी सिद्धि सूक्ष्म अथवा विराट् ब्रह्माण्ड के शाश्वत नियमों के अन्तर्गत संभव होती है। 'देव' शब्द व्यक्ति, परिवार, समाज, राज्य तथा विश्व के कल्याणार्थ अनुकूल वातावरण प्रदान करने वाली शक्ति का द्योतक है। ये शक्तियाँ अथवा 'कार्यकलाप' 'ऋत' के कठोर नियन्त्रण के अधीन कार्यरत होते हैं। समस्त ब्रह्माण्ड एक सर्व शक्तिमयी विधि के इंगित पर चलता है। यही शक्तिमयी विधि ऋत, के नाम से अभिहित है। ब्रह्माण्ड का यह संचालन उस जीवन शक्ति के कारण संभव है जो समस्त जड जंगमात्मक लोकों में परिव्याप्त है। यह महाशक्ति भौतिक पदार्थों के माध्यम से ही ब्रह्माण्ड में विभिन्न स्तरों पर कार्य करती रहती है। मानव इसी विश्वरूपा शक्ति का एक अंग है तथा ब्रह्माण्ड के विभिन्न स्तरों पर वही पराशक्ति अन्य महत्त्वपूर्ण अंगों के माध्यम से कार्यशील रहती है जिन्हें देवतागण की संज्ञा दी गयी है।

वास्तव में वैदिक देवतागण उन विभिन्न माध्यमों का द्योतन करते हैं जिनसे जीवन मुखरित-प्रस्फुटित होता है। वेदों में जीवन की स जनात्मक ऊर्जा के विभिन्न अंगों को मूर्त स्वरूप प्रदान किया गया है। सूक्ष्म ब्रह्माण्ड के निम्नतम स्तर पर मानव शरीर के अन्दर देवतागण विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों में सन्निविष्ट दिखाई देते हैं तथा ब्रह्माण्ड के विराट् स्तर पर प्रक ति की शक्तियों में अवस्थित हुआ करते हैं। अतः जिन विद्वानों ने देवताओं के मात्र बाह्य भौतिक स्वरूप को देखा है, उन्होंने वैदिक देवतावाद के गूढ़ चरित्र को गलत समझा है। इसलिए देवताओं को ब्रह्माण्ड के किसी एक स्तर से सम्बद्ध करना कठिन है। उदाहरणार्थ, इन्द्र देवता चैतन्य के प्रतीक हैं। वह बल (भौतिक शक्ति) तथा उन सभी महान् गुणों से सम्पन्न हैं जो किसी भी वर्ग या समाज के नेत त्व एवं मार्ग दर्शन के लिये अपेक्षित हैं। इन्द्र उस दुर्धर्ष शक्ति के प्रतीक हैं जो वायु को बहने के लिए प्रेरित करता है तथा बादल से व ष्टि कराता है। इन्द्र चूँकि अन्तरिक्ष लोकों के देवाधिदेव हैं, अतएव वायु एवं बादल के ऊपर उनका ही आधिपत्य है। स्पष्ट है कि ये सभी - इन्द्र के विभिन्न कार्याङ्ग हैं। देवताओं के प्रमुख चरित्र एवं स्वभाव का यदि समष्ट्यात्मक व्यष्टयात्मक एवं निरपेक्ष रूप से स्वतन्त्र आकलन किया जाय तभी जाकर इनकी गूढ़ प्रक ति को जाना जा सकता है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में 'देव' शब्द का निर्वचन किया गया है। 'देव' का देवत्व पक्ष महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसका सामंजस्य एवं सम्बन्ध दिन के प्रकाश से है। देवत्व या देवता का अर्थ ही है, प्रकाशित, भास्वर अथवा चमकता हुआ। प्रकाश अथवा भास्वरत्व की प्राप्ति ही देवत्व है। इसीलिए सभी देवता भास्वर एवं शक्ति सम्पन्न हैं। वे सर्वाधिक वन्दनीय, यशस्वी एवं महनीय हैं।

अब ब्राह्मणग्रन्थों में वर्णित देवताओं के अपने-अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व के बारे में संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है।

१. प्रजापति :-

ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार प्रजापति वह जीवनशक्तिदाता उद्‌भव-स्रोत है जिससे ब्रह्माण्ड की सर्जना हुई है तथा जो उसे स्थिति प्रदान करता है। इस प्रकार प्रजापति जीवधारियों के विकास के आदि स्रोत के रूप में वर्णित है। जड़-जंगम के व्यक्त रूप में आने के पूर्व अव्यक्तावस्था में प्रजापति की ही सत्ता परिकल्पित है। प्रजापति की यह इच्छा हुई कि वह एक से अनेक होना चाहता है और तभी वह ब्रह्माण्ड रूप में स्वयं परिणमित हो गया। सर्वप्रथम वह आदि रूप (सलिल रूप) में प्रकट हुआ। ब्राह्मणों का कथन है कि प्रकट होने के बाद प्रजाएँ, प्रजापति से दूर चली गयीं। प्रजापति ने साम, होम अथवा यज्ञ की शक्ति से उन्हें रोके रखा। आगे यह कहा गया है कि प्रजापति ने ओदनसव देखा और स्वयं को अन्न के रूप में प्रकट किया। प्रजाएँ जब कहीं भी भोजन नहीं प्राप्त कर सकीं तो वे प्रजापति के पास लौट आयीं। विश्व की स ष्टि करने के फलस्वरूप, प्रजापति शक्तिरहित हो गये। उनका पुनः यज्ञ के द्वारा शक्तिसंचय हुआ, क्योंकि यज्ञ चिकित्सा का कार्य करता है तथा प्रजापति का शक्तिकल्प कर देता है। इसका यह तात्पर्य हुआ कि जीवन के दो तत्त्व शक्तिकल्प एवं शक्तिस्थैर्य चक्र की भाँति विश्व की नित्य सत्ता अथवा स्थिरता बनाये रखते हैं। अन्य सभी देव प्रजापति से उद्‌भूत हुए बताये गये हैं। प्रजापति को कभी-कभी चौंतीसवाँ देवता बताया गया है जो यज्ञ का रूप धारण कर देवों को धारण करता (स्थित रखता) है। प्रायः प्रजापति का तादात्म्य विश्वकर्मा, सूर्य, अग्नि, त्वष्टा, म त्यु तथा इन्द्र जैसे अनेक देवताओं के साथ किया जाता है। चूँकि प्रजापति समस्त देवताओं का अधिकरण (आधार) है, अतएव उन देवताओं को भी प्रजापति की संज्ञा दे दी गयी। वास्तव में प्रजापति सर्वदेवमय हैं। प्रजापति को बोधगम्य नहीं बताया गया है। उनका वास्तविक स्वरूप जाना नहीं जा सकता। उनके बारे में 'वह कौन हैं ? कहकर जिज्ञासा ही अभिव्यक्त की गयी है, क्योंकि 'वह यह है' अथवा 'वह वह है' कहकर प्रजापति का परिचयांकन करना कठिन है। वास्तव में वह सबमें परिव्याप्त है तथा वही सर्वमय है।

२. अग्नि :-

वैदिक यज्ञ में अग्नि को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। समस्त आहुतियाँ अग्नि के माध्यम से ही देवों तक पहुँच सकती हैं। वस्तुतः अग्नि यज्ञ का मुख है। समस्त देवताओं में अग्नि प्रथम एवं सर्वप्रथम देवता है। वसुओं का नेता भी अग्नि है। अग्नि को प थिवीपति कहा गया है। अग्नि के माध्यम से ही देवतागण प्रसन्न किये जाते हैं। अग्नि देवताओं का जठर (उदर) है।

अग्नि देवों का व्रतपति है, क्योंकि यह देवताव्रतों का रक्षक है। अग्नि देवताओं का यष्टा है। अग्नि का तादात्म्य विभिन्न देवों के साथ किया गया है। सामान्यतया यह कहा गया है कि अग्नि में समस्त देवता हैं। अग्नि में सभी का वास है। अग्नि का तादात्म्य आदित्य एवं आप (जल) से किया गया है। मूलतः सरस्वती से सम्बद्ध वाणी को अग्नि से सम्बद्ध बतलाया गया है। अग्नि को रुद्र, असुर एवं पूषन् भी कहा गया है। समस्त-लोक अग्नि है। प थिवी में स्थूल अग्नि के रूप में अग्नि को स्थित माना गया है, अन्तरिक्ष में रुद्र के रूप में अग्नि विद्यमान है तथा द्यौः में आदित्य के रूप में अग्नि स्थित है। यह भी कहा गया है कि द्यौ में नाक नामक अग्नि है जो राक्षसों का विनाश करता है। समस्त जीवों में व्याप्त अग्नि पवित्रकर्ता (अग्निः पवमानः), जल में व्याप्त अग्नि 'अग्निपावक' तथा आदित्य में व्याप्त 'अग्निशुचि' कहा गया है। अग्निचित का अर्थ है समस्त जीवधारी तथा देवगण। ब्राह्मणों में अग्नि के चार रूपों का अभिधान करते हुए निम्नांकित त्रिधा अर्थ लगाया गया है :-

१ आधिभौतिक,

२. आधिदैविक, तथा

३. आधियाज्ञिक

चार प्रकार की अग्नियाँ बतायी गयी हैं (१) आहित, (२) उद्ध त, (३) प्रहृत एवं (४) विहृत। प्रथम आहिताग्नि अर्थात्, अवस्थित अग्नि (गार्हपत्य) इस लोक की अग्नि है। दूसरी उद्ध त अथवा वह जिसे ऊपर अन्तरिक्ष में ले जाया जाय, यथा वायु आहवनीय। तीसरी प्रहृत अथवा द्यौः आदित्य में सम्प्रेषित तथा जिसे उत्तरवेदी में पूर्व की ओर रखा जाता है। चौथी विहृत अथवा दिशाओं में फैली हुई यथा चन्द्र अर्थात् जो विभाजित कर विभिन्न धिष्ण्यों पर रखी जाती है।

अग्निहोत्र के प्रकरण में कुण्ड में अवस्थित अग्नि के सात सोपान या स्तर वर्णित हैं तथा प्रत्येक सोपान या स्तर एक विशिष्ट देवता से सम्बद्ध होता है :-

१ वह अग्नि जिसे सद्यः गार्हपत्य से निकाला गया है, वसु है।

२. विभिन्न कुण्डों में रखी व सुलगती अग्नि रुद्र है।

३. ईंधन के सम्पर्क में आयी अग्नि आदित्य है।

४. समस्त ईंधन को भस्मसात् करने वाली अग्नि विश्वेदेव है।

५. रक्त ज्वालाओं में उद्दीप्त अग्नि इन्द्र है।

६. ज्वालारहित अग्नि प्रजापति है।

७. राख से ढकी अग्नि ब्राह्म है।

धार्मिक कर्मकाण्ड में सम्प क्त यजमान अग्नि के इन विभिन्न स्तरों तथा सम्बद्ध देवों को आत्मसात करते हुए अपने ध्यान को केन्द्रित करता है। यहाँ उक्त विभिन्न देवगण एक ही अग्नि के विभिन्न रूपों का प्रतिनिधित्व करते हुये वर्णित किये गये हैं। अग्नि में जो भी आहुति डाली जाती है वह समस्त देवगण को प्राप्त होती है। अग्नि के विभिन्न रूप यथा वैश्वानर एवं स्विष्टक त् भी बताये गये हैं। अग्नि के वैश्वानर रूप को प थिवी एवं संवत्सर भी कहा गया है। स्विष्टक त् अग्नि को रुद्र कहा गया है। अग्नि को अन्नपति अर्थात् समस्त अन्न का भोक्ता तथा ग हपतियों का देवता भी कहा गया है। अग्नि जीवों का प्राणाधार है तथा उनका पालन-पोषण करता है। उसे रेतोधा (रेतस् अर्थात् शुक्र को धारण करने वाला) बतलाया गया है। इसी कारण उसे जीवों के प्रजनन का आधारभूत माना गया है। अग्नि क्षत्राभ त् है अर्थात् वह क्षत्र धारण करने वाला है। भौतिक रूप से प्रज्वलित अग्नि की लपटें क्षत्राकार दिखाई देती हैं किन्तु 'क्षत्र' शब्द पालकत्व गुण का द्योतक है। अतः अग्नि पालनकर्ता के रूप में उपन्यस्य है। अग्नि को साक्षात् 'ऋत' कहा गया है। अग्नि यज्ञ है। अग्नि के सर्वव्यापी स्वरूप व प्रभुत्व के कारण उसे साक्षात् ब्रह्म कहा गया है।

अग्नि के साथ सात की संख्या साभिप्राय सम्बद्ध बतायी गयी है। समिधाएँ सात प्रकार की होती हैं। सात प्रकार की ज्वालाएँ होती हैं। सात मन्त्र होते हैं। आज्य आदि सात होते हैं। सात धाम (निवास स्थान) हैं। होता (होत) सात होते हैं। सात योनियाँ (अधिकरण अथवा आधार) होती है। डा. रेले के मतानुसार अग्नि मानव के मस्तिष्क के अन्दर स्थित उस अंग विशेष की भाँति है जिसकी आक ति अश्व या चील के सिर की तरह होती है। इसी अंग के माध्यम से मष्तिष्क में समस्त स्पन्दन संकेत प्राप्त होते रहते हैं।

३. इन्द्र :-

समस्त वैदिक देवों में इन्द्र का सर्वाधिक महत्त्व बतलाया गया है। इन्द्र वर्षा के देव बताये गये हैं। वर्षा के देव वह तभी हैं जब वह प्रकाश के स्वामी हैं, क्योंकि प्रकाश ही जल का सर्जक है। इसीलिए इन्द्र सूर्य के रूप में अभिहित है। ब्राह्मणों में आकाश को इन्द्र का प्रतीक माना गया है। वायु को भी इन्द्र के रूप में वर्णित किया गया है। शतपथब्राह्मण में प्राण का सम्बन्ध इन्द्र के साथ बतलाया गया है। इन्द्र को हृदय से भी सम्बद्ध किया गया है। ब्राह्मणों के अनुसार इन्द्र अवर्षण रूपी असुरों

को हराकर जल की अजस्र धाराओं को मुक्त करने वाला देवता है। प्रकाश के देव के रूप में इन्द्र अन्धकार रूपी असुरों को तिरोहित करने के लिए प्रकाश को फैलाता है। व त्र के अरि के रूप में इन्द्र की महिमा गायी गयी है। कतिपय विद्वानों ने व त्र का अर्थ लेते हुए यह अभिमत व्यक्त किया है कि सूर्य के रूप में अवस्थित इन्ड 'हिम' रूपी व त्र को विगलित कर उसे नदियों के रूप में प्रवाहित करते हैं। यास्क तथा सायण ने व त्र का अर्थ 'मेघ' वा 'अहि' किया है। व त्र का वध करने की प्रसिद्धि के कारण इन्हें 'व त्रघ्न' की संज्ञा दी गयी है। स्पष्ट है कि इसी आधार पर इस देव को वर्षा के देवता के रूप में माना गया है। शत्रु विनाश के समय इन्द्र के भयंकर रूप का वर्णन मिलता है। उसकी शक्ति से द्युलोक तथा प थ्वीलोक काँप उठे हैं। उत्पन्न होते ही इन्द्र ने अपनी दुर्धर्ष शक्तियों से समस्त देवगण को अभिभूत कर लिया था। तभी वह सभी देवों में प्रधान देव हो गया।

वज्र इन्द्र का प्रमुख अस्त्र है। इसे त्वष्टा ने बनाया था। वज्र धारण करने के कारण इस देवता को 'वज्रवाहुः' तथा 'वज्रहस्तः' कहा गया है। ब्राह्मणग्रन्थों के अनुसार 'बल' अथवा 'शक्ति' इन्द्र देवता के प्रमुख वैशिष्ट्य में से अन्यतम है। इन्द्र बल अर्थात् शक्ति है तथा बलपति अर्थात् सेनानायक भी है। इन्द्र 'ओजस्' गुण से परिपूर्ण है, इसीलिए उन्हें ओजस्पति की संज्ञा दी गयी है। इन्द्र अपने भक्तों को ज्येष्ठों में ज्येष्ठ बना देता है। स्वाभाविक है कि जो व्यक्ति बलशाली होगा वही किसी वर्ग का नायक व अधिपति बन जाएगा। इन्द्र देवों का अधिपति है तथा समस्त रुद्रों का नायक माना गया है। इन्द्र का वास्तविक अर्थ इन्द्रिय से सम्बद्ध है। वह अपने भक्तों की रक्षा उनकी इन्द्रियों को सुरक्षित करते हुए करता है। इन्द्र तथा इन्द्रिय पर विमर्श हेतु डा. वासुदेवशरण अग्रवाल का ग्रन्थ अवलोकनीय है।

मन तथा वाणी से उत्पन्न स्वर इन्द्र है। इन्द्र मूर्तरूप क्षत्र है। इन्द्र समस्त देवताओं के प्रतिनिधि कहे गये हैं तथा इनका तादात्म्य सुरगण, सवित , वरुण तथा वायु से किया गया है। एक स्थान पर इन्द्र की सभा का वर्णन किया गया है। विभिन्न देवगण इन्द्र के चारों ओर बैठे हैं, इन्द्र बीच में आसीन है। ब्राह्मणों में प्रायः इन्द्र का व त्र से युद्ध दिखाया गया है। इन्द्र से प्रार्थना की गयी है कि वह व त्र का विनाश करें, तदनुसार इन्द्र व त्र को पराजित करते हैं। रेले का कहना है कि जैविक द ष्टिकोण से यदि देखा जाय तो भौतिक रूप में इन्द्र मस्तिष्क की उस पर्त का प्रतिनिधित्व करते हैं जो चेतनावस्था तथा अचेतनावस्था के मूल में कारणभूत है।

४. इन्द्राग्नि :-

यज्ञ मुख्यतया इन्द्राग्नि से सम्बद्ध होता है। इन्द्र एवं अग्नि प्राणापान बताये गये हैं। इन्हें देवताओं का ओजोबल कहा गया है। दोनों विश्व के सर्वोत्तम रक्षक के रूप में चित्रित किये गये हैं। समस्त देवता इनमें ही विभक्त हैं।

इन्द्राग्नि को ब्रह्मा एवं क्षत्र के रूप में एक साथ चर्चित किया गया है। जब अग्नि ब्रह्मा को बुलाती है, इन्द्र क्षत्रधर को बुलाते हैं तो अग्नि अन्य जीवों के साथ ऊर्ध्व होती है तथा विश्व की क्रिया सम्पादित होती है। ब्रह्मा एवं क्षत्र का सिद्धान्त क्रियाशील रहता है। शरीर के अन्तर्जगत् में अग्नि तथा इन्द्र स्नायु व्यवस्था (नर्वस सिस्टम) की दो धमनियों की तरह हैं जो ज्ञान को मस्तिष्क तक ले जाने तथा लाने का कार्य करती हैं।

५. मित्र :-

मित्र क्षत्र एवं क्षत्रपति हैं। वह सत्य भी हैं। सत्य तभी स्थित रह सकता है जबकि क्षत्र सक्रिय हो। तात्पर्य यह है कि सत्य तभी स्थित रह सकेगा जब क्षत्र की सत्ता सक्रिय रूप से हो। सत्य सुख के लिये अपरिहार्य है। सत्य मित्र का प्रमुख वैशिष्ट्य है। जीवों को उद्यमी बनाने के गुण वाला होने के कारण ही मित्र के लिये 'यातयति' विशेषण का प्रयोग किया गया है। मित्र का सूर्य के साथ भी प्रगाढ़ सम्बन्ध है। पारसियों के देवता 'मिथ' वैदिक मित्र ही हैं। मित्र सूर्य के ही प्रतीक हैं। यही कारण

है कि शतपथब्राह्मण के अनुसार जब अग्नि (वही अग्नि सूर्य में भी है) घटती हुई शान्त होकर तिरछी जलती है तो वह मित्र हो जाती है।

६. वरुण :-

वरुण को भी क्षत्र कहा गया है। वरुण एवं क्षत्र में परस्पर विशिष्ट सम्बन्ध तथा इस सम्बद्धता का स्तर मित्र एवं क्षत्र के पारस्परिक सम्बन्ध एवं स्तर से काफी भिन्न प्रक ति का है। ब्राह्मणों में वरुण को रात्रि बताया गया है। वरुण का तादात्म्य अग्नि से भी स्थापित किया गया है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी जल में छिपी अपार ऊर्जा शक्ति का माहात्म्य स्वीकार किया है। शतपथब्राह्मण का कथन है कि प्रज्ज्वलित अग्नि ही वरुण का रूप धारण कर लेती है। यही भाव प्रकारान्तर से ऐतरेयब्राह्मण में व्यक्त करते हुए कहा गया है कि अग्नि का भयावह स्पर्श ही वरुण का रूप है। ताण्ड्य महाब्राह्मण का अभिमत है कि क्षीण होता हुआ अर्धमास वरुण है। शतपथब्राह्मण में प थिवीलोक को मित्र एवं द्युलोक को वरुण कहा गया है। वरुण क्षत्रपति हैं तथा अधिपतों के भी अधिप हैं। वह सम्राट् व समरपति हैं। वह धर्माधिपति हैं तथा अपने भक्तों को धर्मपति बना देते हैं। वरुण की प्रक ति सत्य एवं ऋत दोनों से सम्प क्त है जबकि अन्य देवों की प्रक ति मात्र सत्यमय होती है। वरुण का क्षेत्र अन्तरिक्ष के मध्य से लेकर उसके बाहर अर्थात् द्युलोक तक व्याप्त है। उनका क्षेत्र ऐसा है कि वायु तक बिना उनके इंगित के नहीं बहता। 'वरुण' नाम के साथ 'पाश' अथवा रज्जु शब्द सम्प क्त बताये जाते हैं। वरुण चूँकि जीवों को पाश में बाँधे रखते हैं, इसीलिए 'वरुण शब्द' अति सार्थक है।

वरुण पाश की ग्रन्थि भी है। यज्ञों में बाँधने के लिए प्रयुक्त होने वाली रस्सी का सम्बन्ध वरुण से बतलाया गया है। वरुण धर्म के पर्यवेक्षक हैं, अतएव इस नाते उनके ही आशीर्वाद से जीव जीवन के बन्धनों से मुक्त होने में समर्थ होता है। वरुण का एक अन्य वैशिष्ट्य यह है कि वह काल अथवा संवत्सर का प्रतिनिधित्व करते हैं जिससे वरुण समस्त विश्व को बाँधे रखते हैं।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में वरुण की पूजा में एक विचित्र कर्मकाण्ड उल्लिखित है। अश्वमेध के अवभ थ में जुम्बक के लिए होम का विधान निर्धारित किया गया है। यह आहुति एक ऐसे व्यक्ति के गंजे सिर पर करणीय बतायी गयी है जो कि गौर वर्ण का हो तथा पसीने से आर्द्र व पीली आँखों वाला हो। इसमें यह भी कहा गया है कि वरुण जुम्बक हैं। जुम्बक का रूप वरुण का रूप है।

कौषीतकि ब्राह्मण का कथन है कि जब सूर्य जल में प्रवेश करता है तब वह वरुण का रूप धारण कर लेता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण जल को ही वरुण कहता है। यज्ञ के पशुओं में वरुण के लिये मेष के अर्पित किये जाने का विधान वर्णित है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार वरुण प्रघास पर्व के कर्मकाण्ड से वरुण का सायुज्य व उसका लोक प्राप्त होता है।

७. मित्रावरुण :-

मित्र एवं वरुण को भी युगपत् वर्णित किया गया है। ये दोनों परस्पर प्राण एवं अपान की भाँति हैं तथा इसी रूप में ये दोनों अपने भक्तों की रक्षा करते हैं। इस देवयुगल में प्रत्येक की चारित्रिक विशेषता एक-दूसरे के लिए पूरक के रूप में होती हैं। दोनों ही नियामक शक्ति क्षत्र की दिव्यता से सम्पन्न बताये गये हैं। मित्र को सत्य की सत्ता से सम्बद्ध किया गया है जबकि वरुण को क्षत्र की अद्भुत क्रियाशीलता से जोड़ा गया है। इन दोनों को रात्रि एवं दिन में सूर्य की पदवी भी प्रदान की गयी है। सामान्यतया मित्र को दिन से तथा वरुण को रात्रि से सम्बद्ध किया गया है। जीवविज्ञान की द ष्टि से विचार करते हुए डा. रेले के अनुसार मस्तिष्क के चारों तरफ का द्रव पदार्थ (सेरिब्रो स्पाइनल फ्लुइड) ही वरुण है तथा वह द्रव पदार्थ जो रीढ़ की हड्डी के चतुर्दिक व्याप्त है, मित्र है। सूर्य मित्र से विभिन्न संवेदन संकेत प्राप्त करता है।

८. पूषन् :-

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट संकेत मिलता है पूषन् 'पुष्टि' अर्थात् पोषण के दैवी स्रोत का

अधिष्ठात्री देवता है। इनका मुख्य कार्य जीवों का पोषण करना है। यास्क ने पूषन् को सूर्य की संज्ञा प्रदान की है। मैक्डॉनल ने इसका समर्थन किया है। प थिवी पूषा है। वह शक्ति एवं निर्भीकता का भी प्रतिनिधित्व करते हैं। मानव की शारीरिक गतिविधियाँ पुष्टि अर्थात् पोषण के कारण सम्पन्न होती हैं। पूषन को पथिकों का अधिपति बतलाया गया है। ऋग्वेद का कथन है कि पूषा को सभी मार्गों की जानकारी है। अतः मार्गगत समस्त कठिनाइयों को दूर करने हेतु पूषन् की स्तुति की गयी है। पाप से मुक्ति के लिये पथभ्रष्ट मानवों द्वारा पूषन् की स्तुति की गयी है। शरीर एवं इन्द्रियों का संचरण पुष्टि के कारण ही सम्भव है। इसी तथ्य की पुष्टि में पूषन् के बारे में 'पूषणो हस्ताभ्याम्' का कथन मिलता है। ब्राह्मणों में कहा गया है पूषा हाथों के साथ मन्त्र का भाग बन जाता है, क्योंकि याग कर्मकाण्ड में जब मन्त्र का उच्चारण किया जाता है तो हाथ की क्रियाएँ भी तदनुरूप ही सम्पन्न की जाती हैं। इस क्रिया के पीछे 'पुष्टि' अर्थात् पूषा ही कारणभूत है। पूषा वस्तुतः भौतिक कार्यक्षेत्र में उतर जाते हैं। मस्तिष्क को तीव्र बनाने हेतु पूषा की प्रार्थना-पूजा की जाती है। पूषा प्राणियों के कल्याण-क त्यों में लगे रहते हैं। उन्हें जीवों का जनक अथवा स ष्टि का कारण भी कहा गया है। पूषन् को विट्पति (विट् अर्थात् वैश्य) कहा गया है। वैश्य समाज का भरण-पोषण करने वाला तत्त्व है। विट् 'विश' अथवा वैश्य ही पुष्टि करने एवं उसके वितरण का भी नियामक तत्त्व है। इसीलिये ऋग्वेद में पूषा को पशुओं का संरक्षक बतलाया गया है। पशुओं की रक्षा उन्हें गड्ढे में गिराने से बचाना तथा भटक जाने पर उन्हें यथास्थान पहुँचाना पूषा का ही कार्य है। ब्राह्मणों में यत्र-तत्र पूषन् एवं आदित्य में तादात्म्य स्थापित किया गया है। वास्तव में पूषन् आदित्य का पोषक रूप है। एक मन्त्र में पूषन् एवं सोम दोनों को युगपत् कार्य करने वालों के रूप में उल्लिखित किया गया है। चूँकि पूषन् के कतिपय गुण रुद्र एवं अग्नि में भी द ष्टिगोचर होते हैं, अतएव उन्हें पूषन् के नाम से भी अभिहित किया गया है। जैविक मनोवैज्ञानिक द ष्टि से की गयी व्याख्या के अनुसार पूषन् 'कर्म कौशल' का नाम है।

६. सोम :-

ब्राह्मणों में सोम शब्द एक विशिष्ट लता तथा देवता चन्द्रमा दोनों ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सोम देवता के उक्त दोनों ही स्वरूपों, लताविशेष एवं चन्द्रमा में कोई अन्तर नहीं है। इसीलिये सोम का आवास प थिवी एवं अन्तरिक्ष दोनों ही लोकों में स्वीकार किया गया है। सोम का रंग 'रक्त' बतलाया गया है, क्योंकि सोमलता भी रक्त वर्ण की होती है। ऐतरेय ब्राह्मण में सोम व सोमरस को मादक बतलाया गया है। इस मादकता को कम करने के लिये उसमें जल, दधि अथवा दुग्ध सम्मिश्रित करने का निर्देश किया गया है। यज्ञानुष्ठान में सोमरस को श्वेतवर्ण के घड़े में रखा जाता था। दिन में तीन बार सोम का सवन किया जाता था - प्रातः सवन अग्नि मध्यान्ह सवन इन्द्र तथा सांय सवन ऋभुओं से सम्बद्ध था। अन्य देवगण भी सोमपान करते थे। ऋग्वेद में वर्णित सोम मादक था। आयुर्वेद शास्त्र में सोमलता को कल्पलता की संज्ञा दी गयी है जिसके सेवन से मानव काया का कल्प सम्भाव्य है। सोम को यज्ञ की आत्मा कहा गया है। यज्ञ की विजयपताका सोम के कारण ही थी, इसीलिये सोम को यज्ञ की पताका कहा गया है। शतपथब्राह्मण में सोम को सत्य, श्री एवं ज्योति का प्रतीक कहा गया है। सोम देवों का परम अन्न है।

कौषीतकि ब्राह्मण (४.४) में सोम को चन्द्रमा कहा गया है - 'असौ वै सोमो राजा विलक्षणश्चन्द्रमाः।' शतपथब्राह्मण (१०.४.२.१) में सोमो राजा चन्द्रमा तथा (६.५.१.१) में 'चन्द्रमा उवै सोमः' कहा गया है।

सोम को रज एवं राजपति कहा गया है। वह समस्त वनस्पति जगत् एवं व क्षों के अधिष्ठात्री देवता हैं। वह अपने भक्त को वनस्पतिजगत् का स्वामी बना देते हैं। वह समस्त मानवों का कल्याण करते रहते हैं। सोम को प्राण कहा गया है। सोम ऐसा हविष् है जिसे इन्द्र बहुत चाहते हैं। सोम दैवी भोजन है। सभी देवता सोम पर ही जीवनधारण करते हैं। सोम वनस्पतियों का सारभूत तत्त्व अर्थात् निचोड़ है। वह भोजन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंश है। ब्राह्मणों में सोम तथा मन में सम्बन्ध स्थापित किया गया है। ब्राह्मणग्रन्थों में प्रायेण सोम को 'रेतोधा' अर्थात् वीर्य धारण करने वाला कहा गया है।

सोम वह ऊर्जा है जिससे वीर्य का स्तम्भन होता है। सोम वीर्य का प्रतिनिधायन करता है। डा. रेले का अभिमत है कि सोम 'नर्वस सिस्टम' है जो एक व क्ष के आकार जैसा है। इस नर्वस सिस्टम में जिस प्रकार 'सेरिब्रो स्पाइनल' द्रव है उसी प्रकार सोम में सोमरस उपस्थित है।

१०. रुद्र :-

रुद्र समस्त भूत अर्थात् प्राणियों का विद्यमान अधिपति है। रुद्र समस्त जीवों की देखभाल व रक्षा करता है और अपने भक्त को जीवों का स्वामी बना देता है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में प्रायः रुद्र का अग्नि से तादात्म्य स्थापित किया गया है। शतपथब्राह्मण में भी अग्नि को रुद्र बतलाया गया है। प्रथम उद्दीप्त होने पर जब अग्नि में धूम निकलता है तो उस अग्नि को रुद्र कहते हैं।

शुक्ल यजुर्वेद में रुद्र को एक बलशाली तथा दक्ष योद्धा के रूप में वर्णित किया गया है। रुद्रपिनाकपाणि के रूप में उपन्यस्त है। रुद्र को चर्मवस्त्रधारी बताया गया है। रुद्र को स्वर्गलोक का रक्त वर्ण (अरुण) वराह कहा गया है। अश्रद्धालुओं को वह अपने बाणों से विदीर्ण कर देते हैं, किन्तु अपने भक्तों पर वह असीम क पा रखते हैं। इसी कारण उनका नाम 'शिव' भी है। ऋग्वेद में रुद्र को मरुतों का पिता बतलाया गया है। ब्राह्मणों में रुद्र का माहात्म्य कुछ और ही वैशिष्ट्य लिए हुए है। शतपथब्राह्मण में कहा गया है कि पुरुष के दस प्राण और ग्यारहवां आत्मा रुद्र है। यह देव जब हमें मरणशील शरीर से निकालते हैं तो रुलाते हैं, चूँकि रुलाते हैं, अतएव इनका नाम रुद्र है। रुद्र अति भयंकर देव के रूप में अभिहित हैं। रुद्र के गणों को शान्ति के लिए यज्ञों में पशु की आँतों की आहुति दी जाती है। हिलेब्रां का अभिमत है कि रुद्र ग्रीष्म ऋतु के देवता हैं जिसका सम्बन्ध एक नक्षत्र विशेष से है।

शतपथब्राह्मण (१.६.१.८) में निश्चित रूप से कहा गया है कि अग्नि एवं रुद्र भिन्न-भिन्न नहीं हैं। रुद्र के नाम अग्नि के भी नाम होते हैं। रुद्र अपने भक्तों की रक्षा सामान्य नियम के रूप में सदा करता रहता है। रुद्र आर्ष भेषज हैं तथा अश्विन उनके अनुगामी हैं। वस्तुतः रुद्र अग्नि का अद श्य अंग है जो जीवधारियों के स्वास्थ्य की रक्षा करता है। ब्राह्मणों में रुद्र शब्द सर्वदा बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि रुद्र सदैव समूह में ही रहते हैं। इन्द्र रुद्रों के अगुआ हैं। डॉ. रेले के मतानुसार रुद्र मानव शरीर में भावप्रवण क्रियाकलापों के स्रोत हैं।

११. सविता :-

सविता (सवित) देव की बड़ी उच्च पदवी बतायी गयी है। यह देवता जीवों को पापों से दूर कर उन्हें निष्पाप करता है। सविता प्रायः प्रातः एवं सांयकाल से सम्बद्ध है। सविता प्रेरणा अथवा प्रवर्तन के अधिष्ठात्री देवता हैं। गोपथब्राह्मण में आदित्य को ही सविता कहा गया है। आदित्य एवं सविता (गोपथब्राह्मण १.१.३३)। यास्क के अनुसार सविता सूर्योदय के पूर्व तथा सूर्य उषाकाल के बाद के हैं। प्रत्येक क्रिया इसी प्रेरणाशकित के स्फुरित होने पर सम्भव है। इस प्रकार सवित प्रत्येक जीवधारी की क्रिया के पीछे कारणभूत हैं। वह जीव को कोई भी कर्म करने के लिए उकसाते अथवा अभिप्रेरित करते हैं। इस तथ्य के समर्थन में ही 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसव' मन्त्र अनेक बार दुहराया गया है। 'सव' अथवा 'प्रसव' सविता का अपना वैशिष्ट्य है। सविता को राष्ट्र एवं राष्ट्रपति भी कहा गया है। ओल्डेनबर्ग के अनुसार सविता एक सरल भावात्मक देव हैं जो सूर्य में ही समाहित कर लिया गया है। सविता आदित्य का ही एक अंग विशेष है। आदित्य ऊर्जा का सर्वश्रेष्ठ स्रोत है जिसके प्रभाव के कारण जीवधारी कार्य में तत्पर होते हैं। डॉ. रेले के जीवविज्ञान पर आध त व्याख्या के अनुसार अमूर्त रूप में सवित कर्म में प्रव त्त करने वाली संवेग प्रेरणा है जो 'नर्वस सिस्टम' की झिल्ली के साथ-साथ गतिशील रहती है।

१२. त्वष्टा :-

त्वष्टा दैवी निर्माता एवं सौन्दर्य प्रसाधक तथा 'शिल्पी' है। त्वष्टा को रूपक त् तथा रूपपति

कहा गया है। त्वष्टा साक्षात् संरचना शक्ति हैं। ब्राह्मणों में कहा गया है कि क्षरित रेतस् (वीर्य) को वह सुव्यवस्थित करते हैं तथा भ्रूण को आक ति प्रदान करते हैं। त्वष्टा को समिधापति कहा गया है। समिधा सम्भवतः हड्डियों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि हड्डियों के ढाँचे का सुडौल निर्माण त्वष्टा का ही वैशिष्ट्य है। अग्नि, इन्द्र तथा ब हस्पति के साथ त्वष्टा की भी गर्भ धारित कराने अथवा गर्भपात रोकने हेतु प्रार्थना की गयी है।

१३. अश्विन् :-

अश्विन् देवयुगल हैं। शतपथब्राह्मण के कथनानुसार द्यौः और प थिवी ही अश्विन् देव हैं। ऋग्वेद के अनुसार अश्विन प्राचीन होकर भी युवा देवगण हैं। उन्हें युग्म रूप में ही सदा सम्बोधित किया गया है। ये दोनों देवताओं के वैद्य राज हैं। ये दोनों रुद्र के अनुगामी हैं। अश्विन् उन देवताओं में से हैं जिन्होंने इन्द्र का कायाकल्प किया था। ऋग्वेद के अनुसार अश्विन् स्वयं प्रकाशमय, प्रकाश के अधिपति तथा हिरण्य की कान्ति वाले कमलमाला धारण किये रहते हैं। अश्विन् सोमरस के स्थान पर मधु का पान करते हैं। अश्विन् के पास मधु से परिपूर्ण कोष भी है। यह देवयुगल मधु के घड़ों को उड़ेल देते हैं। इनका रथ भी मधुवर्णवाला तथा मधुधारण करता है। यह रथ पक्षियों अथवा पक्षधारी घोड़ों द्वारा खींचा जाता है। अश्विन् इस रथ पर आरूढ़ होकर एक दिन में ही द्यावाप थिवी का भ्रमण कर लेते हैं। अश्विन् देवयुग्म जीवधारियों को समस्त विपत्तियों से छुटकारा दिलाते हैं। ये अन्धे व्यक्ति को दर्शनशक्ति प्रदान करते हैं। इन्होंने व द्ध च्यवन ऋषि को युवा बनाकर उनकी धर्मपत्नी के लिये उन्हें सुन्दर व आकर्षक बना दिया था। अत्रि देव को भी अश्विन् ने अन्धकार से मुक्त किया था। इनके अत्यन्त प्रसिद्ध क त्यों में से समुद्र में डूबते हुए म ज्यु की रक्षा करना सर्वाधिक श्लाघनीय है। अश्विन् को प्रायः देवताओं का अध्वर्यु कहा गया है। ये दोनों बाहुद्वय का प्रतिनिधियान करते हैं (अश्विनोः बाहुभ्याम्)। इस देवयुग्म के वर्णनों को देखने से यह धारणा बनती है कि अश्विन् वह ऊर्जा है जिनसे जीवन के अनेकविध क्रियाकलाप एक साथ सुगमता पूर्वक सम्पादित होते रहते हैं। ब्राह्मणग्रन्थ अश्विन् के तेज की प्रशस्ति करते हैं तथा उनका सम्बन्ध श्रोत्र (कानों) से स्थापित करते हैं। जीववैज्ञानिक की द ष्टि से अश्विन् 'मेडुला एब्लांगेटा' की आन्तरिक सतह पर विभिन्न रेशों के ऊर्ध्वगमन का नाम है।

१४. विष्णु :-

ब्राह्मणग्रन्थों में वर्णित देवगण की सूची के लगभग अन्त में विष्णु का वर्णन है जबकि अग्नि उसमें सर्वप्रथम वर्णित है। विष्णु एवं अग्नि का यह स्थान निर्धारण सापेक्षिक महत्त्व का नहीं, प्रत्युत उनकी भौतिक स्थिति का द्योतक है। परम्परया विष्णु के दो अर्थ किये जाते हैं। विष्धातु से निष्पन्न 'विष्णु' शब्द क्रियाशील का अर्थ द्योतित करता है। वि पूर्वक 'स्नु' धातु से निष्पन्न होने पर इस शब्द का अर्थ 'प थिवी आदि लोकों का अतिक्रमण करने वाला' होता है। ऋग्वेद में विष्णु द्वारा तीन पद न्यास में विश्व को माप देने का वर्णन किया गया है। ब्राह्मणों में विष्णु को यज्ञ कहा गया है। इससे यज्ञ में विष्णु के माहात्म्य का अनुमान लगाया जा सकता है। देवों द्वारा यज्ञ को तीन रूपों में विभक्त किया गया है। (१) प्रातः सवन (२) माध्यन्दिन सवन तथा (३) सायं सवन। जिस प्रकार सोम यज्ञ का अभिन्न अंग है उसी प्रकार विष्णु भी यज्ञ में अति महत्त्वपूर्ण है। इसीलिये विष्णु को सोम भी कहा गया है। शतपथब्राह्मण में विष्णु को वामन कहा गया है। वामन का रूप ग्रहण संभवतः असुरों को चकमे में डालने के निमित्त ही किया गया प्रतीत होता है। विष्णु देवों के रक्षक हैं, इसीलिये इन्हें देवों के द्वारपाल के रूप में वर्णित किया गया है। विष्णु पर्वतवासी हैं। वे पर्वतों के स्वामी भी कहे गये हैं।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि अग्नि एवं विष्णु वैदिक देवों की सीमा रेखा निर्धारित करते हैं। विष्णु देवता ने क्रमिक रूप से एक सर्वातिशायी देवता के आकार के प्रारम्भिक रूपों को प्राप्त किया है। प्रायेण विष्णु को यज्ञ तथा यज्ञ को विष्णु कहा गया है। कभी-कभी विष्णु को वामन के रूप में सभी दिशाओं तथा सम्पूर्ण आकाश के स्वामी के रूप में वर्णित किया गया है। आपाततः यह विरोधात्मक बात लगती है कि वामन होते हुये भी यह देवता आकाश व समस्त दिशाओं को कैसे

आक्रान्त कर सकता है, किन्तु वास्तविकता यही है कि जब विष्णु नियत रूप में रहते हैं, तो लघु आकार के होते हैं, किन्तु वह स्वभावतः तीन पद-क्रम में समस्त ब्रह्माण्ड को अभिभूत कर लेते हैं। वेदि पर जो यज्ञ मात्र एक कर्मकाण्ड क त्य के रूप में दिखाई देता है, वही विश्व स्तर पर व्यापक सामान्य क्रिया है। जीव विज्ञान की द ष्टि से मानव शरीर के सन्दर्भ में विष्णु मेरुदण्ड (रीढ़) की हड्डी हैं। उनके तीन पद - क्रम मानव शरीर में संवेदन-प्रेषण के तीन 'रिले स्टेशन' की भाँति हैं।

१५. आदित्य-सूर्य :-

आदित्य प्रधानतः सूर्य देव हैं। सूर्य का तादात्म्य अनेक देवों से किया गया है। अध्यात्म क्षेत्र में वह आँख की भाँति है। सूर्य अपने वर्चस् से विश्व की रक्षा करते हैं। वह अज एवं एकपाद हैं। सूर्य को ब्रह्मा कहा गया है। सूर्य ही प्राणियों को कर्म में प्रव त्त करते हैं। सूर्य ही समस्त जीवों एवं पदार्थों का जीवन व आत्मा है। जहाँ-जहाँ सूर्य का अभिधान कराने वाला 'आदित्य' शब्द ब्राह्मणों में प्रयुक्त हुआ है वहाँ-वहाँ 'असौ सः-' 'यह सूर्य है' का प्रयोग मिलता है, क्योंकि 'आदित्य' शब्द ऐसे देवता का बोध कराता है जिसके अनेक रूपों-पक्षों में से सूर्य भी एक रूप है। मैक्डॉनल के अनुसार सूर्य के एक ओर ही प्रकाश है। इस प्रकाशयुक्त भाग को सूर्य प थिवी की ओर करके पूर्व से पश्चिम की तरफ संक्रमण करते हैं। जब सूर्य रात में लौटते हैं तो उनका वह प्रकाशयुक्त भाग तारों की तरफ रहता है और उस प्रकाश से ही तारामण्डल प्रकाशित होता रहता है। उस समय सूर्य का अन्धकारयुक्त भाग प थिवी की तरफ होने के कारण प थिवी पर अन्धकार छा जाता है। हिलेब्रां का कथन है कि चन्द्रमा सूर्य की ज्योति से ही ज्योतित है। कौषीतकि ब्राह्मण का कहना है कि नभोमण्डल में जो तपता है, वही सूर्य है। आदित्य को सूर्य की संज्ञा से अभिहित किया गया है। ब्राह्मणों में इन्द्र को सूर्य का दूसरा रूप कहा गया है। गोपथ ब्राह्मण पूषन् को सूर्य बतलाता है। शतपथब्राह्मण में सूर्य की अभिन्नता वषट्कार से (श.ब्रा. ११.२.२.५) की गयी है। इसी ग्रन्थ में तपनेवाले सूर्य को स्वाहाकार भी कहा गया है। सूर्य को पिता कहा गया है। इन कथनों से वह निर्विवाद है कि सूर्य ही जीवों का पोषण करता है, इसीलिये सूर्य को 'गोपा' के नाम से पुकारा गया है। ऐतरेय ब्राह्मण का कथन है कि यह सूर्य जो प्रकाश में बैठा है, वही अन्तरिक्ष में बैठने वाला वसु है। वही होता है, वही घर में बैठने वाला अतिथि है, वही मानवों में बैठने वाला है, वही ऋत में आसीन होने वाला है तथा वही आकाश में आसीन है।

आदित्यों में अग्रणी देवता वरुण है। डॉ. रेले के कथनानुसार सात आदित्यगण मानव शरीर में सिर, धड़, अंगों, आँखों, नथुनों, कानों तथा जिह्वा के संचालन हेतु मस्तिष्क में स्थित सात संवेदन केन्द्र हैं।

१६. ब हस्पति :-

ब हस्पति देवताओं के पुरोहित हैं। ब हस्पति तथा ब्रह्म एक हैं तथा वह ब्रह्मपति एवं ब्रह्मणस्पति हैं। वह अपने भक्तों को विद्वान् (वाक्पति) बना देते हैं। ब्रह्म को 'पर्ण' अथवा पलाश कहा गया है। यह गुण ब्रह्म को समझने हेतु बताया गया है।

ब हस्पति को देवों में प्रथमोत्पन्न माना गया है। यहाँ यह पुनः उल्लेखनीय है कि वैदिक वाङ्मय में देवों की मानवीकरण प्रक्रिया में उनके शरीरधारियों की भाँति जन्म लेने के आख्यान भरे पड़े हैं। यहाँ ब हस्पति ध्वनि का प्रतिनिधायन करते दिखाई देते हैं, क्योंकि ध्वनि ही सर्वप्रथम स्फुट होकर प्रत्यक्ष हुई। डा. रेले की धारणा है कि ब हस्पति ने ही वाणी को मुखरित किया है। जिमर का अभिमत है कि ब हस्पति नाम से ही आभ्यन्तर आत्मशक्ति (ब ह्, ब्रह्मन्) के पति हैं जो दिव्य तत्त्व से जुड़कर विलक्षण जादू कर देते हैं।

प्रकारान्तर से भी इस शब्द का अर्थ विचारणीय है। 'ब ह् वर्धने' धातु से यह शब्द निष्पन्न हुआ है। 'ब हू' शब्द का षष्ठी एक वचन रूप 'ब हस्पति' है जिसका अर्थ है मन्त्र अथवा प्रार्थना का अधिपति। कतिपय सूक्तों में इन्द्र के साथ इस देवता का नामोल्लेख है। इसी कारण इन्द्र की कतिपय विशेषताओं यथा मधवन्, वज्री से इन्हें संयुक्त बतलाया गया है। गान करने वाले गणों से घिरे रहकर यह देवता

बल नामक असुर को अपने गर्जन से विदीर्ण कर गायों को बाहर निकाल देते हैं। ब हस्पति अन्धकार का निवारण कर प्रकाश का स चार करते हैं। ब हस्पति को अग्नि का प्रतीक माना गया है। अग्नि की ही भाँति यज्ञ में ब हस्पति को भी पुरोहित बतलाया गया है। ब हस्पति की अर्चना-वन्दना गणपति के रूप में की गयी है। ऋग्वेद में ब हस्पति से सुमति, दानस्तुति की स्वीक ति एवं शत्रुओं के धनहरण हेतु प्रार्थना की है।

१७. उषा :-

'उषा' शब्द का अर्थ दीप्तिसम्पन्न है - 'वस् दीप्तौ' धातु से इसकी निष्पत्ति हुई है। ऋग्वेद में उषा एक युवती के रूप में परिकल्पित है। उषा अपने प्रेमी सूर्य के पास सजधज कर जाती है। उषा के आगमन पर समस्त प्राणी क्रियाशील हो जाते हैं। उषा प्राचीन होकर नित्य उत्पन्न होती है। उषा को गायों की माता कहा गया है क्योंकि उनके आगमन पर गायें चरने के लिये चली जाती हैं। सूर्य उषा का अनुगमन ठीक उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार एक वर अपनी वधू का करता है। उषा सूर्य-पत्नी है। प्रक ति के शाश्वत नियमों का पालन करने के कारण उषा को ऋतावरी (ऋतु की अनुगामिनी) कहा गया है। उषा को अमरत्व का केतु भी कहा गया है। उषा प्रकाशपुंज का आवर्तन इस प्रकार करती है जैसे कोई चक्र को घुमाता है। उषा का सम्बन्ध अग्नि से बताया गया है। प्रातः सवन उषःकाल में ही होता है। इसे द्युलोक की पुत्री भी कहा गया है। वस्तुतः उषा सूर्य की ही जीवनदायिनी कला है।

१८. वायु :-

ब्राह्मणों में वायु की गति अंकित की गयी है। देवों में वायु ही ऐसे हैं जो आदित्य तक पहुँच सकते हैं। वायु व ष्टि कराते हैं। आध्यात्मिक पक्ष में अर्थ करने पर वायु प्राणतत्त्व है। वायु अर्थात् जो बह रहा है पवित्र है। वायु को यज्ञ भी अभिहित किया गया है। अन्य शब्दों में श्वास प्रश्वास की सनातन क्रिया ही यज्ञ है। विभिन्न दिशाओं में वायु को भिन्न-भिन्न नाम प्रदान किये गये हैं। पूर्व दिशा में वायु को प्राण, दक्षिण दिशा में मातरिश्वा, पश्चिम दिशा में पवमान तथा उत्तर दिशा में सविता कहते हैं।

१६. मरुद्गण :-

मरुद्गण देवों का एक वर्ग है - 'सप्त हि मारुतो गणः' (श.ब्रा. २.५.१.१३)। वे गणों के अधिपति (गणानांपतयः) बताये गये हैं। सात-सात देवताओं के ये तीन वर्ग हैं। ये सात देवता रश्मियाँ (प्रकाश किरणें) हैं। इससे मरुद्गणों एवं रुद्रों के चरित्रगत वैशिष्ट्य पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। रुद्रों को मरुद्गण का पिता कहा गया है। मास (महीने) रश्मियों का प्रतिनिधायन करते हैं और रश्मियाँ मरुद्गण हैं। मरुद्गण आदित्य को धारण किये रहते हैं। डॉ. रेले ने मरुद्गण को मानव शरीर के सन्दर्भ में मस्तिष्क की संकेतवाहिनी नाड़ियाँ बतलाया है।

२०. पर्जन्य :-

पर्जन्य वर्षा सम्बन्धी देवता है। जल व ष्टि कर अन्न के उत्पादन हेतु पर्जन्य की पूजा की जाती है। यह स्तुति काव्यात्मक शैली में उपनिबद्ध है। पर्जन्य का उद्बोधन रेतस् (वीर्य) विकीर्ण कर वनस्पतियों एवं पौधों में गर्भ धारण कराने हेतु किया गया है। पर्जन्य वस्तुतः जल की व ष्टि कराने की प्राक तिक शक्ति का नाम है। जीव विज्ञान की द ष्टि से पर्जन्य शरीर की नैसर्गिक क्रियाशक्ति का अभिधान है।

२१. आप :-

ब्राह्मण साहित्य में आपः अर्थात् जल को शान्ति का स्रोत बतलाया गया है। जल पवित्र करने का सामर्थ्य रखता है। जल में राक्षसों को नष्ट करने की क्षमता होती है। वस्तुतः ये राक्षस मानव-मन के बुरे विचार ही हैं। जल यज्ञानुष्ठान में समस्त दोषों को परिमार्जित कर देता है। किसी भी कर्मकाण्ड या धर्मानुष्ठान का शुभारम्भ अथवा समापन जल द्वारा ही सम्पन्न किया जाता है। यष्टा किसी भी यज्ञ

कर्मकाण्ड के सम्पादन हेतु तभी दीक्षित कहलाता है जब वह पवित्र जल से स्नान कर लेता है। इसी प्रकार यज्ञानुष्ठान की समाप्ति कर दीक्षित यजमान द्वारा पुनः जलस्नान कर लेने पर ही कर्मकाण्ड विधिवत् सम्पन्न माना जाता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों की यह धारणा है कि जल में देवताओं का वास रहता है। सभी देवतागण जलमय होते हैं। इस प्रकार न केवल समस्त देवगण बल्कि समस्त विश्व जल के माध्यम से ही शक्तिमान् बना रहता है। जल समस्त विश्व को व्याप्त किये हुए रहता है। यही कारण है कि 'आपः' का तादात्म्य यज्ञ से किया गया है। जल का देवतत्त्व से वही सम्बन्ध है जो मन का मानव-शरीर से है। जल को जीवनदायिनी शक्ति माना गया है। जल ही अन्न की उत्पत्ति में सहायक है। अन्न स्वयं में जल ही है।

ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति (स्थूल रूप ग्रहण) के पूर्व 'आपः' महत् जल था। जलों का यह महत् स्वरूप उनके ऐश्वर्य का द्योतक है। एस.पी. पण्डित ने कहा है - 'The waters represent the Universal creative energies out of which the world get fashioned.'।

जल तत्त्व को दो द ष्टियों से समझा जा सकता है। (१) शाश्वत एवं अनादि विकिरण क्रिया तथा (२) जल के स्थूल द्रवात्मक भौतिक रूप की द ष्टि से। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड आदि घटक जल से ही उद्भूत हुआ है तथा जल से ही यह धारित है। विश्व को जीवन प्रदान करने एवं उसे सत्ता में बनाये रखने में जल अपरिहार्य तत्त्व है। 'बाइबिल' में जल को ही आदि रचना के रूप में कल्पित किया गया है।

२२. अदिति :-

ब्राह्मण ग्रन्थों में अदिति का नाममात्र का ही उल्लेख मिलता है। अधिकांश स्थलों में अदिति को भूमि के रूप में ही स्मरण किया गया है। अदिति विश्व की जननी है। अदिति को विशिष्ट रूप से देवों की जननी माना गया है। किसी भी ब हत् यज्ञानुष्ठान के पूर्व अदिति की पूजा में एक कर्मकाण्ड विशेष सम्पादित कराया जाता है। आदित्य ग्रह की प्रशस्ति से सम्बन्धित एक मन्त्र में अदिति, अतिथि तथा अग्नि को एक धरातल पर रखकर अनुशंसित किया गया है। दैवी शक्तियों के निम्नांकित तीन युग्मों का वर्णन उल्लेखनीय है :-

अदिति एवं यज्ञिय, अतिथि एवं मनुष्य तथा अग्नि एवं देवगण।

इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि याज्ञिकों द्वारा अदिति की प्रतिष्ठा सपर्या ही सर्वोपरि है। यह सामान्य धारणा रही है कि अदिति दिति से अलग-थलग उसकी परिपन्थी है तथा ये दोनों दो प थक् शक्तियाँ हैं। 'अदिति' शब्द 'अद्' धातु से भक्षण अर्थ में निष्पन्न है। भक्षण के व्यापक अर्थ में अपने घेरे में समेटना अर्थ भी सम्मिलित है। 'दिति' शब्द 'दि' धातु से तोड़ने के अर्थ में निष्पन्न हुआ है। अदिति को जब दिति का परिपन्थी माना जाता है तो अविच्छिन्न पूर्ण शक्ति का द्योतक होता है।

२३. प थिवी :-

प थिवी अथवा भूमि हमारी माता है, वह मही 'बड़ी' है। यह समस्त विश्व का भरण करती है। वह अदिति है। भूमि का अग्नि-वैश्वानर से तादात्म्य स्थापित किया गया है क्योंकि दोनों ही वस्तु को पकाकर फल में परिणमित करने की क्षमता रखते हैं। प थिवी को सभी देवताओं की पत्नी कहा गया है।

२४. इडा, भारती, सरस्वती :-

ये तीनों स्त्री देवता सप्तम प्रयाज एवं अनुयाज आहुतियों की अधिष्ठात्री देवता हैं। इन तीनों का एक वर्ग है। भारती आदित्य से, सरस्वती रुद्र से तथा इडा वसु अथवा अग्नि से सम्बद्ध रहती हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण में यह स्पष्ट अभिधान है कि ये तीनों किसी भी क त्य की अनिवार्य तत्त्व के रूप में हुआ करती हैं। वस्तुतः ये तीनों देवता किसी क त्य के कायिक, वाचिक, एवं मानसिक स्तरों का

प्रतिनिधित्व करती हैं। इससे अग्नि, रुद्र एवं आदित्य के चरित्रों पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

२५. सरस्वती :-

उपर्युक्त तीनों देवताओं में से सरस्वती की बड़ी कीर्ति गायी गयी है। रुद्रों के अनुयायी अश्विन् सरस्वती को उसके कार्यों में सहायता पहुँचाते हैं। सरस्वती चिकित्सा उपचार के क्षेत्र में भी प्रसिद्ध है। सरस्वती उन दैवी शक्तियों में से एक है जिन्होंने इन्द्र को पुनरुज्जीवित किया था।

सरस्वती शरीर-सौष्ठव प्रदान करने वाली देवी के रूप में भी चर्चित आराधित है। वह पुष्टि व पुष्टिपत्नी भी है जो कि पोषण की देवता है। अश्विन् की सहायता से सरस्वती गर्भस्थ भ्रूण की रक्षा करती रहती है। सरस्वती के वीर्य की बड़ी प्रशस्ति की गयी है। वह साक्षात्वाक् (वाणी) है। ए.बी. पुराणी के मतानुसार सरस्वती उच्चस्तरीय मस्तिष्क की वह शक्ति है जो मानव में इन्द्रिय के रूप में सन्निहित है।

संरचनात्मक स्वरूप

वैदिक संहिताओं के पश्चात् संस्क त या वैदिक साहित्य के इतिहास में एक ऐसा युग आया जो वर्ण्यविषय और शैली की द ष्टि से सर्वथा भिन्न था। ऐसे ग्रन्थों को ब्राह्मण कहा जाता है। इनमें हिन्दू धर्म व्यवस्था तथा यज्ञयाग आदि के संबंध में सहस्रों नीति-नियमों एवं विधि व्यवस्थाओं का वर्णन है। ये ग्रन्थ स्वरूप एवं विषय की द ष्टि से संहिताओं से सर्वथा भिन्न हैं। संहिताओं की रचना मुख्यतः छन्द में हुई (अपवाद स्वरूप क ष्ण यजुर्वेद तथा अथर्वसंहिता के कुछ अंश गद्य में भी हैं)। किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थ सर्वांशतः गद्यात्मक हैं। संहिता में स्तुति की प्रधानता है और ब्राह्मण विधिप्रधान हैं। ब्राह्मण ग्रन्थ विशेष रूप से ग हस्थों या गार्हस्थ आश्रमों के लिए उपयोगी थे। इनमें कर्मकाण्ड का विस्त त विवेचन है। वैदिक युग के पश्चात् एक ऐसा युग आया, जिसमें विभिन्न प्रकार के धार्मिक ग्रन्थों का निर्माण हुआ, ब्राह्मण उसी युग की देन हैं। इनमें यागादि अनुष्ठानों से परिचित जन समूह के समक्ष उनका धार्मिक रूप प्रदर्शित करते हुए नियमों का निर्धारण हुआ है।

इन ग्रन्थों में यज्ञ या ब्रह्म का प्रतिपादन करने के कारण इनकी संज्ञा ब्राह्मण हुई। यज्ञ को प्रजापति तथा प्रजापति को यज्ञ माना जाता है - 'एष वै प्रत्यक्ष' यज्ञो यत प्रजापतिः' शतपथ ब्राह्मण, ४/३/४/३/ ब्राह्मणों में मन्त्रों, कर्मो एवं विनियोगों की व्याख्या हुई है। वाचस्पति मिश्र ने रचना की द ष्टि से उन ग्रन्थों को ब्राह्मण ग्रन्थ माना है जिनमें मन्त्रों के निर्वचन, विनियोग तथा प्रयोजन के साथ-साथ यागादि की विधियां वर्णित है।

नैरुक्त्यं यस्य मन्त्रस्य विनियोगः प्रयोजनम्।

प्रतिष्ठानं विधिश्चैव ब्राह्मण तदिहोच्यते।। - वाचस्पतिमिश्र

शाबर भाष्य में ब्राह्मण ग्रन्थों के रचनात्मक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए शबर स्वामी ने लिखा है -

हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः।

परिक्रिया पुराकल्पो व्यवधारण कल्पना।।

उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य तु।। - २/१/८

इनमें दस विषयों का उल्लेख है, जिनमें चार प्रधान हैं- विधि, अर्थवाद, उपनिषद् एवं आख्यान। विधिभाग के अन्तर्गत कर्म-काण्ड विषयक विधानों का वर्णन है या इसमें यज्ञ करने के प्रयोग संबंधी नियम निरूपित हैं। विधि का अर्थ है यज्ञ तथा उसके अंगों एवं उपांगो का निरूपण यज्ञ के किसी विशेष भाग में किस प्रकार अग्नि प्रज्ज्वलित की जाय, वेदी का आकार क्या और कैसा हो,

दर्शपौर्णमासादि यज्ञ करने वाले व्यक्ति का आचरण कैसा हो, उद्‌गाता तथा ब्रह्मा किस दिशा में किस प्रकार मुख करके बैठें और वे किस हाथ में कुश धारण करें आदि सारी बाते ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित हैं।

विनियोग :-

ब्राह्मण ग्रन्थ मन्त्रों के विनियोग का भी विधान करते हैं। उनमें इस बात का विवेचन है कि किस उद्‌देश्य को सिद्ध करने के लिए किस मन्त्र का प्रयोग किया जाय। इसकी युक्तिपूर्वक व्यवस्था ब्राह्मणों में हुई है क्योंकि मन्त्र के पदों से ही विनियोग की सिद्धि होती है।

हेतु :-

कर्मकाण्ड की विशेष विधि के लिये जो कारण निर्दिष्ट किये जाते हैं, उन्हें हेतु कहा जाता है। ब्राह्मणों में यज्ञ के विधि विधान के सम्बन्ध में समुचित तथा योग्य कारणों का विस्तार के साथ निर्देश हुआ है।

अर्थवाद :-

इसके अन्तर्गत प्ररोचनात्मक विषयों का वर्णन किया जाता है तथा उपाख्यान या प्रशंसात्मक कथाओं द्वारा यज्ञीय प्रयोगों की महत्ता प्रतिपादित की जाती है और ऐसे निर्देश वाक्य प्रयुक्त होते हैं, जिनमें यज्ञों के विधान के उल्लेख होते हैं। उदाहरणार्थ किस यज्ञ विशेष से किस फल की प्राप्ति होती है और किस यज्ञ विशेष के निमित्त किन-किन विधियों की आवश्यकता होती है इन सारी बातों का निर्देश अर्थववाद की परिधि में आता है। यज्ञ में निषिद्ध पदार्थो की निन्दा एवं विधि का अनुकरण करने वाले वाक्यों को अर्थवाद कहा जाता है। उदाहरण के लिये यज्ञ में माष या उड़द का प्रयोग वर्जित है, इसलिए वाक्य में, इसकी निन्दा की गयी है - अमेध्यावै माषा, तै० सं० ५/१/८/१। ब्राह्मणों में अनुष्ठानों, हव्य द्रव्यों तथा देवताओं की अत्यन्त विस्तार के साथ प्रशंसा हुई है।

निरुक्ति :-

ब्राह्मणों में शब्दों का अनेक स्थानों पर निर्वचन दिया गया है, जो भाषाशास्त्र की द ष्टि से अत्यन्त उपादेय उपयोगी हैं। निरुक्त की व्युत्पत्तियों का मूल उत्स ब्राह्मणों में ही है।

आख्यान :-

शुष्क अर्थवादों को बोधगम्य बनाने के लिए ब्राह्मणों में अत्यन्त सरस और रोचक आख्यानों का समावेश कर विषय को समझाने का प्रयत्न हुआ है। इन आख्यानों का मूल उद्देश्य विधि-विधानों के स्वरूप की व्याख्या करना है। ब्राह्मणों के अनेक लौकिक आख्यान ही परवर्ती इतिहासपुराणों के प्रेरक रहे हैं। इनमें स ष्टि के विकास - क्रम का आख्यान, आर्यो के सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन एवं आर्यों और अनार्यों के युद्ध के आख्यान प्राप्त होते हैं। 'शतपथब्राह्मण' में जलप्लावन की कथा स ष्टिविद्या की द ष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है और पुरुरवा-उर्वशी तथा शुनः शेप की कथा का साहित्यिक मूल्य है।

यद्यपि विषय प्रतिपादन हेतु अपना विशिष्ट रचनात्मक आकार और भाषा शैली रखने वाले ब्राह्मण ग्रन्थ संहिताओं की अपेक्षा व्यवस्थित प्रतीत होते हैं तथापि उनकी रचना, भाषाशैली और प्रतिपादित विषयों की विविधता वैदिक साहित्य के सामान्य अध्येताओं में अरूचि उत्पन्न कर देती है। इस विषय में मैक्समूलर का कथन है कि - "भारतीय साहित्य में रुचि रखने वाले विद्वान् के लिए चाहे यह कितना भी रोचक हो पर सामान्य पाठक के लिए नीरस ही है। इसका अधिकांश भाग शुष्क और तुच्छ है और उस पर कठिनाई यह है कि यह विषय धार्मिक कर्मकाण्ड के साथ गुथा हुआ है।

ऐसा कोई भी व्यक्ति, जिसे पहले से वैदिक साहित्य से ब्राह्मण ग्रंथों के स्थान का तथा भारतीय मानस के इतिहास में उसके महत्त्व का पता न हो, इन ग्रंथों में से दस प ष्ठ भी उकताये बिना नहीं पढ़ सकता।"

निःसन्देह मैक्समूलर महोदय का कथन सत्य से परे नहीं है। सम्भवत इसी कारण से वैदिक साहित्य के गम्भीर अध्येताओं ने भी ब्राह्मण साहित्य पर अधिक कुछ नहीं लिखा है फिर भी वर्तमान में उपलब्ध भारतीय गद्यसाहित्य के प्राचीनतम उदाहरण के रूप में तथा धार्मिक और परिकल्पनापूर्ण साहित्य के रूप में इनकी महत्ता कम नहीं आँकी जा सकती। चाहे इस साहित्य को नीरस और सारहीन कहा जाये तथापि भारतीयों के पश्चात्कालीन धर्म और दर्शन को समझने के लिए इस ब्राह्मण साहित्य एक अध्ययन अनिवार्य है। जिस प्रकार भारतीय प्रार्थनाओं का इतिहास समझने के लिए यजुर्वेद की संहिताओं का अध्ययन अनिवार्य है। उसी प्रकार यज्ञ और पुरोहितों का इतिहास जानने के लिए हमारे लिए ब्राह्मण-साहित्य एक अमूल्य खजाने के रूप में विद्यमान है। यह ब्राह्मणसाहित्य पौरोहित्य वर्ग की बौद्धिक क्रियाशीलता का प्रतिनिधित्व करता है। इस वर्ग ने प्राचीन पूजाविधि के विश्वासों और नियमों को सफलतापूर्वक व्यवस्थित करके उन्हें याज्ञिक उत्सवों के एक अत्यन्त प्रश्लिष्ट रूप से गुँथे हुए कर्मकाण्ड में परिणत कर दिया।

आरण्यक

संहिता और ब्राह्मणग्रन्थों के पश्चात् वैदिक साहित्य में आरण्यकों का स्थान है। ये ग्रन्थ ब्राह्मण ग्रन्थों के परिशिष्ट रूप हैं।

आरण्यक शब्द का सामान्य अर्थ 'अरण्य सम्बन्धी' या अरण्य में होने वाला होता है। तथापि इस शब्द के वास्तविक अर्थ के विषय में विद्वानों में कुछ अनिश्चितता-सी ही बनी हुई है। ऐतरेय ब्राह्मण की भूमिका में सायण ने 'आरण्यकरूपं ब्राह्मणम्' का प्रयोग किया है। दूसरी ओर ऐतरेय आरण्यक की भूमिका में 'आरण्यक' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है 'अरण्ये एव पाठ्यत्वात् आरण्यकमितीर्यते।' इन दो प थक् व्याख्याओं के कारण कुछ विद्वानों का यह मत है कि आरण्यक नाम ऐसे साहित्य के लिए प्रस्तुत किया गया है जो अरण्य में रहने वाले तपस्वियों के लिए याज्ञिक कर्मकाण्ड के स्थान पर कुछ अन्य प्रकार की विषयवस्तु उपस्थित करने के लिए रचा गया था। इसके विपरीत, दूसरे विद्वानों का मत यह रहा कि 'आरण्यक' शब्द का प्रयोग उस सब साहित्य के लिए किया गया जिसकी विषयवस्तु ब्राह्मण ग्रन्थ जैसी ही थी परन्तु उसका पठन पाठन और नगर और ग्राम से दूर अरण्यवासियों द्वारा किया जाता था और इस साहित्य की रचना भी उन्हीं अरण्यों में वहाँ के निवासियों द्वारा की गई।

यद्यपि विषयवस्तु की द ष्टि से आरण्यकों और ब्राह्मणों में कोई भेद नहीं है अर्थात् जिन श्रौत यज्ञों पर ब्राह्मणों में विवेचन हुआ है उन्हीं यज्ञों पर आरण्यकों में भी विचार किया गया है। तथापि ब्राह्मणों और आरण्यकों में वास्तविक भेद उनकी विवेचना पद्धति में है। ब्राह्मणों में हम यह देख चुके हैं कि यज्ञ के स्थूल रूप पर प्रधानतः विचार किया गया है अर्थात् किसी विशिष्ट यज्ञ की कोई विशेष क्रिया क्यों की जाती है और किसी प्रकार की जाती है इस प्रकार का विवेचन हमें ब्राह्मणों में अधिकांशतः मिलता है। आरण्यकों में यज्ञ की आध्यात्मिक व्याख्या की गई है। इस प्रकार की व्याख्या के लिए अध्यात्मवाद, रहस्यवाद, दर्शन और प्रतीकवाद का पर्याप्त आश्रय लिया गया है। यह विषय इतना गूढ़ और सूक्ष्म समझा जाता था कि इस पर विचार अरण्य के एकान्त में विशिष्ट रूप से दीक्षित शिष्यादि के साथ ही किया जाता था। इस रहस्यात्मक और गूढ़ विषय को न तो प्रत्येक व्यक्ति समझ सकता था और न ही इस पर विचार-विनिमय करने में समर्थ होता था। इसलिए आरण्यकों का अध्ययन अध्यापन और उन पर विचार-विमर्श ग्राम, नगर से दूर अरण्य के एकान्त में किया जाता था। अतः इन ग्रन्थों को जिनमें ऐसे गूढ़ तथा रहस्यात्मक विषय का वर्णन था उन्हें आरण्यक नाम दिया गया। संक्षेप में कहा जा सकता है कि आरण्यकों का वर्ण्यविषय यज्ञ की अन्योक्ति परक, लाक्षणिक,

अध्यात्मवादी, रहस्यवादी, दार्शनिक और प्रतीकवादी व्याख्या करना था।

जिस प्रकार आरण्यकों की विषयवस्तु में एकरूपता नहीं है उसी प्रकार उनकी संघटना में भी एकरूपता नहीं है। आरण्यकों का कुछ भाग संहिता जैसा, कुछ ब्राह्मण जैसा और कुछ सूत्र शैली में है। यह स्थिति इस कारण उत्पन्न हुई कि आरण्यकों की विषयवस्तु उस-उस आरण्यक में सम्बद्ध वैदिक संहिता तथा उस संहिता के संप्रदाय विशेष के ब्राह्मण के द्वारा उस आरण्यक तक पहुँची थी। भाषा और शैली की द ष्टि से ये ब्राह्मणों और उपनिषदों के बीच में एक संयोजक कड़ी के रूप में दिखाई देते हैं। यह स्वाभाविक था कि याज्ञिक-कर्मकाण्ड की भौतिक व्याख्या से आध्यात्मिक व्याख्या की ओर बढ़ते समय निर्मित होने वाले साहित्य में भौतिकता और आध्यात्मिकता दोनों का प्रभाव द ष्टिगोचर हो। इस तथ्य का अवलोकन तैत्तिरीय ब्राह्मण और तैत्तिरीय आरण्यक में वर्णित अग्निचयन की व्याख्या के प्रसंग में किया जा सकता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण मे अग्निचयन के चार विशेष प्रकारों का वर्णन है। व्याख्या की ब्राह्मण शैली के अनुसार विषय के प्रारम्भ में मन्त्रों की लम्बी गणना, तत्पश्चात् विषय के साथ उनकी एकरूपता, व्याख्या प्रसंग में आने वाले शब्दों की व्युत्पत्तियाँ, प्रक्रिया विषयक विचार-विमर्श, ब्रह्मोद्य शैली के प्रश्न, आख्यान, विशिष्ट प्रक्रिया का अनुसरण करने के परिणामस्वरूप मिलने वाले फल तथा प्रतीकात्मक व्याख्या आदि सभी कुछ उस ब्राह्मण में दिया गया है। तैत्तिरीय आरण्यक में पाँचवे प्रकार के विशिष्ट आरुणकेतुक अग्निचयन का वर्णन है। वहाँ न केवल यह सब प्रक्रिया संक्षिप्त हो गयी है अपितु रहस्यात्मक और प्रतीकात्मक व्याख्या पर अधिक बल दिया गया है। आरण्यकों में ऋग्वेद और यजुर्वेद के आरण्यक ही वस्तुतः आरण्यक शैली के ग्रन्थ कहे जा सकते है। ऋग्वेद के आरण्यकों में ऐतरेय आरण्यक और शांखायन आरण्यक प्रसिद्ध है।

ऐतरेय-आरण्यक ऐतरेय -ब्राह्मण से जुड़ा है। यह पाँच भागों में विभक्त है, प्रत्येक भाग को आरण्यक नाम दिया हुआ है। आरण्यकों का विभाजन अध्यायों में है और अध्यायों का खण्डों में। प्रथम आरण्यक में ५ अध्याय, द्वितीय में सात, त तीय में २ और प चम में ३ अध्याय हैं। चतुर्थ आरण्यक में महानाम्नी ऋचाएँ दी हुई हैं। इनमें से पहले तीन आरण्यक मिलकर एक प थक भाग बनाते हैं और पिछले दो आरण्यकों से स्पष्टतया प थक् प्रतीत होते हैं। इनकी भाषा-शैली सरल है और ब्राह्मण जैसी है।

पहले आरण्यक में 'महाव्रत' की व्याख्या दी हुई है। आरण्यक में वर्णित इसकी विधि रहस्यात्मक और प्रतीकात्मक कल्पनाओं से परिपूर्ण है 'जो दीक्षित अनुयायियों को ही बतायी जा सकती थी और इसलिए ऐतरेय ब्राह्मण में इस विषयक विचार नहीं है। ऋग्वेद के दोनों ही आरण्यकों - ऐतरेय और शांखायन के रचयिताओं ने एक वर्ष तक चलने वाले 'गवामयन' सत्र के अन्तिम से पहले दिन इस महाव्रत को सम्पन्न करने का विधान किया गया है। सोमयज्ञों में परिगणित होने के कारण इसकी दैनिक प्रक्रिया तीन भागों में विभक्त है। प्रातः मध्याह्न तथा सायं समय में सोम का अभिषवण किया जाता है तथा उसकी आहुति दी जाती है।

इस प्रक्रिया को करते समय उद्‌गाता और होता क्रमशः सामन् स्तोत्रों और शस्त्रों का पाठ करते हैं। शस्त्रपाठ का यह कार्य होता एक झूले पर बैठकर करता है और होता के द्वारा की जाने वाली यह क्रिया अत्यन्त पवित्र और संश्लिष्ट है। इसका महत्त्व सम्पूर्ण ऋग्वेद के समान बताया गया है।

ऐतरेय आरण्यक का दूसरा आरण्यक विषयवस्तु के आधार पर स्पष्टतया दो भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में - जिसमें तीन अध्याय हैं - माध्यन्दिन सवन के समय पढ़े जाने वाले शस्त्र के विषय में कल्पना प्रसूत व्याख्याएँ हैं। यह शस्त्र प्राण की महिमा के विषय में हैं। आरण्यकों में दी गई व्याख्या पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों क्षेत्रों में लागू होती है। इस द्वितीय आरण्यक का दूसरा भाग चौथे से सातवें अध्याय तक - स्वरूप में उपनिषद् जैसा है। ये पिछले चार अध्याय ही ऐतरेय उपनिषद् के नाम से

जाने जाते हैं।

तीसरे आरण्यक में ऋग्वेद संहिता के कुछ पदों की यथा - संहिता, पद, क्रम इत्यादि की - दीक्षितों के लिए उपयुक्त रहस्यात्मक व्याख्याएँ दी गयी हैं। इन अध्यायों की विषयवस्तु को 'संहिताया उपनिषद्' कहा गया है। पाँचवा आरण्यक एक प्रकार से प्रथम आरण्यक का सूत्ररूप में परिशिष्ट है इसमें 'महाव्रत' के माध्यन्दिन सवन से सम्बद्ध 'निष्कैवल्य शस्त्र' का वर्णन किया गया है। 'महाव्रत' के विषय में इस आरण्यक में लिखा है : 'नादीक्षितो महाव्रतं शंसेत्'। यद्यपि ऐतरेय ब्राह्मण के रचयिता को ऐतरेय आरण्यकों के प्रथम तीन आरण्यकों का लेखक भी माना जाता है पर यह बात तर्कसंगत नहीं हैं क्योंकि दूसरे आरण्यक में स्वयं इस एक आचार्य के रूप में उद्ध त किया गया है - 'एद्धि स्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेय।'

ऋग्वेद से ही सम्बद्ध शांखायन आरण्यक की विषय-वस्तु ऐतरेय आरण्यक से बहुत मिलती-जुलती है। इसमें १५ अध्याय हैं। जिनमें से कुछ बहुत छोटे हैं। इसमें कौषीतकी के समान शांखायन को प्रमुख आचार्य के रूप में उद्ध त नहीं किया गया है परन्तु इस आरण्यक के १५वें अध्याय में यह वर्णित है।

'अथ वंशः। ॐ। नमो ब्रह्मणे, नम आचार्येभ्यः। गुणाख्याच्छांखायनादशमाभिरधीतम्। गुणाख्यः शांखायनः कहोलात् कौषीतकेः। कहोलः कौषीताकिरुद्दालकादारुणेः।'

निम्न चार विषय जो इस आरण्यक की विषयवस्तु के मुख्य भाग हैं इस सम्प्रदाय के ग ह्यसूत्र में भी इसी क्रम में वणित हैं प्रथम दो अध्यायों में महाव्रत तीसरे से छठे अध्याय में उपनिषद्, सातवें से आठवें में संहिता और नवें अध्याय में मन्थ है। पहले और दूसरे अध्याय के विषय में यह बात ध्यानाक ष्ट करने वाली है कि इनमें शस्त्रों पर लेखक ने उतना विस्त त विवेचन नहीं किया है जितना कि ऐतरेय आरण्यक के लेखक ने किया है। इसके विपरीत होता के दोलारूढ़ होने की प्रक्रिया पर लेखक ने विस्त त व्याख्या की है। ऐतरेय आरण्यक की अपेक्षा यह विषय अधिक स्पष्टता के साथ सार रूप में वर्णित है। तीसरे से छठे अध्याय में कौषीतकी उपनिषद् का माहात्म्य है। सांतवें और आठवें अध्याय में कौण्ठरव्य और माण्डूकेय के मतो का प्रतिपादन है। नवें अध्याय में उपनिषदों के एक समान विषय-इन्द्रियों की परस्पर स्पर्धा का विषय है। दसवें में प्राणाग्निहोत्र, ग्यारहवें में अन्य विषयों के साथ म त्यु के अरिष्ट लक्षण, बारहवें में गण्डे-तावीज को धारण करने की प्रक्रिया, तेरहवें में आत्मा का माहात्म्य, चौदहवें में वेदज्ञान की आवश्यकता और पन्द्रहवें में वंशपरम्परा (आचार्यपरम्परा) का वर्णन है। कौषीतकी ब्राह्मण से सम्बद्ध तथा उसी पर आधारित होने के कारण यह आरण्यक जहां एक ओर अधिक व्यवस्थित और विस्त त है वहीं दूसरी और शैली की द ष्टि से ऐतरेय आरण्यक की तुलना में यह अधिक संघटित और अर्वाचीन है।

तैत्तिरीय आरण्यक तैत्तिरीय संहिता का ही निरन्तर प्रवहमान रूप है। इसमें १० प्रपाठक हैं जिनमें ७वें ६वें तैत्तिरीयोपनिषद् और १०वां महानारायणोपनिषद् के रूप में हैं इनमें से १०वां प्रपाठक पीछे से जोड़ा गया है। पहले ६ प्रपाठकों में १२ से ४२ तक के अनुवाक हैं। यह भाग उपनिषद् भाग की अपेक्षा पहले संग हीत हुआ था। इनमें उन याज्ञिक प्रक्रियाओं और विधिविधानों पर विचार किया गया है जिनका इसी नाम के ब्राह्मण में विस्त त वर्णन नहीं हुआ। प्रथम प्रपाठक में आरुणकेतुक अग्नि की स्थापना का वर्णन है। इसमें मुख्यतः उन मन्त्रों का संग्रह है जिनका प्रयोग वेदिनिर्माणार्थ इष्टिकाचयन के समय किया जाता था। इनके साथ ही इस अनुष्ठान की विशेषता और उसे जानने का महत्त्व भी वर्णित है। द्वितीय प्रपाठक में वेदाध्ययन की विशेषताअें का वर्णन किया गया है। इसमें कर्मकाण्ड की अपेक्षा आचरण की शुद्धता, आचार्य, माता-पिता, विद्वत्समाज के प्रति व्यवहार की बातें अत्यन्त प्रभावोत्पादक रूप में वर्णित हैं। तीसरे प्रपाठक में चातुर्होत्रचिति के समय प्रयुक्त मन्त्रों का वर्णन हैं। इसी प्रपाठक के १७वें से २१वें अनुवाक में अन्त्येष्टि संस्कार के मन्त्र हैं। चौथे और पांचवें

प्रपाठक में प्रवर्ग्य के मन्त्र दिये गये हैं। छठे में पित मेध की आहुतियों का वर्णन है। इस विधि में प्रयुक्त होने वाले मन्त्र अधिकांशतः ऋग्वेद से संग हीत हैं।

परम्परा के अनुसार प्रथम दो प्रपाठकों के रचयिता कठ नामक ऋषि माने जाते हैं जो एक कठ आरण्यक के भी लेखक थे। काठक सम्प्रदाय के इस विषयक अन्य ग्रन्थ नष्ट हो चुके हैं। तथापि ऐसा माना जाता है कि इस प्रकार का कोई एक आरण्यक अवश्य रहा होगा। क ष्ण यजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा से सम्बद्ध मैत्रायणी आरण्यक का प्रकाशन हुआ है। वस्तुतः यह आरण्यक इसी नाम के उपनिषद् के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता के संस्करण से सम्बद्ध शतपथ ब्राह्मण के १४वें काण्ड को आरण्यक काण्ड नाम दिया जाता है। इसके चौथे से नौवें अध्याय में प्रवर्ग्य अनुष्ठान का वर्णन है। इसके अतिरिक्त इस वेद का अन्य कोई आरण्यक उपलब्ध नहीं है। सामवेद के आरण्यक काण्ड के विषय में ऊपर लिखा जा चुका है। छान्दोग्योपनिषद् के प्रथम अध्याय की विषयवस्तु आरण्यक जैसी ही है। इसी श्रेणी में जैमिनीय या तलवकार उपनिषद् ब्राह्मण भी आते हैं। इसी प्रकार अथर्ववेद से सम्बद्ध भी कोई आरण्यक उपलब्ध नहीं है।

ब्राह्मण धर्म में आश्रम की व्यवस्था प्रतिष्ठित हो जाने के बाद वानप्रस्थियों और परिव्राजकों के लिए इनका अध्ययन आवश्यक कर दिया गया। आरुणिक उपनिषद् में यह कहा जाता है कि वानप्रस्थ को वेदों में से केवल आरण्यक और उपनिषद् का ही अध्ययन करना चाहिए। इन आरण्यकों का अन्तिम भाग ही उपनिषद् नाम से जाना जाता है जिन पर विस्तार से विचार अनुपद किया जायेगा। ब्राह्मण ग्रन्थों के इस अन्तिम भाग को सामान्यतः वेद का अन्तिम भाग कहा जा सकता है। यद्यपि आजकल वेदान्त से अभिप्राय 'एकेश्वरवादी उपनिषद्' से ही लिया जाता है परन्तु 'वेद का अन्तिम भाग' इस अर्थ में आरण्यकों का भी ग्रहण किया जा सकता है। ब्राह्मणों के यह अन्तिम भाग काल की द ष्टि से भी पीछे की रचनाएं हैं और तिथिक्रम की द ष्टि से वैदिक काल के अन्त में ही आते हैं।

दूसरी ओर हमें इस बात को भूल नहीं जाना चाहिए कि प्राचीन वैदिक साहित्य का सम्पूर्ण भाग लिखित पुस्तकों के रूप में नहीं था अपितु गुरुमुख द्वारा अपने शिष्य को सम्प्रेषित किया जाता था। इसलिए प थक् - प थक् ब्राह्मण ग्रन्थों के वे सम्प्रदायों के आचार्यो द्वारा प्रवचन किये गये सिद्धान्तों के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। इन प्रवचनों में संग हीत सम्पूर्ण ज्ञान शिष्यों को एक निश्चित काल में पढ़ाया जाता था जो कई वर्ष के समय में पूरा होता था। इस काल में शिष्य को गुरु के समीप रहकर उसकी सेवा करनी अनिवार्य थी। ऐसे ग्रन्थों का अध्ययन, जो समझने में कठिन थे और जिनका विषय रहस्यवादी, प्रतीकात्मक और आध्यात्मिक सिद्धान्तों से परिपूर्ण था, स्वभावतः इस काल के अन्तिम वर्षो में अध्यापन का विषय बनता था। इसलिए यह भी वेदाध्ययन का अन्तिम भाग कहा जा सकता है।

तलवकार आरण्यक का सम्बन्ध सामवेद से है। इसमें चार अध्याय है तथा प्रत्येक अध्याय अनुवाकों में विभक्त है। इसके चतुर्थ अध्याय के दशम अनुवाक में केन या तलवकार उपनिषद् है।

इस द ष्टि से हम उपलब्ध प्राचीन उपनिषदों को किसी न किसी वैदिक संहिता के साथ सम्बद्ध रूप से जानते हैं। यथा - ऐतरेय उपनिषद् ऐतरेय आरण्यक में संग हीत है जो ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण का ही भाग है।

उपनिषद्

वैदिक साहित्य की श ङ्खला में आरण्यक ग्रन्थों के पश्चात् उपनिषदों का स्थान है। आरण्यक ग्रन्थों में प्रतिपादित दार्शनिकता का पूर्ण विकसित रूप उपनिषदों में प्राप्त होता है। वेद और

ब्राह्मण ग्रन्थ मनुष्य जीवन के पूर्व पक्ष से सम्बन्ध रखते है तो उपनिषद् मनुष्य जीवन के उत्तर पक्ष से तथा आरण्यक ग्रन्थ इन दोनों के मध्य परिवर्तनशील युग का प्रतिनिधित्व करते हैं।

वस्तुतः समस्त सांसारिक विषय भोगो का भोग करके तथा अपनी तीनों एषणओं - पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा की प्राप्ति करके मनुष्य दर्शन की तरफ प्रव त्त होता है। वह सोचता है कि अपने सम्पूर्ण जीवन में उसने क्या किया, जीवन में क्या खोया और क्या पाया। वह आत्मविश्लेषण करता है और जीवन की सार्थकता का भी चिन्तन करता है। तब उसे अनुभव होता है कि उसके द्वारा भुक्त समस्त विषय भोग तो नश्वर और क्षणभंगुर ही थे। वे सारहीन थे। उनका भोग करके तो उसे कुछ भी उपलब्धि नहीं हुई। म गमरीचिका के समान वह व्यर्थ में ही उनके पीछे भागता रहा। तब वह सुख - दुःख, राग-द्वेष, माया-मोह इत्यादि से मुक्त होना चाहता है। इस मुक्ति के लिए उसे जिस ज्ञान की आवश्यकता होती है वह उपनिषदों में विहित है। उपनिषद् वे ग्रन्थ है जो मनुष्य को अंधकार से प्रकाश की तरफ, अज्ञान से ज्ञान की तरफ व म त्यु से अम तत्व की तरफ ले जाते हैं। इस प्रकार संस्क त साहित्य में उपनिषदों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। पाश्चात्य विद्वान् प्रो० ड्यूसन महोदय ने इनके विषय में कहा है - "On the tree of Indian Wisdon, there is no fairer flower than the Upanishads." अर्थात् भारत के बुद्धि रूपी तरु पर उपनिषद् रूपी सुमन से सुन्दरतर अन्य कोई सुमन नहीं है।

उपनिषद् शब्द का अर्थ :-

उपनिषद् शब्द उप और नि उपसर्ग पूर्वक/षदल धातु में क्विप् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न है। उप का अर्थ है समीप, नि का अर्थ है निश्चयपूर्वक या निष्ठापूर्वक और बदल का अर्थ है 'बैठना'। इस प्रकार उपनिषद् का अर्थ है - "गुरु के समीप विनम्रतापूर्वक बैठकर ज्ञान की प्राप्ति करना।' आचार्य शङ्कर ने षदल-सद् धातु के विशरण, गति, अवसादन ये तीन अर्थ किए हैं 'सदेर्धातोर्विशरणगत्यवसादनार्थस्य'। विशरण का अर्थ है 'नाश' अर्थात् जिसे मनुष्य की अविद्या का नाश हो जाता है। गति का अर्थ है 'पाना' अथवा 'जानना' - जिसमे ब्रह्म की प्राप्ति होती है अथवा उसका ज्ञान होता है और अवसादन का अर्थ है - 'शिथिल होना' अर्थात् जिससे मनुष्य दुःख शिथिल (निष्क्रिय) हो जाते हैं। इस प्रकार शङ्कराचार्य के अनुसार उपनिषद् विद्या वह विद्या है जिससे मनुष्य की अविद्या का नाश होता है, ब्रह्मा की प्राप्ति होती है तथा दुःखों का निवारण होता है। संक्षेप में इन तीनों का समन्वित अर्थ लेकर शङ्कराचार्य ने उपनिषद् को ब्रह्मविद्या का वाचक माना है जिसे जानकर मनुष्य म त्यु के मुख से छूट जाता है।

वी० एस० आप्टे महोदय ने अपने 'संस्क त अंग्रेजी कोष' में उपनिषद् शब्द की निम्नलिखित व्युत्पत्तियाँ दी है - (१) निहंत्यविद्यां तज्जं च तस्मादुपनिषद् भवेत्। अर्थात अविद्या और उससे उत्पन्न (दोषों) को नष्ट करता है अतः उपनिषद् कहलाता है। (२) निहत्यानर्थमूलं स्वविद्यां प्रत्यक्तया परं। नयत्यपास्तसम्भेदमतो वोपनिषद् भवेत् अर्थात् जो अनर्थो की कारणभूत अविद्या को पूर्ण रूप से नष्ट करके दूर करता है, फेंकता है तथा छिन्न-भिन्न करता है, उसे उपनिषद् कहते हैं। (३) प्रव त्तिहेतून्निःशेषांस्तन्मूलोच्छेदकत्वतः। यतोवसादयेद्विद्यां तस्मादुपनिषद्भवेत्।। अर्थात् (संसार में) प्रव त्ति करवाने वाले समस्त कारणों को पूर्ण रूप से जड़ सहित नष्ट करके विद्या की प्राप्ति करवाता है अतः उपनिषद् कहलाता है।

वैदिक साहित्य में अन्त मे रचे जाने के कारण इन्हें 'वेदान्त' भी कहा गया है। उपनिषद् विद्या सबको नहीं दी जाती थी। अतः इसका दूसरा नाम 'रहस्यम्' भी है। कठोपनिषद् में भी कहा गया है। "परं गुह्यम्"।

उपनिषदों का प्रादुर्भाव :-

ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञ प्रधान थे। जब उनमें पशु हिंसा भी होने लगी तो कुछ मनीषियों ने इनके प्रति अपना अविश्वास व्यक्त किया। उनके मन में विचार उत्पन्न हुआ कि यदि पशु की बलि देकर मनुष्य को स्वर्ग प्राप्ति हो सकती है तो नर बलि देकर तो इससे भी अधिक अभीष्ट की प्राप्ति हो सकती है। इन्होंने इसे अनुचित, तर्कविहीन, हेय और स्वार्थपूर्ण कार्य समझा और इसी का विरोध करने के लिए ज्ञानकाण्ड का प्रादुर्भाव हुआ जिसका पूर्व रूप तो आरण्यक ग्रन्थों में प्राप्त होता है और उसी का विकसित और परिपक्व रूप उपनिषदों में प्राप्त होता है। उपनिषदों में भारतीय विचारधारा की पराकाष्ठा रही है।

उपनिषदों के प्रादुर्भाव का एक अन्य कारण भी था। जब आर्य सप्तसिन्धु से मैदानों की तरफ बढ़े तो प्रारम्भ में वे जीविका अर्जित करने के लिए ही चिन्तित रहे। यहाँ के मूलनिवासियों से उन्हें युद्ध भी करना पड़ा। शनैःशनैः जब वे यहाँ पूर्ण रूप से बस गए, जीविकोपार्जन के सभी साधन जुट गए और इस प्रकार जब उन्हें कुछ मानसिक शांति प्राप्त हुई तो उनका मन अध्यात्म की ओर प्रव त्त हुआ। उनके मन में अनेक प्रकार के प्रश्न उत्पन्न हुए कि इस स ष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई है, हम इस संसार में कहाँ से आए हैं? म त्यु के बाद हमारा क्या होता है? सूर्य, चन्द्रमा, सितारों जैसी प्राक तिक शक्तियाँ किसके प्रकाश से प्रकाशित होती है? हमारी समस्त इन्द्रियों को अपने-अपने कार्यो की तरफ प्रव त्त कौन करता है? इत्यादि।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी इसी प्रकार के प्रश्न किए गए हैं कि हम कहाँ से उत्पन्न हुए है? किसके द्वारा जीवित रहते हैं? हमारी प्रतिष्ठा कहाँ है? किसके अधीन रहकर हम सुख दुःख में निश्चित व्यवस्था के अनुसार रह रहे हैं?

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः।

अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्।।

(श्वेताश्वतरोपनिषद् १.१.६)

इसी प्रकार के सब प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करने के लिए मनीषियों द्वारा किए गए चिन्तन, मनन, विचारों के आदान-प्रदान एवं गोष्ठियों के परिणामस्वरूप ही उपनिषदों की उत्पत्ति हुई। सम्भवतः इसी कारण कुछ उपनिषद् गुरुशिष्य संवाद रूप में है जैसे केनोपनिषद्, कठोपनिषद् इत्यादि जबकि कुछ उपनिषद् दार्शनिकों के परस्पर प्रश्नोत्तर रूप में हैं जैसे ब हदारण्यकोपनिषद् और अन्य उपनिषद् इन्हीं प्रश्नोत्तर, संवाद, गोष्ठियों, चिन्तन, मनन आदि के साररूप हैं। उपनिषदों में उपर्युक्त समस्त प्रश्नों का विस्त त विवेचन किया गया है।

उपनिषदों की संख्या व रचनाकाल :-

मुक्तिकोपनिषद् में उपनिषदों की संख्या १०८ तक बतलाई गई है। प्रत्येक उपनिषद् का किसी न किसी वेद से सम्बन्ध है। इनमें से ११ उपनिषद् ही मुख्य माने जाते हैं। ऋग्वेद का ऐतरेयापनिषद्, सामवेद के केन और छान्दोग्य, शुक्ल यजुर्वेद के ईश और ब हदारण्यक, क ष्ण यजुर्वेद के कठ, तैत्तिरीय और श्वेताश्वतर तथा अथर्ववेद के प्रश्न, मुण्डक और माण्डूक्योपनिषद्। शङ्कराचार्य ने भी इन्हीं उपनिषदों पर अपना भाष्य लिखा है। प्रो० ह्यूम ने २३ उपनिषदों का अंग्रेजी में अनुवाद किया है। उपर्युक्त ११ उपनिषदों में उन्होंने ऋग्वेद के कौषीतकी और सामवेद के मैत्रायणी उपनिषद् का समावेश भी कर लिया है।

उपनिषदों की रचना एक समय पर नहीं हुई। यह शताब्दियों की रचना प्रक्रिया का परिणाम है। प्रो० मैक्समूलर ने इनका काल ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना से २०० वर्ष बाद का माना है। तदनुसार

उपनिषदों का रचनाकाल ६०० से ४०० ई० पूर्व का निश्चित होता है। परन्तु अधिकांश विद्वान् इस मत को स्वीकार नहीं करते। इतना तो निश्चित ही है कि सभी प्रमुख उपनिषदों की रचना महात्मा बुद्ध से पहले हो चुकी थी। लोकमान्य बालगड्.गाधर 'मैत्रायणी उपनिषद्' का रचनाकाल १२०० ई० पूर्व का मानते हैं। इसमें छान्दोग्य, ब हदारण्यक, कठ, तैत्तिरीय व अन्य उपनिषदों का उल्लेख व उद्धरण प्राप्त होते है। अतः यह उपनिषद् १२०० ई० पूर्व से पहले के होंगे।

उपनिषद् किसी एक विशेष तिथि के रचे हुए नहीं हैं। इनकी रचना व विकास धीरे-२ कई शताब्दियों में हुआ, फिर भी यह कहा जा सकता है कि ब हदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय और ऐतरेयापनिषद् सबसे प्राचीन है। इसकी पुष्टि केनोपनिषद् में गुरु द्वारा शिष्य से कहे गए इस कथन से भी होती है - 'इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे' अर्थात् ऐसा हमने अपने पूर्वजों से सुना है जिन्होंने हमारे लिए उसकी व्याख्या की है। सम्भवतः यहाँ गुरु का सङ्केत इन्हीं ग्रन्थों की ओर हो। इसके अतिरिक्त ये ब्राह्मण गन्थों की शैली में लिखे गए हैं। इनका गद्य भी अपरिष्क त है। तत्पश्चात् ईश, कठ, श्वेताश्वतर और केनोपनिषद् आते है। प्रथम तीन पद्यमय हैं जबकि केनोपनिषद् गद्य पद्य दोनों में है। प्रश्न, मुण्डक और माण्डूक्योपनिषद् अर्वाचीनतम हैं क्योंकि इनका गद्य लौकिक संस्क त के गद्य के समान परिष्क त है। ये तीन उपनिषद् अथर्ववेद से सम्बन्ध रखते हैं और अथर्ववेद स्वयं अर्वाचीनतम वेद है अतः इनका भी परवर्तीकाल की रचना होना तर्कसङ्गत एवं समीचीन प्रतीत होता है।

उपनिषदों का रचनाकाल निर्धारित करते समय कोई विभाजक रेखा नहीं खीचीं जा सकती। निश्चित रूप से यह नही कहा जा सकता कि अमुक उपनिषद् इस काल की रचना है और अमुक इस काल की। इनका क्रमिक विकास हुआ। परन्तु इतना तो निश्चित है कि बौद्ध साहित्य से पूर्व उपनिषद् साहित्य की रचना हो चुकी होगी। यहाँ यह ध्यातव्य है कि वेदों की भांति उपनिषद् ग्रन्थ भी किसी व्यक्ति विशेष द्वारा रचित नहीं है। ये भी सङ्कलित ही हैं।

उपनिषदों के वर्ण्य विषय :-

सभी उपनिषदों का सम्बन्ध ब्रह्म विद्या और ज्ञान प्राप्ति से हैं। उनमें प्रायः एक जैसे विषयों का ही वर्णन किया गया है। हाँ, यह अवश्य है कि किसी उपनिषद् में किसी विषय को एक प्रकार से प्रस्तुत कर दिया गया तो दूसरे में उसी विषय को दूसरी प्रकार का वर्णित कर दिया गया। अन्ततोगत्वा सबसे प्रतिपाद्य विषय एक जैसे ही हैं। उपनिषद् ग्रन्थों के कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त या प्रतिपाद्य विषय निम्नलिखित हैं :

ब्रह्म का स्वरूप :-

उपनिषदों में मुख्य रूप से ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है विभिन्न आध्यात्मिक प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करने के लिए जब मनीषियों ने एकान्त में ध्यान योग से निदिध्यासन किया तो उन्होंने एक देवात्मशक्ति को देखा जो समस्त संसार को नियन्त्रित करती है -

'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' अर्थात् उन्होंने ध्यान के योग से अपने ही गुणों से व्याप्त एक देवात्म शक्ति को देखा। इसी शक्ति को उन्होंने सत् चित् आनन्द या 'ब्रह्म' नाम से पुकारा। इस प्रकार उपनिषदों में ब्रह्म एक शक्ति का प्रतीक था जो नित्य, शुद्ध, अजर, अमर और सनातन है। ब्रह्मा के स्वरूप का उपनिषदों में अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है। ईशोपनिषद् में उसे परम तेजस्वी, शरीररहित, अव्रण, शिराओं से रहित, शुद्ध, पाप पुण्य से रहित, सर्वद्रष्टा, मनीषी, सर्वत्र विद्यमान, स्वयम्भू तथा अनादि काल से सब प्राणियों के कर्मानुसार समस्त पदार्थो की रचना करने वाला परमहत्व बतलाया गया है -

'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतो र्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।।

(ईशोपनिषद्, ८)

ब हादारण्यकोपनिषद् में भी कहा गया है कि न वह स्थूल है, न सूक्ष्म है, न लघु है, न गुरु। उसमें न रस है, न गन्ध। उसके न आँख है, न कान। वह नित्य है (ब हदारण्यकोपनिषद् ३-८-८ से ११)। वह नाम, रूप, रङ्ग व काल की सीमा से रहित है। इसी कारण वह 'चतुष्कोटिर्विनिर्मुक्तः' है। ब हदारण्यकोपनिषद् में इसका 'नेति नेति' अर्थात् यह ऐसा भी नहीं है, यह ऐसा भी नहीं है' कहकर वर्णन किया गया है। कठोपनिषद् में उसे 'अङ्गुष्ठमात्र' बतलाया गया है। यह उसका परिमाण नहीं बतलाता बल्कि इसका तात्पर्य यह है कि उस शक्ति का अनुभव मनुष्य अपने हृदयकमल में कर सकता है जो अङ्गुष्ठ के समान परिमाण वाला है - 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि निष्ठति' अर्थात् अङ्ष्ठमात्र पुरुष हृदय के मध्य विद्यमान होता है (कठोपनिषद् २.१.१२)।

मुण्डकोपनिषद् में भी ब्रह्म का वर्णन करते हुए कहा गया है -

यत्तदप्रेक्ष्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्।

नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनि परिपश्यन्ति धीराः।।

(मुण्डकोपनिषद् २.६)

अर्थात् ' जो देखे न जाने योग्य, ग्रहण न किए जाने योग्य, गोत्ररहित, वर्णरहित, चक्षुरहित, श्रोत्ररहित और हाथ पैरों से रहित है। जो नित्य, सर्वव्यापी, सबमें विद्यमान, अत्यन्त सूक्ष्म और अविनाशी है। वह समस्त प्राणियों का कारण है। ज्ञानीजन उसे सर्वत्र देखते हैं।

ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए उपनिषद् उसे परस्पर विरोधी गुणों से युक्त बतलाते हैं। कठोपनिषद् में उसे अणु से भी सूक्ष्म और महान् से भी महान् कहा गया है 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' जबकि ईशोपनिषद् में कहा गया है कि वह जाता है, वह नहीं जाता, वह दूर है, वह पास है, वह सबके अन्दर है और वही सबके बाहर है -

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वदन्तिके।

तदन्तस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।।

(ईशोपनिषद् ५)

ये कथन ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट करते है। वह ब्रह्म सूक्ष्म, महान्, जङ्क और स्थावर, दूरस्थ और समीपस्थ, सबके अन्दर व बाहर सर्वत्र विद्यमान है।

इस प्रकार सभी उपनिषदों में ब्रह्मा के स्वरूप का प्रथम बार विस्तारपूर्वक विवेचन व प्रतिपादन किया गया है।

ब्रह्म ही समस्त संसार का मूलभूत कारण है : ब्रह्म ही इस समस्त संसार का मूलभूत कारण है। इस संसार में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जिसमें ब्रह्म की सत्ता न हो 'ईशावास्यमिदं जगत्सर्वम्' अर्थात् 'यह समस्त संसार ब्रह्म से व्याप्त है'। छान्दोग्योपनिषद् में इसे 'तज्जलन्' कहा गया है जिसका तात्पर्य है - तज्ज, तदन् और तल्ल। अर्थात् समस्त संसार वहाँ से उत्पन्न होता है, उसी के आश्रय से रहता है और उसी में लीन हो जाता है। सितारों युक्त आकाश, ऋतुओं के परिवर्तन, वायु के मन्द मन्द बहने तथा सभी प्रक ति को नियन्त्रित करने वाली एक ही शक्ति है और वह है 'ब्रह्म'। वही इस

संसार का निमित्त और उपादान दोनों की कारण है। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है -

यथोर्णनाभः स जते ग ह्वते च यथा प थिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।

यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्।।

(मुण्डकोपनिषद् २.१.७)

अर्थात् जिस प्रकार मकड़ी जाला बनाती है और ग्रहण कर लेती है, जिस प्रकार प थ्वी पर ओषधियाँ उत्पन्न होती है, जिस प्रकार जीवित मनुष्य के बाल और रोएँ उत्पन्न होते है, उसी प्रकार उस अविनाशी ब्रह्म से सब कुछ उत्पन्न होता है।

उसी उपनिषद् में पुनः कहा गया है कि जिस प्रकार अग्नि से अङ्गारे उत्पन्न होते हैं और उसी में विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म से यह संसार उत्पन्न होता है और उसी में समाविष्ट भी हो जाता है।

तैत्तिरीयोपनिषद् में भी निम्न पङ्क्तियों में इसी बात की पुष्टि की गई है कि ब्रह्म ही इस संसार की स ष्टि, स्थिति और विनष्टि का कारण है -

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।

यत्प्रयन्त्यभिसंविशान्ति तद्विजज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति।।

(तैत्तिरीयोपनिषद्, भ गुवल्ली, प्रथम अनुवाक)

मुण्डकोपनिषद् में ब्रह्म की सर्वव्यापकता का वर्णन बहुत ही सुन्दर ढ़ग से करते हुए कहा गया है कि यह अम तस्वरूप परबह्म ही मानते हैं, वही पीछे है, वही दाईं और बाईं तरफ है। वही नीचे की ओर है, वही ऊपर की ओर है। वह चारों तरफ फैला हुआ है। सर्वत्र वह सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है -

ब्रह्मैवेदमम तं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।

अधश्चोर्ध्वं च प्रस तं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।

(मुण्डकोपनिषद् २.२.११)

उपनिषद् के दार्शनिक इस ब्रह्म को असीमित शक्ति से युक्त मानते हैं जिसका थोड़ा सा ही अंश प्रक ति की विभिन्न वस्तुओं में द ष्टिगोचर होता है।

संक्षेप में ब्रह्म ही इस संसार का सर्वश्रेष्ठ आलम्बन है -

"एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्" (कठोपनिषद् १२.१७)

ध्यातव्य तथ्य यह है कि यद्यपि ब्रह्म संसार के कोने-कोने में व्याप्त है तथापि यहाँ के सुख दुःख से उसी प्रकार निर्लिप्त है, जिस प्रकार सूर्य समस्त संसार का चक्षु होते हुए भी चक्षु सम्बन्धी दोषों से रहित है -

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषै बाह्यदोषैः।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः।। (कठोपनिषद् २.२.११)

जीव और ब्रह्म का ऐक्य :-

इस तथ्य से कि ब्रह्म ही इस संसार का निमित्त और उपादान दोनों कारण है, इस बात की पुष्टि होती है कि यह संसार परिणामवाद का नहीं बल्कि विवर्तवाद का उदाहरण है। दूध का दही

में परिवर्तित होना परिणामवाद है। इसमें दूध भी वास्तविक है और दही भी। लेकिन रज्जू में सर्प की भ्रान्ति विवर्तवाद है। इनमें रज्जू सत्य है लेकिन उसमें सर्प की भ्रान्ति विवर्तवाद है। इसमें रज्जू सत्य है लेकिन उसमें सर्प की भ्रान्ति मिथ्या है। इसी प्रकार उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है - 'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या'। जीव और ब्रह्म एक ही है। समष्टि रूप से जिसे ब्रह्म या परमात्मा कहते हैं, व्यष्टि रूप से उसे आत्मा कहते हैं। जब वह आत्मा किसी जीवन का शरीर धारण कर लेती है तो वह जीवात्मा कहलाती है। इस प्रकार आत्मा और परमात्मा प थक् नहीं हैं। जीवात्मा परमात्मा का ही एक अंश है परन्तु मनुष्य अपने अज्ञान के कारण उन दोनों को प थक्-प थक् समझता है। इसी कारण ब्रह्म सूत्र में कहा गया है कि 'मैं ही ब्रह्म हूँ, अन्य कोई नहीं' 'अहं ब्रह्मास्मि' एव 'जीवैव ब्रह्म नापरः'। छान्दोग्योपनिषद् में भी उद्दालक मुनि अपने पुत्र श्वेतकेतु को 'तत्त्वमसि' अर्थात् 'वह तुम ही हो' इस महाकाव्य का उपदेश देते हैं।

केनोपनिषद् में जीवन और ब्रह्म के ऐक्य का प्रतिपादन बहुत ही रोचक, मार्मिक व काव्यात्मक ढंग से किया गया है। जब शिष्य गुरु से प्रश्न करता है कि किसके द्वारा प्रेषित होकर हम सुनते हैं, देखते है, बोलते हैं, सांस लेते हैं व मनन करते हैं तो गुरु उत्तर देते हैं :-

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसों मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः।

चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादम ता भवन्ति।।

(केनोपनिषद् १,२)

अर्थात् वह श्रोत्र का श्रोत्र, मन का मन, वाणी का वाणी, प्राण का प्राण और चक्षु का चक्षु है। ज्ञानी इनके प्रति मोह त्यागकर इस संसार से मर कर अम तत्व को प्राप्त करता है।

प्रारम्भ में गुरू का यह उत्तर सम्भवतः हास्यास्पद प्रतीत हो परन्तु इसमें गूढ़ दार्शनिक तथ्य निहित है। गुरु अन्य कोई उत्तर देकर शिष्य को सन्तुष्ट नहीं कर सकते थे। वास्तव में हमारे श्रोत्र, नेत्र, मन, वाक् आदि इन्द्रियाँ अचेतन हैं। वे अचेतन स्वयं कार्य करने में असमर्थ हैं। जिस प्रकार अचेतन पदार्थ रथ का स चालन कोई चेतन प्राणी ही कर सकता है, उसी प्रकार इन अचेतन इन्द्रियों को सुनने, देखने, बोलने व मनन करने की सामर्थ्य किसी अन्य शक्ति द्वारा प्राप्त होती है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि जब मनुष्य की म त्यु होती है तो ये इन्द्रियाँ बाह्य रूप से ज्यों की त्यों दिखाई देने पर भी अपना कार्य करने में असमर्थ हो जाती हैं। इनकी प्रेरक शक्ति को ही 'ब्रह्म' कहा गया है। यह शक्ति मनुष्य के अपने अन्दर है जिसे 'आत्मा' कहा जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आत्मा परमात्मा का ही अंश है। जब तक वह व्यष्टि रूप में एक मनुष्य के अन्दर है, तब तक वह आत्मा कहलाती है और जब वह अपने समष्टि रूप परमात्मा या ब्रह्म में लीन हो जाती है तो ब्रह्म कहलाती है।

जिसे जीवात्मा का ज्ञान हो जाता है, उसे परमात्मा का ज्ञान स्वयं हो जाता है। ब हदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है -

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।।

(ब हदारण्यकोपनिषद् ४.५.६)

अर्थात् आत्मा का ही दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए। हे मेत्रेयि! आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन और ज्ञान से यह सब कुछ ज्ञात हो जाता है।

इस प्रकार आत्मा ही ब्रह्म है। जीवात्मा और परमात्मा दोनों में एक ही अन्तर है और वह

है कि जीवात्मा कर्मो का फल भोगता है जबकि परमात्मा नहीं। वस्तुतः जीवात्मा भी कर्मो के फल का भोक्ता नहीं है लेकिन जीव के अज्ञान के कारण वह उसे सुख दुःख का अनुभव करता हुआ प्रतीत होता है। अतः कहा गया है - "अज्ञानोपहितं चैतन्यं जीवः" अर्थात् अज्ञान से युक्त चैतन्य ही जीव है। मुण्डकोपनिषद् में स्पष्ट रूप से कहा गया है -

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं व क्षं परिषस्वजाते।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्यो अभिचाकशीति।।

(मुण्डकोपनिषद् ३.१.१)

अर्थात् 'एक व क्ष पर परस्पर मित्रता रखने वाले दो पक्षी रहते हैं। उनमें से एक फलों का भोग करता है और दूसरा बिना खाए उसे देखता है।'

इसका तात्पर्य यह है कि जीवात्मन् और परमात्मन् घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं और शरीर रूपी व क्ष का आश्रय लेते हैं। जीवात्मन् तो अज्ञान के वशीभूत होकर अपने को सुख दुःख रूपी फल का भोक्ता मान लेता है जबकि परमात्मन् इनमें लिप्त नहीं होता। जिस प्रकार व क्ष नष्ट होने पर पक्षी उड़ जाते हैं। उसी प्रकार शरीर नष्ट होने पर आत्मा चली जाती है। शरीर नष्ट होता है, आत्मा नहीं। आत्मा तो परमात्मा का ही एक अंश है लेकिन जिस प्रकार समुद्र का जल वाष्प बनकर बादल रूप हो जाता है और फिर वर्षा के रूप में बरस कर पुनः नदियों का रूप लेकर समुद्र में ही विलीन हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी भिन्न-भिन्न शरीर धारण करने के कारण भिन्न-भिन्न नामों और रूपों से जाना जाता है। जब यह नाम और रूप की सीमा समाप्त हो जाती है तो वह पुनः अपने परमात्मा रूप को प्राप्त कर लेता है -

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे स्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।

तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।।

(मुण्डकोपनिषद् ३.२.८)

अर्थात् जिस प्रकार प्रवाहित होती हुई नदियाँ नाम और रूप से रहित होकर समुद्र में विलीन हो जाती हैं उसी प्रकार नाम और रूप से मुक्त हुआ विद्वान् श्रेष्ठ और दिव्य पुरुष (ब्रह्म) को प्राप्त करता है।

इस प्रकार जीवात्मा और परमात्मा के अभेद पर उपनिषदों में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

ब्रह्म इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त नहीं है :-

उपनिषदों में ब्रह्म को रूप, रंग, नाम, स्पर्श इत्यादि सबसे रहित बतलाया गया है। वह तो "चतुष्कोटिविनिर्मुक्तः" है। अतः इन्द्रियों के द्वारा प्राप्य नहीं है। केनोपनिषद् में कहा गया है - 'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्भो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्' (केनोपनिषद् २.३) अर्थात् न वहाँ आँख जाती है, न वाणी जाती है और न ही मन। हम नहीं जानते, हम विशेष रूप से नहीं जानते कि इसका उपदेश किस प्रकार दिया जाए।

तैत्तिरीयोपनिषद् से भी कहा गया है - 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' अर्थात् जहाँ से वाणी मन सहित उसको प्राप्त किए बिना वापस लौट आती है। इन्द्रियाँ तो 'नेति नेति' कहकर उसे प्राप्त करने में अपनी असमर्थता प्रकट कर देती हैं।

ब्रह्म की प्राप्ति इन्द्रियों द्वारा नहीं हो सकती, इसके दो कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि इन्द्रियाँ उसी वस्तु को देख सकती है, उसी का श्रवण कर सकती है, उसी का मनन कर सकती

हैं, उसी का स्पर्श कर सकती है, उसी का वर्णन कर सकती हैं जिसका कुछ रूप, रंग व आकार हो। जो प्रत्यक्ष हो, विषयगत हो लेकिन ब्रह्म तो एक शक्ति है, जो न तो प्रत्यक्ष है और न ही विषयगत है। उसका 'हस्तामलकवत्' और 'इत्थमिदम्' निर्देश नहीं किया जा सकता। 'ब्रह्म इन्द्रियों के द्वारा अप्राप्य है' इसका दूसरा कारण यह भी है कि इन्द्रियाँ स्वभाव से बहिर्मुखी है जबकि वह शक्ति अन्तर्मुखी है। यदि कोई धीर मनुष्य अपनी इन्द्रियों को बाह्य वस्तुओं से हटाकर, अन्तर्मुखी बनाकर, अपने अन्दर उस शक्ति का अनुभव करने का प्रयत्न करता है तो वह सफल होता है अम तत्व की प्राप्ति करता है। कठोपनिषद् में बड़े स्पष्ट ढंग से कहा गया है -

'पराचि खानि व्यत णत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदाव त्तचक्षुरम तत्वमिच्छन्।।

(कठोपनिषद् २.१.१)

अर्थात् स्वयम्भू ने समस्त इन्द्रियों को बाहर की ओर जाने वाला ही बनाया है अतः (मनुष्य इन्द्रियों के द्वारा) बाहर की वस्तुओं को ही देखता है, अन्तरात्मा को नहीं। कोई धीर व्यक्ति ही अम तत्व की इच्छा करता हुआ चक्षु आदि इन्द्रियों को बाह्य विषयों की तरफ से हटाकर अन्तरात्मा को देखता है।

इस प्रकार ब्रह्म विषयीगत है। उसका अनुभव अपने स्वयं के अन्दर ही किया जा सकता है। वह अपरोक्षानुभूति का विषय है और उसका अनुभव तभी हो सकता है जब इन्द्रियाँ अपने बाह्य विषयों की तरफ आकर्षित न हों। अनुभव का विषय होने के कारण 'इत्यमिदम्' अर्थात् 'यह ऐसा है' इस प्रकार से उसका वर्णन कदापि नहीं किया जा सकता।

विषय भोगों का त्याग ही मोक्ष (ब्रह्म प्राप्ति) का कारण है : उपनिषदों के अनुसार यदि मनुष्य मोक्ष प्राप्ति या ब्रह्म प्राप्ति करना चाहता है तो उसे सभी सांसारिक विषय भोगों का त्याग करना पड़ता है। जब तक उसकी इन्द्रियाँ बाह्य भोगविलासों में लिप्त है, तब तक वह मनुष्य उस ब्रह्म की प्राप्ति नहीं कर सकता। विषय भाग और ब्रह्म ये दोनों परस्पर विपरीत व विरोधी हैं। दो समानान्तर रेखाओं के समान हैं जो कभी नहीं मिल सकते। मनुष्य या तो भोग विलासों का ही वरण कर सकता है या ब्रह्म प्राप्ति का ही मार्ग चुन सकता है। कठोपनिषद् में इन्हें क्रमशः प्रेय और श्रेय के नाम से अभिहित किया गया है। ये दोनों विभिन्न प्रयोजन वाले हैं -

'अन्यच्छ्रेयो दुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।

तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयते र्थाद्य उ प्रेयो व णीते।।

(कठोरपनिषद् १.२.१)

अर्थात् श्रेय अलग है और प्रेय अलग है। वे भिन्न-भिन्न फल देने वाले हैं। दोनों साधन मनुष्य को अपनी-अपनी ओर आकर्षित करते हैं। उन दोनों से श्रेय का ग्रहण करने वाले का कल्याण होता है और जो प्रेय को वरण करता है, वह यथार्थ लाभ से भ्रष्ट हो जाता है।

इन्हीं को अविद्या (प्रेय) और विद्या (श्रेय) के नाम से भी अभिहित किया गया है -

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता। (कठोपनिषद् १.२.४)

जो अविद्या और विद्या इस नाम से विख्यात है, ये दोनों परस्पर अत्यन्त विपरीत और भिन्न-भिन्न फल देने वाली हैं। विषयभोग अस्थिर और क्षणभंगुर है। वह ब्रह्म शक्ति स्थिर और नित्य है। अनित्य से नित्य की प्राप्ति कैसे हो सकती है - 'न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्' (कठोपनिषद् १.

२.१०)। इसके अतिरिक्त भोग विलासों से मनुष्य की सन्तुष्टि कभी नहीं होती। उसकी त ष्णा तो दिन प्रतिदिन बढ़ती ही जाती है - 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः' (कठोपनिषद्)। कठोपनिषद् में जब नचिकेता यम से ब्रह्म विद्या की जिज्ञासा प्रकट करता है तो यम उसकी परीक्षा लेने के लिए उसे अनेक प्रकार के प्रलोभन देता है, लेकिन नचिकेता उन सबकी यह कर उपेक्षा कर देता है कि पता नहीं ये भोग विलास कल तक रहेंगे भी या नहीं और वे केवल इन्द्रियों के तेज को ही नष्ट करते हैं -

'श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः'।

(कठोपनिषद् १.१.२६)

जब नचिकेता परीक्षा में उत्तीर्ण होता है तभी यम उसे ब्रह्मज्ञान प्रदान करता है। इसी कारण उपनिषद् जो केवल उस नित्य प्राप्ति से सम्बन्ध रखते हैं, परा विद्या के अन्तर्गत आते हैं और शेष सब ग्रन्थ जो इहलौकिक या पारलौकिक सुखों की प्राप्ति करवाते हैं, अपरा विद्या के अन्तर्गत समाहित होते है - "तत्रापरा ऋग्वेदो, यजुर्वेदः, सामवेदो थर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दों ज्योतिषामिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। (मुण्डकोपनिषद् १.१.५)

अर्थात्, उन दोनों में से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष् ये (सब तो) अपरा विद्या है, तथा जिससे वह अविनाशी परब्रह्म जाना जाता है, वह परा विद्या है।

कर्मसिद्धान्त और पुनर्जन्म सिद्धान्त :-

एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न, जिसके बारे में उपनिषदों में विस्तार से विचार किया गया है, यह है कि म त्यु के पश्चात् मनुष्य का क्या होता है? हम कहाँ जाते हैं? कठोपनिषद् में नचिकेता यम से इसी प्रश्न के बारे में पूछता है -

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये स्तीत्येके नायमस्तीति चैके।

एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्त तीयः।।

(कठोपनिषद् १.१.२०)

अर्थात् म त मनुष्य के विषय में जो यह सन्देह है कि कोई तो कहते हैं 'रहता है ' और कोई कहते हैं 'नहीं रहता'। आपसे शिक्षित हुआ मैं यह जान सकूँ। मेरे वरों में यह तीसरा वर है।'

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए उपनिषद् भारतीय दर्शन के दो महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों -कर्म सिद्धान्त और पुनर्जन्म सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। उपनिषदों में पुनः कहा गया है कि म त्यु के पश्चात् मनुष्य अपने द्वारा किए गए कर्मो के अनुसार ही नए शरीर को धारण करता है। मनुष्य क षि की भाँति पकता है और क षि की भांति ही पुनः उत्पन्न हो जाता है - 'सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः'। जिस प्रकार जैसा बीज बोया जाता है, उसी प्रकार की फलप्राप्ति होती है, इसी प्रकार मनुष्य इस जन्म में किए गए कर्मो के अनुरूप ही पुनर्जन्म प्राप्त करता है। इस जन्म के कर्म दूसरे जन्म में उसके सुख दुःख का कारण बनते हैं -

'योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।

स्थाणुमन्ये नुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्।।

(कठोपनिषद् २.२.७)

अर्थात्, अपने कर्म और अपने ज्ञान के अनुरूप कितने ही जीवात्मा शरीर धारण करने के लिए अनेक प्रकार की योनियों को प्राप्त हो जाते हैं और दूसरे स्थाणुभाव को प्राप्त हो जाते हैं।

ब हदारण्यकोपनिषद् में भी कहा गया है कि जिस प्रकार एक कीड़ा एक पत्ते के सिरे तक पहुँचने पर पुनः अपनी यात्रा प्रारम्भ कर पत्ते के दूसरे सिरे पर पहुँचता है, उसी तरह जीवात्मा अपने शरीर को छोड़कर, अज्ञानवश पुनः अपनी यात्रा प्रारम्भ करता है और दूसरा जन्म बिताता है (ब हदारण्यकोपनिषद् ४.४.३)। छान्दोग्योपनिषद् में यही भाव अभिव्यक्त किया गया है कि जो तत्त्वज्ञानशून्य और अयज्ञ होते हैं, वे बार-बार म त्यु प्राप्त करते है - 'ये तु तत्त्वज्ञानशून्या अयज्ञाश्च भवन्ति ते पुनः पुनर्म त्योर्वशमापद्यन्ते' (छान्दोग्योपनिषद्)।

इस पुनर्जन्म सिद्धान्त ने ही कर्मसिद्धान्त को जन्म दिया। मनुष्य जैसे कर्म करेगा वैसे ही उसे सुख-दुख की प्राप्ति होगी। शुभ कर्मो से सुख की ओर अशुभ कर्मो से दुःख की प्राप्ति निश्चित है। किए हुए कर्म का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि'।

इस प्रकार कर्मसिद्धान्त और पुनर्जन्मसिद्धान्त अन्योन्याश्रित हैं व एक दूसरे के पूरक हैं।

कर्मों की उपयोगिता :-

यद्यपि उपनिषद् रहस्यवादी है तथापि वे कर्मो की उपयोगिता पर भी पर्याप्त बल देते हैं। ब्रह्म रूपी म जिल तक पहुँचने के लिए कर्म सीढ़ी के समान है। कर्म से ही मनुष्य की चित्तशुद्धि होती है। यज्ञ भी कर्म के अन्तर्गत ही आते हैं। यज्ञ करने से मनुष्य का अहं भाव नष्ट होता है। दान देने से उसकी लोभ भावना दूर होती है। पित यज्ञ, देवयज्ञ, मात यज्ञ, अतिथि यज्ञ इत्यादि करने से मनुष्य का अहंकार और मोह नष्ट होता है। यद्यपि यज्ञ उपनिषदों का साध्य नहीं है तथापि साधन के रूप में इनका अत्यन्त महत्व है। मुण्डकोपनिषद् में स्पष्ट रूप से यज्ञ रूपी नौकाओं को अद ढ बतलाया गया है। जो इनको ही कल्याण का मार्ग समझकर स्वीकार करते हैं, वे बार-बार जरा और म त्यु को प्राप्त करते हैं।

प्लवा ह्येते अद ढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।

एतच्छ्रेयो ये भिनन्दन्ति मूढा जराम त्युं ते पुनरेवापि यन्ति।।

(मुण्डकोपनिषद् १.२.७)

यज्ञ स्वर्ग के सुखों की प्राप्ति तो करवा सकते हैं जो अपेक्षाक त नित्य है परन्तु ब्रह्मप्राप्ति में केवल साधनमात्र हैं। कठोपनिषद् में यम स्पष्ट रूप से नचिकेता को बतलाता है कि नचिकेता अग्नि का चयन करके ही उसने (यम ने) अनित्य पदार्थो से नित्य (सापेक्ष रूप से नित्य) स्वर्ग की प्राप्ति की है -

'ततो मया नाचिकेतश्चितो ग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम्'।

(कठोपनिषद् १.२.१०)

जो व्यक्ति अभी ब्रह्म प्राप्ति के योग्य नहीं हुए, उनके लिए शास्त्रोक्त कर्म करते हुए जीवन व्यतीत करने का विधान किया है - 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' (ईशोपनिषद २)।

मोक्ष प्राप्ति का साधन ज्ञान ही है : उपनिषदों में ब्रह्म प्राप्ति पर अनेक प्रकार से बल दिया गया है। 'तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमु चथाम तस्यैष सेतुः' (मुण्डकोपनिषद् २.२.५) अर्थात् 'उसी एक आत्मा को जानो, अन्य बातें छोड़ दो, यही अम तत्व का सेतु है।' परन्तु उसको किस प्रकार से जाना जा सकता है। उपनिषदों में ज्ञान को ही अम तत्व (मोक्ष) का कारण बतलाया गया है। इनके अनुसार मोक्ष, अम तत्व या ब्रह्म प्राप्ति वह अवस्था है जिसमें मनुष्य सुख और दुःख का अनुभव नहीं करता, जब वह द्वैत भावना से रहित हो जाता है और जब वह सबमें एक ही सत्ता के दर्शन करता है। इस अवस्था को वह उस समय प्राप्त कर लेता है जब उसे ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। 'नेह

नानास्ति कि चन' अर्थात् यहां नानात्व नहीं है, इस बात की अनुभूति ही ज्ञान है। जब उसे किसी भी प्रकार का नानात्व द ष्टिगोचर नहीं होता तो वह सुख और दुःख का पात्र नहीं बनता 'तत्र कः मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'। ज्ञान के सद श यहाँ कुछ भी पवित्र नहीं है 'न हि ज्ञानेन सद शं पवित्रमिह विद्यते'। विद्या से ही वह अम तत्व की प्राप्ति करता है। 'विद्यया म तमश्नुते' तथा विद्यया विन्दते म तम्'। उसे जब यह ज्ञान हो जाता है कि आत्मा अजर, अमर है। शरीर नष्ट होने पर भी वह नष्ट नहीं होता तो वह व्यक्ति शरीर के प्रति अपना मोह छोड़ देता है। 'ततो न विजुगुप्सते'। ज्ञान प्राप्ति हो जाने से मनुष्य के ह दय की ग्रन्थियाँ खुल जाती है, सारे सन्देह दूर हो जाते हैं ओर इसके शुभाशुभ कर्म भी नष्ट हो जाते हैं -

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्द ष्टे परावरे।।

(मुण्डकोपनिषद् २,२.८)

उसके द्वारा किए गए कार्य उसके बन्धन का कारण नहीं बनते। अच्छे कर्मो से न वह महान् बनता है और न ही असाधु कर्मो से क्षुद्र 'स न साधुना कर्मणा भूयान् नैवासाधुना कनीयान्'। यह उसकी जीवन्मुक्तावस्था होती है। जीवन्मुक्त अवस्था वह अवस्था है जब मनुष्य के पूर्वसचित कर्म तो उनका फल भोग लिए जाने के कारण क्षीण हो जाते हैं और वर्तमान में किए गए कर्म उसके बन्धन का कारण नहीं बनते, क्योंकि वे अनासक्त भावना से किए जाते हैं। जब तक ऐसे मनुष्य की म त्यु नहीं होती तब तक वह इस संसार में नित्यनैमित्तिक कर्म करता हुआ घूमता है। लेकिन ये कर्म उसे किसी भी प्रकार उसी तरह प्रभावित नहीं करते जैसे घट के बन जाने पर कुम्हार का चक्र घूमता तो रहता है लेकिन घट को प्रभावित नहीं करता। इस प्रकार ज्ञान प्राप्ति से लेकर म त्युपर्यन्त तक के बीच की अवस्था जीवन्मुक्तावस्था कहलाती है। इस प्रकार उपनिषदों में ज्ञान की पुनः-पुनः बहुविध प्रशंसा की गई है। ऐतरेयोपनिषद् में तो ज्ञान को ही ब्रह्म बतलाया गया है 'प्रज्ञानं ब्रह्म'।

ब्रह्म प्राप्ति इसी संसार में और इसी मनुष्य जीवन में सम्भव है : उपनिषदों के अनुसार मनुष्य ब्रह्म प्राप्ति या मोक्ष प्राप्ति इसी संसार में और इसी जीवन में ही कर सकता है क्योंकि इस शरीर को त्याग देने के पश्चात् वह अपने क्रमों के अनुसार अन्य शरीरों को धारण करने के योग्य बन जाता है।

'इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक्शरीस्य विस्रसः।

ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते।।

(कठोपनिषद् २.३.४)

अर्थात् 'यदि शरीर के' पतन से पूर्व इस मनुष्य शरीर में उसे जान लिया (तो ठीक है) नहीं तो फिर अनेक कल्पों तक विभिन्न लोक और योनियों में शरीर धारण करने को विवश होता है।' केनोपनिषद् में भी कहा गया है -

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।

(केनोपनिषद् २.५)

नैतिकता का महत्त्व :-

उपनिषद् यद्यपि आध्यात्मिक और रहस्यवादी हैं तथापि उनमें नैतिकता का महत्त्व अनेक प्रकार से प्रतिपादित किया गया है। सत्य को तो ब्रह्म का आयतन (निवासस्थान) ही बतलाया है - 'सत्यमायतनम्'। मुण्डकोपनिषद् में भी कहा गया है - 'सत्यमेव जयते नान तम् अर्थात् 'सत्य ही विजयी

होता है असत्य नहीं। मनुष्य के लिए अपनी इन्द्रियों और मन को वश में रखना अत्यन्त आवश्यक माना गया है, जिसका मन और इन्द्रियाँ वश में नहीं है, वह अनुचित मार्ग पर जाकर अवनति के गर्त में गिरता है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि जो विज्ञानवान्, संयतचित और सदा पवित्र रहने वाला है, वह उस पद को प्राप्त करता है, जहाँ से वह पुनः उत्पन्न नहीं होता -

'यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदाशुचिः।

स तु तत्पदामाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते।।

(कठोपनिषद् १.३.८)

इसी उपनिषद् में पुनः कहा गया है कि वह मनुष्य अपनी सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा भी उस परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता जो बुरे आचरण से निव त्त नहीं हुआ है जो अशान्त है, जिसका मन और इन्द्रियाँ संयत नहीं है और जो अशान्त मन वाला है।

'नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।

नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैमाप्नुयात्।।

(कठोपनिषद् १.३.२४)

केनोपनिषद् में तम, दम और कर्म को ब्रह्म की प्रतिष्ठा बतलाया गया है 'तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा' (केनोपनिषद् ४.८)। मुण्डकोपनिषद् में भी सत्य, तप, सम्यग् ज्ञान और ब्रह्मचर्य को ब्रह्मप्राप्ति का साधन बतलाया गया है -

'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।(मुण्डकोपनिषद् ३.३.५)

यह ध्यातव्य है कि इस मन्त्र में ब्रह्मचर्य का अभिप्राय ब्रह्मचर्याश्रम से नहीं अपितु आत्मसंयम, पवित्रता, अपरिग्रह तथा आत्मसन्तुष्टि से है। बलहीन के द्वारा भी यह प्राप्त नही होता - 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'।

उपनिषदों में इस बात पर बहुत बल डाला गया है कि जब तक मनुष्य समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्वों और कर्त्तव्यों को पूरा नहीं करता, तब तक वह किसी भी कार्य में सफल नही हो पाता। इसी कारण कठोपनिषद् में नचिकेता ने यम से प्रथम पित परितोष के बारे में ही माँगा-

'शान्तसङ्कल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभि म त्यो।

त्वत्प्रस ष्टं माभिवदेत्प्रतीत एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं व णे।।

(कठोपनिषद् १.१.१०)

हे म त्यु! जिस प्रकार गौतम वंशी मेरा पिता मेरे प्रति शान्त चित्त प्रसन्न मन तथा क्रोधरहित हो जाए और आपके द्वारा भेजे जाने पर मुझे पहचान कर पूर्ववत् बात करे, यह तीन वरों में से प्रथम वर माँगता हूँ।

जब तक माता, पिता, गुरु और अन्य आदणीय व्यक्ति खिन्न हैं, तब तक मनुष्य को भी शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। अतिथि सत्कार पर भी उपनिषदों में पर्याप्त बल दिया गया है। तैत्तिरीयोपनिषद में माता, पिता, आचार्य व अतिथि को देवतुल्य समझने का उपदेश दिया गया है - 'मात देवो भव। पित देवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यदि अतिथि और विशेष रूप से ब्राह्मण अतिथि किसी के घर बिना खाए पिए रहता है तो उसका सब कुछ नष्ट हो जाता है। कठोपनिषद् में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जिसके घर में ब्राह्मण अतिथि बिना भोजन किए निवास करता है, उस मन्द

बुद्धि मनुष्य की आशा और प्रतीक्षा, उनकी पूर्ति से होने वाले सब प्रकार के सुख, मधुर वाणी, इष्ट और आपूर्त एवं पुत्र और पशु सबको (वह) नष्ट कर देता है -

आशाप्रतीक्षे सङ्गतं सून तां च इष्टापूर्ते पुत्रपशूंश्च सर्वान्।

एतद् व ङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो ग हे।।

(कठोपनिषद् १.१.८)

उपनिषदों के अनुसार मनुष्य को मद, मोह, लोभ, क्रोध, मात्सर्य और ईर्ष्या से रहित होना चाहिए। इस प्रकार उपनिषद् नैतिकता की ब्रह्म प्राप्ति का प्रथम सोपान मानते हैं।

विविध :-

ब्रह्म की स्थिति न तो तर्क द्वारा 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' और न ही इन्द्रियों द्वारा प्रमाणित की जा सकती है। अतः जब तक 'ब्रह्म है' इस बात पर विश्वास न हो तब तक मनुष्य उसकी प्राप्ति के लिए चेष्टा ही नहीं करेगा, और जब तक वह चेष्टा नहीं करेगा तब तक उसे ज्ञान की प्राप्ति कैसे हो सकती है? अतः ब्रह्मप्राप्ति के लिए सर्वप्रथम उसकी सत्ता पर विश्वास होना परमावश्यक है। कठोपनिषद् में कहा गया है - 'अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति' अर्थात् 'वह है' जो इस प्रकार से विश्वास करता है, उसी पर तत्त्व भाव प्रसन्न होता है।

उपनिषदों का ज्ञान करने के लिए एक मुमुक्षु में निम्न गुण होने चाहिए -

(१) **नित्यानित्यवस्तुविवेक :** उसे नित्य और अनित्य वस्तु का विवेक होना चाहिए जिस प्रकार नचिकेता को यह पूर्ण ज्ञान था कि इह लौकिक और पारलौकिक सभी भोगविलास अनित्य व क्षणभंगुर है और केवल ब्रह्मज्ञान ही नित्य और अनश्वर है।

(२) **इहामुत्रार्थफलभोगविराग :** उसे इस लोक के और स्वर्ग लोक के विषय भोगों के फलों को भोगने से विरक्ति होनी चाहिए जैसे नचिकेता यम के द्वारा दिए गए अनेक दुर्लभ प्रलोभनों से भी प्रलोभित नहीं हुआ।

(३) **शमदमादिषट्सम्पत् :** उसमें शम, दम इत्यादि छः गुण होने चाहिए जैसे नचिकेता काम, क्रोध, लोभ और मात्सर्य से रहित था।

(४) **मुमुक्षुत्वम् :** अन्त में उसमें मोक्ष प्राप्ति की इच्छा होनी चाहिए जैसे नचिकेता अपनी इस ब्रह्म ज्ञान या मोक्ष प्राप्ति की इच्छा पर द ढ़ रहा।

प्रथम तो इन सब गुणों की प्राप्ति के लिए ही शिष्य का गुरु के पास जाना अनिवार्य है और दूसरे उपनिषदों में यह भी कहा गया है कि यह ब्रह्म सूक्ष्मदर्शी पुरुषों द्वारा अपनी तीव्र और सूक्ष्म बुद्धि से ही देखा जाता है -

'द श्यते त्वग्रयया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।' (कठोपनिषद् १.३.१२)

इस तीव्र और सूक्ष्म बुद्धि की प्राप्ति के लिए भी गुरु की आवश्यकता होती है। इस कारण उपनिषदों में गुरु का महत्त्व भी अत्यधिक बतलाया गया है। ब्रह्म प्राप्ति में गुरु के जैसा सहायक अन्य कोई व्यक्ति नहीं हो सकता 'अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति' (कठोपनिषद् १.२.८) इस प्रकार के योग्य गुरु का मिलना तो कठिन है ही परन्तु साथ ही ऐसे योग्य शिष्य का मिलना भी दुर्लभ है जिसमें उपर्युक्त चार गुण हों -

'आश्चर्यो वक्ता कुशलो स्य लब्धा'। (कठोपनिषद् १.२.७)

उपनिषदों में 'ओम्' को ब्रह्म का प्रतीक माना गया है। योगदर्शन में भी कहा गया है 'तस्य वाचकः प्रणवः'। वस्तुतः ब्रह्मतो नामादि उपाधियों से रहित है। वह तो 'चतुष्कोटिर्विनिर्मुक्त'' है क्योंकि ब्रह्म का अर्थ 'ज्ञान' है और ज्ञान एक भाव होने के कारण सब उपाधियों से रहित है। जो व्यक्ति ब्रह्म-ज्ञान-शून्य पर ध्यान केन्द्रित नहीं कर पाते उनके लिए ओम् पर ध्यान करने का आदेश दिया गया है। कठोषनिषद् में कहा गया है कि यही अक्षर अपन ब्रह्म (हिरण्यगर्भ) है, यही अक्षर परम ब्रह्म है, इस अक्षर को जानकर जो जो कुछ भी चाहता है, वही उसे प्राप्त हो जाता है -

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।

एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्।। (कठोपनिषद् १.२.१६)

मुण्डकोपनिषद् में भी ओंकार को धनुष, आत्मा को बाण व ब्रह्म को उसका लक्ष्य कहा गया है -

'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।' (मुण्डकोपपिषद् २.२.४)

तैत्तिरीयोनिषद् में भी ओम् को सर्वस्व बतलया गया है -

'ओमिति सर्वम्' (१.८)।

इस प्रकार उपनिषदों में ओंकार को शब्द ब्रह्म माना गया है जिसका ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य परम गति को प्राप्त करता है।

ब्रह्म प्राप्ति का एक और उपाय जो उपनिषदों में बतलाया गया है, वह यह है कि पहले मनुष्य को स्थूल इन्द्रियों को वंश में करना चाहिए, फिर उससे सूक्ष्म को फिर उससे भी सूक्ष्म को और इसी प्रकार अन्त में सूक्ष्मतल आत्मा में महत् को विलीन करना चाहिए-

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मानि।

ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि।।

(कठोपनिषद् १.३.१३)

अर्थात् विवेकी पुरुष वाक् आदि समस्त इन्द्रियों को मन में विलीन कर दे। उस मन को ज्ञानस्वरूप बुद्धि में विलीन करे। ज्ञानस्वरूप बुद्धि को महान् आत्मा या समष्टि बुद्धि में विलीन कर दे और उस महत् को शान्त आत्मा में विलीन कर दे।

इस प्रकार ब्रह्मविद्या ही उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। लेकिन अन्य विषयों का भी समावेश उनमें प्रासङ्गिक रूप से हो गया है। उपनिषद् भारतीय अध्यात्म शास्त्र के देदीप्यमान रत्न हैं। भारतीय सभ्यता को आध्यत्मिकता की तरफ प्रव त्त करवाने का श्रेय इन्हीं उपनिषदों को प्राप्त है। पाश्चात्य विद्वानों ने मुक्त कण्ठ से इनकी भूरि-भूरि प्रशसा की है। जर्मनी ने प्रसिद्ध विद्वान् 'शोपेनहार' ने कहा है - "सम्पूर्ण विश्व में उपनिषदों के समान जीवन को ऊँचा उठाने वाला कोई दूसरा अध्ययन का विषय नहीं है। उनसे मेरे जीवन को शान्ति मिली है उन्हीं से मुझे म त्यु में भी शान्ति मिलेगी'। डॉक्टर ऐनीबेसंट ने भी उपनिषदों की प्रशंसा में कहा है कि 'भारत का यह ज्ञान मानव चेतना का सर्वोच्च फल है।' पाश्चात्य विद्वान् विन्टरनिट्ज ने भी इनकी प्रशंसा में कहा है कि लुड्विग स्टाइन ने जिस एकत्ववाद को विश्व की समस्याओं के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना है, वह दार्शनिक विचार भारतीय उपनिषदों में तीन हजार वर्ष पहले ही प्रतिपादित हो चुका था। जर्मन विद्वान् ड्यूसन महोदय ने अपने ग्रन्थ `Philosophy of Upanishads' में कहा है कि 'उपनिषद् ग्रन्थों में जिस दर्शन का

प्रतिपादन है, वह भारत तथा सारे विश्व में अतुल्य है'।

इस प्रकार उपनिषद् के सिद्धान्तों व दर्शन का केवल भारत में ही नहीं अपितु समस्त विश्व में सर्वव्यापी प्रचार हुआ। भारतीय दर्शन शास्त्र इनके ऋण से कभी उऋण नहीं हो पाएगा।

वेदाङ्ग

वैदिक संहिता और उनसे सम्बद्ध साहित्य के विधिवत् अध्ययन के क्रम में जिस साहित्य का विकास हुआ उसे वेदांग के नाम से अभिहित किया जाता है। वेदांग नाम इस बात का द्योतक है कि वेदानुशीलन के अंग रूप में इस साहित्य का प्रणयन हुआ या वेद का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिए वेदांगों की रचना हुई। इस नामकरण से स्पष्ट होता है कि वेदांगों का आविर्भाव वैदिक संहिता की स्वाध्याय प्रव त्ति के पश्चात् ही हुआ होगा। वैदिक चिन्तन के विकास में सहयोग देने के लिए ऐसे ग्रन्थों का विकास होना स्वाभाविक था, क्योंकि जैसे-जैसे संहिताओं का वैज्ञानिक अध्ययन होने लगा वैसे-वैसे अध्येताओं के समक्ष विषय की जटिलता उपस्थित होती गयी, फलतः उनके रहस्योद्घाटन या स्वरूप विश्लेषण के लिए वेदांगों का लेखन प्रारम्भ हुआ। वेदों के अर्थावबोध तथा उसके कर्मकाण्ड में सहायक होने के कारण इनका नाम वेदांग पड़ा। 'अंग' शब्द का अर्थ है 'उपकारक'। जिसके द्वारा वस्तु के स्वरूप का परिज्ञान होने में सहायता मिले, उसे अंग कहा जाता है। वेद के अर्थ की दुरूहता को दूर करने तथा कर्मकाण्ड सम्बन्धी तथ्यों के प्रतिपादन में वेदांगों की उपयोगिता असंदिग्ध है। ऐसे ग्रन्थों के ६ वर्ग हैं— शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष।

शिक्षा वेदांग :-

षड् वेदांगों में शिक्षा का सबसे पहला स्थान है। वैदिक मन्त्रों का यथेष्ट उच्चारण सिखाना ही शिक्षा वेदांग का प्रमुख प्रयोजन रहा है। तैत्तिरीयोपनिषद् में शिक्षा के अन्तर्गत छह अंग गिनाए हैं— वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम तथा सन्तान। वर्ण से तात्पर्य भाषा ध्वनियों से है। भाषा में कुल कितने वर्ण हैं, इसे बताना सबसे प्रमुख है। वर्ण के अनेक पक्षों, यथा—उच्चारण प्रक्रिया, उच्चारण स्थान आदि पर विचार करना शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है। स्वर से तात्पर्य उदात्तादि स्वरों से है। मात्रा से तात्पर्य ह्रस्व, दीर्घ, प्लुतादि मात्राओं से है जो वर्ण के उच्चारण में प्रयुक्त हुए काल पर निर्भर है। बल से तात्पर्य प्रयत्न से है। वर्ण के उच्चारण में स्प ष्ट, ईषत्स्प ष्टादि प्रयत्नों को ही बल कहा गया है। साम से तात्पर्य मन्त्रों के गायन में प्रयुक्त सामंजस्य से है। यह विशेषतः सामवेद के मन्त्रों में प्रयुक्त होता है। सन्तान का अर्थ है 'व्यवधान न होना।' मन्त्रों का संहिता पाठ ही 'सन्तान' से अभीष्ट है।

प्रातिशाख्य और शिक्षा ग्रन्थों में मुख्यतः इन्हीं विषयों का वर्णन है। शिक्षा वेदांग का मुख्य प्रयोजन वेदमन्त्रों में आने वाले उच्चारण दोषों का निवारण करना था। वेदमन्त्र जब यज्ञों के विषय हो गए तो उनकी पवित्रता को अक्षुण्ण रखना नितान्त आवश्यक हो गया। अतः दुष्ट उच्चारण को दूर करना आचार्यों के लिए एक चुनौती बन गया था क्योंकि भाषा के क्षेत्रीय विकास के साथ-साथ अनेक क्षेत्रीय प्रभाव भाषा पर पड़ने लगे थे। अतः वेदमन्त्रों के उच्चारण में दोष आ जाना स्वाभाविक ही था। इन दोषों से वेदों को बचाने के लिए व्यवस्थित रूप में शिक्षा देना आवश्यक था। पतंजलि ने शब्दानुशासन के प्रयोजनों में सबसे प्रमुख प्रयोजन वेद की रक्षा ही बताया है—'रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्'

पतंजलि ने व्याकरण के गौण प्रयोजनों में भी शुद्ध उच्चारण की आवश्यकता पर बल दिया जाने का उदाहरण भी दिया है—'ते सुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः। तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः।' एक स्वर के अपराध को भी अक्षम्य माना जाता था—

'दुष्ट शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।

स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतो पराधात्।।''

वेदों की रक्षा के प्रयोजन से ही शिक्षा ग्रन्थों का शास्त्र के रूप में विकास हुआ। शिक्षा वेदांग में उच्चारण के नियमों के अतिरिक्त उच्चारण दोष, स्वर, छन्द, सन्धि, वर्ण-विकास आदि वर्णित हैं।

अति प्राचीन काल से ही भारत में भाषा के सुन्दर रूप में बोलने की प्रव त्ति प्रारम्भ हो गई थी। ऋग्वेद के मन्त्र अपने भाषा-सौष्ठव के लिए प्रसिद्ध हैं। ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में भाषा को सजाने की बात कही गई है। देवताओं से भी ऋषिगण अनेक बार प्रार्थना करते थे कि वे उन्हें भाषा का ज्ञान दें, ताकि वे अच्छी से अच्छी स्तुति की रचना करके देवताओं को अर्पित कर सकें। वैदिक ऋषियों को यह विश्वास था कि सुन्दर और दोष रहित भाषा ही देवता को प्रसन्न करने में समर्थ है।

वैदिक ऋषि भाषा के मर्मज्ञ थे। ऋग्वेद में अनेक मन्त्र ऐसे हैं जो ऋषियों के भाषा सम्बन्धी ज्ञान की पराकाष्ठा के परिचायक हैं। ऋग्वेद में अनेक सूक्त यथा १०.७१; १०.१२५; १.१६४ पूर्णतः वाग्देवी की स्तुति में हैं। इनमें वाणी के बहुत ही उत्कृष्ट स्वरूप की कल्पना की गई है। अनेक स्थानों पर वाणी को समस्त ब्रह्माण्ड के समकक्ष माना है। वाणी और ब्रह्म की एकरूपता ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर द ष्टिगोचर होती है।

भाषा को सिखाने और अध्यापक से सीखने का कार्य भी ऋग्वेद काल में ही प्रारम्भ हो गया था। ऋग्वेद के मण्डूक सूक्त में एक मेंढक के दूसरे मेंढक की भाषा का अनुकरण करने की तुलना अध्यापक का शिष्य के द्वारा अनुकरण किए जाने से की है—

'यदेषामन्यों अन्यस्य वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः।

इससे स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद काल से ही शिष्य अध्यापक के उच्चारण का अनुकरण करते थे।

इस प्रव त्ति का विकास आगे चलकर शास्त्रों के रूप में हुआ। ऐतरेय ब्राह्मण में वाणी को इन्द्र से सम्बन्धित बताया—'वाग्ध्यैन्द्री। इसी ब्राह्मण में वाणी के अनश्वर रूप की कल्पना की गई और वाणी की तुलना समुद्र से की—'वाग्वै समुद्रो न वाक् क्षीयते।' यज्ञों में भिन्न-भिन्न प्रकार के उच्चारण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई थी। अतः गोपथ ब्राह्मण में स्थान, अनुप्रदान, करण आदि पारिभाषिक शब्दों का भी उल्लेख है—

'ओकारं प च्छामः ...किं स्थानानुप्रदानं करणं शिक्षुकाः किमुच्चारयन्ति।'

इसी ब्राह्मण में उच्चारण स्थान 'ओष्ठ' तथा 'स्प ष्ट' प्रयत्न का भी उल्लेख है—

'किं स्थानमित्युभावोष्ठौ। ...द्वितीयस्प ष्टकरणस्थितिश्च। ...षडङ्गविदस्तत्तथा धीमहे।'

आरण्यक और उपनिषद् काल में भाषा सम्बन्धी सूक्ष्मताओं का रूप अधिक विकसित होने लगा था। ऐतरेय आरण्यक में स्वर व्यंजन विषयक धारणाएं स्पष्ट होने लगी थीं। स्वर, व्यंजन, स्पर्श, प्राण, संहिता आदि विषयों पर ऐतरेय आरण्यक में कुछ विचार हुआ है।

उपनिषत् काल में शिक्षा के वेदांग के रूप में विकसित हो जाने के निश्चित प्रमाण मिलते हैं। मुण्डकोपनिषद् में शिक्षा को सबसे पहला वेदांग गिनाया गया है। तैत्तिरीयोपनिषद् में एक प थक्

अध्याय (१.२) ही शिक्षाध्याय नाम से है। (यहां पर शिक्षा वेदाङ्ग के लिए ही शिक्षा शब्द का प्रयोग किया गया है।) इसका प्रारम्भ 'ऊं शिक्षां व्याख्यास्यामः' इन शब्दों से होता है तथा अन्त 'इत्युक्तः शिक्षाध्यायः' शब्दों से होता है।

इससे स्पष्ट है कि उपनिषत् काल से पूर्व शिक्षा वेदांग विकसित हो चुका था।

शिक्षा वेदांग का क्षेत्र एवं स्वरूप :-

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, शिक्षा वेदांग का मुख्य क्षेत्र वैदिक मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण था। यह वेदांग व्याकरण से भिन्न है क्योंकि व्याकरण भाषा का विश्लेषण करता है जबकि शिक्षा वेदांग में केवल उच्चारण को ही प्रमुख माना गया है। शिक्षा वेदांग में जो विषय मुख्य रूप से वर्णित हैं वे हैं—वर्ण, मात्रा स्वर, सन्धि, वर्ण-विकार, आगम, लोप, विव त्ति, अभिनिधान आदि स्वर-वैशिष्ट्य, उच्चारण स्थान, प्रयत्न, अनुप्रदान आदि। ऋक्प्रातिशाख्य में छन्दों का भी विवेचन है।

शिक्षा वेदांग दो रूपों में आज उपलब्ध है—१. प्रातिशाख्य तथा २. शिक्षा। यद्यपि दोनों रूपों के लिए शिक्षा शब्द का प्रयोग होता है परन्तु शिक्षा नाम से अलग ग्रन्थ मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रातिशाख्य अपनी-अपनी शाखाओं के लिए अलग-अलग बन गए जबकि शिक्षा ग्रन्थ सभी वेदों के लिए समान रूप से उपयोगी थे। प्रारम्भ में सभी वेदों पर समान रूप से सामान्य ध्वनि-विज्ञान के रूप में शिक्षा ग्रन्थों का प्रयोग हुआ होगा परन्तु अपनी-अपनी शाखाओं की विशेषताओं को नियमबद्ध करने के लिए 'प्रातिशाख्यों' का स्वरूप विकसित हुआ। शिक्षा ग्रन्थ निश्चित रूप से प्रातिशाख्यों से पूर्व के होंगे क्योंकि विकास क्रम की द ष्टि से सामान्य शिक्षाओं का ही स्थान पहले आते है। प्राचीन शिक्षा के आधार पर ही भिन्न-भिन्न शाखाओं की विशेषताओं को प्रातिशाख्यों में समाविष्ट किया गया। परन्तु दुर्भाग्य से आज कोई भी शिक्षा ग्रन्थ ऐसा नहीं है जिसे प्रातिशाख्यों से प्राचीन कहा जा सके। सभी उपलब्ध शिक्षा ग्रन्थ बहुत बाद के हैं। वे तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी तक भी लिखे जाते रहे हैं।

प्रातिशाख्य :-

प्रातिशाख्यों को मूल रूप में पार्षद कहा गया है। विष्णुमित्र ने ऋक्प्रातिशाख्य के भाष्य के प्रारंभ में ऋक् प्रातिशाख्य को पार्षद ही कहा है—

सूत्रभाष्यकृतः सर्वान् प्रणम्य शिरसा शुचिः।

शौनकं च विशेषेण येनेदं पार्षदं कृतम्।।

पार्षद शब्द पर्षद (परिषद्) से निस्स त है। सम्भव है किसी परिषद् विशेष में प्रातिशाख्यों का प्रवचन होता हो, जिससे इनका नाम पार्षद पड़ा हो। यास्क के निरुक्त के भाष्यकार दुर्गाचार्य ने पार्षद की व्याख्या करते हुए कहा है कि पार्षद वे ग्रन्थ हैं जिनके द्वारा अपने'अपने चरणों की परिषदों में पदों का विग्रह, प्रग ह्य, संहिता तथा स्वरों के लक्षण बताए जाते हैं—

'स्वचरणपरिषदयेव यैः प्रतिशाखानियतमेव पदावग्रहप्रग ह्यक्रमसंहिता स्वरलक्षणमुच्यते। तानीमानिपार्षदानि प्रातिशाख्यानीत्यर्थः।'

प्रातिशाख्यों के आधार ग्रन्थ :-

प्रातिशाख्य अपने विषय-प्रतिपादन में यद्यपि पूर्ण हैं परन्तु इनके आधार ग्रन्थ निश्चित रूप से विद्यमान थे। प्राचीन शिक्षा जैसा कोई ग्रन्थ अवश्य विद्यमान रहा होगा जिस पर आश्रित रहकर सभी प्रातिशाख्यों ने ध्वनि सम्बन्धी नियमों का वर्णन किया है। व्याकरण के ग्रन्थ भी सम्भवतः विद्यमान हों। अथर्वप्रातिशाख्य में पूर्वशास्त्र का स्पष्ट उल्लेख किया गया है—

'शास्त्रे पुराणे कविभिर्द्‌ष्टमेतत् वर्णलिंगस्वर विभक्तिव्यत्ययश्छन्दसीति।'

प्रातिशाख्यों का काल :-

प्रातिशाख्यों के काल के विषय में विद्वानों में मतभेद है। अधिकांश विद्वान् इस मत के हैं कि प्रातिशाख्यों का काल पाणिनि से पूर्व का है। परन्तु गोल्डस्टुकर ने सभी प्रातिशाख्यों को पाणिनि से बाद का माना है। परन्तु गोल्डस्टुकर का मत उचित नहीं है। उनको वाजसनेयि-प्रातिशाख्य के रचयिता कात्यायन के विषय में भ्रान्ति हुई है कि यह वही कात्यायन हैं जिन्होंने अष्टाध्यायी पर वार्तिक लिखे। परन्तु यह बात अब लगभग प्रमाणित ही है कि वार्तिककार कात्यायन प्रातिशाख्यकार कात्यायन तथा श्रौतसूत्रकार कात्यायन भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि उपलब्ध प्रातिशाख्य पाणिनि से बाद के हैं। अथर्वप्रातिशाख्य के ब हद् संस्करण के विषये में तो अवश्य सन्देह हो सकता है कि वह पाणिनि से बाद का हो क्योंकि उसमें अनेक ऐसे प्रसंग जोड़े गए हैं जो पाणिनि के व्याकरण से प्रभावित लगते हैं परन्तु अन्य किसी प्रातिशाख्य को पाणिनि से बाद का सिद्ध नहीं किया जा सकता। इसके पक्ष में कुछ तर्क इस प्रकार है—

१ किसी भी प्रातिशाख्य में पाणिनि का नामोल्लेख नहीं किया गया है।

२. सभी प्रातिशाख्यों में पाणिनि की संज्ञाओं को ग्रहण नहीं किया गया है। जो पारिभाषिक शब्द पाणिनि और प्रातिशाख्यों में समान रूप से मिलते हैं वे प्राचीन हैं और पाणिनि ने स्वयं परम्परा से ग्रहण किया है।

३. पाणिनि ने शब्दों के दो वर्ग किए हैं सुप तथा तिङ्। परन्तु प्रातिशाख्यों में शब्दों के वे ही चार वर्ग बताए हैं जो यास्क के निरुक्त में हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात।

४. सूत्र रचना कौशल, जो पाणिनि की अष्टाध्यायी में दिखाई देता है, प्रातिशाख्यों में नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रातिशाख्यों के सूत्रों को संशोधन करके पाणिनि ने ग्रहण किया है। कुछ सूत्र प्रातिशाख्य और पाणिनि में समान रूप से मिलते हैं, परन्तु वहां पाणिनि ही ऋणी है क्योंकि इन सूत्रों के प्रातिशाख्यों में भिन्न-भिन्न मिलते जुलते रूप मिलते हैं जिन्हें पाणिनि ने संशोधित रूप मे ग्रहण किया है।

अतः यह लगभग निश्चित ही है कि प्रातिशाख्य पाणिनि से पूर्व से पूर्व के हैं।

डॉ सिद्धेश्वर वर्मा ने प्रातिशाख्यों और पाणिनि का क्रम इस प्रकार रखा है।

१. ऋक्प्रातिशाख्य २. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य (मूल), ३. अथर्वप्रातिशाख्य (मूल), ४. वाजसनेयि-प्रातिशाख्य, ५. पाणिनि, ६. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य (पुनः संस्कृत), ७. अथर्वप्रातिशाख्य (पुनः संस्कृत), ८. ऋक्तन्त्र।

उपलब्ध प्रातिशाख्य :-

इस समय कुल छः प्रातिशाख्य उपलब्ध हैं—

१ ऋग्वेद प्रातिशाख्य

२. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य

३. वाजसनेयि प्रातिशाख्य

४. ऋक्तन्त्र

५. शौनकीया चतुरध्यायिका

६. अथर्वप्रातिशाख्य

इन प्रातिशाख्यों का विस्त त विवेचन इस प्रकार है—

१. ऋग्वेद प्रातिशाख्य :-

ऋग्वेद प्रातिशाख्य उपलब्ध प्रातिशाख्यों में सबसे प्राचीन और प्रामाणिक है। यह ऋग्वेद की शाकल शाखा से सम्बन्धित शौनक की रचना है। ग्रन्थकार ने स्वयं इसे शैशिरीय शाखा कहा है—अस्य ज्ञानर्थमिदमुत्तरत्र वक्ष्ये शास्त्रमखिलं शैशिरीये। ऋग्वेद प्रातिशाख्य के प्रथम श्लोक में ही ग्रन्थकार का नाम शौनक दिया गया है—

परावरे ब्रह्मणि यं सदाहुर्वेदात्मानं वेदनिधिं मुनीन्द्राः।

तं पद्मगर्भ परमं त्वादिदेवं प्रणम्चर्यां लक्षणमाह शौनकः।

इस ग्रन्थकार के नाम के विषय में किसी को सन्देह नहीं है। सभी व त्तिकारों ने शौनक को ही ग्रन्थ का रचयिता माना है। षड्गरुशिष्य ने शौनक के नाम से दस ग्रन्थों को गिनाया है—आर्षानुक्रमणी, छन्दो नुक्रमणी, देवतानुक्रमणी, अनुवाकानुक्रमणी, सूक्तानुक्रमणी, ऋग्विधान, पादविधान, ब हद्देवता, ऋग्वेदप्रातिशाख्य तथा शौनक स्म ति—

शौनकीया दशग्रन्थास्तदा ऋग्वेदगुप्तये।

अर्षानुक्रमणीत्याद्या छान्दसी दैवती तथा।।

अनुवाकानुमणी सूक्तानुक्रमणी तथा

ऋक्पादयोर्विधाने च बार्हद्वैवतमेव च।

प्रातिशाख्यं शौनकीयं स्मार्तं दशममुच्येते।।

उपर्युक्त पद्यों में दिये गये शौनक के गन्थ शौनक के प्रकाण्ड पण्डित होने के परिचायक हैं। जैसाकि ऊपर कहा गया है, उन्होंने ऋग्वेद की रक्षा के लिए इन सब ग्रन्थों की रचना की थी। ऋक्प्रातिशाख्य के व त्तिकार विष्णुमित्र ने शौनक की प्रशंसा करते हुए कहा है कि भगवान् शौनक ने वेद के अर्थ को जानने वाले थे तथा लोक कल्याण के लिए ऋग्वेद के शिक्षा शास्त्र की रचना की —

अत्र आचार्यौ भगवान्छौनको वेदार्थवित्सुहृद् भूत्वा ... पुरुषहितार्थम ग्वेदस्य शिक्षाशास्त्रं कृतवान्।

शौनक का परिचय :-

शौनक के विषय में हमें षड्गुरुशिष्य से ही परिचय मिलता है। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है शौनक आश्वलायन तथा कात्यायन का गुरु थे। शौनक बहुत उदार और शिष्यवत्सल थे। आचार्य शौनक ने एक हजार खण्डों वाले एक श्रौतसूत्र की रचना की परन्तु जब उनके शिष्य आश्वलायन ने शौनक को प्रसन्न करने के लिए स्वयं श्रौतसूत्र की रचना करके शौनक को दिखाया तो शौनक ने अपना ग्रन्थ आश्वलायन की प्रसन्नता के लिए फाड़ दिया। साथ ही यह घोषणा भी कर दी कि यही सूत्र ग्रन्थ ऋग्वेद का श्रौतसूत्र माना जाये।

शौनक निश्चित रूप से यास्क से उतरवर्ती आचार्य हैं क्योंकि उन्होंने ऋक्प्रातिशाख्य ब हद्देवता में यास्क के मतों को उद्ध त किया है परन्तु पाणिनि के मत का कहीं भी उल्लेख नही हुआ हैं। अतः शौनक को यास्क और पाणिनि के मध्य माना जा सकता है।

वर्ण्य विषय :-

ऋक्प्रातिशाख्य सूत्रशैली में लिखा हुआ ग्रन्थ है। इसमें कुल १०६७ सूत्र हैं। इन्हीं सूत्रों को पद्यात्मक शैली में रखा गया है। डॉ० वीरेन्द्र कुमार के अनुसार इसमें ५२६ श्लोक हैं। तीन छन्दों का मुख्य रूप से प्रयोग हुआ है—अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् तथा जगती। यह तीन अध्यायों में विभाजित है। प्रत्येक अध्याय में छहः पटल हैं। पटल भी वर्गों में विभाजित हैं। प्रथम पटल से पूर्व वर्गद्वय नाम से दस श्लोक मिलते हैं। प्रथम पटल में संज्ञा-परिभाषा, द्वितीय में संहिता, त तीय में स्वर, चतुर्थ में सन्धि, पंचम में नति, षष्ठ ध्वन्यागम, सप्तम, अष्टम तथा नवम में प्लुति, दशम में क्रम, एकादश में क्रमहेतु, द्वादश में सीमा, त्रयोदश में शिक्षा, चतुर्दश में उच्चारण-दोष, पंचदश में वेदाध्ययन, षोडश, सप्तदश तथा अष्टादश पटल में छन्दों का वर्णन है।

विशेषताएं :-

१ ऋक्प्रातिशाख्य में वर्णों के शुद्ध उच्चारण पर विशेष बल दिया गया है। चार पटलों (१, ६, १३ तथा १४) में वर्ण-विषयक विचार हुआ है। वर्णों के उच्चारण स्थान तथा उच्चारण दोषों का सम्यक् निरूपण हुआ है।

२. संहिता को पदों की प्रकृति माना है—

संहिता पदप्रकृतिः (२.१)।

३. पदों की चार जातियां बताई हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात।

४. इस प्रातिशाख्य में अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है तथा उनकी सुन्दर तथा संक्षिप्त परिभाषाएं दी गई हैं यथा विव त्ति की परिभाषा— 'स्वरान्तरं तु विव त्तिः' अति सरल और संक्षिप्त है। अनेक पारिभाषिक शब्द जिनका प्रयोग पाणिनि ने अपने व्याकरण में किया है, इसमें पूर्वतः प्रयुक्त हैं, यथा अक्षर, अनुनासिक, अनुस्वार, अप क्त, उपधा, जिह्वामूलीय आदि।

५. वर्णों के ६ उच्चारण स्थान बताए गए हैं—कण्ठ, उरस्, जिह्वामूल, तालु, मूर्धा, दन्तमूल, वर्स्व, ओष्ठ तथा नासिका। पाणिनीय शिक्षा में दिए गए उच्चारण स्थानों से यहां कहीं-कहीं भिन्नता है। यथा हः 'और' 'आ' का उच्चारण कुछ आचार्यों के मत के अनुसार उरस्य बताया गया है। त्, थ्, द्, ध्, न्, स्, र् और ल् का उच्चारण दन्तमूल बताया गया है। र् को दन्तमूल बताना महत्त्वपूर्ण है। अन्य आचार्यों के मत में 'र्' का उच्चारण 'वर्स्व्य' बताया गया है। ऋ, ल , ल्, क् वर्ग का उच्चारण जिह्वामूल माना है।

५. ऋकार को शुद्ध स्वर न मानकर व्यंजन मिश्रित माना गया है। ऋकार में रेफ होता है।

६. व्यंजनों के उच्चारण में आने वाली यम ध्वनियों को स्वीकार किया है। पाणिनि इन ध्वनियों का कहीं उल्लेख नहीं करते।

७. तीन प्रकार के आभ्यन्तर प्रयत्न स्वीकार किए गए हैं, स्प ष्ट (क से म तक) दुःस्प ष्ट (य, र, ल, व) तथा अस्प ष्ट (अ, आ, इ, उ, ऋ, ए, ओ, ऐ, औ, ल , ह, श, ष, स, अः, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अं)।

८. उच्चारण-प्रक्रिया में उत्पन्न होने वाली विभिन्न अवस्थाओं का बड़ी सूक्ष्मता से निरूपण करके उनके लिए अनेक पारिभाषिक शब्द दिये हैं, यथा अभिनिधान (वर्णावरोध) ध्रुव, स्वरभक्ति, यम, क्रम (द्वित्व) आदि।

६. वर्णों के उच्चारण दोषों के अनेक प्रकार गिनाए गए हैं, जो स्वर और व्यंजन की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में होते हैं। चतुर्दश पटल में जिस विशदता और विस्तार से दोष गिनाए हैं वे अन्यत्र किसी ग्रन्थ में नहीं समझाए गए हैं। स्वरों के उच्चारण में जो प्रमुख दोष बताए गए हैं, वे हैं

अयथार्थमात्र वचन, संदेश, व्यास, पीडन, निरास, राग, ग्रास, अन्यवर्णता, संदष्टता, विषमरागता, दीर्घीकरण। विव त्ति के लोप, आगम, विपर्यय तथा अभिव्यादान दोष गिनाए हैं। व्यंजन दोषों में अदेशेवचन, विराग, लेश, पीडन जिह्वाप्रथन, ग्रास, निरास, प्रतिहार, विक्लेश, अन्यवर्णता, अनुनाद, धारण, अनाद, लोप, क्रम, लोमश्य, निरस्त, नासिक्य आदि दोष गिनाए गए हैं।

१०. सन्धि के विभिन्न प्रकारों का निरूपण किया गया है। स्वर सन्धि के दस भेद माने हैं—१. प्रश्लिष्ट सन्धि, २. क्षैप सन्धि, ३. भुग्न सन्धि, ४. अभिनिहित सन्धि, ५. पदव त्ति सन्धि, ६. उदग्रह सन्धि ७. उदग्राहपदव त्ति सन्धि, ८. उदग्राहवत् सन्धि, ६. प्राच्यपंचालपदव त्ति सन्धि, तथा १०. प्रकृति भाव सन्धि। व्यंजन सन्धि के ७ भेद माने हैं, यथा १. अवशंगम सन्धि, २. वशंगम सन्धि, ३. परिपन्न सन्धि, ४. विसर्जनीय सन्धि, ५. नकार विकार ६. आगम तथा ७. लोप। विसर्जनीय सन्धि के भी ६ भेद हैं, यथा—१. नियत सन्धि, २. प्रश्रित सन्धि, ३. रेफ सन्धि, ४. अकाम सन्धि, ५. नियतसन्धि, ६. व्यापन्न सन्धि, ७. विक्रान्त सन्धि, ८. अन्वरवक्त्र सन्धि तथा ६. उपाचरित सन्धि। इनके अतिरिक्त वर्ण परिवर्तन के आधार पर भी सन्धियों के नामकरण किए गए हैं। इनमें सबसे प्रमुख है नति सन्धि जिसके अनुसार मूर्धन्यभाव होता है। दीर्घीकरण को सामवश सन्धि कहा है।

११. स्वर प्रकरण के अन्तर्गत उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित की विभिन्न अवस्थाओं का विशद विवेचन किया गया है। स्वरों के विभिन्न भेद बताए गए हैं। स्वरित के तीन मुख्य भेद बताए हैं—उदात्तपूर्व, जात्य तथा संधिज। संधिज स्वरों के भी कई भेद बताए गए हैं यथा प्रश्लिष्ट स्वरित क्षैप्रस्वरित, अभिनिहित स्वरित, कम्पस्वरित। तीन स्वरों के अतिरिक्त एक प्रचय स्वर भी माना गया है। यह वस्तुतः अनुदात्त स्वर ही होता है, परन्तु जब वह उदात्त की तरह उच्चरित होने लगता है तो प्रचय कहलाता है।

१२. पिछले तीन अध्यायों में वैदिक छन्दों की सूक्ष्मताओं पर विचार किया गया है,

भाष्य :-

ऋग्वेद प्रातिशाख्य पर उवट ने एक विस्त त भाष्य लिखा है। यह भाष्य बहुत उच्चकोटि का है। अपने भाष्य में उन्होंने सूत्रों की विस्त त व्याख्या करते हुए उसके औचित्य को सिद्ध किया है।

२. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य :-

तैतिरीय प्रातिशाख्य कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्धित है। इसके रचयिता का कहीं भी उल्लेख नहीं है।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य का विभाजन दो प्रकार से है—एक तो प्रश्नों में तथा दूसरा केवल अध्यायों में। प्रश्न के विभाजन में केवल दो प्रश्न हैं, प्रत्येक प्रश्न में १२ अध्याय हैं। अध्यायों के विभाजन में सीधे २४ अध्याय ही दिए गए हैं।

वर्ण्य विषय :-

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के विषय को तीन भागों में बांटा जा सकता है, यथा १. साधारण विधि जो एक से चार अध्यायों में वर्णित है, २. संहिताधिकार जो ५-१६ अध्यायों में वर्णित है तथा ३. उच्चारण कल्प जो १७-२४ अध्यायों में वर्णित है।

प्रथम अध्याय में वर्णसमाम्नाय का वर्णन किया गया है। वर्णों को समानाक्षर कहा गया है। ह्रस्व, दीर्घ प्लुतादि, स्वर व्यंजन, स्पर्श, अन्तस्थ, ऊष्म, अघोष,, घोष, उपसर्ग, विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार, अनुनासिक, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि संज्ञाओं के लक्षणादि वर्णित किये गये हैं। तीसरे अध्याय में दीर्घ स्वरों के ह्रस्व में परिवर्तन आदि के नियम दिए गए हैं। चतुर्थ अध्याय में

प्रग्रह संज्ञक नियम वर्णित हैं। पंचम अध्याय में संहिताकाल में होने वाले वर्णागमों का विवेचन है। षष्ठ अध्याय में षत्व तथा सत्व विधि वर्णित है। सप्तम अध्याय में नकार का णकार में तथा तवर्ग का टवर्ग में परिवर्तन वर्णित है। अष्टम से लेकर षोडश तक सन्धि में होने वाले विभिन्न विकार लोप, आगम आदि वर्णित हैं। २७वें अध्याय में वर्णविशेषों के उच्चारण में तीव्र या द ढ प्रयत्नादि का वर्णन है। १८वें अध्याय में अकार के स्वरों का वर्णन है। १६ से २१ तक स्वरों के भेदादि बताए गए हैं। २२वें अध्याय में पारिभाषिक शब्द वर्ण, कार, च अभि आदि की परिभाषाएं दी गई हैं। २३वें अध्याय में वर्णों के उच्चारण स्थानों का वर्णन है। २४वें अध्याय में चार प्रकार की संहिताओं पदसंहिता, अक्षरसंहिता, वर्णसंहिता तथा अंगसंहिता का वर्णन है। इसके साथ ही वैदिक भाषा को पढ़ने वाले व्यक्ति को किन-किन विषयों का ज्ञान होना चाहिए उन विषयों का वर्णन है। वे विषय निम्नलिखित हैं—

गुरुत्वं लघुता साम्यं ह्रस्वदीर्घप्लुतानि च।

लोपागमविकाराश्च प्रकृतिर्विक्रमः क्रम।।

स्वरितोदात्तनीचत्वं श्वासो नादोऽ्गमेव च।

एतत्सर्वं तु विज्ञेयं छन्दोभाषामधीयता।।२४.५

विशेषताएं :-

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य की कुछ प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं—

१ यह प्रातिशाख्य आकार में छोटा है परन्तु इसमें विषय को बहुत व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

२. अन्य प्रातिशाख्यों के नियम केवल संहिता, पद तथा क्रम पाठ पर ही लागू होते हैं, जबकि इस प्रातिशाख्य के नियम जटापाठ पर भी लागू होते हैं।

३. इस प्रातिशाख्य में ध्वनि उच्चारण की प्रक्रिया को वैज्ञानिक स्वरूप देने का प्रयास किया गया है।

४. इसके कई सूत्र ऐसे हैं जो पाणिनि के निकट हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पाणिनि ने तैत्तिरीय प्रातिशाख्य को देखकर ही अपने कुछ सूत्र बनाए हों।

यहां कुछ सूत्रों की तुलना उल्लेखनीय है—

(क) कम से कम निम्नलिखित सूत्र तै०प्रा० तथा पाणिनि की अष्टाध्यायी में समान रूप से मिलते हैं—१. उच्चैरुदात्त; नीचैरनुदात्तः तथा समाहार-स्वरितः।

(ख) कुछ सूत्र ऐसे हों जो पाणिनीय अष्टाध्यायी में कुछ ही अन्तर के साथ प्रयुक्त हैं—

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य	**पाणिनि**
एकवर्णः पदमप क्तः	अप क्त एकाल् प्रत्ययः
आद्यन्तवच्च	आद्यन्तवदेकस्मिन्
विनाशो लोपः	अदर्शनं लोपः
दीर्घ समानाक्षरे सवर्णपरे	अकः सवर्णे दीर्घः
उदात्तात्परो नुदात्तः स्वरितम्	उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः
वेति वैभाषिकः,	न वेति विभाषा

नेति प्रतिषेधः।

५. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में अनेक आचार्यों के नाम दिए गए हैं जो इस प्रकार हैं—

आग्निवेश्य, आग्निवेश्यायन, आत्रेय, उरव्य, उत्तमोत्तरीय, काण्डमायन, कौण्डिन्य, गौतम, पौष्करसादि, प्लाक्षायण, प्लाक्षि, वाडभीकार, भरद्वाज, भारद्वाज, माचाकय (या मैचिकाय) वात्सव, वाल्मीकि शांखायन, शैत्यायन, सांकृत्य, स्थविर कौण्डिन्य, हारीत।

६. इस प्रातिशाख्य में पारिभाषिक शब्दों पर विशेष बल नहीं दिया है। संधि के लिए किसी भी पारिभाषिक शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है, जबकि ऋग्वेद प्रातिशाख्य में पारिभाषिक शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है, जबकि ऋग्वेद प्रातिशाख्य में पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है।

रचना काल :-

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के काल के विषय में कुछ भी ज्ञान नहीं है। इतना निश्चित है कि तैत्तिरीय प्रातिशाख्य पाणिनि से पूर्ववर्ती है क्योंकि जहां अनेक आचार्यों का नामोल्लेख किया गया है वहां पाणिनि का नामोल्लेख नहीं है। इसके अतिरिक्त कुछ सूत्र इस प्रकार के हैं जिन्हें देखकर लगता है कि कुछ सूत्रों के निर्माण में पाणिनि ने तैत्तिरीय प्रातिशाख्य का अनुकरण किया हो।

अनेक आचार्यों के नामों में शांखायन, आग्निवेश्य आदि नामों का उल्लेख है। शांखायन, श्रौतसूत्र के रचयिता हैं। इसलिए तैत्तिरीय प्रातिशाख्य का काल शांखायन श्रौतसूत्र तथा पाणिनि के मध्य कहीं होना चाहिए।

टीकाएं :-

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य पर तीन टीकाएं उपलब्ध हैं—माहिषेयकृत पदक्रम सदन, २. सोमाचार्यकृत त्रिभाष्यरत्न तथा ३. गोपालयज्वाकृत वैदिकाभरण। माहिषेयकृत पदक्रम सदन प्राचीन टीका है जिसका उपयोग सोमाचार्य ने किया है। इसके अतिरिक्त उसने वररुचि और आत्रेय की टीकाओं का भी उपयोग किया है, जो अब उपलब्ध नहीं है। गोपालयज्वा की वैदिकाभरण टीका बाद की है।

वाजसनेयि प्रातिशाख्य :-

वाजसनेयि प्रातिशाख्य शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयि-शाखा से सम्बन्धित है। इस के आठवें अध्याय के ६८वें सूत्र में इस प्रातिशाख्य का रचयिता कात्यायन को बताया गया है—

इत्याह स्वरसंस्कारप्रतिष्ठापयिता भगवान् कात्यायनः।

वाजसनेयि प्रातिशाख्य आठ अध्यायों में विभाजित है। यह प्रातिशाख्य आकार में ऋग्वेद प्रातिशाख्य से छोटा तथा अन्य प्रातिशाख्यों से बड़ा है।

वर्ण्य विषय :-

इस प्रातिशाख्य को शुक्ल यजर्वेद के पदपाठ, संहितापाठ तथा क्रमपाठ के उद्देश्य से उच्चारण दोषों को दूर करने के लिए लिखा गया है। इसका वर्ण्य विषय इस प्रकार है—

प्रथम अध्याय में प्रथम चार सूत्रों में वैदिक के स्वर के निश्चित प्रयोग के विषय में बताया गया है। ५-१५ सूत्रों में ध्वनि के अवयव तथा उत्त्पत्ति के विषय में बताया गया है। १६-२६ तक वेदाध्ययन, २७-३३ तक स्वर का उतार-चढ़ाव, उसके बाद पारिभाषिक संज्ञाएं यथा उपधा, इति, कार, रेफ, नति, अनुस्वार, यम, विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, सवर्ण, सिम, सन्ध्यक्षर, भावी, व्यंजन, संयोग, जित्,

मुत्, धि, सोष्म, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, अणु, परमाणु, तत्पश्चात् उच्चारण स्थान, प्रग ह्य, उदात्तादि स्वर, अभिनिहित, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट, परिभाषाएं आदि वर्णित हैं। द्वितीय अध्याय में स्वरों के नियम वर्णित हैं। त तीय तथा चतुर्थ अध्याय में सन्धि के नियम तथा स्वर नियम, पंचम अध्याय में अवग्रह के नियम, षष्ठ में वाक्य स्वर, सप्तम में पद पाठ में इति का प्रयोग तथा आठवें अध्याय में वर्ण समाम्नाय वर्णित है। स्वर भेदों सहित कुल ६५ वर्ण उपदिष्ट हैं। नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात—ये चार प्रकार के पद बताये गये हैं।

विशेषताएं :-

१ वाजसनेयि प्रातिशाख्य की विषय-वस्तु बिखरी हुई है। ठीक प्रकार से व्यवस्थित नहीं है।

२. इस प्रातिशाख्य में लौकिक और वैदिक भाषा में भेद किया गया है। वेदों में स्वरों के प्रयोग निश्चित हैं जबकि लोक में स्वरों का प्रयोग अर्थ के अनुसार होता है—

स्वरसंस्कारयोरयोश्छन्दसि नियमः। (१.१)

लौकिकानामर्थपूर्वकत्वात् (१.२)

इससे स्पष्ट होता है कि वाजसनेयि प्रातिशाख्य के काल में भी लोकभाषा में स्वरों का प्रयोग होता था परन्तु वह वेदों के स्वर के समान निश्चित नहीं था, अपितु अर्थानुसारी होता था।

३. इस प्रभतिशाख्य में अनेक प्राचीन आचर्यों के नाम उल्लिखित हैं, यथा शाकटायन; शाकल्य, औपशिवि, काश्यप, जातुकर्ण्य, शौनक, गार्ग्य, भारद्वाज, भार्गव तथा वसिष्ठ। इस के कई सूत्र पाणिनि के सूत्रों में ज्यों के त्यों मिलते हैं जबकि कुछ सूत्रों में केवल एक-दो शब्द या अक्षरों का ही अन्तर है।

(क) इस के निम्नलिखित सूत्र पाणिनि के सूत्रों से ज्यों के त्यों मिलते हैं— उच्चैरुदात्तः, नीचैरनुदात्तः तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य, षष्ठी स्थाने योगा।

(ख) निम्नलिखित सूत्रों में थोड़ा-सा ही अन्तर है—

वाजसनेयि प्रातिशाख्य	**पाणिनि**
अन्त्याद्वर्णात् पूर्व उपधा	अलो न्त्यात्पूर्व उपधा
समानस्थानकरणास्यप्रयत्नः सवर्णः	तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्
अनन्तरं संयोगः	हलो नन्तरा संयोगः
मुख नासिकाकरणो नुनासिकः	मुखनासिकावचनो नुनासिकः
तस्मादित्युत्तरस्यादेः	तस्मादित्युत्तरस्य
वर्णस्यादर्शनं लोपः	अदर्शनं लोपः
संख्यातानामनुदेशा यथासंख्यम्	यथासंख्यमनुदेशे समानाम्
विप्रतिषेध उत्तरं बलवदलोपे	विप्रतिषेधे परं कार्यम्

इससे स्पष्ट है कि वाजसनेयि-संहिता पाणिनि के अधिक समीप पहुंच रही थी।

४. वाजसनेयि-प्रातिशाख्य में माध्यन्दिन शाखा का उल्लेख हुआ है। वहां ल, लह्, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय तथा नासिक्य ध्वनियों का प्रयोग नहीं होता है—

तस्मिन् ल, लह् जिह्वामूलीयोपध्मानीय

नासिक्या न सन्ति माध्यन्दिनानाम्। (८.४५)

इससे इस प्रातिशाख्य का माध्यन्दिन शाखा से सम्बन्धित होने का भ्रम होता है परन्तु बेवर ने बड़े युक्तियुक्त ढंग से प्रमाणित किया है कि इस शाखा का सम्बन्ध वाजसनेयि शाखा से है।

रचना काल :-

वाजसनेयि प्रतिशाख्य कात्यायन की रचना है। कात्यायन का काल विवादास्पद है। यह कात्यायन निश्चित रूप से पाणिनि से पूर्ववर्ती है।

टीकाएं :-

इस प्रतिशाख्य पर दो टीकाएं उपलब्ध हैं—उव्वट भाष्य तथा अनन्तभट्ट भाष्य। उव्वट भाष्य अधिक प्रचलित है तथा अनेक स्थानों से प्रकाशित हुआ है। अनन्तभट्ट का भाष्य मद्रास विश्वविद्यालय की ग्रन्थमाला से प्रकाशित हुआ है।

ऋक्तन्त्र :-

ऋक्तन्त्र सामवेद की कौथुम शाखा से सम्बन्धित है। यह प्रातिशाख्य ऋक्तन्त्रव्याकरण नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रातिशाख्य का सम्बन्ध सामवेद से है, इसके पक्ष में डॉ० सूर्यकान्त ने निम्नलिखित प्रमाण दिए हैं।

१ इस प्रातिशाख्य में अनेक बार सामवेद से सम्बन्धित शब्दों का प्रयोग हुआ है, जैसे साम, स्तोभ, राजन्, गति आदि।

२. इस प्रातिशाख्य में जो पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त हुए हैं, वे सामवेद से सम्बन्धित साहित्य में उपलब्ध हैं।

३. इसमें सामवेद के आचार्य नैगि तथा औदव्रजि का उल्लेख हुआ है।

४. जो मन्त्र इस प्रातिशाख्य में दिए हैं वे ऋग्वेद में नहीं अपितु सामवेद में मिलते हैं।

ऋक्तन्त्र—एक प्रातिशाख्य :-

यद्यपि इसका नाम ऋक्तन्त्र है परन्तु सभी विद्वानों का मत है कि विषय की द ष्टि से यह प्रातिशाख्य है। केवल इसमें क्रमपाठ के नियम नहीं दिए गए हैं, क्योंकि सामवेद में क्रमपाठ नहीं होता है।

सामवेद की शाखाएं और ऋक्तन्त्र :-

सामवेद की कुल ५ शाखाएं हैं—१. कौथुम, २. जैमिनीय, ३. राणायनीय, ४. गौतमी तथा ५. नैगेय। इनमें से कौन-सी शाखा से ऋक्तन्त्र का सम्बन्ध है, इस विषय पर डॉ० सूर्यकान्त ने गहराई से विचार किया है और इसी निष्कर्ष पर पहुंचे है कि इस प्रातिशाख्य का सम्बन्ध कौथुमी शाखा से ही है। इसके समर्थन में उनका मुख्य तर्क यह है कि ऋक्तन्त्र में जो नियम दिए गए हैं वे दूसरी शाखाओं पर लागू नहीं होते। इसके अतिरिक्त जो नियम दूसरी शाखाओं पर लागू होते हैं वे ऋक्तन्त्र में वर्णित नहीं हैं। यथा ऋक्तन्त्र में 'व धे ३स्मान्' में स्वरित का विधान किया गया है, परन्तु जैमिनीय शाखा में स्वरित का प्रयोग नहीं होता है। इसी प्रकार जैमिनीय शाखा में ळ के स्थान पर सर्वत्र ल हो जाता है। परन्तु ऋक्तन्त्र में इस प्रकार का कोई नियम नहीं दिया गया है। इसलिए ऋक्तन्त्र का सम्बन्ध जैमिनीय शाखा से नहीं हो सकता। इसी प्रकार अन्य शाखाओं से भी इसका सम्बन्ध सिद्ध नहीं है।

ऋक्तन्त्र के रचयिता :-

ऋक्तन्त्र का रचियता परम्परा से शाकटायन माना जाता है। ऋक्तन्त्र की समाप्ति पर शाकटायन को ही इसका कर्त्ता बताया गया है—'इति शाकटायनोक्तम क्तन्त्रव्याकरणं सम्पूर्णम्'। सामसर्वानुक्रमणी में भी ऋक्तन्त्र का रचियता शाकटाायन को ही बताया गया है—

ऋचान्तन्त्रव्याकरणे पंच संख्या प्रपाठकम्।

शाकटायनदेवेन द्वात्रिंशत् खण्डकास्म ताः।।

परन्तु भट्टोजिदीक्षित ने यम के सम्बन्ध में ऋक्तन्त्र का रचयिता औदव्रजि बताया है—

तथा च ऋक्तन्त्र व्याकरणाख्यस्य छान्दोग्यलक्षणस्य प्रणेता औदव्रजिरप्यसूत्रयत।'

पाणिनीय शिक्षा में भी औदव्रजि का मत यम के सम्बन्ध में दिया है। इस समस्या का समाधान करने का प्रयास डॉ० सूर्यकान्त ने किया है। उनका विचार है कि ऋक्तन्त्र की रचना तीन संस्करणों में हुई। सर्वप्रथम औदव्रजि ने ऋक्तन्त्र की रचना की। दूसरा संस्करण शाकटायन ने किया। ये दोनों संस्करण पाणिनि से पूर्व तैयार हो चुके थे। तीसरा संस्करण पाणिनि और कात्यायन के बाद हुआ।

वर्ण्य विषय :-

ऋक्तन्त्र में कुल २८७ सूत्र हैं जो पांच प्रपाठकों में विभक्त हैं। द्वितीय, त तीय, चतुर्थ तथा पंचम प्रपाठक, दशकों में विभाजित हैं। द्वितीय प्रपाठक में छः दशक, त तीय में आठ दशक, चतुर्थ में सात दशक तथा पंचम में सात दशक। प्रत्येक दशक में प्रायः दस सूत्र हैं।

प्रथम प्रपाठक में अक्षर समाम्नाय का वर्णन है। इसके साथ-साथ वर्णो की उच्चारण प्रक्रिया भी वर्णित है। द्वितीय प्रपाठक में वर्णो की स्पर्श, घोष, अनुनासिक, अन्तस्थ आदि संज्ञाएं वर्णित हैं। इस प्रपाठक के त तीय दशक में स्वरों के अभिनिधान आदि नियम वर्णित हैं। चतुर्थ तथा पंचम दशक में मात्रा ज्ञान कराया गया है। षष्ठ दशक में उदात्तदि स्वर-नियम बताए गए हैं। त तीय प्रपाठक में उच्चश्रुति तथा सन्धि के नियम वर्णित हैं। चतुर्थ प्रपाठक में भी सन्धि के विकार जैसे विसर्जनीय का सकार, यकार, वकार, दकार आदि वर्णों का लोप वर्णित है। पंचम प्रपाठक में दीर्घीभाव, द्वित्व, मूर्धन्य आदि के नियम वर्णित हैं।

विशेषताएं :-

ऋक्तन्त्र की मुख्य विशेषताएं इस प्रकार हैं—

१ ऋक्तन्त्र कलेवर में बहुत छोटा है। इसमें प्रातिशाख्य के सभी विषयों को यथोचित स्थान नहीं मिला है। पारिभाषिक शब्दों के लक्षण बहुत कम बताए गए हैं। वर्णों के उच्चारण से सम्बन्धित नियम अधिक नहीं है। स्वरभक्ति यम जैसे महत्त्वपूर्ण विषय भी वर्णित नहीं है।

२. इसमे कुछ कृत्रिम पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है, यथा—पादादि के लिए णि, संयोग के लिए सण्।

३. कुछ पारिभाषिक शब्दों के लिए उस शब्द का केवल कुछ ही अंश रखा गया है, यथा—उदात्त के लिए उत्, दीर्घ के लिए घ, लघु के लिए घु, गति के लिए ति, हस्व के लिए स्व। रेफ का उच्चारण दन्त से या दन्तमूल से बताया है।

रचना काल :-

ऋक्तन्त्र का उल्लेख गोभिलग ह्यकर्म प्रकाशिका, पुष्पसूत्र के टीकाकार कैयट, चरणव्यूह आदि ने किया है। इसके रचयिता शाकटायन पाणिनि से निश्चित रूप से पूर्ववर्ती हुए हैं क्योंकि पाणिनि ने स्वयं शाकटाायन के मत अष्टाध्यायी में दिए हैं। डॉ० सूर्यकान्त ऋक्तन्त्र को अन्य प्रातिशाख्यों से भी पूर्व का मानते हैं। शाकटायन के मत अन्य प्रातिशाख्यों में उद्ध त हैं।

शौनकीय चतुरध्यायिका :-

शौनकीय चतुरध्यायिका अथर्ववेद से सम्बन्धित प्रातिशाख्य है। यह अथर्ववेद की किस शाखा से सम्बन्धित है, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। गोंडा का मत है कि यह किसी लुप्त शाखा

का प्रातिशाख्य है।

रचयिता :-

इसके लेखक के विषय में विवाद है। परम्परा से इसका नाम शौनकीय चला आ रहा है। परन्तु जिस प्रकार से ग्रन्थ में शौनक का मत दिया गया है, उससे प्रतीत होता है कि यह स्वयं शौनक की रचना नहीं है। अंतिम व्यंजनों के विषय में शौनक का मत दिया है कि पद के अन्त में प्रथम वर्ण हो, वे त तीय में बदल जाते हैं। परन्तु साथ में यह भी कहा है कि ऐसा व्यवहार में नहीं होता—

प्रथमान्तानि त तीयान्तानीति शौनकस्य प्रतिज्ञानं न व त्तिः।

स्वयं लेकख अपने मत को इस प्रकार खण्डनात्मक ढंग से नहीं दे सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि शौनक सम्प्रदाय के किसी शिष्य ने इस ग्रन्थ की रचना की है। मैक्समूलर का भी यही मत है कि चतुरध्यायिका का रचयिता शौनकीय चरण का सदस्य था—

and it is most likly that the author of the Caturadhyayika was a member of Saunakiya Carana. Founded by the author of the S'akal Pratis'akhya.

मैक्समूलर का मत है कि इस प्रातिशाख्य का ऋग्वेद की शाकल शाखा से अवश्य कोई सम्बन्ध रहा है क्योंकि पाणिनि ने शाकल्य के नाम से जो मत दिए हैं, वे चतुरध्यायिका में मिलते हैं। जे० गोंडा ने सूचित किया है कि एक हस्तलेख में, जो अधिक परिष्कृत है, ग्रन्थ के अन्त में लेखक का नाम कौत्स दिया हुआ है— 'अथर्ववेदे कौत्सव्याकरणे चतुरध्यायिका।' सम्भव है कौत्स शौनकीय सम्प्रदाय का व्यक्ति हो तथा इस ग्रन्थ का वास्तविक रचयिता हो।

वर्ण्य विषय :-

चतुरध्यायिका में कुल चार अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में सूत्रों की संख्या १०५, द्वितीय में १०७, त तीय में ९६ तथा चतुर्थ में १२६ सूत्र हैं। इस प्रकार इस ग्रन्थ में कुल ४३४ सूत्र हैं। प्रथम अध्याय में वर्णों का वर्गीकरण, विसर्जनीय, अभिनिधान, अक्षर मात्रा, विकार, आगम, उपधा का विवेचन है। द्वितीय अध्याय में सन्धि, त तीय अध्याय में संहिता पाठ में होने वाले परिवर्तन, यथा—दीर्घत्व, द्वित्व, स्वरों का अन्तस्थ, स्वरित स्वर तथा णत्व का विधान है। चतुर्थ अध्याय में अवग्रह, प्रग ह्य तथा क्रम पाठ के नियम हैं।

विशेषताएं :-

१ इसमें परिभाषाओं के लिए बहुत कम स्थान दिया गया है, जबकि दूसरे प्रातिशाख्यों में परिभाषाओं का विवरण अधिक विस्तार से दिया है।

२. इसमें लगभग वे ही विषय लिये गए हैं जो दूसरे प्रातिशाख्यों में वर्णित हैं।

३. पदों को अन्य प्रातिशाख्यों की भांति चार भागों में ही विभाजित किया गया है—

चतुर्धा पदजातानां नामाख्यातोपसर्गनिपातानां सन्ध्यपद्यौ गुणौ प्रातिज्ञम्।

४. उदात्त को उच्च, अनुदात्त को नीच तथा स्वरित को आक्षिप्त बताया है जबकि अन्य प्रातिशाख्यों तथा पाणिनि ने स्वरित को समाहार बताया है।

५. रेफ का स्थान दन्तमूल बताया है।

६. कुछ सूत्र पाणिनि के निकट हैं, यथा—

चतुरध्यायिका	**पाणिनि**
कृपे रेफस्य लकारः	कृपो रो लः
वर्णादन्त्यात्पूर्व उपधा	अलो न्त्यात् पूर्व उपधा

रचनाकाल :-

इसके रचनाकाल के विषय में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। सूत्रों की रचना से प्रतीत होता है कि यह प्रातिशाख्य पाणिनि से पूर्ववर्ती तथा ऋक्प्रातिशाख्य से उत्तरवर्ती है।

अथर्ववेद प्रातिशाख्य :-

यह प्रातिशाख्य अथर्ववेद का दूसरा प्रातिशाख्य है। अथर्ववेद प्रातिशाख्य के अनेक हस्तलेख मिले हैं परन्तु हस्तलेखों में अनेक असमानताएं हैं, जिससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि इस प्रातिशाख्य में समय-समय पर परिवर्धन और परिवर्तन होते रहे हैं। अथर्ववेद प्रातिशाख्य के दो संस्करण मिलते हैं एक लघु संस्करण तथा दूसरा ब हद् संस्करण। ब हद संस्करण को ही पूर्ण प्रातिशाख्य माना जाता है। छोटे आकार वाले प्रातिशाख्य को केवल एक हस्तलेख में लघु कहा गया है—इति लघु प्रातिशाख्यः समाप्तः। अन्य किसी हस्तलेख में इस प्रातिशाख्य को लघु नहीं कहा गया है, अपितु पूर्ण अथर्ववेदीय प्रातिशाख्य होने का आभास दिया गया है— 'इति श्री अथर्ववेदीयप्रातिशाख्ये प्रथमपादः समाप्तः।'

लघु संस्करण तथा ब हत् संस्करण में परस्पर क्या भेद तथा सम्बन्ध है, यह बात विचारणीय है। लघु संस्करण में केवल मूलसूत्र दिए गए हैं। कहीं-कहीं ब हत् संस्करण में उपलब्ध सूत्रों की तुलना में लघु संस्करण के सूत्र भी छोटे हैं, यथा—

लघु संस्करण	**ब हत् संस्करण**
प्रत्य चां द्वे उपोत्तमे	प्लुतानामादितस्त्रीणि प्रत्य चां द्वे उपोत्तमे
उपसर्गपूर्वमाख्यातम्	उपसर्गपूर्वमाख्यातमनुदात्तं विग ह्यते।

ब हत् संस्करण में मूल सूत्र का बढ़ा हुआ रूप मिलता है तथा उसके बाद में सूत्र के व्याख्यापरक वाक्य मिलते हैं, यथा—

१.१.१३. वचने पूर्वम्	वचने वचने पूर्व पूर्वेण तु विग ह्यते। उत्तरेण समस्यत उभाभ्यां तु परं पदम्। उपसर्गपूर्वमाख्यातं यत्रोभाभ्यां समस्यते। सामथर्यमुभयोस्तत्रामासथर्येषु विग्रहः। अनर्थककर्मप्रवचनीया- न्युक्तैर्विग्रहो भि वितनु आदिषु
१.१.१५ द्विनतिकानि वा	द्विनतिकानि वाचवायोगे द्वयोर्द्वयोः पूर्वलुप्तकारणानि लुप्तपराणि साकांक्षाणीत्याहुः।।

ब हत् संस्करण में अथर्ववेद से उदाहरण भी दिए गए हैं।

दोनों संस्करणों की तुलना से प्रतीत होता है कि ब हत् संस्करण लघु संस्करण का परिवर्धित रूप है। लघु संस्करण ही मूल प्रातिशाख्य है। इसके कुछ मुख्य कारण अवलोकनीय हैं, यथा—

१. ब हत् संस्करण में मूल सूत्रों को व्याख्यापरक बना कर उसके स्वरूप में परिवर्तन किया गया है, यथा—लघु संस्करण में मूल सूत्र का स्वरूप है— 'आमन्त्रितादाद्युदात्तात्' ब हत् संस्करण में इसका परिवर्धित रूप है— 'आमन्त्रितादाद्युदात्तादाख्यातं न निहन्यते।' परिवर्धित सूत्र में 'आख्यातं न निहन्यते।' केवल सूत्र को समझाने की द ष्टि से ही जोड़ा गया है, अन्यथा सूत्र में इन पदों की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि 'आख्यात' पद की अनुव त्ति 'उपसर्गपूर्वमाख्यातम्' से तथा 'न निहन्यते' की अनुव त्ति पूर्वसूत्र 'वायोगादनिधातः' से प्राप्त है। सूत्र शैली में विस्तार और व्याख्या की अपेक्षा नहीं होती है।

२. कहीं-कहीं सूत्र के स्वरूप में परिवर्तन सम्भवतः अन्य ग्रन्थों के प्रभाव से किया गया है। यथा—मूल सूत्र है—'पदविधिरित' (१.१.३) इसका ब हत् संस्करण में स्वरूप है—'समर्थः पदविधिरिति।' पाणिनीय अष्टाध्यायी में सूत्र का स्वरूप ठीक वही है जो ब हत् संस्करण में है, यथा समर्थः पदविधिः (पा० २.१.१) सम्भव है कि सूत्र के स्वरूप में परिवर्तन पाणिनि के प्रभाव से किया गया हो।

३. ब हत् संस्करण में व्याख्यापरक वाक्यों में इस प्रातिशाख्य के अन्य सूत्र उद्ध त किए गए हैं जो सूत्रात्मक शैली में अवांछित हैं।

उपर्युक्त विवरण से प्रतीत होता है कि लघु संस्करण पूर्ववर्ती तथा ब हत् संस्करण उत्तरवर्ती है। परन्तु डॉ० सूर्यकान्त का मत भिन्न है। उनकी द ष्टि में ब हत् संस्करण पूर्ववर्ती है जिसे देखकर लघु संस्करण तैयार किया गया। उनकी द ष्टि में ये दोनों ही संस्करण किसी पूर्ववर्ती अथर्वप्रातिशाख्य का अनुकरण करते हैं

वर्ण्य विषय :-

अथर्व प्रातिशाख्य आकार में बहुत छोटा है। इसमें कुल तीन प्रपाठक हैं। प्रत्येक प्रपाठक पादों में विभक्त है। प्रथम प्रपाठक में तीन पाद, द्वितीय में चार तथा त तीय में भी चार पाद हैं। इस प्रातिशाख्य में (श्री डॉ० सूर्यकान्त द्वारा सम्पादित) कुल २२३ सूत्र हैं।

इस प्रातिशाख्य का विषय उचित रूप से व्यवस्थित नहीं है। परस्पर असम्बद्ध विषय बीच-बीच में जोड़े हुए से प्रतीत होते हैं।

प्रथम प्रपाठक में कुल ५७ सूत्र हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भ में लिखा हुआ है 'ॐ नमो ब्रह्मवेदाय' प्रथम सूत्र से पूर्व ब्रह्मा की स्तुति इन शब्दों में की गई है—

'ॐ नमस्कृत्य ब्रह्मणे शंकराय। ऋषिभ्यः पूर्वेभ्यः। शमु वाचास्तु मे गीः। प्रज्ञां ब्रह्ममेधां तपश्चदिश्याब्रद्ह्मायशसं मा कृणोतु।'

प्रथम सूत्र में इस प्रातिशाख्य को पार्षद कहा गया है। इस अध्ययन की विधि को न्याय कहा गया है—'अथातो न्यायाध्ययनस्य पार्षदं व्याख्यास्यामः।' न्याय शब्द का अर्थ डॉ० सूर्यकान्त ने उव्वट के वाजसनेयि-प्रातिशाख्य के भाष्य (४.८) के आधार पर व्याकरण लिया है। प्रथम सूत्र के तुरन्त बाद संधि के नियम दिए गए हैं। तत्पश्चात् स्वर और संधि के सम्बन्ध को बताया गया है। उपसर्ग और क्रिया पदों के विग्रह तथा क्रियापदों के स्वरांकन के नियम दिए गए हैं।

द्वितीय प्रपाठक में कन्यला पद के स्वर नियम, लोप, प्रग हय, विसर्जनयात पद, विभिन्न पदों के स्वरांकम तथा विभिन्न पदों को सन्धि तथा उनमें होने वाले विकार वर्णित हैं। त तीय प्रपाठक में रेफ प्रकृति, आमान्त्रित आदि का प्रकृतिभाव षत्व, णत्व, दीर्घत्व आदि के अपवाद दीर्घविधि लोप हस्वीकरण प्रसारण, द्वित्व, आगम, संयोग, अवग्रह आदि नियम दिये गये हैं।

१ अथर्वप्रातिशाख्य में विषय बहुत सीमित है। अधिकांश नियम सन्धि तथा स्वरांकन से सम्बन्धित हैं।

२. इस प्रातिशाख्य में बहुत स्पष्ट रूप से पदों की प्रकृति संहिता को माना है—'पदानां संहिता विद्यात्' जिसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—'सन्धि शास्त्राणि पदसंधानार्थं' विद्यात् अर्थात् सन्धिशास्त्रों का निर्माण केवल पद विच्छेद करने के लिए ही होता है।

३. इस प्रातिशाख्य में ध्वनि का महत्त्वपूर्ण अध्याय पूर्णरूप से छोड़ दिया है। उच्चारण प्रक्रिया पर कोई विचार नहीं किया गया है।

४. विषय अव्यवस्थित है। प्रकरण क्रम से विषयों का निरूपण नहीं हुआ है।

५. कुछ संज्ञाएं ऐसी हैं जो पाणिनि की अष्टाध्यायी में प्रयुक्त हुई हैं, यथा—गति, उपसर्ग, धातु, आमन्त्रित, सार्वधातुक, अव्यय, विसर्जनीय, निपात आदि। पाणिनि के आत्मनेपद तथा परस्मैपद के स्थान पर आत्मनेभाषा तथा परस्मैभाषा पदों का प्रयोग हुआ है।

६. 'छन्दस्' कहकर भाषा के दो विभाग किए गए हैं। कुछ नियम ऐसे हैं जो केवल—'छन्दस्' में लागू होते हैं, सर्वत्र नहीं, यथा—

'वर्णलिङ्ग्स्वरवियोक्तिवाक्यव्यत्ययश्छन्दसि।'

७. अथर्वप्रातिशाख्य में एक सूत्र द्वित्व के सम्बन्ध में किसी पूर्वशास्त्र की ओर संकेत करता है—यथाशास्त्रं क्रमः संयोगे (३.२.८)। ऐसा प्रतीत होता है कि कोई व्याकरण जैसा ग्रन्थ विद्यमान था। इसलिए सम्भवत अथर्वप्रातिशाख्य में अधिक नियमों का वर्णन नहीं है।

रचना काल :-

अथर्वप्रातिशाख्य अन्य सब प्रातिशाख्यों से बाद का प्रतीत होता है। डॉ० सूर्यकान्त द्वारा सम्पादित अथर्वप्रातिशाख्य (ब हत् संस्करण) निश्चित रूप से पाणिनि के बाद का प्रतीत होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि इसके व्याख्यापरक वाक्य पाणिनि के सूत्रों को ध्यान में रखकर लिखे गए लगते हैं। परन्तु मूलसूत्रों के विषय में कोई निर्णय देना कठिन है। सूत्रों की रचना से प्रतीत होता है कि मूलसूत्र पाणिनि से पूर्व के हैं क्योंकि ब हत् संस्करण में कुछ सूत्रों को पाणिनि के समान बनाया गया है। उदाहरणतया मूलसूत्र हैं 'पदविधिरिति' (१.१.३) परन्तु ब हत् संस्करण में इसका संशोधित रूप है—'समर्थः पदविधिरिति' जो पाणिनि के सूत्र 'समर्थ पदविधिः' के समान है।

शिक्षा :-

शिक्षा वेदांग का दूसरा अंग 'शिक्षा' नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थों के रूप में विद्यमान है। इन ग्रन्थों का वर्ण्य विषय लगभग वही है जो प्रातिशाख्यों का है। ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकांश शिक्षा ग्रन्थ प्रातिशाख्यों का अनुकरण करते हैं। शिक्षा ग्रन्थों में मुख्य सिद्धान्त लगभग एक जैसे ही हैं, परन्तु क्षेत्रीय प्रभाव से होने वाले ध्वनि परिवर्तनों को प थक् प थक् रूप से बताया गया है।

इन सभी शिक्षा ग्रन्थों के उपजीव्य ग्रन्थ प्रातिशाख्यों के अतिरिक्त कोई प्राचीन शिक्षा ग्रन्थ भी रहा होगा जो आज उपलब्ध नहीं है। कुछ शिक्षाओं का आकार बहुत छोटा तो कुछ का बड़ा है। कुछ में केवल ध्वनि के नियम ही वर्णित हैं तो कुछ में स्वर प्रक्रिया तथा छन्द आदि का भी विधान है।

इन शिक्षाओं के काल के विषय में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। अधिकांश शिक्षाओं का विषय तो प्रचीन है परन्तु उनमें समय के अनुसार संशोधन और परिवर्धन होते रहे हैं। प्राकृत और अपभ्रंश के प्रभाव से भाषा में जो परिवर्तन हुए हैं। वे भी समाविष्ट होते रहे हैं।

इन शिक्षाओं को दो वर्गों में बांटा जा सकता है— १. सामान्य शिक्षा तथा २. वेद विशेष से सम्बन्धित शिक्षा। सामान्य शिक्षा के नियम सभी पर समान रूप से लागू होते हैं। इस कोटि में पाणिनीय

शिक्षा महत्त्वपूर्ण है। शिक्षा ग्रन्थों का वर्णन इस प्रकार है–

पाणिनीय शिक्षा :-

वेदांग साहित्य में पाणिनीय शिक्षा का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है तथा पाणिनि सम्प्रदाय के लोग पाणिनीय शिक्षा को बहुत सम्मान देते हैं। पाणिनीय शिक्षा के प्राचीन होने और उसे वेदांग माने जाने में विद्वानों में मतभेद है। पाणिनीय परम्परा के सायणादि प्राचीन विद्वान् इसे वास्तविक वेदांग मानते हैं, परन्तु आधुनिक विद्वान् इसकी प्राचीनता के विषय में सन्देह करते हैं।

पाणिनीय शिक्षा के संस्करण :-

पाणिनीय शिक्षा के कई संस्करण उपलब्ध हुए हैं। श्री मनमोहन घोष ने पांच संस्करणों को एकत्रित किया है। इन संस्करणों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

१. अग्निपुराण संस्करण :-

अग्निपुराण में पाणिनीय शिक्षा का जो अंश मिलता है उसे अग्निपुराण संस्करण कहते हैं। इस संस्करण में २१ श्लोक हैं।

२. पंजिका संस्करण :-

पाणिनीय शिक्षा पर 'वेदांग शिक्षा पंजिका' नाम की टीका मिलती है। परन्तु इस टीका के साथ मूल शिक्षा नहीं है। श्री मनमोहन घोष ने टीका के आधार पर पाणिनीय शिक्षा का मूल पाठ तैयार किया है जिसे उन्होंने पंजिका संस्करण नाम दिया है। इस संस्करण में कुल २३ श्लोक हैं।

३. प्रकाश संस्करण :-

पाणिनीय शिक्षा पर शिक्षा प्रकाश नाम की एक दूसरी टीका मिलती है। इस टीका के साथ भी मूलपाठ नहीं दिया गया है। श्री मनमोहन घोष ने इस टीका के आधार पर मूल पाठ का संस्करण तैयार किया है, जिसे प्रकाश संस्करण कहा है। इस संस्करण में ३२ श्लोक हैं।

४. यजुः संस्करण :-

दो हस्तलेखो के आधार पर डॉ० वेबर ने इस संस्करण का सम्पादन किया था। यह यजुः संस्करण के नाम से प्रसिद्ध है। इस संस्करण में ३५ श्लोक हैं।

५. ऋक् संस्करण :-

तीन हस्तलेखों के आधार पर डॉ० वेबर ने ही इस संस्करण का सम्पादन किया है। इस संस्करण में साठ श्लोक हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि पाणिनीय शिक्षा का एक छोटा-सा ग्रन्थ रहा है, परन्तु समय-समय पर इसमें परिवर्धन होते रहे हैं। किसी भी संस्करण को प्रामाणिक कहना पक्षपातपूर्ण होगा। सभी संस्करणों में कुछ न कुछ प्रक्षिप्त अंश अवश्य हैं। डॉ० मनमोहन घोष का मत है कि सभी संस्करणों में कुछ न कुछ प्रक्षिप्त अंश अवश्य हैं। डॉ० मनमोहन घोष का मत है कि सभी संस्करणों का तुलनात्मक अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि मूल पाणिनीय शिक्षा में कुल अठारह श्लोक रहे हैं। यद्यपि केवल चौदह श्लोक ऐसे हैं जो सभी संस्करणों में समान रूप से विद्यमान हैं, परन्तु अन्य चार श्लोक भी मूल शिक्षा में विद्यमान रहे होंगे क्योंकि उनका सम्बन्ध मूल चौदह श्लोकों से है। डॉ० मनमोहन घोष ने इन अठारह श्लोकों का एक प थक् संस्करण तैयार किया है।

रचयिता :-

यद्यपि यह शिक्षा 'पाणिनि' के नाम से प्रसिद्ध है, परन्तु इसका मूल रचयिता पाणिनि ही थे, इस विषय में सन्देह है। यद्यपि पाणिनीय शिक्षा से अनेक आचार्यों के उद्धरण लिये हैं तो भी प्राचीन ग्रन्थों में पाणिनि शिक्षा का कोई उल्लेख नहीं है। पत जलि को पाणिनि की शिक्षा का ज्ञान होता तो वह बहुत ही स्पष्ट शब्दों में इसका उल्लेख करते और इसे उतना ही सम्मान देते जितना उन्होंने अष्टाध्यायी को दिया है।

पाणिनि शिक्षा का सर्वप्रथम ज्ञान अग्निपुराण से मिलता है। अग्निपुराण में सम्पूर्ण शिक्षा उल्लिखित है, परन्तु वहां इसके रचयिता के विषय में कुछ नहीं का गया है। इससे यह अनुमान लगाया जाता है अग्निपुराण के रचयिता को इस शिक्षा के रचयिता का ज्ञान नहीं था, अन्यथा, उसका उल्लेख अवश्य होता। क्योंकि अग्निपुराण में जहां छन्द शास्त्र का उल्लेख हुआ है वहां उसके रचयिता पिंगल का भी उल्लेख हुआ है। अग्निपुराण का समय विल्सन के अनुसार भारत पर मुस्लिम आक्रमण से थोड़ा-सा पहले का है। डॉ० मनमोहन घोष अग्निपुराण का काल ८०० ई० मानते हैं। यदि यह समय अग्निपुराण का रचनाकाल मान लिया जाए तो हम एक बात पर तो एकमत हो ही सकते हैं कि ८०० ई० से पूर्व पाणिनीय शिक्षा लिखी जा चुकी थी, परन्तु इसका रचयिता अधिक प्रसिद्ध नहीं हुआ था। यदि इसके रचयिता स्वयं पाणिनि होते तो उनका नामोल्लख अवश्य होता।

डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा का भी मत यह है कि इस शिक्षा के रचयिता पाणिनि नहीं थे। उन्होंने अपने मत के समर्थन में एक बहुत महत्त्वपूर्ण तर्क दिया है। कैयट, जिन्होंने महाभाष्य पर प्रदीप नाम्नी टीका लिखी है, ने ११ प्रकार के बाह्य प्रयत्न बताए हैं—'विवार, संवार, श्वासो, नादो, घोषा घोषो ल्पप्राणो महाप्राण उदात्तो नुदात्तः स्वरितश्चेति' अर्थात विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित। ग्यारह प्रकार के बाह्य प्रयत्न आपिशलि शिक्षा में बताए गये हैं। पाणिनि शिक्षा में केवल ५ प्रकार के प्रयत्नों का उल्लेख है, यथा—१. अनुनासिक, २. नाद, ३. ईषन्नाद, ४. श्वास तथा ५. ईषच्छ्वास।

यमो नुनासिका नहौ नादिनः हकषः स्म ताः।

ईषन्नादा यण्जशश्च श्वासिनस्तु खफादयः।।

ईषच्छ्वासांश्चरो विद्यात् गोर्धामैतत् प्रचक्षते।

यदि पाणिनि की शिक्षा बहुत प्राचीन होती तो कैयट पाणिनि-शिक्षा से ही ग्रहण करते। परन्तु उनके आपिशलि से ग्रहण करने का अर्थ है कि पाणिनीय शिक्षा, पाणिनि के नाम से कैयट के काल तक प्रसिद्धि नहीं हुई थी। आपिशलि पाणिनि से प्राचीन वैयाकरण है, इसलिए सम्भवतः कैयट के मस्तिष्क मे आपिशलि शिक्षा ही थी न कि पाणिनीय।

परम्परा से भी पाणिनीय शिक्षा को एकमत से पाणिनि की रचना नहीं माना जाता है। पाणिनि-शिक्षा की शिक्षा प्रकाश नामक व त्ति में व त्तिकार ने यह स्पष्ट कहा है कि यह शिक्षा पिंगलाचार्य की है जो पाणिनि के अनुसार लिखी गई है—

व्याख्याय पिंगलाचार्यसूत्राण्यादौ यथायथम्।

शिक्षां तदीयां व्याख्यास्ये पाणिनीयानुसारिणीम्।

इस बात को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए टीकाकार ने बताया है कि 'बड़े भाई ने व्याकरण की रचना की। उसके छोटे भाई पिंगलाचार्य ने उसके मत को ग्रहण करके शिक्षा ग्रन्थ लिखने की प्रतिज्ञा की—'ज्येष्ठभ्रात भिर्विहिते व्याकरणे नुजस्तत्र भगवान् पिंगलाचार्यस्तन्मतमनुभाष्य शिक्षां वक्तुं

प्रतिजानीते।'

१ पाणिनीय शिक्षा में प्रयुक्त प्रत्याहार वहीं हैं जो उसके प्रमुख ग्रन्थ अष्टाध्यायी में हैं, यथा अच्, चर्, षष्, य [, जश्, शर्, हल् आदि।

२. क वर्ग, च वर्ग, ट वर्ग, त र्व, तथा प वर्ग के लिए क्रमशः कु, चु, टु तु तथा पु का प्रयोग किया गया है जो ठीक पाणिनि-शैली के अनुसार है।

३. पाणिनीय-शिक्षा में अनुनासिक को वर्ण समाम्नाय में गिनाया गया है, जिसकी परिभाषा अष्टाध्यायी में भी दी गई है—मुखनासिका वचनो नुनासिकः (पा. १.१.६)

४. ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत जैसे पारिभाषिक शब्दों की परिभाषा अष्टाध्यायी में दी गई है—ऊकालो ज्ह्रस्वदीर्घ प्लुतः (पा. १.२.२७)

५. पाणिनि ने र तथा ष् के पश्चात् आने वाले न् को ण् में परिवर्तित होने का नियम बताया है (पा. ८.४.१ रषाभ्यां नो णः समानपदे) इससे सिद्ध होता है कि र् को पाणिनि ने मूर्धन्य माना था। पाणिनीय शिक्षा में भी र् को मूर्धन्य माना गया है, जबकि प्रातिशाख्यों में र् को दन्त्य या दन्तमूलीय माना गया है।

पाणिनीय शिक्षा को पाणिनि की कृति सिद्ध करने के लिए उपर्युक्त तर्क बहुत दुर्बल हैं। उपर्युक्त तीन तर्कों से केवल एक बात सिद्ध होती है कि पाणिनीय शिक्षा पाणिनीय सिद्धान्तों का अनुसरण करके लिखी गई है। इनसे यह कदापि सिद्ध नहीं होता कि इस शिक्षा का रचयिता स्वयं पाणिनि है। चतुर्थ तर्क में ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत की परिभाषा अष्टाध्यायी में देने से पाणिनीय-शिक्षा का पाणिनिकृत सिद्ध होना असंगत है। ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत पाणिनिकृत संज्ञाएं नहीं हैं। लगभग सभी प्रातिशाख्यों में इन संज्ञाओं का प्रयोग हुआ है। पांचवें तर्क से यह निष्कर्ष निकालना कि पाणिनि र् को मूर्धन्य मानते थे, निराधार है। ऋकार रेफ और षकार के बाद न् का ण् में परिवर्तन होना प्रातिशाख्यों में भी वर्णित है, यथा—

ऋकाररेफषकारा नकारं समानपदे वग ह्ये नमन्ति। अन्तःपदस्थमकारपूर्वा अपि संध्या।

परन्तु प्रातिशाख्यों में रेफ और ऋकार को मूर्धन्य नहीं माना गया है। अतः पाणिनीय शिक्षा को स्वयं पाणिनिकृत सिद्ध करने के लिए ठोस प्रमाणों का अभाव है। पाणिनीय-शिक्षा को पाणिनि-कृत न मानना ही अधिक संगत लगता है। वर्तमान पाणिनीय-शिक्षा से पाणिनीय अष्टाध्यायी से कुछ भिन्नताएं भी हैं, यथा पाणिनि ने विसर्ग के लिए 'विसर्जनीय' संज्ञा का प्रयोग किया है, परन्तु पाणिनीय शिक्षा में विसर्ग का प्रयोग हुआ है—अनुस्वारो विसर्गश्च... पाणिनीय शिक्षा के एकार और ओकार की अर्ध मात्रा मानी है—'अर्धमात्रा तु कण्ठ्यस्य एकारोकारयोर्भवेत्। एक बात और अवलोकनीय है कि पाणिनीय शिक्षा में क वर्ग को जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तो दन्त्योष्ठयो वः स्म तो बुधैः।' परन्तु पाणिनि सम्प्रदाय के उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने क वर्ग को कण्ठ्य ध्वनि माना है—'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः।'

चान्द्र के वर्णसूत्रों में भी कवर्ग को कण्ठ्य ध्वनि माना गया है—कण्ठः अकुहविसर्जनीयानाम्।

अतः यह तो प्रायः निश्चित ही है कि वर्तमान पाणिनीय शिक्षा पाणिनि कृत नहीं है। सम्भव है पाणिनीय सम्प्रदाय के किसी व्यक्ति ने बाद में यह ग्रन्थ लिखा हो।

यदि वर्तमान पाणिनीय शिक्षा पाणिनि द्वारा रचित नहीं है तो प्रश्न उठता है कि क्या पाणिनि ने कोई शिक्षा ग्रन्थ लिखा था?

पाणिनि ने व्याकरण में हम कई विषयों का अभाव देखते हैं। उन्होंने उच्चारण-अवयव, उच्चारण-स्थान, उच्चारण-प्रक्रिया आदि विषयों को छुआ ही नहीं है। उनके व्याकरण में प्रातिशाख्यों के अनके विषय वर्णित हैं, यथा संहिता-नियम, वर्णविकार, उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित स्वरों की प्रक्रिया। वर्णोच्चारण मुख्यतः शिक्षाओं का विषय है जो पाणिनि के व्याकरण ग्रन्थ में नहीं है। पाणिनि जैसे वैयाकरण के लिए जिसने भाषा की सूक्ष्मताओं को समग्र रूप में सूत्रबद्ध किया, भाषा के इस महत्त्वपूर्ण विषय को छोड़ देना अविश्वसनीय-सा लगता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वर्णोच्चारण के

विषय को पाणिनि प थक्रूप से लिखना चाहते थे क्योंकि यह विषय व्याकरण का न होकर शिक्षा का है। अतः पाणिनि द्वारा किसी शिक्षा ग्रन्थ का निर्माण किया जाना अपेक्षित ही था। परन्तु यदि पाणिनि ने कोई शिक्षा ग्रन्थ लिखा होता तो कात्यायन या पतंजलि ने उसका उल्लेख अवश्य किया होता। पाणिनि ने जिन विषयों को छोड़ दिया था, पतंजलि ने उन पर विचार किया है। पतंजलि ने स्वर और व्यंजन के स्वरूप पर प्रकाश डाला है और उनकी परिभाषा भी दी है। इसी प्रकार अयोगवाह ध्वनियों को जिन्हें पाणिनि ने छोड़ दिया था, पतंजलि ने परिभाषित किया है। परन्तु इन विषयों के सन्दर्भ में पतंजलि ने पाणिनि का कोई उल्लेख नहीं किया है। अतः यह प्रतीत होता है कि पाणिनि ने कोई शिक्षा ग्रन्थ नहीं लिखा था। सम्भवतः उनकी अकाल म त्यु ने (जैसा कि परम्परा मानती है) उन्हें शिक्षा ग्रन्थ लिखने का अवसर नहीं दिया।

वर्ण्य विषय :-

मूल पाणिनीय शिक्षा में निम्नलिखित विषय वर्णित हैं—

प्रथम दो श्लोकों में वर्ण-समाम्नाय वर्णित हैं। इसमें स्वरों की संख्या २१, स्पर्शों की २५ तथा यकारादि शेष व्यंजनों की संख्या ८ बताई है। इसके अतिरिक्त अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय आदि ध्वनियों को भी गिनाया है। तत्पश्चात् ध्वनि उत्पत्ति की प्रक्रिया पर प्रकाश डाला गया है। वर्ण विभाजन के पांच आधार बताए हैं—

१. स्वर, २. काल, ३. स्थान, ४. प्रयत्न तथा ५. अनुप्रदान। सभी वर्णों के उच्चारण स्थान बताए गए हैं। आठ उच्चारण स्थान बताए हैं—उरस्, कण्ठ, सिर, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ तथा तालु। हकार का उच्चारण दो प्रकार से बताया गया है। जब हकार पंचम वर्ण तथा अन्तस्थों के साथ मिलकर प्रयुक्त होता है तो यह औरस्य तथा जब अकेला प्रयुक्त हो तो कण्ठ्य होता है। अनुस्वार, अयोगवाह, प्रयत्न तथा अनुप्रदान आदि विषयों का भी संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

अन्य शिक्षाएं :-

पाणिनि शिक्षा के अतिरिक्त अन्य लगभग ६५ शिक्षाएं इस समय विद्यमान हैं। ३१ शिक्षाएं बनारस से प्रकाशित शिक्षा संग्रह में प्रकाशित हैं। अन्य शिक्षाओं के हस्तलेख उपलब्ध हैं जो अभी अप्रकाशित हैं। परन्तु इन सब शिक्षाओं का वर्ण्य विषय लगभग समान है। कुछ शिक्षाओं का आकार बहुत छोटा है। वे केवल ध्वनियों की संख्यामात्र की गणना करती हैं। डॉ० सिद्वेश्वर वर्मा ने इन शिक्षा ग्रन्थों को छह वर्गों में बांटा है—१. सामान्य शिक्षा, २. ऋग्वेदीय शिक्षा, ३. शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षा, ४. कृष्ण यजुर्वेदीय शिक्षा, ५. सामवेदीय शिक्षा तथा ६. अथर्ववेदीय शिक्षा। सामान्य शिक्षाओं में पाणिनीय शिक्षा का ही सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है। अन्य सभी सामान्य कोटि की शिक्षाएं पाणिनीय शिक्षा की ऋणी हैं।

ऋग्वेदीय शिक्षा

स्वर व्यंजन शिक्षा :-

ऋग्वेदीय शिक्षाओं में स्वर-व्यंजन शिक्षा का स्थान महत्त्वपूर्ण है। सिद्वेश्वर वर्मा ने अनुसार इसका हस्तलेख भण्डारकर प्राच्य शोध संस्थान पूना में विद्यमान है। यह छह खण्डों में विभाजित है।

शुक्ल यजुर्वेदीय शिक्षाएं

याज्ञवल्क्य शिक्षा :-

शुक्ल यजुर्वेदीय शिक्षाओं में याज्ञवल्क्य शिक्षा का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है। विषय की द ष्टि से यह शिक्षा पूर्ण है। इसके अन्तर्गत तीन बार याज्ञवल्क्य का नाम उल्लिखित है, यथा—

वर्णो जातिश्च मात्रा च गोत्रं छन्दश्च दैवतम्।

एतत् सर्वं समाख्यातं याज्ञवल्क्येन धीमता।।

अतः ऐसा प्रतीत होता है कि वाजसनेयी सम्प्रदाय के प्रवर्तक याज्ञवल्क्य की परम्परा से सम्बन्धित किसी व्यक्ति ने इस शिक्षा को लिखा है। इसमें मात्रा सम्बन्धी नियमों के सन्दर्भ में सोम शर्मा का नाम उल्लिखित है। सोमशर्मा का नाम विष्णुपुराण या पंचतन्त्र से पूर्व नहीं मिलता है। अतः इसका काल इन ग्रन्थों के रचनाकाल से बाद का ही होना चाहिए। इस शिक्षा का काल, उव्वट से पूर्व का होना चाहिए क्योंकि वाजसनेयि प्रातिशाख्य के भाष्य में उव्वट ने याज्ञवल्क्य शिक्षा का उल्लेख किया है। उव्वट भोजराज के आश्रित थे। राजा भोजराज का काल १०१८ ईस्वी माना जाता है। अतः इस समय से पूर्व यह शिक्षा लिखी जा चुकी थी।

इस शिक्षा का वाजसनेयी प्रातिशाख्य से सम्बन्ध है क्योंकि कई स्थानों पर इसमें वाजसनेयि-प्रातिशाख्य का उल्लेख किया गया है।

इस शिक्षा में कुछ अर्वाचीन अन्धविश्वासों का भी समावेश है जैसे स्पर्शों का सम्बन्ध शनि देवता से माना है—पंचविंशति स्पर्शाः कृष्णाः व्याख्याताः शनैश्चरदैवत्याः।'

वासिष्ठी शिक्षा :-

यह शिक्षा तैत्तिरीय संहिता की वासिष्ठी शिक्षा से भिन्न है। इसका नाम अवश्य शिक्षा है परन्तु इसमें शिक्षा का विषय वर्णित नहीं है। इसमें ऋग्वेद और यजुर्वेद के मन्त्रों तथा याज्ञिक-विधियों को उल्लिखित किया गया है।

कात्यायनी शिक्षा :-

इसमें कुल १३ पद्य हैं। इसमें वाजसनेयि प्रातिशाख्य में दिए गये नियमों को ही पद्यबद्ध किया गया है।

पाराशरी शिक्षा :-

चरणव्यूह में पाराशरी शिक्षा का बहुत महत्त्व बताया है—'यथा देवेषु विश्वात्मा यथा तीर्थेषु, पुष्करम्, तथा पाराशरी शिक्षा सर्वशास्त्रेषु गीयते।' परन्तु इस शिक्षा का वर्तमान स्वरूप बहुत बाद का प्रतीत होता है। इसमें वैदिक मन्त्रों के अपपाठ के परिणाम स्वरूप कुम्भीपाक नरक में पड़ने जैसी बातें भी दी गई हैं, जो इसे बाद की रचना सिद्ध करती हैं।

माण्डवी शिक्षा :-

इस शिक्षा का मूल प्रवचनकर्त्ता माण्डव्य माना गया है—'अथातः सम्प्रवक्ष्यामि शिष्याणां हितकाम्यया। मण्डव्येन यथा प्रोक्ता ओष्ठसंख्या समाहृता।' माण्डव्य का नाम शतपथ ब्राह्मण में आता है। इस शिक्षा में ब और व के उच्चारण को स्पष्ट किया गया है ताकि उनमें मिश्रण न हो।

अमोघनन्दिनी शिक्षा :-

इस शिक्षा की रचना याज्ञवल्क्य और पाराशरी शिक्षा के समान है। इसमें वकार और बकार से प्रारम्भ होने वाले शब्दों की सूची दी गई है।

माध्यन्दिनी शिक्षा :-

इसके रचयिता माध्यन्दिन माने जाते हैं। इसका छोटा सा संस्करण लघु संस्करण माध्यन्दिन शिक्षा' नाम से भी है। इसमें ष और ख के उच्चारण भेद को स्पष्ट किया गया है।

वर्णरत्न दीपिका शिक्षा :-

यह याज्ञवल्क्य शिक्षा के समान और पूर्ण है। इसमें रचयिता का नाम अमरेश दिया गया है, जिसका गोत्र भारद्वाज है।

केशवी शिक्षा :-

इसका रचयिता दैवज्ञ केशव बताया गया है। इसका सम्बन्ध माध्यन्दिन शाखा से है। इसमें अर्वाचीन ध्वनि परिवर्तनों का भी समावेश है। ष का ख उच्चारण भी वर्णित है।

कृष्णयजुर्वेदीय शिक्षाएं

चारायणीय शिक्षा :-

यह कृष्ण यजुर्वेद की चारायणी शाखा से सम्बन्धित है। यह अप्रकाशित है। यह शिक्षा विषय की द ष्टि से पूर्ण है। इसमें सन्धि, अभिनिधान आदि विषय भी वर्णित हैं। इसमें उच्चारण स्थान दस बताए गए हैं। इसमें स क्व (मुंह का कोना) तथा दन्तमूल अतिरिक्त उच्चारण स्थान बताए गए हैं। इसमें 'इ' और 'उ' स्वर भक्तियों का निषेध किया गया है।

तैत्तिरीय संहिता की शिक्षाएं :-

तैत्तिरीय संहिता की अनेक शिक्षाएं हैं परन्तु अधिकांशतः अप्रकाशित हैं। प्रमुख शिक्षाएं इस प्रकार हैं—

भारद्वाज शिक्षा :-

भारद्वाज शिक्षा में तैत्तिरीय संहिता के कुछ शब्दों के उच्चारण पर विचार किया गया है, क्योंकि उनके उच्चारण में दोष हो सकता था। यह शिक्षा तुलनात्मक द ष्टि से प्राचीन है।

व्यास शिक्षा :-

व्यास शिक्षा की समीक्षा ल्यूडर्स ने की है। इसकी अन्तिम सीमा १३वीं शताब्दी मानी है। यह पाणिनीय शिक्षा से कई स्थानों पर भिन्न है। पाणिनि-शिक्षा के शिरस् तथा उरस् के स्थान पर इसने मुखमार्ग के तीन भाग बताए हैं। इसमें 'र' को मूर्धन्य न बताकर जिह्वामूलीय बताया गया है।

शम्भु शिक्षा :-

यह अप्रकाशित है। इसमें मात्रा और स्वर के सिद्धान्तों पर विशेष रूप से विचार किया गया है। इसके उद्धरण त्रिभाष्यरत्न तथा वैदिकाभरण में भी मिलते हैं। इसमें कालिका, लक्ष्मी तथा सरस्वती को नमस्कार किया गया है। इसमें स्वर, मात्रा, विव ति, द्वित्व, स्वरभक्ति आदि के नियम वर्णित हैं। इसे व्यास शिक्षा के समकालीन मानते हैं।

कौहलीय शिक्षा :-

यह अप्रकाशित है। इसमें ७६ पद्य हैं। जिनमें से पहले ४१ पद्य स्वर से सम्बन्धित हैं। यह शिक्षा कौहली के मत का अनुसरण करती है। इसमें मन्त्रोच्चारण के समय हस्त संचालन के नियम भी वर्णित हैं।

वसिष्ठ शिक्षा :-

यह व्यास शिक्षा से प्राचीन मानी जाती है। वैदिकाभरण में इसका उद्धरण है। इसमें १३ पद्य हैं जो द्वित्व से सम्बन्धित हैं।

सर्वसम्मत शिक्षा :-

इसके दो संस्करण उपलब्ध हैं। एक संस्करण तो ओटो फ्रेंके द्वारा १८८६ में सम्पादित है, दूसरा संस्करण सिद्धेश्वर वर्मा द्वारा प्राप्त किया गया है। सिद्धेश्वर वर्मा की प्रति में १७० पद्य हैं जो फ्रेंके द्वारा सम्पादित प्रति में पद्यों की संख्या तिगुनी है।

आरण्य शिक्षा :-

यह अप्रकाशित है। इसमें तैत्तिरीय आण्यक के स्वरों का विवेचन है।

आपिशलि शिक्षा :-

यह प्रकाशित है। यह मुख्य रूप से वर्णों के उच्चारण से सम्बन्धित है। आपिशलि बहुत प्राचीन वैयाकरण है, जिसका उल्लेख पाणिनि ने भी किया है (वा सुप्यापिशलेः)। आपिशलि शिक्षा से वैदिकाभरण में भी उद्धरण दिए गए हैं। इसमें ११ बाह्य प्रयत्न वर्णित हैं। सम्भवतः जिसके आधार पर नागेश ने ११ बाह्य प्रयत्न गिनाए हैं। राजशेखर की काव्य मीमांसा में भी इस शिक्षा का उल्लेख है। यह ग्रन्थ निश्चित रूप से ६वीं शताब्दी से पूर्व का है। परन्तु प्रारम्भिक सीमा के विषय में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

कालनिर्णय शिक्षा :-

यह अप्रकाशित है। इसमें मुख्यरूप से मात्राओं पर विचार किया गया है। बर्नेल इसका काल १३वीं शताब्दी मानते हैं। वे इसे सायण की रचना मानते हैं। इस शिक्षा के उद्धरण त्रिभाष्यरत्न तथा वैदिकाभरण में प्राप्य हैं।

पारिशिक्षा :-

यह अप्रकाशित है। यह विषय की द ष्टि से पूर्ण है। इस पर सरल टीका भी उपलब्ध है। इसमें स्वर, द्वित्व, मात्रा आदि के नियम वर्णित हैं।

सामवेदीय शिक्षाएं :-

सामवेद के निम्नलिखित शिक्षा ग्रन्थ उपलब्ध हैं–

नारद शिक्षा :-

नारद शिक्षा बहुत प्राचीन है। इसमें विषय का प्रतिपादन बहुत गम्भीर है। इस शिक्षा में सामवेद के स्वरों के गहनार्थ को थोड़े से शब्दों में समझने का लक्ष्य घोषित किया गया है–

सामवेदं तु वक्ष्यामि स्वराणां चरितं यथा।

अल्पग्रन्थं प्रभूतार्थ श्रव्यं वेदाङ्गमुत्तमम्।।

इस ग्रन्थ में स्वरों को अन्य विषयों के बीच-बीच में कई स्थानों पर वर्णित किया गया है। इसमें कुछ अंश बाद में जोड़े गए प्रतीत होते हैं। इसमें स्वरों का सामगान के साथ सम्बन्ध प्रतिपादित किया गया है। स्वरों के अतिरिक्त अन्य विषय जैसे उच्चारण, द्वित्व आदि भी वर्णित हैं। इस शिक्षा का रचयिता नारद को बताया गया है–

शिक्षामाहुर्द्विजातीनां ऋग्यजुःसामलक्षणम्।

नारदीयं शेषण निरुक्तमनुपूर्वशः।।

इस ग्रन्थ के रचनाकाल के विषय में इस शिक्षा के अन्दर से कोई सहायता नहीं मिलती। परन्तु बाह्य साक्ष्यों के आधार पर यह शिक्षा बहुत प्राचीन सिद्ध होती है। इसमें प्रतिपादित संगीत के नियम त्रिभाष्यरत्न, संगीतरत्नाकर तथा भरतनाट्यम् में मिलते हैं। संगीतरत्नाकर के अनुसार यह नियम

केवल नारद के गन्थ में ही मिलते हैं, अन्यत्र नहीं। इसका अर्थ यह हुआ है कि भरतनाट्यम् में भी नारद-शिक्षा से ही ग्रहण किया गया है। इसमें तुम्बुरु तथा विश्वावसु के मत दिए गए हैं जिनका उल्लेख सबसे पहले महाभारत में है। डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा के अनुसार इस शिक्षा का काल प्रातिशाख्यों से पूर्व का नहीं हो सकता। इसका काल वंश ब्राह्मण तथा सामविधान ब्राह्मण के बाद का होना चाहिए। क्योंकि इसमें औदव्रजि का नामोल्लेख हुआ है जो वंश ब्राह्मण में भी है। इसमें संगीत नियमों का वर्णन सामविधान ब्राह्मण से मिलता जुलता है। परन्तु इन सब बातों से इस शिक्षा की पूर्वावधि निर्धारित नहीं होती। इसमें उल्लिखित नाम उपर्युक्त ग्रन्थों से है। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। सम्भवतः ये कहीं और भी उल्लिखित हों जो हमें उपलब्ध नहीं हैं।

लोमशी शिक्षा :-

यह शिक्षा लोमशी शिक्षा के नाम से प्रसिद्ध है परन्तु इस शिक्षा का मूल विचारक गर्गाचार्य बताया गया है—

लोमाशन्यां प्रवक्ष्यामि गर्गाचार्येण चिन्तिताम्।

सम्भव है गर्गाचार्य के द्वारा इसका प्रारम्भिक प्रारूप तैयार किया गया हो जिसे बाद में लोमश ने शब्दबद्ध किया हो। उल्लेखनीय है कि गर्गाचार्य सामवेद के पद-पाठ कर्त्ता बताए गए हैं। ज्योतिष के एक ग्रन्थ जातकपद्धति में गर्ग और रोमश दोनों को एक साथ गिनाया गया है।

गौतमी शिक्षा :-

गौतमी शिक्षा गौतम के नाम पर है। गौतम सामवेद के आदि ऋषियों में माने गए हैं। यह रचना स्वयं गौतम की न होकर उसके किस अनुयायी की है। इसमें गौतम के नाम से संयुक्त व्यंजनों के विषय में एक सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है कि सात व्यंजनों से अधिक एक साथ नहीं आ सकते। इसमें किसी प्रातिशाख्य का भी उल्लेख है जिसमें सात व्यंजन एक साथ आए हैं, युङ्ङ्क्ष्व। परन्तु किसी भी प्रातिशाख्य में यह सिद्धान्त नहीं मिलता है।

अथर्ववेदीय शिक्षा

अथर्ववेद की केवल एक ही शिक्षा उपलब्ध है—

माण्डुकी शिक्षा :-

यह शिक्षा अथर्ववेदीय शिक्षा के रूप में प्रसिद्ध है। परन्तु इसमें केवल अथर्ववेद से सम्बन्धित ही नियम नहीं दिए गए हैं। इसमें अन्य वेदों से सम्बन्धित स्वरादि के नियम वर्णित हैं। उदाहरणार्थ इसमें सामवेद के सात स्वरों पर विस्तार से विचार किया है—'सप्तस्वरास्तु गीयन्ते सामभिः सामगैर्बुधैः। यह शिक्षा कुल १६ खण्डों में विभाजित है। इसमें मुख्य रूप से स्वरों के नियम वर्णित हैं। अथर्ववेद से अनेक उदाहरण दिए गए हैं, इसीलिए इसे अथर्ववेदीया शिक्षा कहते हैं।

यदि शिक्षा मण्डूक के मत का अनुसरण करती है। जैसा कि निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट है—

प्रथमावन्तिमौ चैव वर्त्तन्त छन्दसि स्वराः।

त्रयो मध्या निवर्त्तन्ते मण्डूकस्य मतं यथा।।

इसीलिए इसे माण्डुकी शिक्षा कहते हैं।

मण्डूक बहुत प्राचीन ऋषि है। इसका प्रमाण हमें पाणिनि की अष्टाध्यायी से मिल जाता है क्योंकि उसके एक सूत्र 'ढक् च मण्डूकात् (पा० ४.१.११६) से माण्डूकेय शब्द बनाने का विधान है। इसका अर्थ है कि पाणिनि के काल में मण्डूक का वंश प्रसिद्ध हो गया था। ऋक्प्रातिशाख्य अथर्वपरिशिष्ट तथा ऐतरेय आरण्यक में भी माण्डूकेय शब्द का प्रयोग हुआ है।

इससे सिद्ध होता है कि यह शिक्षा किसी प्राचीन मत का अनुसरण करती है। वर्तमान माण्डुकी शिक्षा (१६.७) में मनुस्म ति (२.११८) का भी श्लोक थोड़े से अन्तर के साथ मिलता है। नारद शिक्षा तथा याज्ञवल्क्य शिक्षाओं में भी यही श्लोक मिलता है। नारदशिक्षा में माण्डुकी शिक्षा वाला पाठ है, जबकि याज्ञवल्क्य शिक्षा में मनुस्म ति वाला पाठ है।

भगवद्दत्त का मत है कि इन शिक्षाओं में उक्त श्लोक मनुस्म ति से उधार लिया है क्योंकि मनुस्म ति उनकी द ष्टि से अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ है। सिद्धेश्वर वर्मा इस शिक्षा को दसवीं शताब्दी के आस-पास की मानते हैं।

कल्प वेदाङ्ग

वेदांगों में कल्पसूत्र सबसे अधिक विस्त त और पूर्ण वेदांग है। यद्यपि प्राचीन काल में सभी वेदांगों का अध्ययन होता था और सैद्धान्तिक रूप से सबको समान महत्त्व दिया जाता था परन्तु जितना अधिक साहित्य कल्प वेदांग से संबंधित उपलब्ध हुआ है उतना और किसी वेदांग से संबंधित नहीं। यद्यपि क्रम की द ष्टि से शिक्षा का स्थान प्रथम है परन्तु प्रयोग की द ष्टि से 'कल्प' वेदांग ने अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान पाया है।

कल्पसूत्रों की आवश्यकता :-

कल्पसूत्रों का सीधा संबंध यज्ञ प्रक्रिया से है। प्राचीन काल में वेद मन्त्रों की रचना चाहे किसी प ष्ठभूमि में हुई हो अथवा मूल उद्देश्य कुछ भी रहा हो परन्तु आगे चलकर उनके मन्त्रों का प्रयोग यज्ञ में होने लगा और समस्त वैदिक साहित्य और समाज यज्ञों से अभिभूत हो गया। जीवन की प्रत्येक क्रिया यज्ञ से अनुशासित होने लगी। इसीलिए वेदों की व्याख्या यज्ञपरक हो गई। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञों का जटिल स्वरूप प्रकट होने लगा। उसे समझना और स्मरण रखना कठिन हो गया। इसलिए ऐसे ग्रन्थों की आवश्यकता पड़ी जो यज्ञों के विषय में पूर्ण सूचना थोड़े से थोड़े शब्दों में दे सकें। इसी आवश्यकता के फलस्वरूप कल्पसूत्रों का जन्म हुआ।

बौधायन कल्पसूत्र की रचना के विषय में बौधायनसूत्रभाष्य में सायणाचार्य ने स्पष्ट कहा है कि 'विधि, अर्थवाद तथा मन्त्र वेद के ये तीन भाग हैं। विधि के द्वारा निर्दिष्ट अर्थवाद के द्वारा ज्ञात तथा मन्त्र द्वारा स्मरण किया हुआ कार्य कल्याणकारी होता है। ब्राह्मण के बहुत विस्त त होने के कारण इन कार्यों का ज्ञान बहुत कठिनता से होता है। अतः इन कर्मों का ज्ञान सुगमता से हो सके, इस उद्देश्य से बौधायन ने कल्पसूत्र की रचना की—

'तत्र विध्यर्थवादमन्त्रात्मना त्रिधा व्यवस्थितो वेदराशिः। विधिविहित-मर्थवादप्रोचितं मन्त्रेण स्म तमभ्युदयकारि भवतीति। ततश्च चोदितानां कर्मणां सुखावबोधाय भगवान् बौधायनः कल्पमकल्पयत्।'

कल्पसूत्र और ब्राह्मण ग्रन्थ :-

कल्पसूत्रों ने मुख्यतः ब्राह्मण ग्रन्थों का अनुकरण किया है। परन्तु विषय प्रतिपादन की शैली उनसे सर्वथा भिन्न है। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ प्रक्रिया की विस्त त व्याख्या दी गई है। विषय भी व्यवस्थित और परस्पर सम्बद्ध नहीं है। परन्तु कल्पसूत्रों में सूत्रात्मक शैली में संक्षिप्त से संक्षिप्त रूप में विषय को दिया गया है। एक विषय से सम्बन्धित जो भी बातें इधर-उधर बिखरी पड़ी थीं उन सबको समेट कर एक स्थान पर लाने का प्रयत्न किया गया है।

ब्राह्मण ग्रन्थों की दुरूहता और विस्तार तथा कल्पसूत्रों की विशदता, लघुता तथा सम्पूर्णता के विषय में सायण ने स्पष्ट कहा है—

यतो ब्राह्मणनामानन्त्यं दुःखबोधतया ... अतो न तैः सुखं कर्मावबोध इति

कल्पसूत्राणीमानि प्रतिनियतशाखान्तरानङ्गीचक्रुः पूर्वाचार्याः।।

कल्पस्य वैशद्यालाघवकात्स्र्न्यप्रकरणशुद्धयादिभिः प्रकर्षैर्युक्तस्य...

तन्त्रवार्तिक में कुमारिल ने भी इसी प्रकार स्पष्ट कहा है कि कल्पसूत्रों में उन विधियों को एकत्रित किया गया है जो भिन्न-भिन्न शाखाओं के अर्थवाद में मिश्रित होकर बिखरी पड़ी थीं। यह प्रयास सुगमता की द ष्टि से ही याज्ञिक आचार्यों ने किया है—

'एवं कल्पसूत्रेष्वर्थवादादिमिश्रशाखान्तरविप्रकीर्णन्यायलभ्यविध्युपसंहार- फलमर्थनिरूपणं तत्तत्प्रमाणमङ्गीकृत्य कृतम्। लोकव्यवहारपूर्वकाश्च के चिद त्विगादिव्यवहाराः सुखार्थहेतुत्वेनाश्रिताः।''

यही कारण है कि कल्पसूत्रों की लोकप्रियता बढ़ने लगी। धीरे-धीरे ब्राह्मण ग्रन्थों की आवश्यकता कम होने लगी और कल्पसूत्र एक प्रकार से अपरिहार्य होने लगे। कुमारिल ने कल्पसूत्र के महत्त्व के विषय में कहा है—

वेदाद ते पि कुर्वन्ति कल्पैः कर्माणि याज्ञिकाः।

न तु कल्पैर्विना केचिन्मन्त्रब्राह्मणमात्रकात्।।

अर्थात् 'याज्ञिक लोग वेद की सहायता के बिना केवल कल्पसूत्रों की सहायता से यज्ञ कर्म सम्पन्न कर लेते हैं परन्तु ऐसा कोई नहीं हो जो कल्पसूत्रों के बिना केवल मन्त्र या ब्राह्मणों से यज्ञ कराते हों।'

कुमारिल के इस कथन से कल्पसूत्रों की अपरिहार्यता सिद्ध होती है। ब्राह्मण ग्रन्थों को लोग लगभग भूल ही गए क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों का कार्य कल्पसूत्रों से ही चल जाता था। कल्पसूत्रों के महत्त्व के विषय में मैक्समूलर ने कहा है—

c The Kalpasutras are important in the history of Vedic literature for more than one reason. They not only mark a new period of literature and a new purpose in the literary and religious life of India, but they contributed to the gradual extinction of the numerous Brahmanas which to us are therefore only known by name.'

अर्थात् 'वैदिक साहित्य के इतिहास में कल्पसूत्रों का अनेक कारणों से महत्त्व है। वे केवल साहित्य के नये काल का तथा भारत के साहित्यिक तथा धार्मिक जीवन में नये उद्देश्य का ही सूत्रपात नहीं करते अपितु उनके कारण अनेक ब्राह्मण ग्रन्थ धीरे-धीरे लुप्त हो गए जिन्हें हम आज केवल नाम मात्र से ही जानते हैं।'

कल्प शब्द का अर्थ :-

इन सूत्रों को कल्प सूत्र क्यों कहा गया, यह एक विचारणीय विषय है। कल्प शब्द की व्युत्पत्ति क पू सामर्थ्ये से है। कल्प्यते अनेन इति 'कल्पः'। अर्थात् जिसमें किसी कार्य को सम्पन्न कराने की क्षमता को उसे कल्प कहते हैं। इसी व्युत्पत्ति के अनुसार 'कल्प' शब्द का अर्थ 'नियम', 'प्रयोग', 'व्यवस्था' आदि अर्थों में होने लगा। इस प्रकार 'कल्प' ग्रन्थ ऐसे ग्रन्थ हैं जिनमें यज्ञ आदि के नियम तथा विभिन्न व्यक्तियों के सामाजिक एवं धार्मिक नियम वर्णित हों। विष्णु मिश्र ने ऋग्वेद-प्रातिशाख्य की वर्गद्वयव त्ति (प० १३) में कल्पसूत्रों के विषय में कहा है—'कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्''। अर्थात् कल्प वे शास्त्र हैं जिनमें वेदविहित कर्मों का यथाक्रम वर्णन हो।

कल्पसूत्र के अंग :-

कल्पसूत्र के मुख्य तीन अंग हैं—१. श्रौतसूत्र, २. ग ह्यसूत्र तथा ३ धर्मसूत्र। इसके अतिरिक्त दो गौण अंग और हैं—१. शुल्बसूत्र तथा २. पित मेधसूत्र। श्रौतसूत्र में वैदिक यज्ञों का वर्णन है। ग ह्यसूत्र में ग हस्थ के द्वारा किए जाने वाले यज्ञों तथा संस्कारों का वर्णन है। धर्मसूत्र में सामाजिक व्यवस्था तथा वर्णाश्रम धर्म, राजा के कार्य आदि विषयों का वर्णन है। शुल्बसूत्रों में यज्ञ की वेदी तथा यज्ञशाला की निर्माण विधि वर्णित है। पित मेधसूत्र में म तक कर्म वर्णित हैं।

प्रत्येक कल्पसूत्र के सभी अंग उपलब्ध नहीं है। केवल यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता के बौधायन, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशि तथा वैखानस कल्पसूत्र ही अपने सभी अंगों में विद्यमान हैं। शेष कल्पसूत्रों में किसी न किसी अंग की न्यूनता है।

कल्पसूत्रों की प्राचीनता :-

कल्पसूत्रों की रचना ब्राह्मण काल से ही प्रारम्भ हो गई थी। कुछ ब्राह्मणों में इस प्रकार के वाक्य मिलते हैं जिन्हें सूत्र कहा जा सकता है। कुमारिल ने आरुण और पराशर शाखा के ब्राह्मणों को कल्पसूत्रों के रूप वाला ही स्वीकार किया है—'आरुण-पराशरशाखाब्राह्मणस्य कल्परूपत्वम्।' कल्पसूत्रों के टीकाकारों ने ब्राह्मण ग्रन्थों के अनेक वाक्यों को सूत्र कहकर उद्ध त किया है।

अनेक प्राचीन सूत्र ब्राह्मण शैली से अधिक दूर नहीं हैं। उनके अनेक सूत्र ब्राह्मण ग्रन्थों के वाक्य जैसे ही प्रतीत होते हैं। शौनक द्वारा रचित सूत्रों को कहा गया है। शांखायन, आश्वलायन, बौधायन, आपस्तम्ब, भारद्वाज आदि आचार्यों के कल्पसूत्र अनेक स्थानों पर ब्राह्मणों से मिलते-जुलते हैं। इसलिए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि सूत्र ग्रन्थों की रचना ब्राह्मण काल से ही प्रारम्भ हो गई थी क्योंकि प्राचीन कल्पसूत्र और ब्राह्मण ग्रन्थ भाषा और शैली की द ष्टि से अधिक दूर प्रतीत नहीं होते हैं।

इस बात की पुष्टि एक अन्य प्रमाण से भी होती है। उपलब्ध कल्पसूत्रों में अनेक आचार्यों के मत दिए गए हैं। उदाहरणतया 'आश्मरथ' तथा 'आलेखन' दो ऐसे आचार्य हैं जिनके मत अनेक कल्पसूत्रों में दिए गए हैं। परन्तु उनके कोई ग्रंथ हमें उपलब्ध नहीं हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कल्पसूत्रों की रचना बहुत प्राचीन काल से होने लग गई थी। पाणिनि का सूत्र 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' (पा० ४.३.१०५) प्राचीन कल्पों की सूचना देता है।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सभी कल्प सूत्र प्राचीन हैं। अनेक कल्पसूत्र ऐसे हैं जो बहुत बाद के काल के हैं जैसे वैखानस कल्प, वैतान कल्प सूत्र आदि। इन कल्पसूत्रों में बहुत बाद के काल की पूजा पद्धति जैसे प्रतिमा पूजा, नवग्रह पूजा आदि समाविष्ट है। इससे सिद्ध होता है कि कल्पसूत्रों की रचना बहुत प्राचीन काल से प्रारम्भ होकर बहुत अर्वाचीन समय (स्म ति काल तक) होती रही। यह भी आवश्यक नहीं है कि एक कल्प के सभी अंगों की रचना एक ही काल में अथवा एक ही व्यक्ति के द्वारा हुई हो। अनेक कल्पों के भिन्न-भिन्न अंगों की रचना भिन्न-भिन्न काल तथा भिन्न-भिन्न काल तथा भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा हुई है।

शाखाएं तथा उनके उपजीव्य ग्रन्थ :-

ब्राह्मण ग्रन्थों के रचना काल की समाप्ति तक वेदों का अध्ययन अनेक शाखाओं में होने लगा था। शाखाएं भी चरणों में बंट गई थीं। प्रत्येक शाखा की एक प थक् संहिता हो गई थी। शाखा विभाजन के फलस्वरूप यज्ञ प्रक्रिया में भी अन्तर आने लगा था। इसलिए प्रत्येक शाखा के अपने ब्राह्मण हो गए थे। उसी शाखा के ब्राह्मण पर आश्रित रहकर ही कल्पसूत्रों की रचना प्रारम्भ हुई थी। इस प्रकार कल्पसूत्र अपनी शाखा के ब्राह्मण और मन्त्रों के लिए उसी शाखा से सम्बन्धित संहिता पर

निर्भर था।

परन्तु आवश्यक नहीं कि कल्पसूत्रों ने अपनी शाखा का अन्धानुकरण किया है। यद्यपि सम्बन्धित संहिता के मन्त्रों और ब्राह्मण ग्रन्थों को सर्वाधिक महत्त्व दिया है परन्तु दूसरी शाखाओं से सम्बन्धित संहिताओं और ब्राह्मणों से विषय लेने में भी संकोच नहीं किया गया है। कल्पसूत्रों में अनेक ऐसे आचार्यों के मत ग्रहण किए हैं जो उनकी शाखाओं से सम्बन्धित नहीं थे। तन्त्रवार्तिक के रचयिता कुमारिल के अनुसार कल्पसूत्रों में उन सभी विधियों को तो लिया ही गया है जो उनकी शाखा से सम्बन्धित है, परन्तु अन्य शाखाओं में विहित नियमों को भी ग्रहण किया गया है। सभी शाखाओं के नियमों को एकत्रित करके रखना जैमिनि को भी स्वीकार्य था–

स्वशाखाविहितैश्चापि शाखान्तरगतान्विधीन्।

कल्पकारा विवध्नन्ति सर्व एव विकल्पितान्।।

सर्वशाखोपसंहारो जैमिनेश्चापि सम्मतः।।

कुमारिल के अनुसार कोई भी सूत्रकार केवल अपनी शाखा के नियमों से ही सन्तुष्ट नहीं था–

न च सूत्रकाराणामपि कश्चित् स्वशाखापसंहारमात्रेणावस्थितः।।

हिरण्यकेशि-सूत्र के भाष्यकार महादेव ने दूसरी शाखाओं से ग्रहण करना आवश्यक बताया है, क्योंकि किसी भी एक शाखा में श्रौत और स्मार्त कर्म सम्पूर्णता से वर्णित नहीं है–

अवश्य च शाखान्तरोपसंहारो पेक्षितः। न ह्येकस्यां शाखायां श्रौतस्मार्तकर्मा-

-नुष्ठानं साकल्येन विहितं तन्मन्त्र वा पठिताः किन्तु कि चत् क्वचित्।

उपर्युक्त कथन की पुष्टि कल्पसूत्रों के अध्ययन से हो जाती है। न केवल अपने वेद की भिन्न शाखाओं से अपितु दूसरे वेद की शाखाओं से भी उद्धरण लिये गए हैं।

यज्ञ कार्यों में विनियोज्य मन्त्र अधिकांशतः सम्बन्धित वेद से ही लिये गए हैं। परन्तु अन्य वेदों से भी ग्रहण किया गया है। कोई कल्पविशेष किस वेद की किस शाखा से सम्बन्धित है, इसका ज्ञान इस बात से होता है कि वेद की जिस शाखा से कोई कल्प विशेष सम्बन्धित है, उस शाखा के मन्त्रों को पूर्ण रूप में न देकर केवल आदि के कुछ शब्दों को देकर प्रतीकों द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। अन्य संहिताओं के मन्त्रों को पूर्ण रूप में दिया गया है। परन्तु कुछ सूत्रों में इस नियम के अपवाद भी हैं

कल्पसूत्रों का काल :-

कल्पसूत्रों का काल निर्धारण अपने पूर्ववर्ती वैदिक साहित्य के समान जटिल है। मैक्समूलर ने सभी सूत्रों के लिए ६०० ई० पूर्व से २०० ई०पू० तक की सामान्य अवधि निर्धारित की है। मैक्डानल सूत्रों का काल ५०० ई०पू० से २०० ई०पू० तक मानते हैं। परन्तु उपर्युक्त काल निर्धारण किसी भी तर्क द्वारा प्रमाणित नहीं है। सूत्रों का काल निर्धारण वैदिक संहिताओं तथा अन्य वैदिक साहित्य के काल निर्णय से जुड़ा हुआ है। परन्तु वैदिक संहिताओं का काल ही अभी निर्धारित नहीं हो सका है। मैक्समूलर ने ऋग्वेद के प्रारम्भ का काल १५०० या १२०० ई० पू० माना है।

मैक्समूलर ने वैदिक साहित्य के प्रत्येक काल के लिए २०० वर्ष की कल्पना करके इस काल का निर्धारण किया है। यह कल्पना सर्वथा मिथ्या, भ्रामक और अविश्वसनीय है। स्वयं विन्तरनित्ज ने मैक्समूलर के इस सिद्धान्त को थोथा माना है। उन्होंने ऋग्वेद के काल को २००० से लेकर २५०० तक बढ़ाया है। इनके अतिरिक्त जैकोबी ने वेद के काल को ४५०० ई० पू० तो तिलक ने ६००० ई०

पू० सिद्ध किया है। यदि ऋग्वेद के इस काल को स्वीकार किया जाए तो सूत्रों का काल भी बहुत प्राचीन सिद्ध होता है। सी०वी० वैद्य का कथन है कि सूत्रों का काल १००० ई० पू० से बाद का नहीं हो सकता। वे समस्त सूत्र साहित्य को १६०० ई० पू० से १००० ई० पू० के मध्य मानते हैं।

इस अवस्था में सूत्रों के काल के विषय में कुछ निश्चित रूप से नहीं का जा सकता। अन्तः साक्ष्यों के आधार पर कुछ सूत्रों का पौर्वापर्य जाना जा सकता है। कौन-सा सूत्र किस सूत्र से पहले या बाद का है, इस संबंध में व्यक्तिगत सूत्रों के सन्दर्भ में विचार किया गया है।

'कल्प' के अंगो का विवेचन :-

जैसा कि कहा जा चुका है समस्त 'कल्प' तीन मुख्य और दो गौण अंगों में विभाजित हैं। यहां सबका प थक्-प थक् विवरण दिया जा रहा है।

१. श्रौतसूत्र :-

श्रौतसूत्र 'कल्प' वेदांग के सबसे महत्त्वपूर्ण भाग हैं। श्रौत शब्द 'श्रुति' से निकला है। इस प्रकार श्रौत शब्द का अर्थ है—श्रुति पर आधारित। श्रुति से तात्पर्य वेदों से है। वेदों में यज्ञों का विधान है। इसलिए श्रौतसूत्र मुख्य रूप से वैदिक यज्ञों की विधि निर्धारित करते हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञों का पूर्ण स्वरूप विकसित हो चुका था। स्वयं संहिताओं में भी यज्ञ के महत्त्व को प्रतिपादित किया गया है। अर्थववेद में यज्ञ को जगत् की उत्पत्ति का स्थान माना गया—'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः' (अथर्ववेद १०.६.८)

यज्ञपरिभाषासूत्र' में वैदिक यज्ञों को दो भागों में विभाजित किया गया है— श्रौत और ग ह्य। श्रौतयज्ञों का विवरण श्रौतसूत्रों में दिया गया है। श्रौतयज्ञ दो भागों में विभाजित हैं—१. सोमसंस्था तथा २. हविः संस्था। सोमसंस्था यज्ञ के सात भेद हैं—१. अग्निष्टोम, २. अत्यग्निष्टोम, ३. उक्थ्य, ४. षोडशी, ५. वाजपेय, ६. अतिरात्र तथा ७. आप्तोपमि। हविः संस्था के भी सात भेद हैं। १. अग्न्याधेय, २. अग्निहोत्र, ३. दर्श, ४. पौर्णमास, ५. आग्रहायण ६. चातुर्मास्य तथा ७. पशुबन्ध। इनमें से कुछ यज्ञ प्रकृति तथा कुछ यज्ञ उनकी विकृति माने जाते हैं।

श्रौतसूत्रों में याज्ञिकों की संख्या सोलह तक हो गई है। परन्तु मुख्य याज्ञिक चार वेदों से सम्बन्धित चार ही हैं अर्थात् ऋग्वेद का होता, सामवेद का उद्गाता, यजुर्वेद का अध्वर्यु एवं अर्थववेद का ब्रह्मा।

प्रत्येक वेद से सम्बन्धित श्रौत साहित्य विद्यमान है जिसका विवरण आगे विस्तार से दिया जा रहा है।

१. ऋग्वेदीय श्रौतसूत्र :-

ऋग्वेद से सम्बन्धित दो श्रौतसूत्र उपलब्ध हैं—१. शाङ्खायन श्रौतसूत्र तथा २. आश्वलायन श्रौतसूत्र।

शाङ्खायन श्रौतसूत्र :-

शाङ्खायन श्रौतसूत्र ऋग्वेद की शाङ्खायन शाखा से सम्बन्धित है। ग ह्यसूत्र सहित शाङ्खायन श्रौतसूत्र का रचयिता एक ही व्यक्ति सुयज्ञ शाङ्खायन को माना जाता है। यद्यपि श्रौतसूत्र के मूलपाठ में इसके रचयिता का कहीं उल्लेख नहीं है परन्तु परम्परा से इसे शाङ्खायन की रचना माना जाता रहा है। प्रो० ओल्डनबर्ग ने शाङ्खायन ग ह्यसूत्र के सम्बन्ध में कहा है कि शाङ्खायन वंश का नाम है और वास्तविक रचयिता सुयज्ञ है। इस सन्दर्भ में वे शाङ्खायन ग ह्यसूत्र १.१.१० पर नारायण कृत

भाष्य में उद्ध त एक कारिका का उल्लेख करते हैं जो इस प्रकार है—

अत्रारणिंप्रदानं यदध्वर्यु कुरुते क्वचित्।

मतं तन्न सुयज्ञस्य मथितं सो त्र नेच्छति।।

इससे स्पष्ट होता है कि भाष्यकार नारायण के मत में शाङ्खायन ग ह्यसूत्र तथा तदनुसार शाङ्खायन श्रौतसूत्र के रचयिता सुयज्ञ शाङ्खायन ही हैं। डॉ० टी०आर० चिन्तामणि तथा डॉ० रामगोपाल भी इसी मत के समर्थक हैं।

शाङ्खायन शाखा का प्रचलन पश्चिम में उत्तरी गुजरात में था। इसके प्रमाण में महार्णव का यह श्लोक महत्त्वपूर्ण है—

उत्तरे गुर्जरे देशे बह्वचः परिकीर्तितः।

कौषीतकि ब्राह्मणं च शाखा शाङ्खायनी स्थिता।।

शाङ्खायन श्रौतसूत्र कौषीतकि ब्राह्मण पर आश्रित है। शाङ्खायन श्रौतसूत्र के अनेक सूत्र कौषीतकि ब्राह्मण के अनुसार हैं। कुछ सूत्र ज्यों की त्यों कौषीतकि ब्राह्मण में उपलब्ध हैं।

शाङ्खायन श्रौतसूत्र के अनेक स्थल जैमिनीय ब्राह्मण और जैमिनिय ग ह्यसूत्र के समान हैं। ऋग्वेद के अतिरिक्त अन्य संहिताओं तथा वैदिक साहित्य से भी शांखायन श्रौत सूत्र में उद्धरण ग्रहण किए गये हैं या किसी न किसी रूप में उनमें संबंध प्रकट होता है। मैत्रायणी संहिता, काठक संहिता, शतपथ ब्राह्मण, वाराह श्रौतसूत्र, लाट्यायन श्रौतसूत्र, बौधायन श्रौतसूत्र आदि ग्रन्थों में शाङ्खायन श्रौतसूत्र के सूत्रों के समानान्तर वाक्य उपलब्ध हैं।

शाङ्खायन श्रौतसूत्र में कुल अठारह अध्याय हैं। कुछ विद्वान् पिछले दो अध्यायों को बाद में जोड़े गए मानते हैं। इसके लिए मुख्य तर्क यह दिया गया है कि इन अध्यायों की शैली उतनी गठी हुई और सुव्यवस्थित नहीं है जितनी पूर्व के अध्यायों की है। पिछले तीन अध्यायों की भाषा और विषय ब्राह्मण ग्रन्थों से मिलते हैं।

इस श्रौतसूत्र का वर्ण्य विषय सभी श्रौतसूत्रों की भांति यज्ञ-प्रक्रिया ही है। परन्तु कुछ विषय ऐसे भी हैं जो अन्यत्र ग ह्यसूत्रों में वर्णित हैं जैसे शूलगव, अहर्य आदि। यज्ञ-आदि कार्य तीन वर्णों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यों के लिए निर्धारित किए गए हैं, यथा—

यज्ञं व्याख्यास्यामः। स त्रयाणाम् वर्णानाम्। ब्राह्मणक्षत्रिययोवैश्यस्य च। (१.१.१-३)

इस सूत्र के मुख्य वर्ण्य विषय हैं—यज्ञ सम्बन्धी सामान्य नियम, दर्शपूर्णमास, इष्टियों के नियम, अग्नयाधेय, अग्निहोत्र, अभ्युदितेष्टि, चातुर्मास्य, मरणोपरान्त कर्म, शूलगव, अर्घ्य, अग्निष्टोम (सोम यज्ञ) वाजपेय, ब हस्पतिसव, राजसूय, अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध, महाव्रत आदि।

शाङ्खायन श्रौतसूत्र प्रथम बार अल्फ्रेड हिल्लेब्रांट द्वारा सम्पादित किया गया और सन् १८८५-६६ में एशियटिक सोसाइटी बंगाल द्वारा प्रकाशित किया गया। सन् १६८१ में पुनः मेहरचन्द लक्ष्मनदास, दिल्ली द्वारा प्रकाशित किया गया। इस श्रौत सूत्र की वरदत्तसुत आनर्तीय तथा गोविन्द द्वारा विहित संस्कृत टीका भी हिल्लेब्रांट द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित हैं। शांखायन श्रौत सूत्र का अंग्रेजी अनुवाद प्रो० डब्ल्यू केलेंड द्वारा किया गया है जिसे डॉ० लोकेशचन्द्र ने २४ प ष्ठ की भूमिका सहित सम्पादित किया है जिसे मोतीलाल बनारसी दास ने १६५३ तथा पुनः १६८० में प्रकाशित किया है।

आश्वलायन श्रौतसूत्र :-

आश्वलायन श्रौतसूत्र ऋग्वेद की शाकल शाखा से सम्बन्धित माना जाता है। आश्वलायन श्रौतसूत्र के भाष्यकार गार्ग्य नारायण के अनुसार इस श्रौत सूत्र का सम्बन्ध ऋग्वेद की शाकाल और बाष्कल दोनों शाखाओं से है। परन्तु अधिकांश विद्वान इसे शाकल शाखा से ही सम्बन्धित मानते हैं।

इस सूत्र के रचयिता के विषय में भी मतभेद है। आश्वलायन के नाम से ग ह्यसूत्र भी उपलब्ध होता है। आश्वलायन श्रौतसूत्र के प्राचीनतम भाष्यकार देवस्वामी के अनुसार आश्वलायन श्रौतसूत्र के रचयिता उनके गुरु शौनक थे तथा आश्वलायन ग ह्यसूत्र के रचयिता स्वयं आश्वलायन ही थे। षड्गुरु-शिष्य द्वारा उल्लिखित परम्परा के अनुसार शौनक ने स्वयं एक कल्पसूत्र की रचना की थी जिसमें एक हजार खण्ड थे। परन्तु उनके शिष्य आश्वलायन ने जब अपने सूत्र-ग्रन्थ को शौनक को दिखाया तो शौनक ने अपने शिष्य की प्रसन्नता के लिए अपने ग्रन्थ को नष्ट कर दिया।

दोनों ही ग्रन्थों में शौनक के मत उद्ध त किए गए हैं। आश्वलायन ग ह्यसूत्र के अन्त में शौनक को नमस्कार किया गया है। अतः दोनों ही ग्रन्थों का कर्त्ता एक ही व्यक्ति प्रतीत होता है। इस बात का कोई भी ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं है जिससे आधार पर यह कहा जा सके कि दोनों ग्रन्थों के रचयिता अलग-अलग व्यक्ति हैं। आश्वलायन ग ह्यसूत्र का प्रथम सूत्र इस प्रकार है—'उक्तानि वैतानिकानि ग ह्याणि वक्ष्यामः।' इस सूत्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि आश्वलायन श्रौतसूत्र तथा ग ह्यसूत्र एक ही ग्रन्थ के भाग हैं अतः इनका रचयिता एक ही व्यक्ति होना चाहिए। डॉ० रागोपालन ने भी सभी पक्षों पर विचार करके यही निष्कर्ष निकाला है कि ये दोनों सूत्र आश्वलायन की ही कृति हैं।

आश्वलायन श्रौतसूत्र का वर्ण्य विषय :-

आश्वलायन श्रौतसूत्र में कुल बारह अध्याय हैं जो छह-छह अध्यायों के दो भागों में बंटा हुआ है। प्रथम भाग को पूर्व-षट्क तथा द्वितीय भाग को उत्तर-षट्क नामों से जाना जाता है। इस सूत्र में मुख्य रूप से 'होत ' के कार्यों पर प्रकाश डाला गया है परन्तु अध्वर्यु आदि अन्य याज्ञिकों के कार्यों का भी उल्लेख है। अग्निहोत्र, पिण्डपित यज्ञ आदि अन्य याज्ञिकों के कार्यों का भी उल्लेख है। अग्निहोत्र, पिण्डपित यज्ञ आदि यज्ञों में होत का कोई कार्य नहीं होता तो भी इन विषयों को लिया गया है। प्रथम छह अध्यायों में प्रायश्चित्त, सत्र, गवामयन आदि यज्ञों का वर्णन है। नौ से बारह अध्याय तक 'अहीन' तथा सत्र यज्ञों का वर्णन है।

आश्वलायन श्रौतसूत्र तथा अन्य ग्रन्थों का संबंध :-

आश्वलायन श्रौतसूत्र का संबंध किसी एक ब्राह्मण से नहीं है। यद्यपि आश्वलायन श्रौत सूत्र में ऐतरेय ब्राह्मण के अनुयायियों के मत उद्ध त हैं तथा ऐतरेय ब्राह्मण से बहुत कुछ ग्रहण भी किया गया है। परन्तु इस आधार पर यह कहना कठिन है कि इस सूत्र का संबंध ऐतरेय ब्राह्मण से है। आश्वलायन ऐतरेय शाखा के अनुयायी नही थे, इस पक्ष में अनेक तर्क दिए जाते हैं जिनमें से कुछ प्रमुख तर्क इस प्रकार हैं—

१ ऐतरेय शाखा के मत का खण्डन करने के लिए एक स्थान पर (III, ६.३.८) गाणगारि का मत दिया गया है।

२. ऐतरेय ब्राह्मण में ऋग्वेद से भिन्न जिन मन्त्रों को प्रतीकों से दिया गया है, आश्वलायन श्रौत सूत्र में उन्हें सम्पूर्ण रूप में दिया गया है।

३. आश्वलायन श्रौत सूत्र में अनेक ऐसे नाम आए हैं जो ऐतरेय ब्राह्मण में नहीं है।

४. आश्वलायन श्रौत सूत्र में ऐसे अनेक यज्ञों का वर्णन किया गया है जो ऐतरेय ब्राह्मण में नहीं है। उदाहरणतया आश्वलायन श्रौत सूत्र के अध्याय ६-१२ में जिन अहीन तथा सत्र यज्ञों का वर्णन किया गया है, उनका उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण में नहीं है। परन्तु आश्वलायन श्रौत सूत्र के

कुछ विषय ऐसे हैं जो ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णित विषयों से ज्यों की त्यों मिलते हैं। उदाहरणतया ऐतरेय ब्राह्मण के पशु-यज्ञ (७.१) संबंधी तथ्य आश्वलायन श्रौतसूत्र के (१२.६) तथ्यों से मिलते हैं। आश्वलायन सूत्र में वर्णित शुनःशेप की कथा (आश्वलायन श्रौत सूत्र ६.३ ६-१४) ऐतरेय ब्राह्मण (७.१८) में ज्यों की त्यों मिलती है। ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णित प्रायश्चित्त (७.२.१२) आश्वलायन श्रौतसूत्र में वर्णित प्रायश्चित्तों से मिलते हैं। कीथ ऐतरेय ब्राह्मण को आश्वलायन श्रौत सूत्र से बाद का मानते हैं और उनके अनुसार आश्वलायन श्रौत सूत्र से ही ऐतरेय ब्राह्मण ने उधार लिया है। परन्तु किसी ठोस प्रमाण के अभाव में यह तथ्य मान्य नहीं है। सम्भव है दोनो ही ग्रन्थों ने किसी अन्य स्रोत से ग्रहण किया हो।

आश्वलायन श्रौत सूत्र में अनेक ऐसे स्थल हैं जो कौषीतकी ब्राह्मण से उधार लिये प्रतीत होते हैं। इस सूत्र में अनेक आचार्यों जैसे आलेखन आश्मरथ्य कौत्स, गाणगारि, गौतम, शाट्यायन, शौनक, तौल्वलि आदि के मत दिए गए हैं।

आश्वलायन श्रौतसूत्र तथा शांखायन श्रौत सूत्र सम्बन्ध :-

दोनों सूत्र ऋग्वेद से सम्बन्धित होने के कारण परस्पर सम्बद्ध हैं परन्तु दोनों प थक्-प थक् स्वतन्त्र शाखाओं का अनुकरण करते हैं। आश्वलायन श्रौत सूत्र का सम्बन्ध शाकल शाखा से तथा शांखायन श्रौत सूत्र का संबंध शांखायन शाखा से माना जाता है। परन्तु जे० गोंडा का मत है कि शांखायन श्रौत सूत्र का संबंध बाष्कल शाखा से है। जैसा कि ऊपर कहा गया है आश्वलायन श्रौत सूत्र भी शाकल शाखा के अतिरिक्त बाष्कल शाखा से ग्रहण करता है।

दोनो सूत्रों में से पहला कौन-सा है, यह कहना कठिन है। परन्तु रचना-प्रक्रिया की द ष्टि से आश्वलायन श्रौत सूत्र पूर्व का प्रतीत होता है क्योंकि इसमें विषय-वस्तु उतनी व्यवस्थित नहीं है जितनी शांखायन श्रौत सूत्र में। भाषा भी आश्वलायन श्रौत सूत्र की प्राचीन प्रतीत होती है और ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा के समान है।

आश्वलायन का काल :-

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, षड्गुरुशिष्य के अनुसार आश्वलायन शौनक का शिष्य था। आश्वलायन श्रौत तथा आश्वलायन ग ह्य सूत्र में शौनक के मत भी अनेक बार उद्ध त किए गए हैं और आश्वलायन ग ह्य सूत्र में शौनक को नमस्कार किया गया है। शौनक को परम्परा से 'ब हद्देवता' नामक ग्रन्थ का रचयिता माना जाता है। परन्तु विद्वानों का मत है कि ब हद्देवता शौनक की परम्परा के किसी शिष्य द्वारा रचित है जो शौनक से बहुत बाद का नहीं था।

ब हद्देवता में यास्क तथा उसके निरुक्त का नामोल्लेख है परन्तु कात्यायन तथा उनके ग्रन्थ सर्वानुक्रमणी का उल्लेख नहीं है। मैक्डोनल के अनुसार यह कात्यायन पाणिनि से पूर्ववर्ती थे क्योंकि सर्वानुक्रमणी में अनेक अपाणिनीय शब्द रूप मिलते हैं। इसलिए ब हद्देवता का काल यास्क और पाणिनि के बीच कहीं होना चाहिए। ब हद्देवता में आश्वलायन के नाम का भी उल्लेख है। इसलिए आश्वलायन को इससे पूर्व ही माना जाना चाहिए। इस प्रकार आश्वलायन का समय निश्चित रूप से ५०० या ६०० शताब्दी पूर्व ही होना चाहिए।

२. शुक्ल यजुर्वेदीय श्रौतसूत्र :-

शुक्ल यजुर्वेद का केवल एक ही श्रौतसूत्र उपलब्ध है—कात्यायन श्रौतसूत्र।

कात्यायन श्रौतसूत्र :-

कात्यायन श्रौतसूत्र शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा से सम्बन्धित है क्योंकि इस शाखा के मन्त्रों को प्रतीकों के द्वारा निर्दिष्ट किया गया है जब कि शुक्ल यजुर्वेद की काण्व शाखा सहित अन्य वेदों के मन्त्रों को पूर्ण रूप में दिया गया है। इस श्रौतसूत्र में वर्णित यज्ञों का क्रम भी माध्यन्दिन शाखा के अनुरूप है। कात्यायन श्रौतसूत्र में प्रतीक द्वारा निर्दिष्ट केवल एक मन्त्र (६.११.२०) ऐसा है जो तैत्तिरीय संहिता (३.२.५१) (कृष्ण यजुर्वेद) से सम्बन्धित है। इसका अर्थ यह नहीं कि इस मन्त्र के द्वारा इस सूत्र का सम्बन्ध तैत्तिरीय संहिता से जोड़ा जा सकता है। सम्भवतः यह मन्त्र उस काल में बहुत लोकप्रिय और प्रचलित हो। यह भी सम्भव है कि शुक्ल यजुर्वेदीय शाखा में भी यह मन्त्र प्रचलन में रहा हो।

इस श्रौतसूत्र के रचयिता परम्परा द्वारा कात्यायन माने जाते हैं। श्रीदेवकृत व्याख्या में अध्याय के अन्त में कात्यायन को ही इस सूत्र का रचयिता कहा गया है—'इति श्रीयाज्ञिकदेवकृतायां कात्यायनसूत्रपद्धतौ आदिमो ध्यायः समाप्तः।' श्रौतसूत्र के अध्याय की समाप्ति में इसे कातीय श्रौतसूत्र कहा गया है—'इति कातीये श्रौतसूत्रे प्रथमो ध्यायः।' 'कात' शब्द कात्यायन का ही संक्षिप्त रूप प्रतीत होता है।

ये कात्यायन कौन थे, यह एक जटिल प्रश्न बना हुआ हे। प्राचीन भारतीय वाङ्मय में कात्यायन का नाम बहुत ही महत्त्वपूर्ण रहा है। कात्यायन के नाम से अनेक ग्रन्थ प्रचलित हैं। कात्यायन के नाम से श्रौतसूत्र के अतिरिक्त, सर्वानुक्रमणी, वाजसनेयी प्रातिशाख्य, पाणिनि की अष्टाध्यायी पर वार्तिक तथा स्वर्गारोहण काव्य प्रचलित हैं। क्या इन सभी ग्रन्थों के रचयिता एक ही कात्यायन थे अथवा प थक्-प थक्, यह एक विवाद का विषय बना हुआ है।

कात्यायन के अनेक पर्यायवाची नाम भी प्रचलित रहे हैं। पतंजलि ने कात्य, कात्यायन तथा वररुचि नामों को एक ही व्यक्ति के लिए प्रयोग किया है। पुरुषोत्तम देव ने कात्यायन के पांच नाम बताए हैं—मेधाजित्, कात्य, कात्यायन, पुनर्वसु तथा वररुचि। हेमचन्द्र ने भी कात्यायन के पर्यायवाची शब्द वररुचि मेधाजित् तथा पुनर्वसु गिनाए हैं।

कात्यायन के विषय में भारतीय परम्परा से जो सूचनाएं प्राप्त होती हैं उससे कात्यायन के काल तथा उसके एक या अनेक होने के विषय में अनेक भ्रान्तियां व्याप्त हैं। सोमदेव कृत कथासरित्सागर में कात्यायन को पाणिनि का समकालीन तथा व्याकरण विषय में उसका प्रतिद्वन्द्वी माना है। उसने पाटलिपुत्र के राजा नन्द का बाद में योगनन्द नाम से मन्त्रित्व स्वीकार किया, यह भी बताया गया है।

स्कन्द पुराण में वेद सूत्र के रचयिता कात्यायन को याज्ञवल्क्य का पुत्र बताया गया है। कात्यायन यज्ञविद्या में निपुण थे। वररूचि उनका गुणज्ञ पुत्र था।

प्रतिज्ञा-परिशिष्ट के भाष्यकार अनन्तदेव याज्ञिक के अनुसार कात्यायन ने कल्पसूत्रों के साथ-साथ अठारह परिशिष्टों की रचना की जो इस प्रकार हैं—

१. यूपलक्षण, २. छागलक्षण, ३. प्रतिज्ञा, ४. अनुवाकसंख्या, ५. चरणव्यूह, ६. श्राद्धकल्प, ७. शुल्ब, ८. ऋग्यजुष्, ९. पार्षद, १०. इष्टकापूरण, ११. प्रवराध्याय, १२. मूलाध्याय, १३. उक्थशास्त्र, १४. निगम, १५. यज्ञपार्श्व, १६. हौत्रिक, १७. प्रसवोत्थान, १८. कूर्मलक्षण।

सर्वानुक्रमणी के भाष्यकार षड्गुरुशिष्य के अनुसार कात्यायन शौनक तथा आश्वलायन की शिष्य परम्परा में थे। शौनक के शिष्य आश्वलायन से ज्ञान प्राप्त करके कात्यायन ने सूत्र की रचना की। शौनक ने दस ग्रन्थों की रचना की तथा आश्वलायन ने तीन ग्रन्थों की रचना की जैसे—वाजसनेयि-सूत्र, सामवेद के उपग्रन्थ, स्म ति, भ्राज-श्लोक, अथर्ववेद की ब्राह्मकारिकाएं, पाणिनीय व्याकरण पर वार्तिक

तथा सर्वानुक्रमणी।

समुद्रगुप्त द्वारा रचित माने गए 'कृष्ण चरित' में कात्यायन को न केवल पाणिनीय व्याकरण पर वार्तिकों का रचयिता अपितु 'स्वर्गारोहण' नामक काव्य का रचयिता भी माना गया है। यह काव्य बहुत ही सुन्दर बताया गया है तथा कात्यायन को कविकर्मदक्ष कहा गया है।

उपर्युक्त विवरण से इतना स्पष्ट है कि कात्यायन नाम से अनेक ग्रन्थ प्रचलित रहे हैं। परन्तु इन सब ग्रन्थों के रचयिता एक ही कात्यायन हैं, यह एक विवाद का विषय है। परम्परागत विवरणों से इन सब ग्रन्थों के रचयिता एक ही कात्यायन हैं। परन्तु ऐतिहासिक द ष्टि से परम्परा पर इतना विश्वास नहीं किया जा सकता क्योंकि विभिन्न कालों में लिखे गए अनेक ग्रन्थों को किसी एक ही व्यक्ति का मानना भारतीय परम्परा में प्रायः प्रचलित रहा है, जैसे भिन्न कालों में लिखे गए पुराण और महाभारत का रचयिता एक व्यास ही माना गया है। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि एक ही वंश परम्परा के अनेक व्यक्तियों को एक ही वंश-नाम से पुकारा जाता रहा है, इसी कारण भ्रम वश भिन्न व्यक्तियों को एक ही व्यक्ति मान लिया जाता है। कात्यायन के विषय में भी ऐसा ही प्रतीत होता है।

मैक्समूलर ने एक ही कात्यायन माना है। उसने सोदेव कृत कथा-सरितसागर पर विश्वास करके कात्यायन को पाणिनि का समकालीन मानकर उसका काल ३५० ई० पूर्व माना है। वेबर और मैक्डानल दो कात्यायन मानते हैं। उनके अनुसार वाजसनेयि प्रातिशाख्य, सर्वानुक्रमणी तथा श्रौतसूत्र के रचयिता वार्तिककार कात्यायन से भिन्न तथा पूर्ववर्ती हैं तथा प्रथम कात्यायन का काल चतुर्थ शताब्दी ई० पूर्व का अर्ध भाग है। उनके इस कालनिर्णय का आधार उनकी यह धारणा है कि वाजसनेयि प्रातिशाख्य तथा अन्य सभी प्रातिशाख्य पाणिनि से पूर्ववर्ती हैं। परन्तु कोल्डुस्टकर का मत इनसे भिन्न है। उसके अनुसार वाजसनेयि प्रातिशाख्य तथा वार्त्तिकों के रचयिता एक ही कात्यायन थे और पाणिनि से उत्तरवर्ती थे। डॉ० कमला प्रसाद सिंह ने सभी विद्वानों के मत का समाहार करके यह निष्कर्ष निकाला है कि परिशिष्टों, प्रातिशाख्य, श्रौतसूत्र, सर्वानुक्रमणी तथा वार्त्तिकों के रचयिता एक ही कात्यायन थे और उनका काल चतुर्थ शताब्दी का अर्ध भाग है।

परन्तु सभी ग्रन्थों के रचयिता एक ही कात्यायन माना उचति प्रतीत नहीं होता। पाणिनि के व्याकरण पर वार्त्तिक लिखकर प्रातिशाख्य लिखना और पाणिनि का उल्लेख न करना असंगत लगता है। वाजसनेयि प्रातिशाख्य में व्याडि, गार्ग्य, शाकटायन, शाकल्य आदि आचार्यों के मत दिए गए हैं परन्तु पाणिनि का उल्लेख कहीं भी नहीं है। अपरंच वाजसनेयि प्रातिशाख्य में गुण आदि नियमों के लिए कई सूत्र दिए गए हैं जिनके लिए पाणिनि का केवल एक ही सूत्र मिलता है। पाणिनि के व्याकरण से इतना सुपरिचित होकर उसके नियमों का उल्लेख न करना अथवा उनका ध्यान न रखना उचित प्रतीत नहीं होता।

अधिक संगत यह बात प्रतीत होती है कि याज्ञिक कात्याायन वार्तिककार कात्यायन से भिन्न थे। याज्ञिक कात्यायन ने वैदिक साहित्य यथा श्रौतसूत्र, परिशिष्ट, सर्वानुक्रमाणी, वाजसनेयि प्रातिशाख्य ग्रन्थों की रचना की जबकि दूसरा कात्यायन पूर्ववर्ती कात्यायन का वंशज था तथा उसने पाणिनि के व्याकरण पर वार्तिक लिखे।

इस प्रकार पूर्ववर्ती कात्यायन का काल पाणिनि से कुछ पूर्व का ही रहा होगा।

कात्यायन श्रौतसूत्र में कुल २६ अध्याय हैं जिनमें २३० कण्डिकाएं हैं। यह श्रौतसूत्र विषय की द ष्टि से व्यापक तथा व्यवस्थित है। इसमें अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास पिण्डपित यज्ञ, दाक्षायण, आग्रहायण, अग्न्याधान, पुनराधेय, चातुर्मास्य, निरूढ, पशुबन्ध, अग्निष्टोम, द्वादशाह, गवाम्-अयन, वाजपेय, राजसूय, अग्निचयन, सौत्रामणी, अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध, पित मेध, एकाह-यज्ञ, अहीन-यज्ञ, सत्र, प्रवर्ग्य यज्ञों का वर्णन है।

इस श्रौतसूत्र में सबसे पहले यज्ञ के अधिकारी व्यक्तियों का वर्णन किया है। उपर्युक्त श्रौतसूत्रों में इस प्रकार का वर्णन नहीं है। इस श्रौतसूत्र के अनुसार अंगहीन, अश्रोत्रिय, नपुंसक तथा शूद्रों को यज्ञ का अधिकार नहीं था। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यों के साथ स्त्री को भी यज्ञ का अधिकार था। इस श्रौतसूत्र में अन्य श्रौतसूत्रों की अपेक्षा विषय को अधिक स्पष्टतया समझााने का प्रयत्न किया गया है। यज्ञ और होम में अन्तर बताया है।

कात्यायन श्रौतसूत्र मुख्य रूप से शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा के शतपथ ब्राह्मण पर आधारित है। कात्यायन श्रौतसूत्र के अध्याय २-१८ तक शतपथ ब्राह्मण के प्रथम नौ काण्डों पर आधारित हैं। अध्याय १६ तथा २५ बारहवें काण्ड पर तथा २० तथा २१ तेरहवें काण्ड पर आधारित है। २६वां अध्याय १४वें काण्ड पर तथा २० तथा २१ तेरहवें काण्ड पर आधारित हैं। २६वां अध्याय १४वें काण्ड पर आधारित है। शतपथ ब्राह्मण के अतिरिक्त ताण्ड्य महाब्राह्मण से भी कात्यायन श्रौतसूत्र में ग्रहण किया गया है। कात्यायन श्रौत सूत्र के अध्याय २२-२४ ताण्डय महाब्रह्मण के अध्याय १६-२५ पर आधारित है।

कात्यायन श्रौतसूत्र मे शतपथ ब्राह्मण का अन्धानुकरण नहीं किया गया है। केवल यज्ञ से सम्बन्धित भाग को ही ग्रहण किया गया है। कात्यायन श्रौत सूत्र में ऐसे भी अनेक सूत्र हैं जो उपर्युक्त किसी भी ब्राह्मण पर आधारित नहीं हैं। कही-कहीं शतपथ ब्राह्मण से मतभेद भी दिखाई देता है। उदाहरणतया परिस्रुत के क्रयण के साथ कात्यायन श्रौत सूत्र में द्रव्यों का क्रयण भी बताया गया है जबकि शतपथ ब्राह्मण में द्रव्यों के क्रमण का विधान नहीं है—

कात्यायन श्रौतसूत्र में अनेक आचार्यों के मत दिए गए हैं जैसे— कार्षाजिनि, बादरि, काशकृत्स्नि, जातुकर्व्य, भाद्वाज, लौगाक्षि तथा वात्स्य।

कात्यायन श्रौतसूत्र तथा जैमिनि के पूर्वमीमांसा सूत्र में कहीं-कहीं बहुत अधिक समानता दिखाई देती है। इस कारण से कुछ विद्वान् कात्यायन श्रौतसूत्र को पूर्वमीमांसा सूत्र के बाद का मानते हैं। परन्तु अन्य विद्वान् यह मानते हैं कि दोनों ही ग्रन्थों ने किसी पूर्ववर्ती ग्रन्थ से ग्रहण किया है जिससे दोनों में समानता प्रतीत होती है। कुछ विद्वानों का मत है कि पूर्वमीमांसा सूत्र कात्यायन श्रौतसूत्र से बाद का है क्योंकि पूर्वमीमांसा सूत्र में अनेक स्थल ऐसे हैं जो बाद की विचारधार के परिचायक माने जा सकते हैं। पूर्वमीमांसा सूत्र में स्म ति ग्रन्थों से भी उद्धरण दिए गए हैं जो निश्चित रूप से श्रौतसूत्र से बाद के हैं।

कात्यायन श्रौतसूत्र पर कर्काचार्य का भाष्य, श्रीदेवकृत व्याख्या और पद्धति नामक टीकाएं हैं। श्रीदेव के गुरु श्रीपति थे तथा उनके पिता का नाम प्रजापति था। श्रीदेव से पूर्व कात्यायन श्रौत सूत्र के और भी भाष्य विद्यमान थे, यह बात उनके इस उल्लेख से स्पष्ट है—

प्रजायतेस्तनूजो हं कुर्वे व्याख्यामिमां स्फुटाम्।

जयन्ति ते गुरोर्वन्द्याः श्रीपतेः पादपांसवः।

येषां प्रसादादज्ञो पि चापलं कर्तुमुद्यतः।

आलोच्य सूत्रभाष्यादि क्रियते संग्रहो यतः।।

३. कृष्ण यजुर्वेद के श्रौतसूत्र :-

कृष्ण यजुर्वेद की केवल दो संहिताओं से सम्बन्धित श्रौतसूत्र उपलब्ध हुए हैं— तैत्तिरीय संहिता तथा मैत्रायणी संहिता। काठक संहिता से सम्बन्धित श्रौतसूत्र का उल्लेख मात्र है परन्तु वह प्राप्त नहीं हुआ है। प्रत्येक शाखा से सम्बन्धित श्रौतसूत्रों का वर्णन इस प्रकार है।

तैत्तिरीय संहिता के श्रौतसूत्र :-

तैत्तिरीय संहिता के कल्पसूत्र संख्या में सबसे अधिक तथा विषय में सबसे विस्त त तथा व्यवस्थित हैं। कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के छः कल्पसूत्र उपलब्ध हैं—१. बौधायन, २. भारद्वाज, ३. आपस्तम्ब, ४. सत्याषाढ़ हिरण्यकेशी, ५. वैखानस तथा ६. वाधूल। इनमें से बौधायन, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी तथा वैखानस अपने सभी अंगों सहित विद्यमान हैं। हिरण्यकेशी-श्रौतसूत्र पर अपनी वैजयन्ती टीका के प्रारम्भ में महादेव ने इसी क्रम से इन सूत्रकारों के प्रति सम्मान प्रकट किया है। बौधायन धर्मसूत्र के तर्पण प्रकरण (ष्प्५.६.१४) में तीन सूत्रकारों का क्रम इस प्रकार हैः काण्व बौधायन, आपस्तम्ब तथा सत्याषाढ हिरण्यकेशी।

बौधायन श्रौतसूत्र :-

तैत्तिरीय संहिता से सम्बन्धित यह श्रौतसूत्र सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और सम्भवतः सबसे अधिक प्राचीन है। वर्तमान बौधायन श्रौतसूत्र में ३० अध्याय हैं। इसमें क्रमशः दर्शपूर्णमास (अध्याय १) अग्न्याधेय (२) दशाध्यायिक, (पुनराधेय, अग्निहोत्र आदि—३) पशुबन्ध (४) चातुर्मास्य (५) अग्निष्टोम (६-८) प्रवर्ग्य (६) अग्निचयन (१०) वाजपेय (११) राजसूय (१२) इष्टिकल्प (१३) औपानुवाक्य (१४) अश्वमेध (१५) द्वादशाह (१६) उत्तराततति, (अतिरात्र, एकाह आदि, १७-१८) काठक सूत्र (१६) द्वैध (२०-२३) कर्मान्त (२४-२६) प्रायश्चित्त (२८-२६) शुल्बसूत्र (३०) विषयों का विवेचन किया गया है।

विद्वज्जनों का विचार है कि यह सूत्र पूर्ण रूप में एक ही समय और एक ही व्यक्ति द्वारा नहीं लिखा गया है। द्वैधसूत्र (अध्याय २०-२३) और कर्मान्तसूत्र (२४-२६) को तो निश्चित रूप से बाद में जोड़ा गया माना जाता है। इसके पक्ष में मुख्य तर्क यह कि द्वैधसूत्र बौधायन श्रौत सूत्र के अन्य अध्यायों से भिन्न रीति से लिखा गया है। द्वैधसूत्र में एक ही विषय पर भिन्न-भिन्न आचार्यों के मत प्रकट किए हैं जबकि अन्य अध्याओं में केवल बौधायन का ही मत दिया गया है। कर्मान्तसूत्र एक प्रकार से परिशिष्ट है। इसमें उन विषयों को लिया गया है जिनका पूर्ण विवेचन मुख्य सूत्र में नहीं हो सका है।

यह सूत्र विषय की द ष्टि से सम्यक् व्यवस्थित नहीं है। विषयों को उचित क्रम में नहीं रखा गया है। विषयों को अनेक स्थानों पर इस प्रकार से प्रस्तुत किया गया है जैसे कि उनका उल्लेख हो चुका है, जबकि उनका उल्लेख बाद में हुआ है। विषय क्रम अन्य श्रौतसूत्रों से भिन्न भी है।

यह सूत्र पूर्ण भी प्रतीत नहीं होता है। भाष्यकार भावस्वामी के मतानुसार इस सूत्र में से 'कौकिली सौत्रामणी' यज्ञ का प्रकरण लुप्त हो गया है और बौधायन परम्परा के अनुयायी इस यज्ञ को आपस्तम्बीय परम्परा का अनुकरण करके सम्पन्न करते हैं।

इस सूत्र की एक विशेषता यह है कि इस सूत्र में उपजीव्य संहिता के मन्त्रों को प्रतीकों के द्वारा उद्ध त न करके पूर्ण रूप में उद्ध त किया गया है। इस सूत्र का तैत्तिरीय संहिता के साथ संबंध इस बात से सिद्ध होता है कि इस सूत्र में तैत्तिरीय संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण से मन्त्र और गद्य भाग ज्यों के त्यों उद्ध त किए गए हैं। उद्ध त करते समय 'इति ब्राह्मणम्', 'अथ वै ब्राह्मणं भवति', 'यथाम्नातम्' आदि पदों का प्रयोग किया गया है।

बौधायन श्रौतसूत्र में उपर्युक्त संहिता और ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों से भी उद्धरण लिये गये हैं। छान्दोग्य ब्राह्मण (११.२) छागलेय ब्राह्मण (२३.५) पैंगलायनी ब्राह्मण (११.७) मैत्रायणी ब्राह्मण (३०.६) आदि ग्रन्थों का स्पष्ट उल्लेख है। बौधायन श्रौत सूत्र का उन्नीसवां अध्याय काठक सूत्र मान से प्रसिद्ध है। इसमें 'चयन' यज्ञों का विधान काठक शाखा के नियमों के अनुसार है। काण्व शाखा से भी इस सूत्र का सम्बन्ध है। बौधायन को सर्वत्र काण्व बौधायन कहा गया है। अन्य वैदिक ग्रन्थों का भी प्रभाव इस सूत्र में परिलक्षित होता है।

इस सूत्र की एक विशेषता यह है कि इसमें स्वयं बौधायन का नामोल्लख भी कई स्थानों पर हुआ है (बौधायन श्रौत सूत्र ४.११; ११.२ आदि)। यह नाम कहीं-कहीं बोधायन भी मिलता है। परन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि बौधायन नाम ही शुद्ध है। यह भी सम्भव है कि बौधायन किसी बोधायन नाम से आचार्य के शिष्य हों। बौधायन ग ह्यसूत्र के तर्पण प्रकरण में प्रवचनकार के रूप में कण्व बोधायन इस नाम से स्मरण किया गया है जबक आपस्तम्ब का सूत्रकार के रूप में स्मरण किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि 'कण्व बोधायन' और 'काण्व बौधायन' दो भिन्न व्यक्ति हों। बोधायन प्रवचन कर्त्ता हों और उनका शिष्य बौधायन सूत्रकार हो। डॉ० रामगोपाल दोनों ही नामों को एक ही व्यक्ति से सम्बन्धित मानते हैं।

बौधायन श्रौतसूत्र में संक्षिप्तता पर विशेष बल नहीं दिया गया है। ठीक प्रवचनकार की शैली में ही विषयों का व्याख्या न करके उन्हें स्पष्ट किया गया है। अनेक स्थल ब्राह्मण शैली से मिलते-जुलते हैं। इस सूत्र में मिथकीय कथाओं जैसे पुरुरवा और उर्वशी की कथा (१८, ४४-४५), ऋतुपर्ण की कथा (१८.१३) का भी समावेश है।

इस श्रौत सूत्र में जिन आचार्यों के मतों का उल्लेख किया गया है उनमें प्रमुख हैं—आत्रेय, औपमन्यव, कात्य, कात्यायन, गौतम आदि। बौधायन श्रौतसूत्र पर भावस्वामी का भाष्य है।

भारद्वाज श्रौतसूत्र :-

बौधायन के पश्चात् तैत्तिरीय संहिता से सम्बन्धित श्रौतसूत्रों में भारद्वाज श्रौतसूत्र का नाम है। भारद्वाज, आपस्तम्ब तथा सत्याषाढ हिरण्यकेशिन् इन तीनों का एक वर्ग है क्योंकि इनके श्रौतसूत्रों में परस्पर समानताएं हैं जो इन तीनों के परस्पर सम्बन्ध को प्रकट करती हैं।

भारद्वाज श्रौतसूत्र अपने पूर्णरूप में उपलब्ध नहीं है। इसके वर्तमान प्रकाशित रूप में १५ प्रश्न हैं। प्रत्येक प्रश्न के उपभाग हैं जिन्हें कण्डिका या अध्याय कहा जा सकता है। पहले चार प्रश्नों में दर्शपूर्णमास, पंचम में अग्न्याधेय, छठे में अग्निहोत्र और आग्रहायण, सप्तम में पशुबन्ध, अष्टम में चातुर्मास्य, नवम में प्रायश्चित्त तथा १०-१५ में ज्योतिष्टोम यज्ञों का वर्णन है।

अनेक प्रमाणों से इस बात की पुष्टि होती है कि भारद्वाज श्रौतसूत्र में और भी विषय वर्णित थे जो अभी उपलब्ध नहीं हो पाए हैं। उपलब्ध श्रौतसूत्र में अश्वमेध, राजसूय तथा वाजपेय जैसे महत्त्वपूर्ण यज्ञों का उल्लेख नहीं है। परन्तु राजसूय यज्ञ का वर्णन भारद्वाज श्रौत सूत्र में किया गया था, इसका ज्ञान भारद्वाज श्रौत सूत्र के ही इस सूत्र से होता है—

तेषां राजसूय एव कल्पो व्याख्यातो न्यत्र

हस्तिग्रहणादावेदनान्मुखविमार्जनादिति।

भारद्वाज श्रौ सूत्र के टीकाकारों ने इस सूत्र के अनेक उद्धरण दिए हैं जो वर्तमान श्रौ सूत्र में उपलब्ध नहीं है। टीकाकारों के उद्धरणों से ज्ञात होता है कि इसमें वैकल्पिक पशु यज्ञ, प्रायश्चित्त, अश्वमेध तथा सोमयज्ञ विद्यमान थे। इनके अतिरिक्त एक महत्त्वपूर्ण यज्ञ—दाक्षायण यज्ञ—जो दक्षिण में प्रचलित था, इस श्रौत सूत्र में विद्यमान था परन्तु आज उपलब्ध नहीं है।

इस सूत्र के रचयिता भरद्वाज थे या भारद्वाज इस विषय में मतभेद हैं। भारद्वाज ग ह्यसूत्र (३. ११) में भारद्वाज नाम दिया गया है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के टीकाकार धूर्तस्वामी ने भी भरद्वाज नाम दिया गया है परन्तु अन्य कुछ टीकाओं में भारद्वाज नाम दिया गया है। भरद्वाज या भारद्वाज गोत्र-परम्परा का द्योतक है और इसी परम्परा के किसी व्यक्ति ने यह ग्रन्थ लिखा है।

भारद्वाज श्रौतसूत्र में यज्ञों का विवेचन बौधायन श्रौत सूत्र की तुलना में संक्षिप्त है। बौधायन श्रौत सूत्र से इस श्रौतसूत्र की एक भिन्नता यह है कि जहां बौधायन श्रौतसूत्र में तैत्तिरीय संहिता के मन्त्र पूर्ण रूप में दिए गए हैं वहां भारद्वाज श्रौत सूत्र से तैत्तिरीय संहिता के मन्त्र अन्य सूत्रों की भांति प्रतीकों में दिए गए हैं। अन्य सूत्रों में कार्य निर्देश देकर वहां विनियुक्त होने वाला मन्त्र दिया गया है, परन्तु भारद्वाज श्रौत सूत्र में मन्त्र पहले है; कार्य निर्देश बाद में।

भारद्वाज श्रौतसूत्र में तैत्तिरीय संहिता के अतिरिक्त यजुर्वेद की अन्य शाखाओं से भी उद्धरण ग्रहण किए गए हैं। मैत्रायणी संहिता से ४० तथा काठकसंहिता से भी लगभग इतने ही तथा वाजसनेयि-संहिता से लगभग २० मन्त्र ग्रहण किए गए हैं। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद, अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण, कौषीतकी ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण आदि ग्रन्थों से भी उद्धरण लिये गए हैं। परन्तु नाम केवल कौषीतकी ब्राह्मण का ही दिया गया है। ये दोनों व्यक्ति यज्ञ-विषय के प्रमुख विद्वान् थे, इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि इनका नामोल्लेख सूत्र-साहित्य में बहुत अधिक हुआ है, जैसा कि निम्नलिखित विवरण से स्पष्ट है—

भारद्वाज श्रौतसूत्र	२८ बार
भारद्वाज पारिशेष सूत्र	६ बार
आपस्तम्ब श्रौतसूत्र	१८ बार
आपस्तम्ब श्रौत सूत्र पर रुद्रदत्त की टीका में	२१ बार
आश्वलायन श्रौत सूत्र	२ बार
अथर्वप्रायश्चित्तानि	२ बार
सत्याषाढ सूत्र पर महादेव टीका में	१ बार

इनके अतिरिक्त औडुलोमि तथा बादरायण का नाम भी एक-एक बार मिलता है। 'एकम्', 'एके', 'विज्ञायते' आदि निर्देशों से अनेक मत भारद्वाज श्रौतसूत्र तथा बौधायन श्रौत सूत्र में दिए गए हैं।

भारद्वाज श्रौतसूत्र तथा बौधायन श्रौतसूत्र :-

दोनों ही श्रौतसूत्र यद्यपि एक ही संहिता से सम्बन्धित हैं परन्तु दोनों में कुछ मूलभूत अन्तर हैं। बौधायन श्रौत सूत्र में तैतरीय संहिता के मन्त्र पूर्णरूप में दिए हैं परन्तु भारद्वाज श्रौत सूत्र में ये मन्त्र प्रतीकों के द्वारा दिए गए हैं। बौधायन श्रौत सूत्र में जहां यज्ञों का विस्तार से वर्णन किया गया है, वहां भारद्वाज श्रौत सूत्र में संक्षिप्त विवरण है। यज्ञ सम्बन्धी विषयों के विवरण में भी भिन्नता है। बौधायन श्रौतसूत्र के द्वैधसूत्र में जिन व्यक्तियों के मत दिए गए हैं उनमें से किसी का भी उल्लेख भारद्वाज श्रौतसूत्र में नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि भारद्वाज श्रौतसूत्र तथा बौधायन श्रौतसूत्र एक शाखा से सम्बन्धित होते हुए भी एक-दूसरे से स्वतन्त्र हैं।

भारद्वाज श्रौतसूत्र तथा आपस्तम्ब :-

भारद्वाज श्रौत सूत्र तथा आपस्तम्ब श्रौत सूत्र में परस्पर अत्यधिक समानता है। यज्ञों के विवरण दोनों में समान हैं। सूत्र भी परस्पर मिलते-जुलते हैं। उनकी संख्या तथा क्रम भी मिलते-जुलते हैं। भारद्वाज श्रौतसूत्र आपस्तम्ब के सूत्र से पूर्ववर्ती प्रतीत होता है और आपस्तम्ब पूर्वसूत्र पर आश्रित है।

भारद्वाज पित मेधिक सूत्र तथा परिशेषसूत्र :-

भारद्वाज श्रौतसूत्र के पूरक ग्रन्थों के रूप में भारद्वाज पित मेधिक तथा भारद्वाज परिशेषसूत्र और उपलब्ध होते हैं। पित मेधिक सूत्र में दो प्रश्न हैं। इसमें म तक के संस्कार जैसे श्मशान में ले जाना, चिता बनाना, अस्थिसंचयन, यमयज्ञ आदि क्रियाओं का विवेचन है। परिशेष सूत्र में कुल २२२ सूत्र हैं। इनमें

से ६४ सूत्र तो उन विषयों से सम्बन्धित हैं जिनका उल्लेख मुख्य श्रौतसूत्र में नहीं हुआ है। शेष सूत्र पूर्व वर्णित यज्ञों से सम्बन्धित अतिरिक्त सूचना देते हैं। परिशेष सूत्र यद्यपि बाद में जोड़ा गया है परन्तु इसे मुख्य श्रौतसूत्र के समान ही प्रामाणिकता मिली है। सभी टीकाकारों ने परिशेष सूत्र में आए सूत्रों को भारद्वाज श्रौतसूत्र के सूत्र कहकर उद्ध त किया है।

कालक्रम की द ष्टि से भारद्वाज श्रौतसूत्र, बौधायन श्रौत सूत्र के बाद का तथा आपस्तम्ब श्रौतसूत्र से पहले का है।

भारद्वाज श्रौतसूत्र का आदि स्थान :-

भारद्वाज श्रौतसूत्र का आदि स्थान कहां था, इस सम्बन्ध में सी० जी० काशीकर का मत है कि मूल श्रौतसूत्र उत्तर भारत में लिखा गया परन्तु बाद में भारद्वाज परिवार के लोग दक्षिण भारत की ओर चले गए। इस सम्बन्ध में उनके मुख्य तर्क ये हैं—

१. भारद्वाज ग ह्य सूत्र (१.२.१) में सीमन्तोन्नयन संस्कार के संबंध में निम्नलिखित श्लोक दिया गया है—

सोम एव नो राजेत्याहुर्ब्राह्मणीः प्रजाः।

विव त्तचक्रा आसीनास्तीरेण यमुने तव।।

इस सूत्र में आगे कहा गया है कि यमुना के स्थान पर उस नदी का नाम दिया जाना चाहिए जिसके किनारे यज्ञ सम्पन्न हो। टीकाकार ने इसे स्पष्ट करते हुए यमुना के स्थान पर वेगवती तथा कावेरी नदी का नाम लिया है—'यथा तीरेण वेगवती तव तीरेण कावेरी तव।' इससे प्रतीत होता है कि टीकाकार, जो भारद्वाज मत का अनुयायी था, वेगवती तथा कावेरी के निकटवर्ती प्रदेश में रहता था जबकि मूल श्रौत का रचयिता यमुना के निकटवर्ती प्रदेश में रहता था।

२. आश्मरथ्य तथा आलेखन नाम विद्वानों के मत आश्वलायन भारद्वाज तथा आपस्तम्ब के श्रोतसूत्रों में अधिकांशतः मिलते हैं। आश्वलायन श्रौतसूत्र में सरस्वती, प्लाक्षप्रस्रवण, यमुना तथा कारपवच नामों का उल्लेख है जो आश्वलायन को कुरुपांचाल प्रदेश का निवासी सिद्ध करता है। इसी प्रदेश से सम्बन्धित आश्मरथ्य तथा आलेखन रहे होंगे। इसीलिए भारद्वाज तथा आपस्तम्ब का निवास भी कुरुपांचाल प्रदेश रहा होगा।

३. आपस्तम्ब और मानव श्रौतसूत्रों में बहुत समानता है। मानव श्रौतसूत्र मैत्रायणी संहिता से सम्बन्धित है और मैत्रायणी संहिता पंजाब में प्रचलित थी, इसलिए मानव श्रौतसूत्र का स्थान पंजाब में ही कहीं होगा। इसलिए आपस्तम्ब भी इससे कहीं अधिक दूर नहीं रहा होगा। भारद्वाज श्रौतसूत्र पर मैत्रायणी संहिता का प्रभाव आपस्तम्ब श्रौत सूत्र पर पड़े प्रभाव से भी अधिक है। इसलिए भारद्वाज श्रौतसूत्र का स्थान पंजाब के अधिक निकट होगा। इससे सिद्ध होता है कि भारद्वाजों का स्थान उत्तर पश्चिम में था तो आपस्तम्बीयों का स्थान उत्तरपूर्व में था।

परन्तु भारद्वाज श्रौतसूत्र के दक्षिण में रचे जाने के प्रमाण भी कम नहीं हैं। सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि आपस्तम्बीय शाखा के लोग इस समय केवल दक्षिण भारत में ही विद्यमान हैं। आपस्तम्बीय कल्प तथा भारद्वाज कल्प के हस्तलेख भी दक्षिण से ही मिले हैं। इसी आधार पर ब्यूलर, गार्वे तथा गोंडा आदि विद्वान् आपस्तम्बीय ब्राह्मणों को दक्षिण भारत का ही मानते हैं। आपस्तम्बीय श्रौतसूत्र तथा भारद्वाज श्रौतसूत्र की समानता के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आपस्तम्ब यदि दक्षिण के थे तो भारद्वाज भी उनके निकटवर्ती थे। परन्तु यह विषय विवादास्पद है। डॉ० रामगोपाल आपस्तम्ब को उत्तर भारत का मानते हैं।

भारद्वाज श्रौतसूत्र सी० जी० काशीकर द्वारा सम्पादित वैदिक संशोधन मंडल से प्रकाशित है। इससे पूर्व यह डॉ० रघुवीर द्वारा अपूर्ण रूप में प्रकाशित किया गया था।

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र :-

आपस्तम्ब कल्प अपने सभी चारों अंगों सहित विद्यमान है। इस कल्प में कुल ३० प्रश्न हैंः श्रौतसूत्र—प्रश्न १ से २३ तक, प्रवर एवं होत्रक-प्रश्न २४, परिभाषा-प्रश्न २५, ग ह्यसूत्र के मन्त्र-प्रश्न २६, ग ह्यसूत्र-प्रश्न २७, धर्मसूत्र-प्रश्न २८ तथा २६ तथा शुल्बसूत्र-प्रश्न ३०।

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र तथा इस कल्प के अन्य अंग किसी एक ही व्यक्ति की रचना हैं, इस संबंध में विद्वानों में मतभेद नहीं है। परन्तु अपने मूलरूप में यह सूत्र इसी प्रकार लिखा गया था, विद्वानों को इसमें सन्देह है। प्रो० गार्वे के अनुसार आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में अनेक बातें बाद में जोड़ी गई हैं। उनके मतानुसार समस्त २४वां प्रश्न बाद में जोड़ा गया है। समस्त २४वां प्रश्न भी किसी एक व्यक्ति कर रचना नहीं है। उनके अनुसार इस प्रश्न के दो भाग अर्थात् परिभाषा (कण्डिका १-४) तथा प्रवर प्रकरण (कण्डिका ५-१०) किसी एक व्यक्ति की रचना है, तो त तीय भाग अर्थात् होत्रक (कण्डिका ११-१४) किसी अन्य व्यक्ति द्वारा रचित है। परन्तु डॉ० गार्वे ने अपने मत की पुष्टि में जो तर्क दिए हैं वे अधिक सबल नहीं हैं। उदाहरणतया उन्होंने कहा है कि 'वा' के द्वारा जो सूत्र या सूत्र भाग मिलता है वह बाद में जोड़ा गया है। परन्तु यह युक्तियुक्त नहीं है। वैकल्पिक विधान तो सूत्रकार स्वयं ही दे सकता था।

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के तैत्तिरीय संहिता से सम्बन्धित होने में कोई सन्देह नहीं है। इसमें तैत्तिरीय संहिता के साथ-साथ तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय आरण्यक से भी ग्रहण किया गया है। प्रो० गार्वे के अनुसार 'इत्युक्तम्' कथन के द्वारा जो उद्धरण दिये गए वे तैत्तिरीय संहिता से लिये गए हैं। 'इति विज्ञायते', 'यथा ब्राह्मण', 'यथा समाम्नातम्', 'वदति' आदि कथनों द्वारा जो उद्धरण दिए गए हैं उनका संबंध तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय आरण्यक से है।

तैत्तिरीय संहिता के अतिरिक्त आपस्तम्ब पर अन्य शाखाओं का भी प्रभाव है। तैत्तिरीय संहिता के बाद आपस्तम्ब श्रौत सूत्र में सबसे अधिक प्रभाव मैत्रायणी संहिता का द ष्टिगोचर होता है। लगभग ४७ उद्धरण मैत्रायणी संहिता से लिये गए हैं। काठक संहिता से भी कम से कम १० उद्धरण लिये गए हैं तथा कपिष्ठल संहिता से कम से कम तीन। शुक्ल यजर्वेद की वाजसनेयी शाखा का भी प्रभाव आपस्तम्ब श्रौत सूत्र ने सामवेद से अधिक मन्त्र नहीं लिए हैं परन्तु सामवेद के प्रमुख ब्राह्मण पंचविंश ब्राह्मण से अनेक समानताएं द ष्टिगोचर होती हैं। उदाहरणतया, आपस्तम्ब श्रौत सूत्र १०.१.४.३, पंचविंशब्राह्मण १.१.१-४. अथर्ववेद से भी लगभग २५ उद्धरण लिये गए हैं।

आपस्तम्ब श्रौत सूत्र में कौषीतकिनः, छन्दोगब्राह्मणम्, ताण्डकम्, तण्डिनः, पालिंगायनिका, पैंगायनिब्राह्मण, बह्व चब्राह्मणम्, शाट्यायनकम्, शाट्यायनि ब्राह्मण, शैलाविब्राह्मण, कंकति ब्राह्मण नामों का उल्लेख है। इनमें से कई ब्राह्मण जैसे कंकति ब्राह्मण, पैंगायनि ब्राह्मण आदि ऐसे हैं जो अब लुप्त हो गए हैं।

याज्ञिक आचार्यों में आश्मरथ्य तथा आलेखन के नाम अनेक बार लिये गए हैं। इन दोनों आचार्यों का नाम अन्य श्रौतसूत्र तथा आश्वलायन श्रौत सूत्र, भारद्वाज श्रौतसूत्र, हिरण्यकेशि-श्रौतसूत्र में भी लिया गया है।

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र की अन्य कई श्रौतसूत्रों से समानता मिलती है। इस श्रौतसूत्र का सर्वाधिक सम्बन्ध मैत्रायणी संहिता के मानव श्रौतसूत्र से है। प्रो० गार्वे के अनुसार मानव श्रौतसूत्र आपस्तम्ब श्रौत सूत्र का मुख्य आधार है। कहीं कहीं तो आपस्तम्ब श्रौत सूत्र, मानव श्रौत सूत्र का अनुकरण मात्र

प्रतीत होता है इसीलिए प्रो० नौअर (ज्ञदंनमत) ने आपस्तम्ब श्रौतसूत्र को मानव श्रौतसूत्र की सर्वोत्तम टीका कहा है। दोनों श्रौतसूत्रों के शब्दों में बहुत समानता है। आश्वलायन श्रौतसूत्र से भी कम से कम १५ स्थानों पर समानता है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र का प्रवर खण्ड (२४.५-१०) आश्वलायन श्रौतसूत्र के १२.१०-५ से मिलता है। शांखायन श्रौतसूत्र से भी कुछ समानताएं द ष्टिगोचर होती हैं। उदहारणतया आपस्तम्ब श्रौत सूत्र २१.५.१०.११ शांखायन श्रौत सूत्र १३.१४-६. आपस्तम्ब श्रौतसूत्र तथा भारद्वाज श्रौत सूत्र का संबंध पहले ही बताया जा चुका है। आपस्तम्ब के यज्ञ परिभाषा सूत्र (प्रश्न २४) की कात्यायन श्रौतसूत्र तथा जैमिनी के पूर्वमीमांसा सूत्र के साथ अनेक समानताएं हैं।

भाषा की द ष्टि से यह श्रौत सूत्र बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें जहां एक ओर प्राचीन वैदिक रूप मिलते हैं, वहां प्राकृत रूप तथा अनेक ऐसे रूप मिलते हैं जो पाणिनीय व्याकरण से सिद्ध नहीं होते।

आपस्तम्ब के मूल स्थान के विषय में पहले ही कहा जा चुका है कि ब्यूलर आदि कुछ विद्वान् आपस्तम्ब को दक्षिण में आन्ध्र प्रदेश का मानते हैं, तो कुछ अन्य विद्वान् उन्हें उत्तर-पूर्वी भारत का मानते हैं।

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के प्रथम १५ प्रश्नों पर रुद्रदत्त की टीका 'सूत्रदीपिका व त्ति' नाम से मिलती है जो रिचर्ड गार्बे द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित है। इस व त्ति में भारद्वाज, बौधायन, आश्वलायन, द्राह्यायण तथा सत्याषाढ़ सूत्रों से उद्धरण दिए गए हैं। इस सूत्र पर धूर्तस्वामी का भाष्य भी मिलता है जो नौ प्रश्न तक दो खण्डों में चिन्नस्वामी शास्त्री तथा पट्टाभिरामशास्त्री द्वारा सम्पादित तथा ओरियंटल इंस्टीट्यूट बडौदा द्वारा १६५५ तथा १६६३ में प्रकाशित है।

सत्याषाढ़ हिरण्यकेशि-श्रौतसूत्र :-

हिरण्यकेशि-श्रौतसूत्र सत्याषाढश्रौतसूत्र नाम से दश में भागों में प्रकाशित है। यद्यपि इसका नाम श्रौतसूत्र है परन्तु इसमें श्रौत, ग ह्य, धर्म, शुल्ब तथा पित मेध सूत्र संकलित हैं। इसमें कुल २६ प्रश्न हैं तथा एक परिशिष्ट है।

हिरण्यकेशिकल्प के १ से १८ तथा २१ से २४ प्रश्न को श्रौतसूत्र का भाग माना जा सकता है। १६ तथा २० प्रश्न ग ह्य सूत्र, २५ शुल्बसूत्र, २६-२७ तथा धर्मसूत्र तथा २८ तथा २६ पित मेध सूत्र के भाग हैं। श्रौत के बीच में ग ह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र से पहले शुल्बसूत्र का आना इस बात का संकेत है कि इस सूत्र का क्रम सम्यक् व्यवस्थित नहीं है। प्रारम्भ में इसका प्रयोग अलग-अलग होता रहा होगा परन्तु बाद में उनको एक स्थान पर संकलित कर दिया गया है।

हिरण्यकेशिसूत्र में मौलितका न के बराबर है। इसके श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र, ग ह्यसूत्र तथा शुल्बसूत्र आपस्तम्ब सूत्रों के समान हैं। पित मेधसूत्र भारद्वाज के पित मेधसूत्र के समान है। श्रौतसूत्र के भी कुछ अंश भारद्वाज श्रौतसूत्र के समान हैं,

भारद्वाज तथा आपस्तम्ब श्रौतसूत्र परस्पर मिलते-जुलते हैं और आपस्तम्ब और हिरण्यकेशि लगभग एक-जैसे हैं, इसलिए हिरण्यकेशी और भारद्वाज का संबंध स्वतः ही सिद्ध हो जाता है। भारद्वाज और हिरण्यकेशी के पित मेधसूत्र का समान होना उनके परस्पर सम्बन्ध को सिद्ध करता है। क्रम की द ष्टि से हिरण्यकेशिकल्प दोनों से ही बाद का है।

मन्त्रों को उद्ध त् करने में हि० श्रौत सूत्र में आपस्तम्ब श्रौत सूत्र का अनुकरण किया गया है। इसमें पहले मन्त्रों को दिया गया है तथा बाद में कार्य-विधान किया गया है। परन्तु भारद्वाज श्रौत सूत्र में यह क्रम विपरीत है। आपस्तम्ब श्रौत सूत्र के समान ही भारद्वाज श्रौत सूत्र में तैत्तिरीय संहिता के मन्त्रों को प्रतीकों से दिया गया है।

हिरण्यकेशि श्रौतसूत्र पर महादेव ने विस्त त भाष्य लिखा है जो उपर्युक्त रूप में प्रकाशित है।

वैखानस श्रौतसूत्र :-

वैखानस कल्पसूत्र अपने तीन अंगों यथा—१. श्रौतसूत्र २. ग ह्यसूत्र तथा ३. धर्मसूत्र में विद्यमान है। इस कल्प सूत्र की विशेषता यह है कि इसका क्रम सभी कल्पसूत्रों से भिन्न है। इसमें सबसे पहले ग ह्यसूत्र (प्रश्न १-७) तत्पश्चात् धर्मसूत्र (प्रश्न ८-१०) तथा उसके बाद श्रौतसूत्र (प्रश्न १२-३२)। बीच के प्रश्न ११ में प्रवरसूत्र है। केलेंड का मत है कि वैखानस कल्प इसी क्रम में लिखा गया था। वैखानस श्रौतसूत्र इसके ग ह्य और धर्मसूत्र से बाद का है। अन्य सभी कल्पसूत्रों में श्रौतसूत्र का स्थान सबसे पहले है। अपने मत की पुष्टि में केलेंड ने कई तर्क दिए हैं, यथा—

१ ग ह्यसूत्र में पिण्डपित यज्ञ का वर्णन है। यह विषय श्रौतसूत्र का है। परन्तु श्रौतसूत्र (३.६) में इसका केवल उल्लेख मात्र है। इसका तात्पर्य यह है कि पिण्डपित यज्ञ ग ह्यसूत्र से पहले ही लिखा जा चुका था।

२. श्रौतसूत्र में भाषा की अनियमितताएं लगभग नहीं के बराबर हैं।

३. श्रौतसूत्र में ग ह्य तथा धर्मसूत्रों की अपेक्षा मौलिकता कम है।

इस प्रकार डॉ० केलेंड ग ह्य और धर्मसूत्रों को एक ही व्यक्ति की रचना मानते हैं जबकि श्रौतसूत्र को वे स्पष्ट रूप से उसी व्यक्ति की रचना नहीं मानते हैं जिसने ग ह्य और धर्मसूत्र लिखे। परन्तु डॉ० रामगोपाल इन तीनों सूत्रों का रचयिता एक ही व्यक्ति को मानते हैं।

वैखानस श्रौतसूत्र अधिकांशतः हिरण्यकेशि—श्रौतसूत्र पर आधारित है परन्तु बौधायन और आपस्तम्ब श्रौतसूत्र का भी इस पर प्रभाव है।

वैखानस श्रौतसूत्र उसी तैत्तिरीय संहिता पर आधारित है जिस पर आपस्तम्ब और हिरण्यकेशी हैं अथवा उसकी कोई अपनी संहिता थी, इस विषय में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। यद्यपि अधिकांश मन्त्र और उद्धरण तैत्तिरीय संहिता तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में खोजे जा सकते हैं परन्तु कुछ ऐसे मन्त्र हैं जो तैत्तिरीय संहिता और ब्राह्मण में नहीं मिलते हैं। इस सूत्र में किसी ब्राह्मण का नामोल्लेख भी नहीं किया गया है। केलेंड के अनुसार आनन्दसंहिता में, जो वैखानस शाखा का ही ग्रन्थ है, वैखानस यजुर्वेद का उल्लेख है। अपरंच, वैखानस श्रौतसूत्र में उन मन्त्रों को जिन्हें आपस्तम्ब और हिरण्यकेशि श्रौतसूत्र में पूर्ण रूप में दिया गया है, प्रतीकों के माध्यम से दिया गया है। केलेंड की सूचना के अनुसार राजकीय प्राच्य पुस्तकालय मैसूर में एक हस्तलिखित ग्रन्थ सुरक्षित है जिसका नाम है—'मन्त्रसंहिता वैखानसीया'। वैखानससूत्र के अनेक मन्त्र इस संहिता में उपलब्ध है। इस संहिता का कुछ भाग 'वैखानसमन्त्रप्रश्नः सस्वरः प्रश्नचतुष्ट्यात्मकः' नाम से प्रकाशित है।'

काल की द ष्टि से वैखानसकल्प सूत्र तैत्तिरीय शाखा के अन्य सभी कल्पसूत्रों की तुलना में अर्वाचीन है। इसके समर्थन में केलेंड ने सबसे प्रबल तर्क यह दिया है कि वैखानस धर्मसूत्र (६.१३) में ताम्बूल शब्द आया है। पान चबान की आदत भारत में चरक और सुश्रुत के मध्य में प्रारम्भ हुई थी, इसलिए वैखानस कल्प की रचना इस काल से पहले की नहीं हो सकती। स्पेयर के मत के अनुसार पान चबाने की आदत भारत में चतुर्थ शताब्दी से पहले नहीं थी।

परन्तु वैखानस कल्प को इतने बाद की रचना मानना उचित प्रतीत नहीं होता है। वैखानस ग ह्य सूत्र और मनुस्म ति में अनेक स्थल ऐसे हैं जो पूर्णतः समान हैं। केलेंड स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि वैखानस सूत्र मनुस्म ति से पहले का है और मनुस्म ति ने वैखानस सूत्र से ग्रहण किया है। हमारे मत से वैखानस सूत्र प्रथम शताब्दी के बाद की रचना नहीं हो सकती।

यह ज्ञातव्य है कि वैखानस श्रौतयज्ञों के प्राचीन आचार्य थे क्योंकि उनका उल्लेख बौधायन सूत्र में मिलता है। वर्तमान कल्पसूत्र किसी प्राचीन कल्पसूत्र जो सम्भवतः नष्ट हो गया है, के आधार पर

तैयार किया गया है।

वाधूल श्रौतसूत्र :-

कैलेंड ने राजकी प्राच्य हस्तलिखित ग्रन्थ पुस्तकालय; मद्रास (Government Oriental Manuscript Library, Madras) से वाधूल श्रौतसूत का एक हस्तलितिख ग्रन्थ खोज निकाला है। इस सूत्र में पन्द्रह प्रपाठक हैं। प्रत्येक प्रपाठक अनुवाकों में बंटा हुआ है। इसके पहले प्रपाठक (अध्याय १-११) में अग्न्याधेय, पुनराधेय, अग्निहोत्र, अग्न्युपस्थान आदि, द्वितीय प्रपाठक में पुरोडाशी, तीसरे में यजमान, आग्रयण, ब्रह्मत्व, चौथे में चातुर्मास्य, पंचम में पशुबन्ध, षष्ठ तथा सप्तम में ज्योतिष्टोम, अष्टम में अग्निचयन, नवम में वाजपेय, दशम में राजसूय तथा सौत्रमणी, एकादश में अश्वमेध यज्ञ वर्णित हैं।

द्वादश से पंचदश तक एक ब्राह्मण है जिसमें द्वादशाह, औपानुवाक्य अहीन तथा एकाह यज्ञों का वर्णन है।

वाधूल श्रौतसूत्र में विचित्र बात यह है कि सूत्रों के साथ-साथ उनकी व्याख्या भी हैं जिन्हें अन्वाख्यान कहा गया है। इसकी शैली ब्राह्मण ग्रन्थें से मिलती-जुलती है। ये अन्वाख्यान तैत्तिरीय संहिता तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण से सम्बन्धित हैं।

प्रो० केलेंड वाधूल श्रौतसूत्र को बौधायन श्रौतसूत्र से भी प्राचीन मानते हैं। इसकी बौधायन श्रौत सूत्र के साथ सर्वाधिक निकटता है। यद्यपि सत्याषाढ श्रौतसूत्र के भाष्यकार महादेव ने कृष्ण यजुर्वेद के सूत्रकारों का क्रम इस प्रकार रखा है—बौधायन, भारद्वाज, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, वाधूल तथा वैखानस परन्तु एक अन्य लेख के अनुसार आपस्तम्ब, वाधूल के शिष्य के शिष्य थे। इसलिए आपस्तम्ब वाधूल से दो पीढ़ी बाद के हैं।

बाधूल श्रौतसूत्र की शैली प्राचीन है। डॉ० केलेंड इसका समय तैत्तिरीय संहिता तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण से बाद का परन्तु उपनिषदों से पहले का मानते हैं। इसमें प्राचीन और मिश्रित संस्कृत का प्रयोग किया गया है।

मैत्रायणी संहिता के श्रौतसूत्र :-

कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रायणी संहिता से सम्बन्धित दो श्रौतसूत्र उपलब्ध हैं—

१. मानव श्रौतसूत्र तथा २. वाराह श्रौतसूत्र

१. मानव श्रौतसूत्र :-

मानव श्रौतसूत्र में कुछ ही स्थलों को छोड़कर मैत्रायणी संहिता के मन्त्रों को प्रतीक द्वारा उद्ध त किया गया है। इससे इस श्रौतसूत्र का सम्बन्ध मैत्रायणी संहिता के साथ सुनिश्चित ही है। अनेक स्थलों पर मैत्रायणी संहिता के मत 'आम्नातम्' शब्द द्वारा उद्ध त किए गए हैं।

वर्तमान मानव श्रौतसूत्र में कुल ग्यारह अध्याय हैं—

१. प्राक्सोम, २. अग्निष्टोम, ३. प्रायश्चित्त, ४. प्रवर्ग्य, ५. इष्टि, ६. अग्निचयन, ७. वाजपेय, ८. अनुग्राहिक, ६. राजसूय, १० शुल्बसूत्र तथा ११. परिशिष्ट।

मानव श्रौतसूत्र की विषयवस्तु को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि यह समस्त रचना किसी एक ही समय या एक ही व्यक्ति की नहीं है। अनेक प्रकीर्ण प्रकरण समय-समय पर जोड़े पर प्रतीत होते हैं। गेल्डनर के अनुसार प्रारम्भिक अवस्था में केवल पांच ही अध्याय रहे होंगे। प्रवर्ग्य, अनुग्राहिक, शुल्ब तथा परिशिष्ट भाग मूल श्रौतसूत्र में नहीं रहे होंगे। शुल्बसूत्र में विष्णु की वेदी, परिशिष्ट में मूलादि जातशान्ति, यमल जातिशान्ति आदि ऐसे प्रकरण हैं जो मूल सूत्रकार के बाद के हैं। इस सूत्र

में अनेक स्थलों पर श्लोक उद्ध त किए गए हैं जो निश्चित रूप से समय-समय पर बाद में जोड़े गये प्रतीत होते हैं।

इस श्रौतसूत्र पर मैत्रायणी संहिता के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों का भी प्रभाव द ष्टिगत होता है। कठ संहिता का प्रभाव अनेकशः प्रतीत होता है। आश्वलायन श्रौतसूत्र के साथ भी कई स्थानों पर समानता दिखाई देती है। इस सूत्र पर शतपथ ब्राह्मण, गोपथ ब्राह्मण, पंचविंश ब्राह्मण आदि ग्रन्थों का भी प्रभाव द ष्टिगोचर होता है।

काल की द ष्टि से कुछ भी कहना संभव नहीं है। केलेंड ने एक स्थान पर इस सूत्र को अर्वाचीन सूत्र माना है तो एक अन्य स्थान पर इसे आपस्तम्ब और हिरण्यकेशि श्रौतसूत्रों से भी प्राचीन माना है। गार्बे के अनुसार आपस्तम्ब श्रौतसूत्र ने मानव श्रौतसूत्र का अनुकरण किया है। डॉ० रामगोपाल भी इसी मत से अपनी सहमति व्यक्त करते हैं। विषय और भाषा की द ष्टि से वर्तमान रूप में उपलब्ध मानव श्रौतसूत्र आपस्तम्ब श्रौतसूत्र से प्राचीन प्रतीत होता है।

यह सूत्र डॉ० गेल्डनर द्वारा अंग्रेजी में अनूदित एवं प्रकाशित है।

वाराह श्रौतसूत्र :-

वाराह श्रौतसूत्र भी मैत्रायणी संहिता से सम्बन्धित है परन्तु इसमें अनेक ऐसे सूत्र भी हैं जो दूसरी संहिताओं से सम्बन्धित हैं। इस श्रौतसूत्र ने मूल रूप में मानव श्रौतसूत्र का ही अनुकरण किया है इसलिए इस सूत्र को अधिक महत्त्व नहीं दिया गया है।

इस सूत्र में कुल तीन प्रकरण हैं—१. प्राक्सौमिकम्, २. अग्निचयनम् तथा ३. वाजपेयादिकम्। इन प्रकरणों का विभाजन अध्यायों और खण्डों में है। प्रथम प्रकरण में कुल सात अध्याय, द्वितीय में दो अध्याय तथा त तीय में चार अध्याय हैं। इस सूत्र में परिभाषाओं के अतिरिक्त दर्शपूर्णमास, आधार, पुनराधेयम्, अग्निहोत्र, अग्न्युपस्थान, आग्रायणेष्टि, पशुबन्ध, चातुर्मास्य, वाजपेय, द्वादशाह, गवामयनम्, उत्सर्गिणामयनम्, महाव्रतम्, एकादशिनी, सौत्रामणी, राजसूय तथा अश्वमेध यज्ञों का वर्णन है।

विषय की द ष्टि से यह सूत्र पूर्ण नहीं है। इसमें अग्निष्टोम, प्रवर्ग्य, इष्टिकल्प तथा प्रायश्चित्तों का अभाव है। जे० गोंडा का मत है कि यह सूत्र या तो किसी पूर्व कृति का नवीनीकरण है या यह स्वतन्त्र रूप से विकसित हुआ है।

यह सूत्र केलेंड तथा रघुवीर द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित है।

काठक श्रौतसूत्र :-

काठक शाखा के अनेक ग्रन्थ नष्ट हो गये हैं। एक ब्राह्मण और आरण्यक को छोड़कर कोई ग्रन्थ इस शाखा का उपलब्ध नहीं होता है। लौगाक्षिग ह्यसूत्र की भूमिका में देवपाल ने काठक श्रौतसूत्र की सूचना दी है जिसमें ३६ अध्याय थे। यह श्रौसूत्र आज उपलब्ध नहीं है। इसके कुछ अंश सूर्यकान्त तथा रघुवीर ने प्रकाशित किए हैं।

४. सामवेद के श्रौतसूत्र :-

सामवेद के निम्नलिखित चार श्रौतसूत्र उपलब्ध हैं—

आर्षेय कल्प :-

आर्षेय कल्प परम्परा से मशक गार्ग्य की रचना मना जाता है। इसका संबंध सामवेद से है। यह किसी एक शाखा से संबंधित नहीं अपितु सामवेद की सभी शाखाओं पर यह समान रूप से लागू होता है।

इस कल्प का मुख्य विषय सोमयज्ञों से संबंधित है। इस कल्प में केवल ग्यारह अध्याय हैं। इस सूत्र का प्रारम्भ 'गवामयनम्' से होता है। इस कल्प में 'ज्योतिष्टोम' और 'व्यूढ द्वादशाह' ये दो प्रमुख सोम-यज्ञ-तन्त्र वर्णित नहीं हैं। टीकाकार वरदराज ने इसका कारण यह बताया है कि ब्राह्मण ग्रन्थ में पढ़े जाने के कारण इस ग्रन्थ में इनकी आवश्यकता नहीं समझी गई है। परन्तु वरदराज ने इन दो यज्ञ संस्थाओं को महत्त्वपूर्ण तथा सभी यज्ञों की मूल प्रकृति मानते हुए उपोद्घात में इन यज्ञों का वर्णन किया है। ऐसा उन्होंने ग्रन्थ को सम्पूर्ण बनाने के लिए किया है—

अथार्षेयकल्पो व्याख्यातव्यः। तत्र च सर्वक्रतुप्रकृतिभूतस्य त्रिपर्वणो

ज्योतिष्टोमस्य सर्वाहर्गणप्रकृतिभूतस्य च व्यूढस्य द्वादशाहस्य ब्राह्मणेनैव

क्ल प्तिरक्तेति तदुपजीवनेन क्रत्वन्तराण्येव कल्पितानि। अस्माभिस्त्वस्य

प्रबन्धस्य कात्स्न्यार्थं तयोस्तावत् प्रयोगः सूत्रब्राह्मणानुसारेण प्रदर्श्यते।।

इस कल्प में विभिन्न यज्ञों में प्रयुक्त होने वाले सामवेद के मन्त्रों की सूची दी गई है। परन्तु यह कहीं नहीं बाताया गया है कि कौन-सा मन्त्र किस विशेष अवसर पर विनियुक्त होना चाहिए। आर्षेय कल्प में इस बात के भी संकेत नहीं दिये गये हैं कि कौन-सी यज्ञ-प्रक्रिया कहां प्रारम्भ होती है तथा कहां समाप्त होती है।

इस कल्प में सर्वप्रथम ३६१ दिन पर्यन्त चलने वाले 'गवामयनम्' नामक यज्ञ का विवरण है। तत्पश्चात् एक दिन चलने वाले यज्ञों का वर्णन है। तदुपरान्त अहीन (जो २ से ११ दिन तक चलें) यज्ञों का वर्णन है। अन्त में १२ दिन से १००० वर्ष तक चलने वाले यज्ञों का वर्णन है। इस कल्प में जादू-टोने वाले इन चार यज्ञों का भी उल्लेख है—श्येन, इषु, संदंश तथा वज्र।

इस कल्प में यज्ञों का क्रम ताण्ड्य (पंचविंश) ब्राह्मण के अनुरूप है, परन्तु उपर्युक्त चार जादू-टोने वाले यज्ञों का विवरण, जो ताण्ड्य ब्राह्मण में नहीं है, उसके पूरक षड्विंश ब्राह्मण के अनुरूप है।

आर्षेय कल्प का एक पूरक ग्रन्थ भी है—क्षुद्र कल्प। क्षुद्र कल्प को भी मशक गार्ग्य की ही रचना माना जाता है।

आचार्य वरदराज ने, जिसका समय सोलहवीं शताब्दी है, आर्षेय कल्प पर एक विस्त त टीका लिखी है। उन्होंने उपोद्घात में 'ज्योतिष्टोम' यज्ञ के तीन अंग अग्निष्टोम, उक्थ्य तथा अतिरात्र एवं 'व्यूढ-द्वादशाह' यज्ञों की, जो आर्षेय कल्प में नहीं दिये गये हैं, विस्त त जानकारी दी है।

आर्षेय कल्प सर्वप्रथम डब्ल्यू केलेंड द्वारा लीपजिग से १६०८ में रोमन लिपि में प्रकाशित किया गया। १६७६ में डॉ० बी० आर० शर्मा द्वारा सम्पादित वरदराज की टीका सहित विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर से प्रकाशित किया गया।

लाट्यायन श्रौतसूत्र :-

लाट्यायन श्रौतसूत्र सामवेद की कौथुम शाखा से सम्बन्धित है। इसमें पंचविंश ब्राह्मण का अनुकरण किया गया है। पंचविंश ब्राह्मण से अनेक उद्धरण इस सूत्र में दिए गए हैं।

लाट्यायन श्रौतसूत्र दस प्रपाठकों में विभक्त हैं। सप्तम और दशम प्रपाठक को छोड़कर सभी प्रपाठकों में १२-१२ कण्डिकाएं हैं। सप्तम प्रपाठक में १३ तथा दशम प्रपाठक में २० कण्डिकाएं हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण लाट्यायन श्रौतसूत्र में कुल १२६ कण्डिकाएं हैं।

लाट्यायन श्रौतसूत्र में अनेक आचार्यों के मत दिए गए हैं। कुछ आचार्यों के मत उनके नाम से तथा कुछ आचार्यों के मत 'एके' (१३.५) कहकर दिए गए हैं। जिन आचर्यों के नाम इस श्रौतसूत्र में आए हैं उनमें प्रमुख हैं—गौतम, कौत्स, धन जय, राणायनीपुत्र, शाण्डिल्य शुंग, स्थविर, गौतम आदि। इन सभी आचार्यों में गौतम, धनंजय तथा शाण्डिल्य के मतों को सर्वाधिक उद्ध त किया गया है।

इस सूत्र में अनेक ग्रन्थों से उद्धरण दिए गए हैं। पंचविंश (ताण्ड्य) ब्राह्मण से तो न केवल बहुत बड़े उद्धरण लिये गए हैं, अपितु अनेक स्थलों पर उन उद्धरणों के अर्थ भी स्पष्ट किए हैं। इसके अतिरिक्त षड्विंश ब्राह्मण से भी अनेक उद्धरण लिये गए हैं। एक स्थान पर पर 'पुराणं ताण्डम्' (७. १०.१७) कहकर धनंजय के मत की पुष्टि की गई है। टीकाकार अग्निस्वामी के अनुसार पुराण ताण्ड से तात्पर्य 'ताण्डक ब्राह्मण' से ही है। पुराण ताण्ड, पंचविंश ब्राह्मण (ताण्ड्य ब्राह्मण) को ही कहा गया है या कोई अन्य ग्रन्थ है, आज उपलब्ध नहीं है, यह कहना कठिन है।

लाट्यायन श्रौतसूत्र में दिए गए उद्धरणों से इतना तो स्पष्ट ही है कि लाट्यायन का ज्ञान बहुत विस्त त था तथा उनसे पूर्ववर्ती अथवा समकालीन बहुत से आचार्य विद्यमान थे जो याज्ञिक व्यवस्था के अधिकारी विद्वान् थे। लाट्यायन श्रौत सूत्र में उद्ध त मन्त्रों की संख्या लगभग २६२८ है।

इस सूत्र के प्रथम प्रपाठक में सभी यज्ञों पर लागू हाने वाली सामान्य याज्ञिक परिभाषाएं दी हैं—अथ विध्यपदेशे सर्वक्रत्वधिकारः (१.१.१) तदुपरान्त ऋत्विक् की सामान्य योग्यताएं बताई गई हैं। द्वितीय प्रपाठक में स्तोमयागादि सामान्य यज्ञों की विधि बताई गई है। त तीय प्रपाठक में वाण, अवयव आच्छादन, द्रव्यादि का वर्णन है। पंचम प्रपाठक में चातुर्मास्य यज्ञों का वर्णन है। षष्ठ और सप्तम प्रपाठक में साम मन्त्रों की गायन विधि दी गई है। अष्ठम प्रपाठक में एक दिन वाले तथा अहीन (२ से ११ दिन तक चलने वाले) यज्ञों का वर्णन है। नवम में राजसूय यज्ञ तथा दशम में संवत्सर पर्यन्त चलने वाले यज्ञों का विधान है।

यह श्रौतसूत्र प्रथम बार १८७२ में एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता द्वारा अग्नि स्वामी के भाष्य सहित श्री आनन्द चन्द्र वेदान्त वागीश के सम्पादन में प्रकाशित हुआ। इसका पुनः प्रकाशन मुंशीराम मनोहर लाल पब्लिशर्स प्रा० लि० दिल्ली द्वारा १६८२ ई० में किया गया है।

लाट्यायन श्रौतसूत्र का अग्निस्वामी कृत भाष्य बहुत विस्त त एवं उपयोगी है। अग्निस्वामी ने बहुत ही सरल भाषा में इस सूत्र की व्याख्या प्रस्तुत की है। अग्निस्वामी ने भाष्य के आदि या अन्त में अपने विषय में कुछ नहीं कहा है।

द्राह्यायण श्रौतसूत्र :-

द्राह्यायण श्रौतसूत्र सामवेद की राणायणी शाखा से संबंधित है। यह लाट्यायन श्रौतसूत्र का अनुकरणमात्र है। कवेल कुछ परिवर्तन किए गए हैं ताकि यह सूत्र स्वतन्त्र प्रतीत हो सके। लाट्यायन श्रौतसूत्र का विभाजन प्रपाठकों में है परन्तु द्राह्यायण श्रौतसूत्र पटलों में विभाजित है। इसमें कुल ३२ पटल हैं।

सूत्रों में भी यत्र-तत्र परिवर्तन किए हैं। कई छोटे-छोटे सूत्रों को मिलाकर एक सूत्र में परिवर्तित कर दिया गया है। कहीं कहीं एक बड़े सूत्र को छोटे-छोटे सूत्रों में परिवर्तित किया गया है। कहीं-कहीं अर्थ को स्पष्ट करने के लिए एक-दो शब्द अतिरिक्त जोड़ दिए गए हैं।

जैमिनीय श्रौतसूत्र :-

जैमिनीय श्रौतसूत्र सामवेद का ही श्रौतसूत्र है क्योंकि इसमें सामवेदीय यज्ञों का वर्णन है। परम्परा से इसके रचयिता जैमिनि ऋषि माने जाते हैं।

ये जैमिनि मीमांसशास्त्र के रचयिता जैमिनि हैं या कोई और, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। प्रेमनिधि शास्त्री मीमांसाशास्त्र तथा श्रौतसूत्र के रचयिता एक ही जैमिनि को मानते हैं। परम्परानुसार जैमिनी व्यास के शिष्य थे। उन्हीं से उन्होंने सामवेद पढ़ा, इसके प्रमाण में श्री प्रेमनिधि शास्त्री ने निम्नलिखित श्लोक दिए हैं—

सामखिलं सकलवेदगुरोर्मुनीन्द्राद्
व्यासादवाप्य भुवि येन सहस्रशाखम्।
व्यक्तं समस्तमपि सुन्दरगीतरागम्
तं जैमिनिं तलवकारगुरुं नमामि।

तथैव

वेदोक्तं कर्म येनासीत् मीमांसयित्वा सुनिश्चितम्।
व्यासशिष्याय मुनये तस्मै जैमिनये नमः।।

जैमिनि मुनि को कहीं-कहीं तलवकार कहा गया है। उपर्युक्त श्लोक में जैमिनि का विशेषण 'तलवकारगुरु' है। जैमिनीय श्रौतसूत्र के व त्तिकार श्री भवत्रात ने व त्तिकल्प के उपोद्घात में तलवकार को नमस्कार किया है—

ऋक्सामपाठक्रमकृद् द्रष्टा च ब्राह्मणस्य यः।

तस्मै तलवकाराय नमो यच्छाखिनो वयम्।।

इन दोनों नामों का तादात्म्य है। जैमिनीय ब्राह्मण को तलवकार ब्राह्मण कहा जाता है। इसी प्रकार जैमिनीयोपनिषत् के रचयिता तलवकार माने जाते हैं।

क्या ये दोनों नाम एक ही व्यक्ति के हैं, अथवा ये दो भिन्न व्यक्ति हैं? श्री प्रेमनिधि शास्त्री का मत है कि सामवेद की शाखा से सम्बन्धित ये दोनों व्यक्ति भिन्न हैं। गुरु-शिष्य परम्परा से इन दोनों नामों का तादात्म्य हो गया है। सम्भवतः तलवकार जैमिनि मुनि के शिष्य थे। उपर्युक्त श्लोक में आये जैमिनि के विशेषण 'तलवकारगुरु' अर्थात् तलवकारस्य गुरुः इस प्रकार विग्रह करके इस बात की पुष्टि की जा सकती है। जैमिनीय ग ह्यसूत्र (१.१४) में जैमिनि और तलवकार दोनों को एक साथ तर्पण का विधान किया गया है—जैमिनिं-तलवकारं, सात्यमुग्रं राणायनिम्। जैमिनि सम्भवतः शाखा के प्रवर्तक थे और तलवकार उनके उपदेशों के संकलनकर्त्ता। प्रपंचहृदय नामक ग्रन्थ में जिसका समय विक्रम सम्वत् ८०० से पहले का माना जाता है, इस प्रकार लिखा हुआ है-तलवकारशाखा प्रयुक्तं सामवैदिकविषयं जैमिनिना प्रदर्शितम्। इससे तलवकार के शाखा प्रवर्त्तक होने का भी भ्रम होता है, परन्तु जैमिनि का नाम अधिक प्रसिद्ध है इसलिए जैमिनि ही शाखा के प्रवर्त्तक थे और तलवकार उनके शिष्य थे। संस्कृत साहित्य में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहां गुरु के नाम पर ही शिष्य की रचना प्रसिद्ध होती है, जैसे अग्निवेश कृत चरकसंहिता, सायणकृत माधवीया धातुव त्ति आदि।

उपलब्ध जैमिनीय श्रौतसूत्र बहुत छोटा है। इसमें कुल २६ खण्ड हैं जो केवल अग्निष्टोम प्रकरण से सम्बन्धित हैं। व त्तिकार ने ग्रन्थ को पूर्ण करने के लिए पांच अध्याय और जोड़े हैं, यथा—स्तोमकल्पव त्ति, प्राकृतव त्ति, संज्ञा, विकृति कल्प तथा पर्यध्याय। इसमें प्रतीत होता है कि यह श्रोतसूत्र पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं हुआ है। ग्रन्थ के आदि में प्रारम्भ सम्बन्धी संकेत यथा 'अथ' या 'अथातः' का प्रयोग नहीं है। अन्य श्रौतसूत्र प्रायः परिभाषा प्रकरण से प्रारम्भ होते हैं जो इस श्रौतसूत्र में नहीं हैं। ग्रन्थ के आरम्भ में यह वाक्य है—

सोमप्रवाकमागतं प्रतिमन्त्रयेत महन्मे वोचो
भगं मे वोचः पुष्टिं मे वोचो यशो मे वोच इति।

अर्थात् 'सोमयज्ञ में आये हुए के प्रति 'महन्मे वोचः' इस मन्त्र को बोलें। इस वाक्य से ऐसा प्रतीत होता है कि इससे पूर्व ही श्रौतसूत्र का प्रारम्भ हो चुका है। वह भाग आज लुप्त हो गया है।

प्रपंचहृदय नामक ग्रन्थ में जैमिनीय श्रौतसूत्र के ८४ पटल बताये गये हैं—

तलवकारशाखाप्रयुक्तं सामवैदिकविषयं
चतुरशीतिपतै जैमिनिना प्रदर्शितम् इति।

ऐसा प्रतीत होता है कि पहले खण्डों के स्थान पर इस सूत्र में पटलों का व्यवहार था। यह बात व त्तिकार के इस वचन से स्पष्ट होती है—

'यदस्मिन् पटले वक्ष्यते तत्सर्वं ब्राह्मण एव विज्ञायते' (६.४७)

यहां पर यद्यपि विभाजन खण्डों में है परन्तु व त्तिकार खण्ड के लिए पटल शब्द का प्रयोग करता है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है जैमिनीय श्रौतसूत्र में केवल अग्निष्टोम से सम्बन्धित नियम वर्णित हैं।

जैमिनीय श्रौतसूत्र में जैमिनीय ब्राह्मण से बहुत कुछ ग्रहण किया गया है। इस सूत्र में मौलिकता का अभाव है। जैमिनीय ब्राह्मण से न केवल मन्त्र अपितु गद्यभाग भी ज्यों की त्यों ले लिये गये हैं।

इस श्रौतसूत्र में शाट्यायन तथा ताण्ड्य के नामोल्लेख से मत दिए गए हैं। सातवें खण्ड में ब्राह्मण तथा पैंगक के नाम से मत दिए गए हैं।

सूत्र शैली की द ष्टि से इस सूत्र की भाषा इतनी कसी हुई नहीं है। भाषा ब्राह्मणों जैसी प्रतीत होती है। इसलिए कुछ विद्वान् इसे लाट्यायन श्रौतसूत्र से पूर्व का मानते हैं। परन्तु डॉ० रामगोपाल का कथन है कि यह भ्रान्ति इस कारण है कि जैमिनीय श्रौत सूत्र में जैमिनीय ब्राह्मण के अंश हैं और इस सूत्र के तथाकथित रचयिता की अपनी कलम से बहुत कम लिखा गया है। उल्लेखनीय है कि प्रो. विन्तरनित्ज तथा मैकडोनल इस श्रौतसूत्र का कहीं उल्लेख नहीं करते हैं।

इस श्रौतसूत्र की आचार्य भवत्रात ने एक विस्त त व त्ति लिखी है। उसने न केवल इसके २६ खण्डों पर व त्ति लिखी है अपितु इस सूत्र को विषय की द ष्टि से पूर्णता प्रदान करने के लिए पांच अध्याय और जोड़े हैं। व त्तिकार ने स्वयं अपना परिचय व त्ति के प्रारम्भ में दिया है। इनके पिता का नाम मात दत्त तथा माता का नाम आनर्तीया था। भवत्रात के गुरु और मातामह ब्रह्मदत्त थे। भवत्रात किस प्रदेश के निवासी थे तथा किस काल में हुए, इस सम्बन्ध में उनकी व त्ति से कुछ ज्ञान नहीं होता है। प्रेमनिधि शास्त्री इन्हें केरल प्रदेशीय तथा सातवीं ईस्वी का मानते हैं। उनका तर्क यह है कि मात गुप्त अवन्तीसुन्दरी कथा के रचयिता दण्डी के मित्र थे तथा उनसे मिलने के लिए वे केरल प्रदेश से आए थे। इस बात का उल्लेख अवन्ती सुन्दरी कथा में इस प्रकार है—'सर्वजनमात भूतः करुणाव त्तिः मात दत्तः केरलेभ्यः त्वद्दर्शनाय...'। प्रेमनिधि का यह मत प्रबल प्रतीत होता है क्योंकि दण्डी ने जिस प्रकार मात गुप्त को माता के समान दयावान् बताया है उसी प्रकार स्वयं व त्तिकार ने भी मात गुप्त को माता के तुल्य दयाशील बताया है— मात तुल्यदयो नाम मात दत्त इति श्रुतः।

जैमिनीय श्रौत सूत्र सर्वप्रथम डी० गास्त्रा द्वारा लेडन से १६०६ में डच अनुवाद के साथ प्रकाशित किया गया था। १६६६ में प्रेमनिधि शास्त्री द्वारा सम्पादित यह सूत्र भवत्रात की टीका सहित नई दिल्ली से प्रकाशित किया गया।

वैतान सूत्र :-

अथर्ववेद का केवल एक ही श्रौतसूत्र उपलब्ध है जो वैतान सूत्र के नाम से प्रसिद्ध है। वैतान सूत्र और श्रौतसूत्र वस्तुतः पर्यायवाची हैं क्योंकि वितान का अर्थ यज्ञ है। अपनी प थक् पहचान के लिए सम्भवतः यह नाम दिया गया है।

इस श्रौतसूत्र में आठ अध्याय हैं जो ४३ कण्डिकाओं में विभाजित हैं। इस सूत्र में यज्ञ में ब्रह्मा के कार्यों पर मुख्यरूप से बल दिया गया है क्योंकि अथर्ववेद का सम्बन्ध प्रमुखतया ब्रह्मा के कार्यों से ही है। वैतान सूत्र का निर्माण ब्रह्मा के कार्यों के लिए किया गया है। इसकी घोषणा पहले सूत्र में ही की गई हैः

'अथ वितानस्य ब्रह्मा कर्मणि ब्रह्मवेदविद्दक्षिणतो विधिवदुपविशति वाग्यतः।'

अथर्ववेद को यहां ब्रह्मवेद कहा गया है और वितानसूत्र के अध्येता को अथर्ववेद का ज्ञान होना चाहिए।

वितान सूत्र में उन यज्ञों का बहुत संक्षेप में दिया गया है जिनमें ब्रह्मा का अधिक कार्य नहीं है। उदाहरणतया, राजसूय तथा अश्वमेध जैसे यज्ञों का वर्णन केवल १३ तथा १६ सूत्रों में ही कर दिया गया, जबकि अन्य श्रौतसूत्रों में इन यज्ञों का वर्णन बहुत विस्तार से किया गया है।

वैतानसूत्र का संबंध शौनक शाखा से है परन्तु पैप्पलाद शाखा के भी तीन मन्त्र उद्ध त किए गए हैं। शौनकीय शाखा से इसके संबंध का प्रमाण यह है कि शौनकीय शाखा के मन्त्रों को प्रतीकों के माध्यम से उद्ध त किया गया है।

वैतानसूत्र अथर्ववेद के गोपथ ब्राह्मण पर आश्रित है। कुछ विद्वान् गोपथ ब्राह्मण को वैतान सूत्र से बाद का मानते हैं। परन्तु वैतानसूत्र और गोपथ ब्राह्मण की तुलना से प्रतीत होता है कि वैतान सूत्र ने गोपथ ब्राह्मण से उधार लिया है। गोपथ ब्राह्मण के अतिरिक्त वैतानसूत्र ने कौशिकसूत्र से भी सहायता ली है। कौशिकसूत्र वैतानसूत्र से पूर्व का माना जाता है।

अनेक स्थानों पर 'इत्युक्तम्' कहकर दूसरो के मत दिए गए हैं। इसमे कौशिक भागलि तथा माठर के नाम से उल्लेख है।

वैतान सूत्र का संबंध यद्यपि अथर्ववेद से है परन्तु जादू-टोने की झलक वैतान सूत्र में नहीं मिलती है। केवल दो सूत्रों में अभिचार शब्द का प्रयोग हुआ हैः

१. अभिचारेष्वभिचारिकान् २.१०

२. शौनकयज्ञो भिचारकामस्य ४३.२५

वैतानसूत्र के काल तथा रचयिता के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। वैतानसूत्र कात्यायन सूत्र से कुछ समानता रखता है।

२. ग ह्यसूत्र :-

'ग ह्यसूत्र' कल्प वेदांग का दूसरा महत्त्वपूर्ण भाग है। जैसा कि नाम से ही प्रतीत होता है ग ह्यसूत्रों में उन यज्ञों और संस्कारों का वर्णन है जो विद्या समाप्त कर लेने के प्रश्चात् ग हस्थ जीवन में प्रविष्ट हुए व्यक्ति को करने चाहिएं। समस्त वैदिक कर्मों को दो भागों में बांटा जाता है। १. श्रौत कर्म तथा २. स्मार्त कर्म। श्रौत कर्म की कोटि में वे कर्म आते हैं जिनका आधार सीधा वेद हों। स्मार्त कर्म की कोटि में वे कर्म आते हैं जो वैदिक परम्परा से सम्बन्धित तो हों परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि उनमें केवल वे ही बातें वर्णित हों जो वैदिक संहिता में हैं। शिष्ट व्यक्तियों का आचार और व्यवहार भी इस विषय में प्रमाण माने जा सकते हैं। विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा प्रतिपादित नियमों को 'स्म ति' कहा जाता है। श्रौत कर्म केवल श्रुति अर्थात् वेद द्वारा नियन्त्रित होते हैं जबकि स्मार्त कर्म श्रुति और स्म ति दोनों के द्वारा ही नियन्त्रित होते हैं। स्मार्त कर्मों को दो भागों में बांटा जाता है—ग ह्यकर्म तथा सामयाचारिक कर्म। ग ह्यकर्मों का वर्णन ग ह्यकर्मों का वर्णन ग ह्यसूत्रों में तथा सामचारिक कर्मों का वर्णन धर्मसूत्रों में निहित है।

ग ह्यसूत्रों का वर्ण्य-विषय :-

ग ह्य यज्ञों को पाकसंस्था कहा गया है जिसके सात प्रकार हैं—सायं होत्र, प्रातर्होत्र, स्थाली पाक, नवयज्ञ, वैश्वदेव, पित यज्ञ एवं अष्टका। यद्यपित सभी ग ह्यसूत्रों में वर्णित विषय सामान्यतः समान है, परन्तु प्रत्येक ग ह्यसूत्र में कुछ भिन्न कर्मों का भी वर्णन है जो दूसरे ग ह्यसूत्रों में उपलब्ध नहीं होते हैं।

लगभग सभी ग ह्यसूत्रों ने ग ह्यकर्मों को पाकयज्ञ या स्थालीपाक यज्ञ कहकर पुकारा है। परन्तु अनेक ऐसे कर्म भी हैं जो पाकयज्ञ या स्थालीपाक यज्ञ के अन्तर्गत नहीं आते हैं। पाकयज्ञ के किसी ग ह्यसूत्र में चार प्रकार बताए गए हैं। तो किसी में सात। शांखायन (१.५.१) तथा पारस्कर (१.४.१) ग ह्यसूत्र में चार प्रकार बताए गए हैं। यथा—हुत, अहुत, प्रहुत तथा प्राशित। बौधायन ग ह्यसूत्र (१.१. १) में सात पाकयज्ञ गिनाए हैं—हुत, प्रहुत, आहुत, शूलगव, बलिहरण, प्रत्यवरोहण तथा अष्टका-होम।

ग ह्यसूत्रों में वर्णित कर्मों का एक विशेष क्रम है। सभी यज्ञों के लिए अग्न्याधान आवश्यक है, इसलिए वह सभी प्रमुख ग ह्यसूत्रों में वर्णित है। प्रायः ग हस्थ में प्रवेश ही विवाह के साथ होता है, अतः सभी ग ह्यसूत्रों में विवाह संस्कार, का विस्त त वर्णन है। उसके पश्चात् गर्भाधान संस्कार, पुंसवन संस्कार, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, सूर्यदर्शन तथा चन्द्रदर्शन, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण व उपनयन संस्कारों का वर्णन है। उपर्युक्त सभी संस्कार बालक से संबंधित हैं। उपनयन के पश्चात् विद्यारम्भ होता है जिसे उपाकर्म कहते हैं। उपाकर्म के पश्चात् विद्या की समाप्ति पर उत्सर्ग या समावर्तन संस्कार होता है।

इन संस्कारों के अतिरिक्त कुछ अन्य कर्मों का भी वर्णन है जैसे स्नातक के व्रत लांगलयोजन, श्रवणाकर्म, इन्द्रयज्ञ, आश्वयुजीकर्म, नवान्नप्राशन, आग्रहायणी कर्म, अष्टका, शालकर्म (भवन निर्माण) शूलगव, प्रायश्चित्त आदि। श्राद्ध और म तक संस्कार भी ग ह्यसूत्रों में वर्णित हैं।

अथर्ववेद के ग ह्यसूत्र 'कौशिकसूत्र' में ग ह्यकर्मों के साथ आभिचारिक कर्मों का भी वर्णन है। कुछ बाद के ग ह्यसूत्रों में विष्णु की प्रतिमा पूजा, ग्रहपूजा, शान्ति प्रकरण आदि भी जोड़ दिए गए हैं।

ग ह्यसूत्रों का उद्‌गम और विकास :-

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ग ह्यसूत्र स्मार्त कर्मों का निर्देश करते हैं। इसका अर्थ है कि इन पर वेदों का सीधा नियन्त्रण नहीं है। यद्यपि ग ह्य यज्ञों में भी वेदमन्त्रों का प्रयोग होता है परन्तु वेद के मन्त्र ग ह्य यज्ञों के उद्देश्य से लिखे गए, ऐसा नहीं कहा जा सकता। ग ह्य सूत्रों ने ग ह्यकार्य के अनुकूल अर्थ वाले मन्त्रों को ग्रहण किया। इसके अतिरिक्त अनेक ऐसे नए मन्त्रों का भी निर्माण करना पड़ा जो वेदों में नहीं मिलते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में जहा स्पष्ट रूप से श्रौतयज्ञों के विधान हैं वहां ग ह्ययज्ञों से सम्बन्धित विधान उपलब्ध नहीं होते हैं इसलिए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ग ह्यसूत्रों का शास्त्र के रूप में विकास ब्राह्मण काल के बाद ही हुआ है।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्राचीन वैदिक काल में ग ह्य कार्य सम्पन्न ही नहीं होते थे। ग ह्य कर्म और रीति-रिवाज तो बहुत प्राचीन काल से चले आ रहे थे परन्तु उसको नियमबद्ध सूत्र काल में ही किया गया। ऋग्वेद (१०.८५) में विवाह से सम्बन्धित मन्त्र हैं। बाद की संहिताओं में अनेक ऐसे शब्द मिलते हैं जिनका प्रयोग ग ह्ययज्ञों के संबंध में हुआ। उदाहरणतया कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता में पाकयज्ञ शब्द का प्रयोग हुआ है—

सर्वेण वै यज्ञेन देवाः सुवर्ग लोकमायन्।

पाकयज्ञेन मनुरश्राम्यत् (१.७.१.३)

इसी प्रकार पाकयज्ञ शब्द का प्रयोग ४.२.५.४ में भी हुआ है।

अथर्ववेद के मन्त्र अधिकांशतः ग ह्ययज्ञों में विनियुक्त हुए हैं। सम्भवतः ग हस्थ कर्म के उद्देश्य से इन मन्त्रों की रचना हुई हो। ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर पाकयज्ञ शब्द का प्रयोग हुआ है। (यथा ऐतरेय ब्राह्मण ३.४०.२, शतपथ ब्राह्मण १.४.२.१०, १.८.१.६), ऐतरेय आरण्यक (१.१०.६) में ग ह्य अग्नि का उल्लेख हुआ है। शतपथ ब्राह्मण में पांच महायज्ञ (११.५.६.१), उपनयन (११.५.४.१) तथा अन्य ग ह्यकर्म जैसे गर्भाधान, सोष्यन्ती कर्म, आयुष्यकर्म, मेधाजनन, नामकरण आदि का उल्लेख मिलता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि ग ह्ययज्ञों का प्रचलन प्राचीन काल से ही था। परन्तु इनको शास्त्रका रूप सूत्रकाल में ही दिया गया।

ग ह्यसूत्रों के उपजीव्य ग्रन्थ :-

ग ह्यसूत्रों के उपजीव्य ग्रन्थ उस शाखा के श्रौतसूत्र, ब्राह्मण ग्रन्थ तथा मन्त्र संहिता हैं। इसके अतिरिक्त देश, काल और समाज के आचार भी महत्त्वपूर्ण थे। दूसरे ग ह्यसूत्रों से भी यत्र-तत्र ग्रहण करे उन्हें वैकल्पिक नियमों के रूप में दिया गया है।

ग ह्यसूत्र और श्रौतसूत्रों का सम्बन्ध :-

ग ह्यसूत्र और श्रौतसूत्र परस्पर बहुत निकटता से जुड़े हुए हैं। ग ह्यसूत्रों की रचना उस शाखा से सम्बन्धित श्रौतसूत्र को ध्यान में रखकर हुई है। जिस शाखा से सम्बन्धित श्रौतसूत्र है, उसी से सम्बन्धित ग ह्यसूत्र भी है। एक ही शाखा के श्रौतसूत्र तथा ग ह्यसूत्र की सामान्य विधि प्रायः एक ही होती है। परम्परा के अनुसार कुछ शाखाओं के श्रौतसूत्र और सम्बन्धित ग ह्यसूत्र एक ही व्यक्ति द्वारा रचे गए हैं, जैसे आश्वलायन, शांखायन, बौधायन, भारद्वाज, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, वैखानस, वाराह तथा मानव श्रौतसूत्र हैं तथा इन्हीं नामों से ग ह्यसूत्र भी। कुछ ग ह्यसूत्र ऐसे हैं जिनके रचयिता उससे संबंधित श्रौतसूत्र के रचयिता से भिन्न हैं। परन्तु शाखा धर्म के अनुसार दोनों में यथोचित तारतम्य स्थापित किया गया है। ये ग ह्यसूत्र हैं—

श्रौतसूत्र	**सम्बन्धित ग ह्यसूत्र**
कात्यायन	पारस्कर
लाट्यायन	गोभिल
द्राह्यायण	खदिर

लगभग सभी श्रौतसूत्र उनसे सम्बन्धित ग ह्यसूत्रों से पहले की रचना हैं। परन्तु कुछ विद्वानों के अनुसार अथर्ववेद का वैतान सूत्र उसके ग ह्यसूत्र कौशिक सूत्र के बाद का माना जाता है।

(१) ऋग्वेद के ग ह्यसूत्र :-

ऋग्वेद के तीन ग ह्यसूत्र प्रकाशित हैं—१. शांखायन ग ह्यसूत्र, २. कौषीतक ग ह्यसूत्र तथा ३. आश्वलायन ग ह्यसूत्र

१. शांखायन ग ह्यसूत्र :-

शांखायन ग ह्यसूत्र का संबंध ऋग्वेद की वाष्कल शाखा से है। इस ग ह्यसूत्र के कुल ६ अध्याय हैं जिनमें से पांचवें और छठे अध्याय बाद में जोड़े गए माने जाते हैं क्योंकि भाष्यकार नारायण ने पांचवें अध्याय के प्रारम्भ और अन्त में इसे परिशिष्ट कहा है—अथ परिशिष्टाख्यः पंचमो ध्याय आरभ्यते। पंचमो ध्यायः परिशिष्टरूपः समाप्तः। वासुदेव के ग ह्यसंग्रह में केवल चतुर्थ अध्याय तक ही व्याख्या की गई है। कौषीतक ग ह्यसूत्र शांखायन ग ह्यसूत्र पर ही आश्रित है। इसके पांचवें और छठे अध्याय शांखायन ग ह्य सूत्र के पंचम औद छठे अध्याय के समानान्तर नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि आरम्भ में शांखायन ग ह्य सूत्र में केवल चार ही अध्याय थे।

शांखायन ग ह्यसूत्र के प्रथम अध्याय का २६वां खण्ड भी भाष्यकार नारायण ने क्षेपक खण्ड अर्थात् बाद में जोड़ा हुआ खण्ड माना है—अग्नय इत्यादिकं क्षेपकमपि खण्डं देवताज्ञानाय व्याख्यायते।

शांखायन ग ह्यसूत्र सुयज्ञ शांखायन की रचना मानी जाती है। सुयज्ञ व्यक्तिगत नाम और शांखायन पारिवारिक नाम है। भाष्यकार नारायण १.१.१० के भाष्य में भी सुयज्ञ नाम दिया गया है—

अत्रारणिप्रदानं यदध्वर्युः कुरुते क्वचित्।

मतं तन्न सुयज्ञस्य मथितं सो त्रनेच्छति।।

कौषीतक आरण्यक के पन्द्रहवें अध्याय में आचार्यों के वंश गिनाए गए हैं वहां 'गुणाख्य शांखायन' कहा गया है परन्तु प्रसिद्ध नाम सुयज्ञ ही है।

शांखायन ग ह्यसूत्र शांखायन श्रौतसूत्र से जुड़ा हुआ है। परन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि दोनों का रचयिता एक ही व्यक्ति है।

यह ग ह्यसूत्र एस०आर० सहगल द्वारा सम्पादित, दिल्ली (१६६६) से नारायण भाष्य तथा रामचन्द्र पद्धति के अंशों सहित प्रकाशित है। सर्वप्रथम ओल्डनबर्ग ने १८७८ में जर्मन अनुवाद के साथ प्रकाशित किया था। ओल्डनबर्ग द्वारा अंग्रेजी अनुवाद भी सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट खण्ड २६ में प्रकाशित है।

२. कौषीतक ग ह्यसूत्र :-

कौषीतक ग हसूत्र को शाम्बव्य की रचना माना है। टी०आर० चिन्तामणि के अनुसार इस ग ह्यसूत्र को शाम्बव्य ग ह्यसूत्र के नाम से भी जाना जाता है। शाम्बव्य के अन्य नाम भी थे यथा—शाम्भव्य, सम्बाव्य, साम्बाव्य, शंवाव्य आदि।

महाभारत के अनुसार शाम्बव्य कुरु प्रदेश के निवासी थे।

कौषीतक-ग ह्यसूत्र में पांच अध्याय हैं। पहले चार अध्याय शांखायन ग ह्यसूत्र के पहले चार अध्यायों के समान ही हैं। सूत्रों की भाषा और कहीं-कहीं क्रम भी ज्यों के त्यों मिलते हैं। शांखायन ग ह्यसूत्र के पंचम और षष्ठ अध्यायों को कौषीतक ग ह्य में नहीं लिया गया है। जैसा कि पहले कहा गया है, शांखायन ग ह्य के पांचवे और छठे अध्याय बाद के जोड़े गए हैं। कौषीतक के पंचम अध्याय में पित मेध को लिया गया है जबकि शांखायन ने यह विषय, श्रौतसूत्र में लिया है वस्तुतः पित मेध ग ह्यसूत्र का ही विषय है। इसीलिए कौषीतक ने उसे श्रौत से निकालकर ग ह्य में लिया है।

कौषीतक ग हसूत्र के काल के विषय में निश्चित कुछ नहीं कहा जा सकता। टी०आर० चिन्तामणि इस ग ह्यसूत्र को मनुस्म ति के बाद का मानते हैं क्योंकि कौषीतक ग ह्य में उद्ध त कई श्लोक मनुस्म ति में मिलते हैं,

मनुस्म ति का काल २०० ई० पू० से २०० ई० के मध्य में माना जाता है। इसलिए इस ग ह्यसूत्र का काल २०० ई० के कुछ बाद का ही होना चाहिए। परन्तु चिन्तामणि इस विषय में निश्चित नहीं हैं। यह संभव है कि दोनों ने किसी प्राचीन ग्रन्थ से लिया हो।

इस ग ह्यसूत्र पर भवत्रात की टीका उपलब्ध है। भवत्रात नामक व्यक्ति ने जैमिनीय श्रौतसूत्र परी भी टीका लिखी है। सम्भव है दोनों के टीकाकार एक ही व्यक्ति हों। यह भवत्रात मात दत्त का पुत्र तथा ब्रह्मदत का शिष्य था। वासुदेव ने शांखायन ग ह्य संग्रह में ब्रह्मदत को शांखायन ग ह्यसूत्र का व्याख्याकार बताया है।

कौषीतक ग ह्यसूत्र पर भवत्रात की टीका सहित टी० आर०चिन्तामणि द्वारा प्रकाशित है।

३. आश्वलायन ग ह्यसूत्र :-

आश्वलायन ग ह्यसूत्र आश्वलायन श्रौतसूत्र की निरन्तरता में आगे लिखा गया है क्योंकि इस ग ह्यसूत्र का पहला मन्त्र श्रौतसूत्र की ओर संकेत करता है—

उक्तानि वैतानिकानि। ग ह्याणि वक्ष्यामः। दोनो ही सूत्रों का रचयिता एक ही व्यक्ति है, इस बात पर पहले ही प्रकाश डाला जा चुका है। यह सूत्र ऋग्वेद की शाकल शाखा से संबंधित है।

आश्वलायन ग ह्यसूत्र के दो संस्करण उपलब्ध हैं—एक उत्तरी संस्करण तथा दूसरा दक्षिणी (मालाबार) संस्करण। दोनों संस्करणों में अनेकशः परस्पर भिन्नताएं हैं। दक्षिणी संस्करण का प्रारम्भ श्लोकों से होता है जिसमें सप्त सरस्वती, शौनक तथा अन्य गुरुओं का अभिवादन किया गया है। इस संस्करण पर देवस्वामी का भाष्य उपलब्ध है। उत्तरी संस्करण पर नारायण का भाष्य है। परन्तु नारायण देवस्वामी के भाष्य से परिचित हैं और प्रारम्भ में ही आश्वलायन के साथ देवस्वामी को अभिवादन करते हैं।

आश्वलायनमाचार्यं प्रणिपत्य जगद्गुरुम।

देवस्वामिप्रसादेन क्रियते व त्तिरीद शी।।

इस ग ह्यसूत्र में चार अध्याय हैं जो खण्डों में विभाजित हैं।

आश्वलायन ग ह्यसूत्र पर अन्य वैदिक शाखाओं का भी प्रभाव है। उदाहरणतया पंचमहायज्ञों का वर्णन व त्तिकार नारायण के अनुसार तैत्तिरीयारण्यक के आधार पर किया गया है—''पंचयज्ञानां हि तैत्तिरीयारण्यकमूलम्।''

आश्वलायन की तिथि आदि पर पीछे विचार किया जा चुका है।

ऋग्वेद के अन्य ग ह्यसूत्र :-

ऋग्वेद के दो ग ह्यसूत्रों के हस्तलेखों की सूचना मिलती है। ये ग ह्यसूत्र हैं—१. शौनक ग ह्यसूत्र तथा २. पाराशर ग ह्यसूत्र। इनके अतिरिक्त भारवीय ग ह्यसूत्र, शाकल्य ग ह्यसूत्र तथा पैंगी ग ह्यसूत्र के उल्लेख यत्र तत्र मिलते हैं।

(२) शुक्ल यजुर्वेदीय ग ह्यसूत्र

इस शाखा का निम्नलिखित एक ही ग ह्यसूत्र प्राप्त है।

पारस्कर ग ह्यसूत्र :-

शुक्ल यजुर्वेद का केवल एक ही ग ह्यसूत्र उपलब्ध है जो पारस्कर ग ह्यसूत्र नाम से प्रसिद्ध है। यह ग ह्यसूत्र 'कातीय ग ह्यसूत्र' नाम से भी पुकारा जाता है। भाष्यकार जयराम ने प्रारम्भिक श्लोकों में इसे कातीय ग ह्यसूत्र ही कहा है—

'तत्पादद्वयकस्प शा कृतमिदं कातीयग ह्यस्य सद्भाष्यं

सज्जनवल्लभं सुविदुषां प्रष्ठं शिवप्रीतये।'

हरिहर ने अपने भाष्य के प्रारम्भ में इसे पारस्कर कृत ग ह्यसूत्र कहा है—

पारस्कृते ग ह्यसूत्रे व्याख्यानपूर्विकाम्।

प्रयोगपद्धतिं कुर्वे वासुदेवादिसंमताम्।।

विश्वनाथ ने अपने भाष्य के अन्त में इसे पारस्कर ग ह्य कहकर पुकारा है– इति ... पारस्करग ह्यसूत्रव्याख्याने त तीयं काण्डं समाप्तम्।'

इस ग ह्यसूत्र के लिए इन दोनों नामों का प्रचलन में रहना इस बात का परिचायक है कि यह ग ह्यसूत्र कात्यायन सम्प्रदाय का है। कात्यायन श्रौतसूत्र को भी 'कातीय श्रौतसूत्र' कहा जाता है इस ग्रन्थ के रचयिता पारस्कर हैं जो कात्यायन शिष्य परम्परा से सम्बन्धित हैं।

पारस्कर ग ह्यसूत्र का सम्बन्ध शुक्ल यजर्वेद की माध्यन्दिन शाखा से है।

पारस्कर ग ह्यसूत्र बहुत ही लोकप्रिय रहा है। इसकी लोकप्रियता का प्रमाण इस पर लिखे गए पांच भाष्य हैं। इसके पांच भाष्य बहुत प्रसिद्ध हैं-कर्क कृत (पारस्करकृतस्मार्तसूत्रव्याख्याा), जयरामकृत (सज्जनवल्लभग ह्य विवरण), हरिहर कृत (पारस्करग ह्यसूत्र व्याख्यान), गदाधरकृत (ग ह्यसूत्र भाष्य) तथा विश्वनाथकृत (ग ह्यसूत्र प्रकाशिका)।

इस ग ह्यसूत्र में तीन काण्ड हैं जो कण्डिकाओं में विभाजित हैं। प्रथम काण्ड में १६, द्वितीय में १७ तथा त तीय काण्ड में १५ कण्डिकाएं हैं। ग ह्यसूत्र के बाद परिशिष्ट और जोड़ा हुआ है जो निश्चित रूप से बाद की रचना है।

विषय की द ष्टि से यह ग ह्यसूत्र पूर्ण तथा व्यवस्थित है। सम्भवतः इसीलिए यह ग ह्यसूत्र अधिक प्रचलन में रहा है। प्रारम्भिक सूत्रों में होम की तैयारी के नियम दिए गए हैं। द्वितीय कण्डिका में आवसथ्याधानविधि, दी है। इसके प्रश्चात अर्घविधि, विवाहविधि, औपासनहोम, चतुर्थीकर्म, गर्भधारण, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन नामकरण, अन्नप्राशन आदि संस्कार वर्णित हैं। द्वितीय काण्ड में चूडाकरण, केशान्त, उपनयन, ब्रह्मचारिव्रत, स्नातकव्रत, पंचमहायज्ञ, उपाकर्म, उत्सर्ग, लांगल योजन आदि विधि वर्णित है। त तीय काण्ड में नवान्नप्राशन, आग्रहायणीकर्म, अष्टका, शालाकर्म, वास्तुशान्ति, शूलगव, व षोत्सर्ग, उदककर्म, रथारोहण आदि विषय वर्णित हैं। इस ग ह्यसूत्र में श्राद्धकर्म का वर्णन नहीं है।

यह ग ह्यसूत्र उपर्युक्त पांचों भाष्यों सहित महादेवशर्मा द्वारा सम्पादित प्रथम बार १६१७ में तथा पुनः १६८२ में मुंशीराम मनोहरलाल द्वारा प्रकाशित है। इससे पूर्व यह स्टेंजलर द्वारा जर्मन अनुवाद के साथ १६७६-७८ में प्रकाशित हुआ था। ओल्डनवर्ग ने इसका अनुवाद किया है जो सेक्रेड बुक्स् अफ ईस्ट के खण्ड २६ में प्रकाशित है।

शुक्ल यजुर्वेद के अन्य ग ह्यसूत्र :-

शुक्ल यजुर्वेद के अन्य ग ह्यसूत्र भी रहे होंगे जो सम्भवतः पारस्कर ग ह्यसूत्र की लोकप्रियता के कारण लुप्त हो गए।

बैजवाय ग ह्यसूत्र नाम से कुछ अंश उपलब्ध हैं। इस ग ह्यसूत्र का उल्लेख कुमारिल भट्ट ने तन्त्रवार्तिक में (१.३.१०) तथा ६वीं तथा १६वीं शताब्दी के मध्य में हुए सूत्र भाष्यकारों ने किया है।

'शाण्डिल्य ग ह्यसूत्र' नाम से भी कुछ उल्लेख मिलते हैं। यह ग ह्यसूत्र उपलब्ध नहीं है।

यजुर्वेद शाखा के अन्य ग ह्यसूत्र जिनके नामों का उल्लेख मिलता है, वे हैं, माविल ग ह्यसूत्र तथा मैत्रेय सूत्र।

(३) कृष्ण यजुर्वेद के ग ह्यसूत्र :-

कृष्ण यजुर्वेद की तीन संहिताओं से सम्बन्धित ग ह्यसूत्र उपलब्ध हुए हैं–

१. तैत्तिरीय संहिता २. काठक संहिता तथा ३. मैत्रायणी संहिता।

तैत्तिरीय संहिता के ग ह्यसूत्र :-

तैत्तिरीय संहिता से सम्बन्धित सबसे अधिक ग ह्यसूत्र उपलब्ध हैं जिनका विवरण इस प्रकार है।

बौधायन ग ह्यसूत्र :-

बौधायन ग ह्यसूत्र बौधायन कल्प का एक अंग है। इसकी भाषा-शैली से प्रतीत होता है कि बौधायन सूत्र का रचयिता वही व्यक्ति है जिसने बौधायन श्रौतसूत्र की रचना की है।

कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्धित यह ग ह्यसूत्र सभी ग ह्यसूत्रों में प्राचीन है। मूल ग ह्यसूत्र में चार प्रश्न हैं परन्तु इस ग ह्यसूत्र के साथ परिभाषासूत्र ग ह्य शेषसूत्र तथा पित मेधसूत्र और जुड़े हुए हैं जो निश्चित रूप से बाद के हैं।

इस ग ह्यसूत्र में सात पाकयज्ञों का उल्लेख है, यथा— १. हुत, २. प्रहुत, ३. आहुत, ४. शूलगव, ५. बलिहरण, ६. प्रत्यवरोहण तथा ७. अष्टकाहोम। हुत के अन्तर्गत विवाह से लेकर समावर्तन संस्कार तक, प्रहुत के अन्तर्गत जातकर्म तथा चूडाकर्म, आहुत के अन्तर्गत उपनयन और समावर्तन संस्कारों का विधान है। त तीय अध्याय के अन्तर्गत घर में शान्ति, सुख और सम द्धि बढ़ाने के लिए यज्ञों का वर्णन है जैसे वास्तुशमन (३.५) अद्भुतशान्ति (३.१६) आयुष्यचरु (३.७) अष्टमीव्रत (३.८) आदि। बलिहरण प्रकरण के अन्तर्गत सर्पबलि आदि का विधान है। अष्टकाहोम के अन्तर्गत आभ्युदयित श्राद्ध आदि का विवरण है। चतुर्थ प्रश्न में प्रायश्चित्तों का विवरण है।

इस ग ह्यसूत्र के साथ जोड़े हुए भाग ग ह्यपरिभाषा सूत्र में दो प्रश्न हैं जिनमें २३ अध्याय हैं। इस सूत्र में ऐसे विषय लिये गए हैं जिन्हें मूल ग ह्यसूत्र में नहीं लिया गया है, जैसे ब्रह्मचर्य व्याख्यान, पाकयज्ञ, अग्न्याधेय, व्रतस्नातक आदि। परन्तु कुछ विषयों को जो मूल ग ह्यसूत्र में लिए गए हैं, यहां पुनः लिया गया है। इस भाग में अनेक उद्धरण दिए गए हैं जिनके मूल स्रोत का ज्ञान नहीं हो सका है।

'ग ह्यशेषसूत्र में, जो मूलग ह्य सूत्र के साथ त तीय स्थान पर जोड़ा गया है, वर्णित यज्ञों में से कुछ तो वैदिक हैं तथा कुछ उत्तर वैदिक। उत्तरवैदिक देवताओं में शिव, दुर्गा, स्कन्द, विष्णु आदि हैं जिनकी पूजा का विधान पौराणिक काल की पूजा पद्धति से मिलता-जुलता है। विष्णु का स्नान, महापुरुष की पूजा, विष्णु के केशव, गोविन्द, नारायण आदि बारह नाम, रुद्राभिषेक, प्रतिमा की प्रतिष्ठा (२.१६.२.१६) लक्ष्मी, सरस्वती, विनायक आदि की पूजा, इस सूत्र को बाद में जोड़ा गया ही सिद्ध करते हैं।

बाद में जोड़े गए तीनों खण्ड किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं है, अपितु भिन्न-भिन्न समय पर संशोधित और परिवर्धित किए प्रतीत होते हैं। जे० गोंडा इन्हें भगवद्गीता से बाद में लिखा हुआ मानते हैं। बौधायन ग ह्यसूत्र डॉ० आर० सामशास्त्री द्वारा सम्पादित मैसूर (१६२०) से प्रकाशित है। इससे पूर्व एल० श्रीनिवासाचार्य द्वारा सम्पादित १६०४ में लेडन (स्मपकमद)से प्रकाशित हुआ था।

भारद्वाज ग ह्यसूत्र :-

भारद्वाज ग ह्यसूत्र तैत्तिरीय संहिता से सम्बन्धित होते हुए भी स्वतन्त्र रूप से विकसित हुआ है। यह कृति भारद्वाज श्रौतसूत्र के रचयिता की नहीं हो सकती क्योंकि भारद्वाज श्रौतसूत्र आपस्तम्ब और हिरण्यकेशि सूत्रों का आधार ग्रन्थ है और इनसे अधिक भिन्न नहीं है। परन्तु भारद्वाज ग ह्यसूत्र अपने वर्ग के ग ह्यसूत्र आपस्तम्ब तथा हिरण्यकेशि-ग ह्यसूत्रों के समान नहीं है। यदि यह उसी व्यक्ति की रचना होती जिसने भारद्वाज श्रौत सूत्र की रचना की थी तो आपस्तम्ब और हिरण्यकेशि ग ह्यसूत्र श्रौत सूत्र के समान उसी के ग ह्यसूत्र का अनुकरण करते। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है।

इस ग ह्यसूत्र में तीन प्रश्न हैं। प्रत्येक प्रश्न उपभागों में बंटा हुआ है। इस सूत्र का प्रारम्भ 'उपनयन' से होता है जबकि इसके पूर्ववर्ती बौधायन ग ह्यसूत्र में सर्वप्रथम सप्त यज्ञों का उल्लेख है।

इस सूत्र में विषय-क्रम उचित नहीं है। इसमें एक विषय के बीच में ही दूसरे विषयों से संबंधित सूत्र आ गए हैं।

विवाह संस्कार के अन्तर्गत कन्या की योग्यता के लिए 'प्रज्ञा' शब्द का प्रयोग किया गया है। डॉ० सेलोमन्स का मत है कि वह मूल रूप में 'प्रजा' रहा होगा क्योंकि कन्या के विवाह का मुख्य उद्देश्य प्रजा ही है। इस आधार पर वे इस सूत्र को बाद का मानते हैं। डॉ० रामगोपाल ने उनके मत से सहमति व्यक्त नहीं की क्योंकि अन्य ग ह्यसूत्रों में भी 'प्रज्ञा' को वधू का आवश्यक गुण माना है। यद्यपि डॉ० रामगोपाल का मत युक्तियुक्त है परन्तु भारद्वाज ग ह्य सूत्र के इस सूत्र में 'प्रज्ञा' पाठ अधिक उचित प्रतीत होता है क्योंकि तभी इसकी संगति अगले वाक्य से बैठती है—'अथैतदपरं न खल्वियमर्थेभ्य ऊह्यते। प्रजननार्थो स्यां प्रधानः। स यो लं संलक्षणाय स्यात्स तामावहेत यस्यां प्रशस्ता जायेरन्।

भारद्वाज ग ह्यसूत्र का अधिक प्रचलित नहीं रहा है।

डॉ० सेलोमन्स के अनुसार भारद्वाज ग ह्य सूत्र का एक भाष्य भी उपलब्ध है। इस भाष्य में अनेक ग ह्य सूत्रकारों यथा हिरण्यकेशी, आपस्तम्ब, आश्वलायन, बौधायन, याज्ञवल्क्य, मनु तथा कपर्दिस्वामी के नाम दिए हैं। इनके अतिरिक्त बौधायन धर्मसूत्र, गौतम धर्मसूत्र तथा हलायुध के नाम भी दिए हैं। इनमें भारद्वाज धर्मसूत्र का भी उल्लेख है जो सम्भवतः अब नष्ट हो गया है।

इस भाष्यकार का नाम नहीं दिया गया है।

यह ग ह्यसूत्र H. J. W. Salomons के सम्पादन में १६१३ में प्रकाशित हुआ जिसका पुनर्मुद्रण १६८१ में मेहरचन्द लक्ष्मनदास दिल्ली ने किया है।

आपस्तम्ब ग ह्यसूत्र :-

आपस्तम्ब ग ह्यसूत्र तैत्तिरीयशाखा से सम्बन्धित आपस्तम्ब कल्प का २७वां प्रश्न है। २६वें प्रश्न में इस ग ह्यसूत्र से सम्बन्धित मन्त्रों का संकलन है। यह ग ह्यसूत्र आठ पटलों तथा २३ खण्डों में विभाजित है।

आपस्तम्ब ग ह्यसूत्र अपने से पूर्ववर्ती श्रौतसूत्र और मन्त्रपाठ को ध्यान में रखते हुए लिखा गया है। इसमें केवल कार्य विधायक सूत्र दिए गए हैं, कार्य से सम्बन्धित मन्त्र नहीं दिए गए हैं। इसका कारण यह है कि मन्त्रपाठ (प्रश्न २६) में संकलित मन्त्रों को बुद्धिस्थ रखा गया है। आपस्तम्बीय कल्प के सभी अंगों का रचयिता एक ही व्यक्ति था, या भिन्न-भिन्न, इस विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। ब्यूलर के अनुसार इन सभी अंगों का रचयिता एक ही व्यक्ति था। इस पक्ष के समर्थन में उनका मुख्य तर्क यह है कि आपस्तम्ब ग ह्यसूत्र बहुत छोटा है और ग ह्य यज्ञों की रूप-रेखा मात्र ही देता है। इसके पीछे ग्रन्थकर्त्ता का उद्देश्य यह था की धर्मसूत्र और शुल्बसूत्र के लिए स्थान रखा जा सके। दूसरा तर्क यह है कि इन अंगों में परस्पर सन्दर्भ मिलते हैं जो एक-दूसरे के परस्पर संबंध को सिद्ध करते हैं। जैसे धर्मसूत्र १.१.४.१६ तथा २.७.१२.१६ 'यथोपदेशम्' के द्वारा ग ह्यसूत्र की ओर संकेत करते हैं। व्याख्याकार हरदत्त ने भी इस ओर संकेत किया है। दूसरी ओर ग ह्यसूत्र में भी ऐसे विषयों के सन्दर्भ 'यथोपदेशम्' कहकर दिए हैं जो धर्मसूत्र में मिलते हैं।

श्राद्धकाल से सम्बन्धित सूत्र धर्मसूत्र के द्वितीय प्रश्न की १६वीं कण्डिका में मिलते हैं। इससे प्रतीत होता है कि आपस्तम्ब कल्प के रचयिता ने ग ह्यसूत्र और धर्मसूत्र दोनों लिखकर परस्पर सन्दर्भ बाद में दिए हैं। प्रो० ओल्डनबर्ग ने सामान्यतः इस सिद्धांत का खण्डन किया है कि ग ह्यसूत्र और धर्मसूत्र के संबंध के विषय में उन्होंने ब्यूलर के मत को सम्मान तो दिया है परन्तु अपनी असहमति प्रकट करते हुए एक और सम्भावना प्रकट की है कि ये दोनों सूत्र भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के द्वारा लिखे

गए हैं जिनमें से कोई-सा एक, दूसरे को जानता है।

परन्तु ओल्डनबर्ग का मत तथ्यों पर कम और अनुमान पर अधिक आश्रित है। सम्पूर्ण कल्प की शैली बहुत समान है। भाषा की भी समानता है। अतः यह सम्पूर्ण कल्प एक ही व्यक्ति के द्वारा लिखा गया है, इस मत में कोई दोष प्रतीत नहीं होता।

आपस्तम्ब ग ह्यसूत्र पर हरदत्त मिश्र की 'अनुकूला' टीका तथा सुदर्शनाचार्य की तात्पर्यदर्शन टीका उपलब्ध है जो चौखम्बा द्वारा डॉ० उमेशचन्द्र पाण्डेय के सम्पादन में प्रकाशित है।

हिरण्यकेशि ग ह्यसूत्र :-

हिरण्यकेशि ग ह्यसूत्र तैत्तिरीय शाखा के हिरण्यकेशि (सत्याषाढ) कल्पसूत्र के १६वें और २०वें प्रश्न में निहित है। इस सूत्र की विशेषता यह है कि उसमें विनियोज्य मन्त्र प्रतीकों में नहीं दिए गए हैं अपितु पूर्ण रूप में दिए गए हैं।

हिरण्यकेशि ग ह्यसूत्र में मौलिकता बहुत कम है। इसमें आपस्तम्ब ग ह्यसूत्र का अनुकरण किया गया है। परन्तु अनुकरण अक्षरशः नहीं है। इसमें विषयों के क्रम को बदल दिया गया है तथा अधिक विस्तार से विषय निरूपण किया गया है। इसमें अनेक ऐसे विषय भी ले लिये गए हैं जो धर्मसूत्र में आने चाहिए। इस ग ह्यसूत्र में बौधायन तथा भारद्वाज ग ह्यसूत्र से भी ग्रहण किया गया है।

उपलब्ध ग ह्यसूत्र के वर्तमान स्वरूप के विषय में विद्वानों का मत है कि इसमें कुछ भाग बाद का जोड़ा गया है। डॉ० किर्स्ते के अनुसार प्रथम प्रश्न का २६वां खण्ड तथा द्वितीय प्रश्न के अन्तिम तीन खण्ड बाद में जोड़े गए हैं। इस मत के समर्थन में मुख्य तर्क यह है कि हिरण्यकेशि ग ह्यसूत्र के भाष्यकार मात दत्त ने इस खण्ड पर भाष्य नहीं किया है। अन्तिम तीन खण्डों (१८, १६ तथा २०) के विषय में डॉ० किर्स्ते का कथन है कि भाष्यकार ने द्वितीय प्रश्न के १७वें खण्ड के अन्त में लिखा है—'समाप्तानि च ग ह्यकर्माणि।' परन्तु जैसा कि डॉ० रामगोपाल ने ध्यान आकृष्ट किया है, आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज से श्रौतसूत्र के साथ प्रकाशित मात दत्त के भाष्य में यह वाक्य नहीं मिलता है। वहां यह पाठ है— 'समाप्तमाग्रायणीकर्म।' मात दत्त ने इन तीनों खण्डों पर भाष्य लिखा है जिससे किर्स्ते का मत स्वतः ही निरस्त हो जाता है। प्रो० ओल्डनबर्ग का मत है कि उपाकरण और उत्सर्जन संस्कार, जो इन खण्डों में वर्णित है आपस्तम्ब ग ह्यसूत्र में नहीं है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि ये अंश प्रक्षिप्त हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, हिरण्यकेशि ग ह्यसूत्र में भारद्वाज ग ह्यसूत्र से भी ऋण लिया गया है। ये दोनों संस्कार भारद्वाज ग ह्यसूत्र (३.८.११) में वर्णित हैं। भाषा भी लगभग समान है। उत्सर्जन के स्थान पर विसर्जन शब्द का प्रयोग किया गया है। इससे इन खण्डों को प्रक्षिप्त मानना उचित नहीं हैं।

हिरण्यकेशि ग ह्यसूत्र पर मात दत्त का भाष्य उपलब्ध है जो आनन्दाश्रम से प्रकाशित 'सत्याषाढ श्रौतसूत्र' के अन्तर्गत प्रकाशित है। यह ग ह्यसूत्र प थक् रूप भी डॉ० ओल्डनबर्ग ने इस ग ह्यसूत्र का अंग्रेजी अनुवाद भी किया है जो सेक्रेड बुक्स ऑफ ईस्ट के खण्ड ३० में प्रकाशित है।

वैखानस ग ह्यसूत्र :-

वैखानस ग ह्यसूत्र तैत्तिरीय संहिता के वैखानस कल्पसूत्र का अंग है। पूर्ण कल्प के ३२ प्रश्नों में से प्रथम सात प्रश्न ग ह्यसूत्र से सम्बन्धित हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है वैखानस कल्प में ग ह्यसूत्र को पहले स्थान पर रखा गया है जबकि अन्य कल्पसूत्रों में ग ह्य भाग को दूसरे स्थान पर रखा जाता है।

वैखानस श्रौतसूत्र के भाष्यकार वेंकटेश के अनुसार वैखानस तैत्तिरीय शाखा के औखेय चरण से सम्बन्धित थे—

येन वेदार्थं विज्ञाय लोकानुग्रहकाम्यया।

प्रणीतं सूत्रमौखेयं तस्मै वैखानसे नमः।।

औखेय सूत्र से तात्पर्य सम्भवतः वैखानस सूत्र से ही है परन्तु पूर्ण वैखानस कल्प से या उसके किसी अंग से यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

वैखानस ग ह्यसूत्र में मन्त्रों को प्रतीकों के द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है केलेंड ने 'मन्त्रसंहिता वैखानसीय' के हस्तलेख की सूचना दी है। वैखानस सूत्र में निर्दिष्ट मन्त्रों की सूची इसमें दी गई है। वैखानस सूत्र इसी मन्त्र संहिता से मन्त्रों को उद्ध त करता है या इस संहिता में वैखानस सूत्र में प्रयुक्त मन्त्र बाद में संकलित कर दिए गए हैं, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

विषय वस्तु की द ष्टि से यह सूत्र बहुत बाद का प्रतीत होता है क्योंकि इसमें इस प्रकार के प्रकरण दिए गए हैं, जो प्राचीन ग ह्यसूत्रों में उपलब्ध नहीं है।

वैखानस ग ह्यसूत्र के प्रथम अध्याय में स्नातक, ग हस्थ आदि के स्नान तथा तर्पण की विधि दी गई है। दूसरे अध्याय में नान्दीमुख श्राद्ध, तीसरे अध्याय में विवाह, गर्भाधान, जातकर्म आदि संस्कारों का वर्णन है, चतुर्थ अध्याय में स्थालीपाक, आग्रहायण, अष्टका, पिण्डपित -यज्ञ, श्राद्ध, चैत्री तथा आश्वयुजी यज्ञों का वर्णन है। इसके अतिरिक्त विष्णु की पूजा तथा ग्रह-पूजा का भी विधान है। विष्णु के साथ-साथ लक्ष्मी पूजन का भी विधान है। विष्णु की प्रतिमा आदि की स्थापना और उसके पूजन का भी विधान है। ये सब विधान वैखानस सूत्र के बाद का सिद्ध करते हैं।

आग्निवेश्य ग ह्यसूत्र :-

आग्निवेश्य ग ह्यसूत्र तैत्तिरीय संहिता से सम्बन्धित वाधूल शाखा की एक उपशाखा का ग ह्यसूत्र है। इस बात की पुष्टि 'वाधूलग ह्यकल्प व्याख्या' नामक ग्रन्थ के एक अंश से होती है। आग्निवेश्य एक प्राचीन वैदिक नाम है। आग्निवेश्य का नाम तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के भाष्य में मिलता है जहां उसे एक शाखा का प्रवर्त्तक कहा गया है। ब हदारण्यक उपनिषद् में भी दो बार आग्निवेश्य का नामोल्लेख प्राचीन आचार्यों की सूची में हुआ है। महाभारत में भी आग्निवेश्य का नाम एक महान् ऋषि के रूप में उल्लिखित है।

माधवाचार्य (तेरहवीं शताब्दी के आसपास) ने एक अग्निवेश्य श्रुति का उल्लेख किया है। परन्तु अप्पय दीक्षित (१०वीं शताब्दी) ने आग्निवेश्य शाखा की महत्ता को अस्वीकार किया है।

आग्निवेश्य शाखा दक्षिणभारत में प्रचलित थी। आज भी कई तमिलभाषी परिवार आग्निवेश्य परम्परा के मानने वाले हैं।

आग्निवेश्य ग ह्यसूत्र में तीन प्रश्न हैं। प्रथम प्रश्न में ब्रह्मचारी के नियम तथा विवाह संस्कार का वर्णन है। दूसरे प्रश्न में पुंसवन से लेकर चौलकर्म तक का वर्णन है। त तीय प्रश्न में श्राद्ध, पित मेध आदि कार्यो का वर्णन है। इस सूत्र में जहां प्राचीन कल्पसूत्रों के विषय वर्णित हैं वहां धर्मसूत्रों के विषयों की कोटि में नहीं आते। उदाहरणतया इस ग ह्यसूत्र में 'स्थागर अलंकार' का उल्लेख है जिसके अनुसार नववधू के माथे पर स्थागर नाम द्रव्य के लेप से टीका लगया जाता था। इसी प्रकार रवि कल्प (जिसमें सूर्य की १२ प्रतिमाएं बनाकर पूजा की जाती थी) कूष्माण्ड, कौतुक बन्धन, विष्णुबलिक, पुनरुपनयन, वायसबलि, वानप्रस्थ तथा संन्यास विधि आदि ऐसे प्रकरण हैं जो ग ह्यसूत्र के विषय क्षेत्र से बाहर के हैं।

आग्निवेश्य ग ह्यसूत्र ने हिरण्यकेशि ग ह्यसूत्र, बौधायन ग ह्यसूत्र, बौधायन ग ह्यशेष सूत्र, बौधायन पित मेधसूत्र, बौधायनग ह्य परिभाषा सूत्र से बहुत ऋण लिया है। प्राचीन यज्ञ क्रियाओं के लिए उन्होंने

प्राचीन ग्रन्थों से लिया है और अपना कुछ भी मौलिक नहीं है। जहां मौलिकता है वहां आग्निवेश्य मुख्य सूत्र परम्परा से दूर जाकर पौराणिक परम्पराओं के निकट पहुंच जाते हैं। इसमें सप्ताह के दिनों में पूजा का विधान है। ताम्बूल का भी प्रयोग हुआ है। ताम्बूल चबाने की प्रथा भारत में बहुत बाद में आई है। इसलिए यह ग ह्यसूत्र भी बहुत बाद का सिद्ध होता है और इसका काल तीसरी चौथी शताब्दी के आसपास सिद्ध होता है। वर्तमान ग ह्यसूत्रों में सम्भवतः यह सबसे बाद का है।

वाधूल ग ह्यसूत्र :-

तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्धित वाधूल परम्परा का कोई ग ह्यसूत्र अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है। परन्तु इस परम्परा का ग ह्यसूत्र विद्यमान था, इसके पर्याप्त संकेत मिलते हैं इस परम्परा के मन्त्र संग्रह में ग ह्य-यज्ञों से सम्बन्धित सूत्र उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त 'वाधूल ग ह्यकल्प व्याख्या' नाम से एक हस्तलिखित व्याख्या' केरल से प्राप्त हुई है जो वाधूल ग ह्यसूत्र की ओर संकेत करती है। इस व्याख्या में उपनयन तथा पित मेध से सम्बन्धित अंश उपलब्ध हैं जो वाधूल ग ह्यसूत्र से ही सम्बन्धित प्रतीत होते हैं। व्याख्या में दिए गए उद्धरणों तथा आग्निवेश्य ग ह्यसूत्र की परस्पर तुलना से ज्ञात होता है कि वाधूल तथा आग्निवेश्य ग ह्यसूत्रों में बहुत निकट का सम्बन्ध था।

मैत्रायणी संहिता के ग ह्यसूत्र :-

कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रायणी संहिता से सम्बन्धित दो ग ह्यसूत्र उपलब्ध हैं— १. मानव ग ह्यसूत्र तथा २. वाराह ग ह्यसूत्र

मानव ग ह्यसूत्र :-

मानव ग ह्यसूत्र मैत्रायणी शाखा का ग ह्यसूत्र है। भाष्यकार अष्टावक्र ने 'मैत्रायणीय-मानवग ह्यसूत्र' कहकर इस पर भाष्य लिखा है। चरणव्यूह के अनुसार मैत्रायणीय शाखा के छह भेदों में से मानव एक भेद है।

भाष्यकार अष्टावक्र के कथन के अनुसार इस ग ह्यसूत्र के रचयिता मानवाचार्य थे तथा इस सूत्र का नाम पूरण था—

सरस्वत्याः प्रसादेन यथैतत्कृतवान्पुरा।

भगवान् मानवाचार्यः पूरणाख्यं प्रयत्नतः।।

भाष्यकार ने प्रत्येक खण्ड के अन्त में 'पूरणव्याख्याने' शब्दों का प्रयोग किया है। इस सूत्र का विभाजन सबसे विचित्र है। इसका विभाजन प्रश्नों में न होकर पुरुषों में है। इस ग ह्यसूत्र के दो पुरुष हैं। प्रथम पुरुष में २३ खण्ड है तथा द्वितीय पुरुष में १८ खण्ड हैं।

मानवग ह्यसूत्र का प्रारम्भ ब्रह्मचारी के व्रतों से होता है जबकि अन्य ग ह्यसूत्रों का प्रारम्भ उपनयन या विवाह संस्कार से होता है। प्रथम खण्ड में ब्रह्मचारिप्रकरण के पश्चात् स्नातक के नियम दिए गए हैं जिसके अन्तर्गत विवाह, गर्भाधान, सीमन्तकरण, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, उपनयन, चूडाकर्म आदि विषय दिए गए हैं। द्वितीय पुरुष में श्रौतकर्म के अधिकार, आधानकाल, औद्वाहिक कर्म, स्थालीपाक होम, शालाग्नि, पाकयज्ञ, पशुयाग, शूलगव, आग्रहायण, सर्वयाग, श्राद्धकर्म, ग हनिर्माण, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पित यज्ञ, मनुष्ययज्ञ, षष्ठीकल्प, विनायकपूजा, बलिदान, शान्ति प्रकरण आदि विषय वर्णित हैं।

भाष्यकार अष्टावक्र द्वारा मानवाचार्य को इस सूत्र का रचयिता माना गया है। परन्तु यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि मानवाचार्य इस सूत्र के रचयिता थे अथवा इस शाखा का प्रवर्त्तक। डॉ० लेले का विचार है कि मानव नाम के आचार्य मानव शाखा के प्रवर्त्तक थे। उनके अनुसार पुरुष और

पूरण नाम से व्यक्ति भी क्रमशः मानवशाखा और मैत्रायणी शाखा से सम्बन्धित आचार्य थे। उनके अनुसार मानवग ह्यसूत्र किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं अपितु यह भिन्न-भिन्न शाखाओं के व्यक्तियों द्वारा रचा गया है और समय-समय पर इसमें संशोधन और परिवर्तन होते रहे हैं। उनके अनुसार व्रतचर्या, सन्ध्या तथा उसके अगले चार खण्ड बाद में जोड़े गए हैं। परन्तु लेले ने इस कथन को प्रमाण देकर पुष्ट नहीं किया है। डॉ० रामगोपाल इन खण्डों को मूल मानते हैं।

लेले के अनुसार वर्तमान मानवग ह्यसूत्र किसी बहुत प्राचीन मैत्रायणीय ग ह्यसूत्र के स्थान पर आया है परन्तु वर्तमान ग ह्यसूत्र भी आपस्तम्ब, हिरण्यकेशि तथा भारद्वाज ग ह्यसूत्रों से पहले का है। ब्रेडके के अनुसार मानव श्रौतसूत्र तथा मानव ग ह्यसूत्र एक ही व्यक्ति की रचनाएं हैं। गार्बे के अनुसार मानवश्रौतसूत्र आपस्तम्ब श्रौतसूत्र से प्राचीन है क्योंकि आपस्तम्ब श्रौत सूत्र ने कई स्थानों पर मानव श्रौत सूत्र का अनुकरण किया है। इस प्रकार मानव ग ह्यसूत्र भी आपस्तम्ब ग ह्य से प्राचीन सिद्ध होता है।

वाराह ग ह्यसूत्र :-

वाराह ग ह्यसूत्र यजुर्वेद की चरक शाखा से सम्बन्धित मैत्रायणी संहिता का सूत्र है। मैत्रायणी संहिता के सभी मन्त्र तथा अनुवाक प्रतीकों द्वारा निर्दिष्ट हैं। परन्तु कुछ ऐसे मन्त्र भी हैं जो मैत्रायणी संहिता के नहीं हैं परन्तु प्रतीकों द्वारा निर्दिष्ट हैं। उदाहरणतया अश्मा भाव (३.११) शं नो मित्रः (११. २४) शं नो देवी (१४.६) प्रतीकों द्वारा निर्दिष्ट हैं परन्तु ये मैत्रायणी संहिता के नहीं हैं। इनको प्रतीकों में देने का कारण यह है कि वाराह ग ह्यसूत्र (२.५, ४.३.) में ये पहले पूर्णरूप में आ चुके हैं। कुछ मन्त्र जो मानव ग ह्यसूत्र में पूर्ण रूप से दिए जा चुके हैं, वे वाराह ग ह्यसूत्र में प्रतीकों द्वारा निर्दिष्ट हैं, यथा ब्रह्मणो ग्रन्थिरसि (वा० ५.२१; मानव ग ह्य १.२२.६) पुनः पत्नीमग्निः (वा० १६.६; मानव १.११.१२)

वाराह ग ह्यसूत्र आकार में बहुत छोटा है। इसमें कुल १७ खण्ड हैं। इसमें आधे से अधिक संस्कार छोड़ दिए गए हैं। सामान्य संस्कारों के अतिरिक्त 'दन्तोद्गमनम्' (३.८) संस्कार अधिक जोड़ा गया है। एक और विशेष बात यह है कि तेरहवां खण्ड 'प्रवदनकर्म' नाम से है जिसमें वाद्यों का मन्त्रों द्वारा संस्कार (सर्वाणि वादित्राण्यभिमन्त्रयते, १३.२) तथा कन्या द्वारा उनका बजाया जाना (सर्वाणि वादित्राण्यलंकृत्य कन्या प्रवादयते १३.३) सर्वथा नया प्रकरण है।

इस ग ह्यसूत्र में मौलिकता बहुत कम है। यह मानव ग ह्यसूत्र पर अधिक आश्रित है। उनके सूत्र अक्षरशः मिलते हैं। चूडाकर्म, व्रत, वेदव्रत, उपाकर्म, उत्सर्जन, समावर्तन, मधुपर्क, विवाह, रथारोहण तथा गर्भाधान संस्कार वाराह ग ह्यसूत्र और मानव ग ह्यसूत्र में मिलते-जुलते हैं और एक-दूसरे के समानान्तर चलते हैं। इसके अतिरिक्त काठक ग ह्यसूत्र से भी इसकी निकटता है। इसके अतिरिक्त अन्य ग ह्यसूत्रों जैसे आश्वलायन ग ह्यसूत्र, आपस्तम्ब ग ह्यसूत्र, खादिर ग ह्यसूत्र, गोभिल ग ह्यसूत्र कौषीतक ग ह्यसूत्र तथा बौधायन ग ह्यसूत्र का भी प्रभाव कहीं कहीं द ष्टिगोचर होता है।

इस ग ह्यसूत्र में सबसे पहले मैत्रायणीयसूत्र के २२ परिशिष्टों की गणना की गई है। मैत्रायणी सूत्र से तात्पर्य वाराहसूत्र से ही है। कुछ विद्वान् इस अंश को प्रक्षिप्त मानते हैं।

इस ग ह्यसूत्र के काल के विषय में कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता। डॉ० सामशास्त्री ने इस सूत्र का काल प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी माना है, क्योंकि इस सूत्र में मधुपर्क के समय गाय को मारने का वैकल्पिक विधान है। परन्तु यह विधान तो बौधायन जैसे प्राचीन ग ह्यसूत्रों में भी है, इसलिए इस तथ्य को कालनिर्धारण के लिए प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। डॉ० रघुवीर भी डॉ० शास्त्री के मत से सहमत नहीं हैं। इसलिए केवल इतना ही कहा जा सकता है कि इस सूत्र की रचना वाराह श्रौतसूत्र, मानवग ह्यसूत्र और काठक ग ह्यसूत्र से बाद की है। इस समय तक कठ शाखा लुप्त नहीं हुई

थी।

यह ग ह्यसूत्र पहले डॉ० सामशास्त्री तथा बाद में डॉ० रघुवीर द्वारा सम्पादित तथा प्रकाशित है।

काठक संहिता के ग ह्यसूत्र :-

काठक संहिता से सम्बन्धित एक ही ग ह्यसूत्र उपलब्ध है, जो निम्न है।

काठक ग ह्यसूत्र :-

कृष्णयजुर्वेद की काठकसंहिता से सम्बन्धित ग ह्यसूत्र काठक ग ह्यसूत्र नाम से प्रसिद्ध है। इसे लौगाक्षिग ह्यसूत्र भी कहते हैं क्योंकि याज्ञवल्क्य स्म ति के व्याख्याकार अपरार्क के अनुसार इस ग ह्यसूत्र के रचयिता लौगाक्षि हैं। कश्मीरी पंडितों की परम्परा भी यही मानती है। इस ग ह्यसूत्र का प्रचलन कश्मीर में अधिक रहा है।

इस ग ह्यसूत्र में १३ अध्याय हैं जिनमें ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य, ग हस्थ के लिए निर्धारित यज्ञ, व्रत, क च्छ्र, उपाकरण, विवाह, जातकर्म, उपनयन आदि संस्कारों का वर्णन है। इस ग ह्यसूत्र की विशेष बात यह है कि ग्यारहवें अध्याय में ग ह निर्माण का भी उल्लेख है।

इस ग ह्यसूत्र पर आदित्यदर्शन का विवरण, ब्राह्मणबल की पंचिका तथा देवपाल का भाष्य उपलब्ध है।

यह ग ह्यसूत्र केलेंड द्वारा देवपाल के भाष्य के उद्धरणों सहित लाहौर (१६२५) से प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त यह ग ह्यसूत्र मधुसूदन कौल शास्त्री द्वारा देवपाल के भाष्य सहित श्रीनगर (कश्मीर) से (१६२८ तथा १६३४ में) लौगाक्षि—ग ह्यसूत्र नाम से प्रकाशित है।

काठक ग ह्यसूत्र और मानव ग ह्यसूत्र में कुछ समानताएं हैं। ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य, समावर्तन, उपाकर्म, उत्सर्जन, विवाह, फाल्गुनी तथा ध्रुवाश्वकल्प आदि यज्ञक्रियाएं परस्पर मिलती-जुलती हैं। इसका कारण यह है कि काठक और मैत्रायणी संहिताओं का बहुत निकट का संबंध है क्योंकि चरणव्यूह के अनुसार दोनों का संबंध यजुर्वेद की चरक शाखा से है। कालक्रम की द ष्टि से काठक ग ह्यसूत्र मानव ग ह्यसूत्र से बाद का प्रतीत होता है।

सामवेद के ग ह्यसूत्र :-

सामवेद के निम्नलिखित ग ह्यसूत्र प्रकाश में आए हैं—

गोभिल ग ह्यसूत्र :-

गोभिल ग ह्यसूत्र सामवेद की कौथुम शाखा से संबंधित है। यह ग ह्यसूत्र लाट्यायन श्रौतसूत्र से सम्बन्धित है। इस ग ह्यसूत्र की एक विशेषता यह है कि मन्त्र विनियोग के लिए यह दो ग्रन्थों पर आश्रित है—एक तो सामवेद संहिता तथा दूसरा मन्त्रब्राह्मण। मन्त्र ब्राह्मण मन्त्रों का संकलन है जिसमें से लिए गए मन्त्रों का निर्देश गोभिल ग ह्यसूत्र में प्रतीकों के द्वारा किया गया है। प्रो० नौअर (ज्ञदंनमत) का मत है कि यह मन्त्र ब्राह्मण पहले से विद्यमान था जिसका उपयोग गोभिल ग ह्यसूत्र ने किया। परन्तु ओल्डनबर्ग उपर्युक्त मत से सहमत नहीं है। उनका मत है कि गोभिल ग ह्यसूत्र की रचना के उद्देश्य से ही ग ह्यसूत्र के साथ-साथ ही मन्त्रब्राह्मण की रचना हुई। अपने मत के पक्ष में उन्होंने मुख्य तर्क यह दिया है कि सामवेद के मन्त्र केवल गायन के लिए उपयुक्त हैं। समस्त ग ह्य संस्कारों के लिए सामवेद के मन्त्र पर्याप्त नहीं थे। इसलिए एक नयी मन्त्र संहिता की रचना करनी पड़ी जिसका नाम मन्त्र ब्राह्मण पड़ा। गोभिल ग ह्यसूत्र के ध्यान में यह मन्त्र ब्राह्मण था और मन्त्र ब्राह्मण के ध्यान में गोभिल ग ह्यसूत्र।

डॉ० रामगोपाल ने डॉ० नौअर के मत को उपयुक्त माना है। उनका मुख्य तर्क यह है कि खादिर ग ह्यसूत्र, जो गोभिल ग ह्यसूत्र का ही संक्षिप्त रूप है, दो स्थानों पर मन्त्र संहिता की ओर संकेत करता है। खादिर ग हसूत्र ने स्वयं कहा है कि विवाह से पूर्व स्नान करना चाहिए परन्तु सूत्र में पहले विवाह को रखा गया है क्योंकि मन्त्रों का पाठ इसी क्रम से है।

ठोस प्रमाणों के अभाव में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि मन्त्र ब्राह्मण पूर्व का था या समकालीन।

गोभिल ग ह्यसूत्र में चार प्रपाठक हैं जो कण्डिकाओं में विभाजित हैं।

इस ग ह्यसूत्र पर भट्टनारायण का भाष्य है जो श्रीचिन्तामणि भट्टाचार्य के सम्पादन में प्रथम बार १६३६ में तथा दूसरी बार १६८२ में (मुंशीराम मनोहरलाल द्वारा) प्रकाशित हुआ है।

खादिर ग ह्यसूत्र :-

खादिर ग ह्यसूत्र सामवेद की द्राह्यायण शाखा (राणायणीय) से संबंधित है। यह गोभिल ग ह्यसूत्र का ही संक्षिप्त रूप है। इसमें अपना कुछ नवीन नहीं है परन्तु गोभिल ग ह्यसूत्र से बढ़कर सिद्ध करने के उद्देश्य से कई सूत्रों को एक स्थान पर लाने का प्रयत्न किया गया है।

इस ग ह्यसूत्र का सम्बन्ध गोभिल ग ह्यसूत्र से ठीक उसी प्रकार का है जिस प्रकार का द्राह्यायण श्रौतसूत्र का लाट्यायन श्रौतसूत्र से। इस ग ह्यसूत्र के रचयिता खादिराचार्य माने जाते हैं।

ओल्डनबर्ग ने इस ग ह्यसूत्र को रोमन में अंग्रेजी अनुवाद के साथ प्रकाशित किया है (सेक्रेड बुक्स आफ ईस्ट, खण्ड १६)। ठाकुर उदय नारायण सिंह ने द्राह्यायण ग ह्यसूत्र नाम से जो ग ह्यसूत्र प्रकाशित किया है वह वस्तुतः खादिर ग ह्यसूत्र ही है। द्राह्यायण ग ह्यसूत्र चार पटलों में विभाजित है। पटल खण्डों में विभाजित हैं।

इस ग ह्यसूत्र पर रुद्रस्कन्द ने व त्ति लिखी है जो ठाकुर उदय नारायण सिंह के संस्करण में प्रकाशित है।

जैमिनीय ग ह्यसूत्र :-

जैमिनीय ग ह्यसूत्र सामवेद की जैमिनीय शाखा से संबंधित है। इसका गोभिल ग ह्यसूत्र से बहुत निकट का संबंध है परन्तु इसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। इस ग ह्यसूत्र में मन्त्रों की संख्या बहुत अधिक है। मन्त्रों का पूर्ण पाठ दिया गया है। अनेक मन्त्र न तो मन्त्र ब्राह्मण में मिलते हैं और न ही जैमिनीय संहिता में। ये मन्त्र यजुर्वेद की शाखाओं में उपलब्ध मन्त्रों के निकट हैं।

इस ग ह्यसूत्र के दो भाग हैं—पूर्व तथा उत्तर। पूर्व भाग में २४ खण्ड हैं तथा उत्तर भाग में ६ खण्ड हैं। पूर्व भाग में मुख्य रूप से संस्कारों का वर्णन है तथा उत्तर भाग में श्राद्ध, अष्टका, दाह संस्कार, शान्ति क्रिया आदि का वर्णन है। द्वितीय भाग के पिछले चार खण्ड बौधायन ग ह्यसूत्र लिए प्रतीत होते हैं।

आठवां खण्ड बौधायन धर्मसूत्र ३.६ से मिलता है। केलेंड के अनुसार इसकी भाषा जैमिनीय परम्परा के ही अनुकूल है।

कौथुम ग ह्यसूत्र :-

कौथुम शाखा से सम्बन्धित 'कौथुम ग ह्य' नाम से एक अन्य ग ह्यसूत्र प्रकाशित हुआ है जो अधूरा है। इसमें कुल २१ खण्ड हैं। इसमें विवाह जैसा मुख्य संस्कार भी नहीं है।

जे० गोंडा के अनुसार 'कौथुम ग ह्य' किसी 'कौथुम ग ह्यसूत्र' का संक्षिप्त रूप है। कौथुम ग ह्यसूत्र गोभिल ग ह्यसूत्र के कारण लुप्त हो गया। कौथुम ग ह्य में 'अर्ककन्यादान' जैसे कुछ नवीन प्रकरण भी उपलब्ध हैं जो पूर्व सूत्रों में नहीं हैं। ये प्रकरण इसके अर्वाचीन होने के परिचायक हैं।

डॉ० रामगोपाल के अनुसार यह कोई ग ह्यसूत्र नहीं है अपितु किसी अर्वाचीन पद्धति का अंश है।

सामवेद के अन्य ग ह्यसूत्र :-

सामवेद के अन्य ग ह्यसूत्र भी रहे होंगे जो आज उपलब्ध नहीं हैं। दो ग ह्यसूत्रों का नामोल्लेख मिलता है—गौतम ग ह्यसूत्र तथा छान्दोग्य ग ह्यसूत्र। ग ह्यरत्न में गौतम ग ह्यसूत्र के नाम से उद्धरण दिए गए हैं परन्तु ये सब उद्धरण खादिर ग ह्यसूत्र में उपलब्ध हैं। सम्भव है खादिर ग ह्यसूत्र और गौतम ग ह्यसूत्र किसी एक स्रोत पर आधारित रहे हों। गोभिल श्राद्धकल्प में छान्दोग्य ग ह्यसूत्र का नामोल्लेख है। इसके अतिरिक्त मानव ग ह्यसूत्र के भाष्यकार अष्टावक्र भी छान्दोग्य ग ह्यसूत्र का नामोल्लेख करता है।

(५) अथर्ववेदीय ग ह्यसूत्र :-

कौशिक सूत्र :-

अथर्ववेद का केवल एक ही ग ह्यसूत्र उपलब्ध है जो कौशिक सूत्र नाम से प्रसिद्ध है। यह अथर्ववेद की शौनक शाखा से सम्बन्धित है। यह ग ह्यसूत्र अन्य सब ग ह्यसूत्रों से विचित्र है। इसमें ग ह्य यज्ञों और संस्कारों के अतिरिक्त आभिचारिक क्रियाओं का वर्णन है।

कौशिक सूत्र में १४ अध्याय हैं जिनमें १४१ कण्डिकाएं हैं। इस सूत्र की भाषा कठिन है तथा विषय भी जटिल है। केलेंड ने केवल प्रथम ५२ कण्डिकाओं का ही अनुवाद किया है। इस सूत्र में ग ह्यसूत्र का विषय गौण और आभिचारिक क्रियाओं का मुख्य है।

कौशिक सूत्र के समय और स्थान के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। भाषा के आधार पर यह कृति वैतान सूत्र से निश्चित रूप से पूर्व की है। इसके वर्तमान रूप में विषय में विद्वानों का मत है कि यह भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा परिवर्धित कृति है। कौशिक को अथर्ववेद परिशिष्ट का भी रचयिता माना जाता है।

इस सूत्र पर दारिल द्वारा रचित भाष्य तथा केशव द्वारा रचित पद्धति उपलब्ध है।

परम्परा के अनुसार अथर्ववेद के पांच कल्प माने गए हैं—१. वैतान, २. कौशिक, ३. नक्षत्र, ४. शान्ति तथा ५. आंगिरसंकल्प। पिछले तीन कल्प केवल पद्धति मात्र रहे हैं परन्तु इनको भी सम्मान मिला है।

३. धर्मसूत्र :-

धर्मसूत्र कल्प वेदांग का तीसरा महत्त्वपूर्ण भाग है परन्तु सभी धर्मसूत्र अपनी शाखा से उतनी घनिष्ठता से जुड़े हुए नहीं हैं जितनी घनिष्ठता से श्रौतसूत्र और ग ह्यसूत्र जुड़े हुए हैं। प्रत्येक शाखा का अपना धर्मसूत्र हो ही, यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। हमें केवल कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के बौधायन, आपस्तम्ब तथा हिरण्यकेशि-धर्मसूत्र ही प्राप्त होते हैं जो अपनी शाखा के श्रौतसूत्र तथा ग ह्यसूत्र से सुसम्बद्ध हैं तथा प्रत्येक कल्प के सभी अंग एक ही व्यक्ति की कृति माने गए हैं।

यह एक विवाद का विषय है कि क्या प्रत्येक शाखा के प थक्-प थक् धर्मसूत्र विद्यमान थे जो हमें आज उपलब्ध नहीं हैं या कुछ शाखाएं किसी अन्य शाखा के धर्मसूत्रों से अपना काम चलाती थीं।

बौधायन धर्मसूत्र में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि धर्म का उपदेश प्रत्येक वेद में होता था—उपदिष्टो धर्मःप्रतिवेदम् (१.१.१.१)। कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक में १.३.११ पर यह बताया है कि सभी धर्मसूत्र तथा ग ह्यसूत्र सभी आर्य लोगों के लिए मान्य थे। यह सम्भव है कि एक ही शाखा के विभिन्न चरणों का एक ही धर्मसूत्र होता हो या किसी अन्य शाखा के धर्मसूत्र को दूसरी शाखा के द्वारा अपना लिया जाता हो। कुछ धर्मसूत्रों का अपना स्वतन्त्र रूप प्रतीत होता है जो किसी शाखा विशेष से जुड़े हुए प्रतीत नहीं होते। ये धर्मसूत्र हैं गौतम, वसिष्ठ तथा विष्णु। धर्मसूत्रों में समाज के सामान्य जीवन और आचार से सम्बन्धित नियम वर्णित हैं जो सभी शाखाओं के लिए मान्य होते थे। अतः धर्मसूत्रों का शाखा से स्वतन्त्र होना और सभी धर्मसूत्रों का प्रत्येक शाखा के लिए मान्य होना स्वाभाविक ही है। वसिष्ठ धर्मसूत्र में यह स्पष्ट लिखा है कि आर्यावर्त देश में जो धर्म और आचार है वे सर्वत्र मान्य हैं—

तस्मिन्देशे ये धर्मा ये चाचारास्ते सर्वत्र प्रत्येतव्याः।

(वसिष्ठ धर्मसूत्र १.१०)

धर्मसूत्रों का वर्ण्य विषय :-

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है धर्मसूत्रों का वर्ण्य विषय धर्म का उपदेश करना है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में धर्म का विशेषण 'सामयाचारिक' प्रयुक्त किया गया है—अथातः सामयाचारिकान् धर्मान् व्याख्यास्यामः (१.१.१.१)। आपस्तम्ब धर्मसूत्र के व त्तिकार हरदत्त ने सामयाचारिक पद की व्याख्या इस प्रकार की है—'समयमूला आचारस्समयाचाराः तेषु भवाः सामयाचारिकाः' अर्थात्—जो आचार समय पर आश्रित हो उसे समयाचार कहते हैं। समयाचार से सम्बन्धित जो धर्म हो उसे सामयाचारिक धर्म कहते हैं। उन्होंने पुरुष द्वारा बनाई गई व्यवस्था को समय कहा है—पौरुषेयी व्यवस्था समयः। वेदों को अपौरुषेय कहा गया है। वेदों से भिन्न जो भी शास्त्र हैं वे सब पौरुषेय हैं, अर्थात् मनुष्यों द्वारा रचित हैं। समाज के सम्यक् संचालन के लिए मनुष्यों द्वारा जो व्यवस्था बनाई जाए वह ही पौरुषेयी व्यवस्था कहलाती है। इसी को समय कहते हैं। हरदत्त ने समय को तीन प्रकार का बताया है—विधि, नियम तथा प्रतिषेध। जो किसी कार्य को करने की ओर प्रव त्त करे वह विधि है, जो हमारी क्रियाओं को नियमित करे वह नियम तथा जो किसी कार्य को न करने का आदेश दे वह प्रतिषेध होता है।

धर्म का मुख्य उद्देश्य है लोक कल्याण। वसिष्ठ धर्मसूत्र में पहले ही सूत्र में धर्मजिज्ञासा का हेतु लोक कल्याण बताया है—अथातः पुरुषनिःश्रेयसार्थ धर्मजिज्ञासा (वसिष्ठ धर्मसूत्र १.१)

संस्कृत वाङ्मय में धर्म शब्द का बहुत व्यापक अर्थ रहा है। धर्म शब्द बहुत प्राचीन है। ऋग्वेद में अनेक अर्थों में धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है। परन्तु धर्मसूत्रों में वर्णित विषय के आधार पर धर्म शब्द से तात्पर्य उस कार्य व्यवस्था से लिया जा सकता है जिसके द्वारा सामाजिक तथा व्यक्तिगत जीवन सुचारु रूप से चल सके। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में बड़े स्पष्ट शब्दों में धर्म की परिभाषा की गई है कि जिस कार्य की सज्जन प्रशंसा करें वह धर्म तथा जिसकी निन्दा करें वह अधर्म होता है—ये त्वार्याः क्रियमाणं प्रशंसन्ति स धर्मो, यं गर्हन्ते, सो धर्मः (११.७.२०.७)।

धर्म का आधार यद्यपि वेद तथा स्म ति बताये गए हैं परन्तु शिष्टों के आचरण को धर्म के रूप में सर्वाधिक प्रामाणिकता मिली है। लगभग सभी धर्मसूत्रों में श्रुति, स्म ति तथा शिष्टों का आचरण धर्म का आधार माना गया है, यथा—वसिष्ठ धर्मसूत्र—श्रुतिस्म तिविहितो धर्मः, तदलाभे शिष्टाचारः प्रमाणम् (१.४.५); बौधायन धर्मसूत्र—उपदिष्टो धर्मः प्रतिवेदम्, तस्यानु व्याख्यास्यामः, स्मार्तो द्वितीयः, त तीयः शिष्टागमः (१.१.१४); गौतम धर्मसूत्र—ॐ वेदो धर्ममूलम्, तद्विदां च स्तुतिशीले; आपस्तम्ब धर्मसूत्र—धर्मज्ञसमयः प्रमाणम्, वेदाश्च (१.१.१.२-३)। मनुस्म ति में भी आत्मतुष्टि के अतिरिक्त इन्हीं तीनों आधारों को प्रमाण माना है—

वेदो खिलो धर्ममूलं स्म तिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च। (मनु० २.६)

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि शिष्टों के आचरण को वेदों के समकक्ष प्रामाणिकता मिली है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में तो धर्मज्ञ के आचार को वेदों से भी अधिक प्राथमिकता मिली है। व्यक्ति के आचार और गुण ही उसको शिष्ट या अशिष्ट की कोटि में लाते हैं। बौधायन धर्मसूत्र में उन व्यक्तियों को शिष्ट कहा है जो ईर्ष्या, द्वेष से मुक्त हों, अहंकारी नहीं हो, केवल आवश्यकता के अनुसार ही संग्रह करते हों, लालची न हों, दम्भ दर्प, लोभ, मोह, क्रोधादि दोषो से मुक्त हों—

शिष्टाः खलु विगतमत्सराः निरहंकाराः कुम्भीधान्या।

अलोलुपा दम्भदर्पलोभमोहक्रोधविवर्जिताः।। (१.१.१.५)

शिष्ट व्यक्तियों का मन भी निर्मल होता है। मनुस्म ति में व्यक्ति के हृदय को भी प्रमाण माना है—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।

हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत।। (मनु० २.१)

धर्मसूत्रों में न केवल मनुष्य के वैयक्तिक आचारों का वर्णन किया गया है अपितु समस्त समाज के प्रति परस्पर क्या कर्त्तव्य और दायित्व है, उसका सम्यक् निरूपण किया गया है। राजधर्म, दण्डव्यवस्था, प्रायश्चित्त आदि विषय भी वर्णित हैं। धर्मसूत्र मुख्य रूप से न्याय-ग्रंथ माने जा सकते हैं। उस समय की न्याय व्यवस्था का व्यवस्थित रूप हमें धर्मसूत्रों में ही उपलब्ध होता है।

धर्मसूत्रों के विषय को मुख्य रूप से तीन भागों में विभाजित किया गया है— वर्णधर्म, आश्रमधर्म, तथा नैमित्तिक धर्म। मनुस्म ति के व्याख्याकार मेधातिथि ने धर्मशास्त्र के विषय को पांच भागों में विभाजित किया है — १. वर्णधर्म, २. आश्रमधर्म, ३. वर्णाश्रम धर्म, ४. नैमित्तिकधर्म तथा ५. गुणधर्म। गौतमधर्मसूत्र के व त्तिकार हरदत्त ने भी धर्म को पांच भागों में विभाजित किया है—

पंचविधो धर्मः—वर्णधर्म आश्रमधर्म उभयधर्मो गुणधर्मो नैमित्तिकधर्मश्चेति।

धर्मसूत्र में कुछ विषय ऐसे हैं जो ग ह्यसूत्रों में भी मिलते हैं यथा उपनयन, अनध्याय, विवाह, श्राद्ध, पंच महायज्ञ, प्रायश्चित्त आदि।

सभी धर्मसूत्रों में सामान्य रूप से वर्णित विषयों के आधार पर धर्मसूत्रों के वर्ण्यविषय को निम्नलिखित कोटियों में बांटा जा सकता है—१. याज्ञिक धर्म, यथा-उपनयन, विवाह, श्राद्ध, महायज्ञ, प्रायश्चित आदि, २. वर्णधर्म—यथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा अन्य वर्गों के धर्म, ३. आश्रमधर्म, यथा—ब्रह्मचारी, ग हस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी के धर्म, ४. स्त्रीधर्म, ५. स्नातक धर्म, ६. राजधर्म ७. दण्डधर्म, ८. दायभाग, ९. न्यायाधिकरण, १०. वैयक्तिक आचार तथा ११. सामाजिक धर्म।

धर्मसूत्रों का उद्गम और विकास :-

जैसा कि पहले बताया जा चुका है प्रत्येक धर्मसूत्र वेदों को आधार मानकर रचा गया है। इससे स्पष्ट है कि धर्मसूत्रों का उद्गम-स्थान वेद ही हैं। वेदों में अनेक स्थान पर धर्मशब्द का प्रयोग किया गया है। ऋग्वेद में कम-से-कम ५८ बार धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है। एक स्थान पर अश्विनीकुमारों के लिए धर्मवन्ता (धर्मवन्तौ) विशेषण का प्रयोग हुआ है। इससे स्पष्ट है कि धर्म का आचरण अर्थ में प्रयोग ऋग्वेद काल से ही होने लगा था। एक अन्य स्थान पर विप्र के लिए धर्मकृत् शब्द का प्रयोग हुआ है—

इन्द्राय साम गायत विप्राय ब हते ब हत्।
धर्मकृते विपश्चिते मनस्यवे।।

ऋग्वेद के अतिरिक्त, अन्य संहिताओं में धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है।ब्राह्मण और उपनिषत् काल में धर्म शब्द व्यवस्था के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा था और धर्म को वैज्ञानिक स्वरूप दिया जाने लगा

था। छान्दोग्योपनिषद् का यह सन्दर्भ उल्लेखनीय है—

त्रयो धर्मस्कन्धा—यज्ञो ध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एवेति द्वितीयो

ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी त तीयो त्यन्तमात्मानमाचार्यकुले अवसादयन्

(छान्दोग्योपनिषद् २.४.२२)

ब्राह्मण और उपनिषद् काल में यद्यपि धर्म-व्यवस्था ने वैज्ञानिक रूप लेना प्रारम्भ कर दिया था परन्तु धर्मविषयक नियमों का ग्रन्थबद्ध करने का कार्य सूत्रकाल में ही हुआ। उनिषत् काल तक धर्म के सिद्धान्त इधर-उधर बिखरे पड़े थे। उन्हें एकत्रित करने की आवश्यकता थी। समाज की जटिलताएं प्रतिदिन बढ़ती जा रही थीं। प्राचीन मानदण्ड पर्याप्त नहीं थे। प्रतिदिन नई-नई समस्याएं उत्पन्न हो रही थीं। उन्हें सुलझाने के लिए सामाजिक जीवन को नियमित करना आवश्यक था। राजा प्रजा के हित का पूरा ध्यान रखे, इसलिए राजा के कार्यों को नियमित करने की आवश्यकता पड़ी। प्रजा के समाज, राज्य और राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्य भी थे, इसीलिए उनके लिए भी आचार संहिता निर्धारण करना आवश्यक था। इसीलिए सभी धर्मों को नियमबद्ध रूप में प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थ रचे जाने लगे। क्योंकि इस काल में सूत्र शैली को अधिक उपयुक्त माना जाता था, इसीलिए धर्म-नियमों को भी सूत्र शैली में ही लिखा गया था। ये ग्रन्थ धर्मसूत्र कहलाए।

प्रारम्भ में प्रत्येक वैदिक शाखा के लिए एक धर्मसूत्र था, जैसा कि आपस्तम्ब धर्मसूत्र के इस वाक्य से स्पष्ट है—उपदिष्टो धर्मः प्रतिवेदम् (१.१.१)। प्रत्येक वैदिक शाखा से सम्बन्धित सभी श्रौत, ग ह्य तथा धर्म सम्बन्धी नियमों को एक स्थान पर संकलित करके एक पूर्ण कल्प का निर्माण हुआ। बौधायन, आपस्तम्ब तथा हिरण्यकेशि कल्प सभी अंगों सहित पूर्ण हैं। परन्तु धीरे-धीरे धर्मसूत्र अपनी शाखा से स्वतन्त्र होने लगे क्योंकि समसामयिक परिस्थितियों में परिवर्तन होने लगा। आचारों की समानता बहुत बड़े क्षेत्र में व्याप्त होने लगी और एक ही जैसी आचार संहिता सभी शाखाओं के अनुयायियों के लिए मान्य होने लगी। इसीलिए संभवतः अनेक प्राचीन धर्मसूत्र लुप्त हो गए और कुछ ही धर्मसूत्र समाज में मान्य रह गए।

धर्मसूत्र-साहित्य :-

धर्मसूत्र-साहित्य है जो आज उपलब्ध है वह श्रौतसूत्र तथा ग ह्यसूत्रों की तुलना में बहुत कम है। परन्तु धर्मसूत्र तथा टीकाकारों ने अनेक आचार्यों के नाम लिये हैं जो निश्चित रूप से धर्मज्ञ थे। सम्भव है कि उन्होंने धर्मसूत्र लिखे हों, जो आज हमें उपलब्ध नहीं। आज केवल निम्नलिखित धर्मसूत्र उपलब्ध हैं—

(१) गौतम धर्मसूत्र :-

यह धर्मसूत्र कई बार प्रकाशित हो चुका है। इस धर्मसूत्र में कुल २८ अध्याय हैं। चौखम्बा से प्रकाशित धर्मसूत्र में विभाजन प्रश्न और अध्यायों में है। इसमें कुल तीन प्रश्न हैं। प्रथम और द्वितीय प्रश्न में प्रत्येक में ६ अध्याय हैं। त तीय प्रश्न में १० अध्याय हैं।

यह धर्मसूत्र किसी कल्प का भाग था, या स्वतन्त्र रूप से विकसित हुआ, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इससे सम्बन्धित कल्पसूत्र उपलब्ध नहीं हैं। कुमारिल के अनुसार यह धर्मसूत्र सामवेद के अनुयायियों में प्रचलित था। गौतम का सामवेद के साथ सम्बन्ध अन्य प्रमाणों से भी पुष्ट होता है। चरणव्यूह की टीका के अनुसार गौतम सामवेद की राणायनीय शाखा के प्रवर्तक या आचार्य थे। सामवेद के लाट्यायन श्रौतसूत्र तथा द्राह्यायन श्रौतसूत्र में गौतम के नाम से उल्लेख है। सामवेद के ही ग ह्यसूत्र गोभिलग ह्य सूत्र में भी गौतम के नियम उद्ध त किए गए हैं। गौतम धर्मसूत्र का सामवेद के ब्राह्मण 'सामविधान ब्राह्मण' से निकट का सम्बन्ध प्रतीत होता है क्योंकि गौतम धर्मसूत्र के त तीय

प्रश्न के प्रथम अध्याय के १२वें सूत्र में जप के लिए मन्त्रों का निर्देश किया गया है। यद्यपि इसमें सभी वेदों के मन्त्रों का निर्देश है, परन्तु सबसे अधिक मन्त्र सामवेद के हैं। इससे प्रतीत होता है कि इस धर्मसूत्र का सम्बन्ध सामवेद से है। पी०वी० काणे ने इस धर्मसूत्र के सामवेद से सम्बन्धित होने की सम्भावना तो व्यक्त की है परन्तु उनका विचार है कि यह धर्मसूत्र स्वतन्त्र रूप से विकसित हुआ परन्तु बाद में सामवेद के अनुयायियों ने इसे अपना लिया।

गौतम का परिचय तथा काल :-

गौतम नाम के बहुत व्यक्ति प्राचीन साहित्य में उल्लिखित हैं। परन्तु ये सब वर्तमान धर्मसूत्र के रचयिता गौतम के सन्दर्भ में हों, यह नहीं कहा जा सकता। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, गौतम का उल्लेख लाट्यायन तथा द्राह्यायण श्रौतसूत्रों में है। छान्दोग्य उपनिषद (४.४.३) में हारिद्रुम गौतम का उल्लेख है। पी०वी० काणे की सूचना के अनुसार मिताक्षरा स्म तिचन्द्रिका, हेमाद्रि, माधव आदि टीकाकारों ने श्लोक गौतम तथा व द्ध गौतम के नाम से उद्धरण दिए हैं। बौधायन धर्मसूत्र में दो बार गौतम का नाम आया है (बौधायन १.१.१.७; २.२.४.१७)। वसिष्ठ धर्मसूत्र में भी दो बार गौतम का उल्लेख हुआ है। (वसिष्ठ ४.३५, ३७)।

इन सब उद्धरणों से प्रतीत होता है कि गौतम बहुत प्राचीन आचार्य थे। परन्तु वर्तमान धर्मसूत्र का लेखक इतना प्राचीन हो, यह नहीं कहा जा सकता। इसके कारण निम्नलिखित हैं—१. बौधायन धर्मसूत्र की भाषा निश्चित रूप से गौतम धर्मसूत्र की भाषा से प्राचीन है। बौधायन धर्मसूत्र में अनेक प्राचीन और अपाणिनीय प्रयोग हैं, जबकि वर्तमान गौतम धर्मसूत्र की भाषा पाणिनि के बहुत निकट है। २. बौधायन धर्मसूत्र में गौतम के नाम से जो उद्धरण दिए हैं वे वर्तमान गौतम धर्मसूत्र में नहीं हैं। ३. गौतम धर्मसूत्र ने बौधायन धर्मसूत्र से उधार लिया है। इससे बौधायन धर्मसूत्र की गौतम धर्मसूत्र की तुलना में प्राचीनता सिद्ध होती है। गौतम का प्राचीन साहित्य में नामोल्लेख के विषय में यह कहा जा सकता है कि गौतम गोत्र का नाम है जो किसी प्राचीन गौतम के नाम पर चल रहा था। ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान धर्मसूत्र किसी प्राचीन धर्मसूत्र का संशोधित संस्करण है।

यद्यपि सभी विद्वानों ने गौतम को सभी धर्मसूत्रों से प्राचीन माना है परन्तु वर्तमान लेखक ने युक्तियुक्त ढंग से इस मत का खण्डन किया है।

गौतम धर्मसूत्र में वर्णित विषय :-

प्रथम प्रश्न में उपनयन; ब्रह्मचारी, ग हस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास के नियम; पंच महायज्ञ, मधुपर्क, अभिवादन के नियम, विवाह, पुत्रों के प्रकार; गुरुसेवा, ब्राह्मण के कर्त्तव्य, राजा, व्रत आदि विषय वर्णित हैं। द्वितीय प्रश्न में वर्णधर्म, राजा के कर्त्तव्य , न्याय-व्यवस्था, अपराध, दण्ड, ब्याज के नियम, साक्षी, अशौच श्राद्धकर्म, वेदाध्ययन, अनध्याय, भक्ष्याभक्ष्य तथा स्त्रीधर्म वर्णित हैं। त तीय प्रश्न में प्रायश्चित्त, त्याज्य व्यक्ति, पातक, महापातक, कृच्छ्र व्रत, चान्द्रायण व्रत तथा सम्पत्ति का विभाजन वर्णित है।

व त्ति तथा भाष्य :-

गौतम धर्मसूत्र पर दो टीकाएं उपलब्ध हैं—

१. हरदत्त की मिताक्षरा व त्ति तथा

२. मस्करी भाष्य

(२) बौधायन धर्मसूत्र :-

बौधायन धर्मसूत्र बौधायन कल्प का भाग है। यह कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्धित है। यह चार प्रश्नों में विभाजित है। प्रश्न अध्यायों में और अध्याय खण्डों में विभाजित हैं।

बौधायन धर्मसूत्र में प्रक्षिप्त अंश :-

विद्वानों में चतुर्थ प्रश्न को प्रक्षिप्त अंश माना है। त तीय प्रश्न के विषय में भी इन्हीं विद्वानों ने संदेह व्यक्त किया है। इस पक्ष में जो मुख्य तर्क दिए गए हैं, वे इस प्रकार हैं—

१ चतुर्थ प्रश्न की शैली अन्य प्रश्नों से भिन्न है। इसमें अधिकांशतः श्लोक हैं।

२. यह प्रश्न अध्यायों में विभक्त है, जबकि प्रथम दो प्रश्न कण्डिका या खण्डों में विभाजित है।

३. इस प्रश्न के प्रथम चार अध्यायों में प्रायश्चित्तों का वर्णन है जबकि प्रायश्चित्त द्वितीय तथा त तीय प्रश्न में वर्णित किए जा चुके हैं।

४. कुछ सूत्र पीछे आए हुए सूत्रों की पुनराव त्ति मात्र हैं।

५. पांच से लेकर आठवें अध्याय तक सिद्धि प्राप्त करने के साधन वर्णित हैं, जो धर्मसूत्र का विषय नहीं हैं।

त तीय प्रश्न के प्रक्षिप्त होने के विषय में जो तर्क दिए गए हैं, वे इस प्रकार हैं—

१ त तीय प्रश्न भी अध्यायों में विभक्त है, खण्ड या कण्डिकाओं में नहीं।

२. त तीय प्रश्न में केवल पिछले दो प्रश्नों में दिए गए विषय को ही बढ़ाया गया है।

३. इसका १६वां अध्याय गौतम धर्मसूत्र के ३.१ से लिया गया है। षष्ठ अध्याय विष्णु धर्मसूत्र के ४८वें अध्याय से मिलता-जुलता है।

उपर्युक्त सभी तर्क बहुत दुर्बल हैं और इनसे चतुर्थ प्रश्न और त तीय प्रश्न की प्रक्षिप्तता कदापि सिद्ध नहीं होती। इस पुस्तक के लेखक ने अन्यत्र उपर्युक्त सभी तर्कों पर विचार किया है और सभी तर्कों के खोखलेपन को सिद्ध किया है। सारांश यह है—

१ श्लोक अधिक होना किसी भी अंश को प्रक्षिप्त सिद्ध नहीं करता। अनुष्टुप् छन्द में श्लोकों की रचना बहुत प्राचीन काल से प्रारम्भ हो गई थी। श्लोक का उल्लेख स्वयं यास्क ने किया है और अनुष्टुप् छन्द में निर्मित श्लोक का उद्धरण दिया है—तदेतद् ऋक्श्लोकाभ्यामुक्तम् (निरुक्त ३.४)। बौधायन धर्मसूत्र के प्रथम और द्वितीय अध्याय में भी १५० से अधिक श्लोक हैं।

२. त तीय और चतुर्थ प्रश्न का अध्यायों में विभाजित होना उनकी प्रक्षिप्तता सिद्ध नहीं करता क्योंकि वास्तविक विभाजन किस प्रकार से था, यह ज्ञान नहीं है। मैसूर संस्करण में सभी प्रश्न अध्यायों में विभाजित हैं।

३. सम्पूर्ण बौधायन धर्मसूत्र का विषय व्यवस्थित तथा उचित क्रम में नहीं है। जो बात त तीय तथा चतुर्थ प्रश्न के सम्बन्ध में कही गई है वह प्रथम तथा द्वितीय प्रश्न पर भी लागू होती है। इस आधार पर समस्त धर्मसूत्र को प्रक्षिप्त मानना होगा जो हास्यास्पद है।

४. जहां सिद्धियों की बात कही है वहां वास्तव में क च्छ्र, महासान्तापन तथा चान्द्रायण प्रायश्चित्तों का वर्णन है। यह विषय धर्मसूत्रों से बाहर का नहीं है।

५. बौधायन धर्मसूत्र के द्वारा गौतम धर्मसूत्र तथा विष्णु धर्म सूत्र से उधार लेना युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि वर्तमान रूप में उपलब्ध ये दोनों धर्मसूत्र बौधायन धर्मसूत्र के बाद के हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त किसी भी अंश की प्रक्षिप्तता सिद्ध नहीं होती। इसके विपरीत इन दोनों प्रश्नों की भाषा प्रथम तथा द्वितीय प्रश्नों की भांति ही प्राचीन है। दोनों ही प्रश्नों में अपाणिनीय तथा

प्राचीन रूप उपलब्ध हैं।

बौधायन धर्मसूत्र का रचयिता :-

बौधायन धर्मसूत्र के रचयिता के विषय में भी सन्देह व्यक्त किए गए हैं। इस समस्या पर प्रकाश बौधायन श्रौतसूत्र के अन्तर्गत भी डाला गया है। इसके रचयिता के विषय में संदेह का कारण यह है कि बौधायन धर्मसूत्र में बौधायन शब्द कई बार आया है। टीकाकार गोविन्द स्वामी ने ग्रन्थकर्ता के विषय में कई सम्भावनाएं व्यक्त की है। एक स्थान पर उन्होंने कहा है कि क्योंकि बौधायन शब्द का प्रयोग हुआ है, इसलिए इसका रचयिता उससे भिन्न कोई उसका शिष्य है।

'बौधायनसंशब्दनादन्यश्तच्छिष्यो स्य ग्रन्थस्य कर्तेति गम्यते'

(बौधायन ध० सूत्र ३.५.५.८ पर गोविन्द स्वामी का भाष्य)। ऋषितर्पण प्रकरण में काण्व बौधायन कहकर उसे तर्पण दिया गया है। काणे का मत है कि यह कण्व बोधायन होना चाहिए क्योंकि मैसूर संस्करण में कण्व बौधायन ही प्रयुक्त हुआ है। इसकी पुष्टि इस बात से होती है कि बौधायन ग ह्यसूत्र में कण्व बौधायन का स्मरण प्रवचनकार के रूप में हुआ है जबकि आपस्तम्ब का स्मरण सूत्रकार के रूप में हुआ है। यह सम्भव है कि कण्व बौधायन ने विस्त त रूप में कल्पसूत्र का प्रवचन किया हो और बाद में उसके किसी शिष्य ने जिसको काण्व बौधायन कहा गया, उसके मतों को सूत्र शैली में एकत्रित कर दिया है।

यह बौधायन किस प्रदेश का निवासी था, यह अनिर्णीत है।

बौधायन धर्मसूत्र का काल :-

बौधायन धर्मसूत्र का काल वही है जो बौधायन श्रौतसूत्र तथा ग ह्यसूत्र का है क्योंकि भाषा और शैली की द ष्टि से इन तीनों अंगों का रचयिता एक ही व्यक्ति प्रतीत होता है। सभी प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों ने स्वीकार किया है कि तैत्तिरीय संहिता के कल्पसूत्रों का क्रम इस प्रकार है—बौधायन, भारद्वाज, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, वाधूल तथा वैखानस। परन्तु गौतम धर्मसूत्र को बौधायन से पहले माना गया है। इसका कारण यह है कि बौधायन धर्मसूत्र में दो बार गौतम का नाम आया है। विद्वानों का मत है कि गौतम धर्मसूत्र के त तीय प्रश्न का पहला अध्याय बौधायन धर्मसूत्र ने उधार लिया है। (बौधायन ध० सूत्र ३.१०)।

सभी पक्षों पर विचार करने के पश्चात् वर्तमान गौतम धर्मसूत्र बौधायन से पहले का सिद्ध नहीं होता क्योंकि गौतम धर्मसूत्र की भाषा बौधायन धर्मसूत्र की भाषा की तुलना में आधुनिक है। बौधायन धर्मसूत्र में गौतम के नाम से जो उद्धरण दिए हैं वे वर्तमान गौतम धर्मसूत्र में उपलब्ध नहीं हैं। जँहा तक दोनों धर्मसूत्रों में मिलते-जुलते सूत्रों का प्रश्न है, यह नहीं कहा जा सकता कि बौधायन धर्मसूत्र ने गौतम से उधार लिया है। दोनों के सूत्रों को ध्यान से देखने से पता चलता है कि गौतम ने ही बौधायन धर्मसूत्र से उधार लिया है।

इससे सिद्ध होता है कि बौधायन धर्मसूत्र वर्तमान गौतम धर्मसूत्र से प्राचीन है।

बौधायन धर्मसूत्र में वर्णित विषय :-

बौधायन धर्मसूत्र की विषय-वस्तु उचित प्रकार से विभाजित नहीं हैं एक विषय को भिन्न-भिन्न स्थानों पर लिया गया है। बीच में अचानक आए हुए प्रकरण अगले और पिछले प्रकरणों से असम्बद्ध प्रतीत होते हैं। जो मुख्य विषय बौधायन धर्मसूत्र में वर्णित हुए हैं, वे इस प्रकार हैं—

प्रथम प्रश्न में धर्म की परिभाषा, आर्यावर्त की सीमाएं, विभिन्न प्रदेशों के आचार, ब्रह्मचर्य, उपनयन, अभिवादन के नियम, स्नातक के कर्त्तव्य, वस्त्र एवं पात्रों की शुद्धि, ब्याज के नियम, अशौच,

यज्ञ के नियम, विवाह, पुत्र के प्रकार, कर-व्यवस्था, म त्युदण्ड, साक्षी, अनध्याय आदि।

द्वितीय प्रश्न में पातक कर्मों के प्रायश्चित्त, पतनीय कर्म, कृच्छ्रव्रत, सम्पत्ति-विभाजन, स्त्रीधर्म, स्नान, दान एवं भोजन की विधि, सन्ध्योपासन, गायत्री एवं प्राणायाम, शारीरिक शौच, तर्पण, आश्रमधर्म, आत्मज्ञान, श्राद्ध आदि।

त तीय प्रश्न में परिव्राजक, जीवनव त्ति, अघमर्षण, चान्द्रायण, प्रायश्चित्त आदि।

चतुर्थ प्रश्न में भी विभिन्न प्रायश्चित्त, कन्यादान का काल, ऋतुगमन की आवश्यकता, जप तथा व्रत, धर्म का महत्त्व।

बौधायन धर्मसूत्र की भाषा तथा शैली :-

बौधायन धर्मसूत्र की भाषा प्राचीन है। अनेक वैदिक शब्दों का प्रयोग हुआ है। अपाणिनीय रूप भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। यद्यपि ग्रन्थ की शैली सूत्रों की ही है, परन्तु संक्षिप्तता पर विशेष बल नहीं दिया गया है। अनेक सूत्र ब्राह्मण शैली की गद्य में लिखे गए हैं। बीच-बीच में 'अथाप्युदाहरन्ति' शब्दों के साथ श्लोक उद्ध त किए गए हैं। स्वयं सूत्रकार ने भी अपने श्लोक दिए हैं। अनेक गीत और गाथाएं उद्ध त हैं।

बौधायन धर्मसूत्र की टीका :-

बौधायन धर्मसूत्र पर गोविन्दस्वामी की विवरण नाम की टीका उपलब्ध है जो उमेशचन्द्र पाण्डेय द्वारा सम्पादित चौखम्बा, वाराणसी से प्रकाशित है।

(३) आपस्तम्ब धर्मसूत्र :-

आपस्तम्ब धर्मसूत्र तैत्तिरीय शाखा के आपस्तम्ब कल्प का अंग है। यह धर्मसूत्र कई संस्करणों में प्रकाशित है। ब्यूलर ने इसका अंगेजी अनुवाद किया है जो सेक्रेड बुक्स आफ ईस्ट खण्ड २ में प्रकाशित है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र तथा श्रौत व ग ह्यसूत्र का रचयिता एक ही व्यक्ति है या भिन्न-भिन्न इस विषय पर पहले ही विचार हो चुका है (देखें आपस्तम्ब धर्मसूत्र)। अधिकांश विद्वान् इसी मत के पक्ष में हैं कि तीनों अंगों में परस्पर इतनी निकटता एवं समानता है कि इनके एक व्यक्ति की रचना होने में कोई शंका नहीं होती।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र दो प्रश्नों में विभाजित है। प्रत्येक प्रश्न पटलों में विभाजित है। पटल के साथ-साथ कण्डिकाओं में भी विभाजन है जो पटल के साथ-साथ चलता है। प्रथम प्रश्न में ग्यारह पटल अथवा ३२ कण्डिकाएं हैं। द्वितीय प्रश्न में भी ग्यारह पटल अथवा २६ कण्डिकाएं हैं।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र का काल :-

आपस्तम्ब धर्मसूत्र का काल वही है जो आपस्तम्ब श्रौत अथवा ग ह्यसूत्र का। यह सूत्र निश्चित रूप से बौधायन सूत्र से बाद का है।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र की भाषा शैली :-

यह धर्मसूत्र सूत्र शैली में लिखा गया है। बीच-बीच में श्लोक भी दिए गए हैं। इस धर्मसूत्र की भाषा में कई विशेषताएं हैं। एक ओर तो इसमें प्राचीन वैदिक प्रयोग हैं तो दूसरी ओर प्राकृत प्रभाव भी प्रतीत होता है। समीकरण तथा लोप की प्रव त्ति द ष्टिगोचर होती है जैसे युङ्के (युङ्क्ते के लिए) भुङ्के (भुङ्क्ते के लिए)। अनेक अपाणिनीय प्रयोग द ष्टिगोचर होते हैं।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र में वर्णित विषय :-

इस धर्मसूत्र में बौधायन धर्मसूत्र की अपेक्षा विषय क्रम उचित और सुव्यवस्थित है। इसमें वर्णित विषय इस प्रकार हैं—

प्रथम प्रश्न में धर्म तथा उसके आचार, वर्णधर्म, उपनयन, व्रात्य के संस्कार, ब्रह्मचर्य के धर्म, स्नातक के धर्म, अनध्याय, स्वाध्याय, पंच महायज्ञ, नित्य कर्म, अभिवादन, आचमन, भक्ष्याभक्ष्य, अपण्य वस्तुएं, पतनीय कर्म, आत्मज्ञान, प्रायश्चित्त आदि विषय वर्णित हैं।

द्वितीय प्रश्न में ग हस्थ के धर्म, वैश्वदेव बलि, अतिथिसत्कार, ब्राह्मण आदि के लिए नियम, दूसरे विवाह के नियम, स्त्री के प्रति कर्तव्य, दायभाग, श्राद्ध, आश्रम धर्म, राजधर्म, नियोग, प्रायश्चित्त, दण्ड, साक्षी, धर्मलक्षण आदि विषय वर्णित हैं।

टीका :-

आपस्तम्ब धर्मसूत्र पर हरदत्त ने उज्ज्वला नाम की टीका लिखी है जो चौखम्बा द्वारा प्रकाशित है।

(४) हिरण्यकेशि-धर्मसूत्र :-

हिरण्यकेशि-धर्मसूत्र हिरण्यकेशि कल्प का २६वां तथा २७वां प्रश्न है। यह भी तैत्तिरीय शाखा की खाण्डिकेय सूत्र चरण से सम्बन्धित है। हिरण्यकेशि-धर्मसूत्र में कोई मौलिकता नहीं है। यह आपस्तम्ब धर्मसूत्र का अनुकरण मात्र है। सूत्रों का क्रम भी लगभग ज्यों-का-त्यों मिलता है। अन्तर केवल इतना ही है कि आपस्तम्ब धर्मसूत्र के बहुत से अपाणिनीय रूपों को पाणिनि के अनुसार परिवर्तित कर दिया गया है।

यह धर्मसूत्र आपस्तम्ब धर्मसूत्र से निश्चित रूप से बाद का है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अपाणिनीय रूपों को पाणिनीय सांचों में ढालना बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसके दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि हिरण्यकेशि धर्मसूत्र की रचना के समय तक पाणिनि व्याकरण का प्रचार हो गया हो। इसीलिए उन रूपों को जो पाणिनीय व्याकरण से मेल नहीं खाते थे, बदल दिया गया हो। इस अवस्था में हिरण्यकेशि-धर्मसूत्र पाणिनि के बाद का सिद्ध होता है। दूसरा कारण यह हो सकता है कि भाषा में प्राकृतिक परिवर्तन हो रहे थे। हिरण्यकेशि-धर्मसूत्र के रचना काल तक भाषा इतनी परिवर्तित हो गई हो कि पाणिनि-कालीन भाषा के निकट पहुंच गई हो। चाहे कुछ भी हो, इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आपस्तम्ब और हिरण्यकेशि-धर्मसूत्र में शताब्दियों का अन्तर है। भौगोलिक अन्तर की भाषा परिवर्तन का कारण हो सकता है।

हिरण्यकेशि धर्मसूत्र पर टीका :-

हिरण्यकेशि-धर्मसूत्र पर महादेव दीक्षित द्वारा लिखित टीका उपलब्ध है। इसका नाम उज्ज्वला है। यह आपस्तम्ब धर्मसूत्र पर लिखित हरदत्त की उज्ज्वला टीका से अक्षरशः मिलती है। सम्भवतः महादेव ने हरदत्त का अनुकरण किया है।

(५) वसिष्ठ धर्मसूत्र :-

वसिष्ठ धर्मसूत्र एक महत्त्वपूर्ण धर्मसूत्र है और बहुत सम्मान के साथ इसका व्यवहार लोक जीवन में अब तक भी होता रहा है।

इस धर्मसूत्र का कई बार प्रकाशन हुआ है। जीवानन्द के संस्करण में कुल २० अध्याय तथा २१वें अध्याय का कुछ भाग था। फ्यूरर का संस्करण पूर्ण है जिसमें ३० अध्याय हैं। यह धर्मसूत्र कृष्ण पण्डित

की विद्वन्मोदिनी टीका के साथ बनारस से भी प्रकाशित है।

वर्तमान धर्मसूत्र का सम्पूर्ण भाग मौलिक है इस विषय में विद्वज्जनों को सन्देह है। केवल प्रथम २३ अध्याय मूल धर्मसूत्र से सम्बन्धित माने जाते हैं क्योंकि सभी टीकाकारों ने लगभग इतने ही भाग से वसिष्ठ के नाम से उद्धरण दिए हैं। २४ से लेकर ३० अध्यायों के मौलिक होने में सन्देह व्यक्त किया गया है। परन्तु यह सन्देह किसी ठोस आधार पर नहीं टिका हुआ है। २४वें अध्याय के पांचवें सूत्र में 'इत्याह भगवान्वसिष्ठ' लिखा हुआ है जिससे इस अध्याय के मौलिक होने में सन्देह है क्योंकि ग्रन्थकर्ता स्वयं अपने लिए भगवान् शब्द का प्रयोग नहीं करता। परन्तु संस्कृत ग्रन्थों में प्रायः ग्रन्थकार का नाम इसी प्रकार से सम्मानपूर्वक दिया गया है। इसलिए केवल इसी कारण से इसे अमौलिक मानना उचित नहीं है। अगले अध्यायों में केवल श्लोक ही मिलते हैं सूत्र नहीं, यह भी इन अध्यायों को अप्रामाणिक मानने का कोई ठोस आधार नहीं क्योंकि पूर्ववर्ती अध्यायों में प्रचुर मात्रा में श्लोक आए हैं।

यह धर्मसूत्र किसी वेद की शाखा से सम्बन्धित था या स्वतन्त्र रूप से विकसित हुआ, इसमें मतभेद हैं। कुमारिल के अनुसार यह धर्मसूत्र ऋग्वेद के अनुयायियों द्वारा पढ़ा जाता था। परन्तु पी० वी० काणे का मत है कि यह धर्मसूत्र स्वतन्त्र रूप से विकसित हुआ है। ऋग्वेद से इसका विशेष सम्बन्ध किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं होता। परन्तु डॉ० रामगोपाल इसे ऋग्वेद का ही धर्मसूत्र मानते हैं क्योंकि इस धर्मसूत्र का ऋग्वेद के शांखायन, आश्वलायन तथा कौषीतक ग ह्यसूत्र से गहरा सम्बन्ध है।

वसिष्ठ धर्मसूत्र के स्थान के विषय में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। ब्यूलर के अनुसार वसिष्ठ धर्मसूत्र का स्थान नर्मदा तथा विन्ध्याचल के उत्तर में था। परन्तु काणे इस मत से सहमत नहीं हैं और इस प्रश्न को अनिर्णीत ही मानते हैं।

काल के विषय में भी निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इसकी भाषा से प्रतीत होता है कि यह प्राचीन धर्मसूत्र है। कालक्रम की द ष्टि से यह हिरण्यकेशि के बाद का है। गौतम धर्मसूत्र से यह बहुत निकट प्रतीत होता है। वसिष्ठ में कई धर्मज्ञों का उल्लेख है, यथा गौतम (४-३५, ३७), यम (११-२०; १८. १३-१५), प्रजापति (१४, ३०, ३२; १४, १६, १६ तथा २४.२७), मनु (१.१७; ३.२) आदि। इस धर्मसूत्र में यम और प्रजापति के नाम से जो उद्धरण दिए गए हैं, उनमें से अनेक वर्तमान मनुस्म ति में मिलते हैं। मनुस्म ति में वसिष्ठ का नाम भी मिलता है। इससे सिद्ध होता है कि वसिष्ठ का काल मनुस्म ति से पहले का है। वसिष्ठ ने बौधायन, गौतम आपस्तम्ब आदि से भी ग्रहण किया लगता है इसीलिए काणे वसिष्ठ को बौधायन, गौतम, आपस्तम्ब से बाद का मानते हैं। इन्होंने वसिष्ठ का समय ३०० से १०० ई० पू० माना है।

वसिष्ठ धर्मसूत्र में वर्णित विषय :-

वसिष्ठ धर्मसूत्र के ३० अध्यायों में निम्नलिखित विषय वर्णित हैं—धर्म के आधार, वर्णाश्रम, स्त्रीधर्म, स्नातक धर्म, श्राद्ध, भोजनादि विधि-निषेध, दण्ड, दायभाग, राजधर्म, क च्छ्र, चान्द्रायण, प्रायश्चित्त आदि।

टीका :-

वसिष्ठ धर्मसूत्र पर कृष्ण पण्डित की विद्वन्मोदिनी नाम की टीका उपलब्ध है।

(६) विष्णु धर्मसूत्र :-

विष्णु धर्मसूत्र जीवानन्द के धर्मशास्त्र संग्रह (१८७६) में तथा प थक् से जौली द्वारा सम्पादित १८८१ में तथा १६६२ में पुनः प्रकाशित हो चुका है। डॉ० जौली ने अंग्रेजी अनुवाद किया है जो सेक्रेड

बुक्स ऑफ ईस्ट के नवें खण्ड में प्रकाशित है।

विष्णु धर्मसूत्र विष्णु धर्मस्म ति नाम से प्रसिद्ध है। इस सूत्र में १०० अध्याय हैं जिसमें गद्य और पद्य मिश्रित हैं। परन्तु अध्यायों का आकार बहुत छोटा है। कुछ अध्यायों (४०, ४२, ७४) में तो केवल एक ही सूत्र और एक श्लोक है।

इस सूत्र का यजुर्वेद कठशाखा से सम्बन्ध है। काठक ग ह्यसूत्र और विष्णु धर्मसूत्र में पर्याप्त साम्य और निकटता है। परन्तु यह काठक कल्प का भाग नहीं है क्योंकि इस धर्मसूत्र की भाषा शैली काठक ग ह्य से भिन्न प्रकार की है।

यह धर्मसूत्र पौराणिक शैली में लिखा गया है। इसके प्रथम अध्याय में विष्णु के वाराहावतार का उल्लेख है—

ब्रह्मरात्र्यां व्यतीतायां प्रबुद्धे पद्मसम्भवे।

विष्णुः सिस क्षुर्भूतानि ज्ञात्वा भूमि जलानुगाम्।।

जलक्रीडारुचिशुभं कल्पादिषु यथा पुरा।

वाराहमास्थितो रूपमुज्जहार वसुन्धराम्।।

प थ्वी का स्त्री रूप धारण करके क्षीर सागर में सोने वाले विष्णु के पास जाना तथा उससे धर्म का उपदेश लेना और प थ्वी के सुख के लिए विष्णु द्वारा प थ्वी को धर्म का उपदेश देना ऐसा प्रसंग है जो विष्णु धर्मसूत्र को पुराणों के निकट ले आता है। इसमें विष्णु के उसी रूप का वर्णन किया गया है जो पुराणों में मिलता है। धर्म का विशेषण वैष्णव प्रयुक्त किया गया है जिससे यह ग्रन्थ वैष्णव सम्प्रदाय का सिद्ध होता है—

सुखासीना निबोध त्वं धर्मान्निगदतो मम।

शुश्रुवे वैष्णवान्धर्मान्सुखासीना धरा तदा।।(१.६५)

इस धर्मसूत्र में दिए गए श्लोक अन्यत्र भी उसी रूप में मिलते हैं। इसके कम-से-कम १६० श्लोक मनुस्म ति में ज्यों-के-त्यों हैं। मनुस्म ति के कुछ श्लोक विष्णु धर्मसूत्र के सूत्रों का ही रूपान्तरण प्रतीत होते हैं। विष्णु धर्म सूत्र का ४८वां अध्याय बौधायन धर्मसूत्र के तीसरे प्रश्न में ज्यों-का-त्यों मिलता है। डा० जौली तथा अन्य विद्वानों का मत है कि वसिष्ठ और बौधायन धर्मसूत्र ने किसी प्राचीन विष्णु धर्मसूत्र से उधार लिया है। वह धर्मसूत्र आज लुप्त हो गया है और वर्तमान विष्णु स्म ति पूर्व धर्मसूत्र का ही संशोधन संस्करण है। इसके प्रथम तथा अंतिम अध्याय किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा जोड़े गए हैं। भाषा सम्बन्धी अध्ययन से भी यह बात पुष्ट होती है। इस धर्मसूत्र के कुछ अंश प्राचीन प्रतीत होते हैं क्योंकि कुछ वैदिक रूपों का भी प्रयोग मिलता है।

विष्णु धर्मसूत्र का काल :-

विष्णु धर्मसूत्र का वर्तमान रूप निश्चित रूप से बहुत बाद का है क्योंकि यह उस युग की रचना है जब वैष्णव धर्म का पूर्ण प्रसार हो चुका था। जौली तथा पी० वी० काणे के अनुसार वैष्णव सम्प्रदाय के लेखक का काल तीसरी या चौथी शताब्दी के पहले का नहीं हो सकता। लुई रेणु के अनुसार विष्णु धर्मसूत्र का काल ४०० से ६०० ई० के मध्य है। मूल प्राचीन धर्मसूत्र का काल ३०० से १०० ई० के मध्य है।

विष्णु धर्मसूत्र की ये तिथियां जो उचित प्रतीत होती हैं परन्तु डा० जौली का यह मत उचित नहीं है कि बौधायन धर्मसूत्र से प्राचीन नहीं हो सकता क्योंकि विष्णु धर्मसूत्र से उधार लिया है। मूल विष्णु

धर्मसूत्र को कितना भी प्राचीन माना जाए, वह बौधायन धर्मसूत्र के काल तक वैष्णव सम्प्रदाय विकसित नहीं हुआ था, जो विष्णु के नाम से किसी धर्मसूत्र की रचना हो।

विष्णु धर्मसूत्र में वर्णित विषय :-

विष्णु धर्मसूत्र में धर्मसूत्र के लगभग सभी विषय वर्णित हैं। परन्तु ऐसे विषय वर्णित हैं जो धर्मसूत्रों के क्षेत्र से बाहर हैं और ये इस धर्मसूत्र के बाद के होने के परिचायक हैं। दस से लेकर १४वें अध्याय तक झूठे गवाहों की परीक्षा के लिए दिव्य उपाय दिए गए हैं यथा तराजू में बैठना। तराजू में यादि उसका भार बढ़ता है तो वह पवित्र अन्यथा नहीं, यथा—

तुलितो यदि वर्धेत ततः स धर्मतः शुचिः।

इसी प्रकार अग्नि से तप्त खम्भे का आलिंगन करना, विष आदि पीना ऐसे दिव्य उपाय थे जो इस बात के परिचायक हैं कि इस धर्मसूत्र के काल में समाज में अनेक अन्य विश्वास फैल गए थे। ३३वें अध्याय में नरकों का कथन है। ३४वें अध्याय में पापों के द्वारा पाप योनियों में जन्म लेना, ३५वें अध्याय में भिन्न-भिन्न पाप कर्मो से भिन्न-भिन्न रोग होना आदि ऐसे विषय हैं जो प्राचीन धर्मसूत्रों में वर्णित नहीं हैं। ६५वें अध्याय में विष्णु पूजन की विधि बताई गई है। ९८वें अध्याय में विष्णु स्तुति, ९९वें में लक्ष्मीस्तुति तथा १००वें में इस शास्त्र के सुनने का फल इस धर्मसूत्र को बहुत अर्वाचीन सिद्ध करतें हैं।

टीका :-

इस धर्मसूत्र पर नन्द पण्डित की वैजयन्ती नामक टीका उपलब्ध है।

(७) वैखानस धर्मसूत्र :-

यह धर्मसूत्र कई संस्करणों में प्रकाशित है। यह वैखानस कल्प का अंग है। प्रतीत होता है कि वैखानस श्रौत सूत्र,ग ह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र एक ही व्यक्ति की रचना हैं।

यह धर्मसूत्र किसी वैष्णव सम्प्रदाय के व्यक्ति द्वारा रचित है। इसका काल ३०० से ४०० ई० के मध्य माना जाता है। इसमें कुछ अपाणिनीय शब्द भी मिलते हैं। परन्तु उसका कारण प्राचीनता नहीं पाणिनि से दूरी प्रतीत होती है।

इस धर्मसूत्र पर कोई टीका उपलब्ध नहीं है।

(८) अन्य धर्मसूत्र :-

उपर्युक्त धर्मसूत्रों के अतिरिक्त अन्य धर्मसूत्र भी विद्यमान थे क्योंकि टीकाकारों ने अनेक धर्मसूत्रकारों के मत उद्ध त किए हैं। इनमें प्रमुख हैं- शंखलिखित धर्मसूत्र तथा हारीत धर्मसूत्र। इनमें से कोई धर्मसूत्र उपलब्ध नहीं है परन्तु इन धर्मसूत्रों में इतने उद्धरण दिए गए हैं कि उन्हें संकलित करके इन धर्मसूत्रों की मुख्य बातें जानी जा सकती हैं।

इसके अतिरिक्त जिन धर्मसूत्रकारों के नाम और उद्धरण उल्लिखित हैं उनमें प्रमुख हैं- अत्री, उशना, कण्व, काण्व, काश्यप, गार्ग्य, च्यवन, जातुकर्ण्य, देवल, पैठीनस, बुध, ब हस्पति, भारद्वाज, शातातप, सुमन्तु आदि।

४. पित मेध सूत्र :-

पित मेधसूत्र भी वैदिक 'कल्प' का महत्त्वपूर्ण अंग है। कहीं-कहीं इसे श्रौतसूत्रों में सम्मिलित किया गया है तो कहीं ग ह्यसूत्रों में। इससे प्रतीत होता है कि प्राचीन सूत्रकार भी इसकी स्थिति के

विषय में एकमत नहीं थे।

पित मेधयज्ञ के अन्तर्गत श्राद्धकर्म तथा संस्कार आते हैं।

प्रत्येक वेद के पित मेधसूत्रों का परिचय इस प्रकार है-

ऋग्वेद के पित मेधसूत्र-शांखायन ने पित मेधसूत्रों को अपने श्रौतसूत्र के १४-१६ खण्डों में समाविष्ट किया है। आश्वलायन ने अपने ग ह्यसूत्र के चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत १-६ खण्डों में श्राद्धकर्म आदि का वर्णन किया है। कौषीतक ग ह्यसूत्र के पंचम अध्याय में पित मेध तथा पिण्डपित यज्ञ का वर्णन है।

यजुर्वेद में पित मेधसूत्र-तैत्तिरीय संहिता का बौधायन पित मेधसूत्र प थक् प्राप्त हुआ है जो बौधायन ग ह्यसूत्र के साथ जोड़ दिया गया है। इसमें तीन अध्याय हैं। भारद्वाज का पित मेधसूत्र प थक् है। आपस्तम्ब ने भारद्वाज का अनुकरण किया है परन्तु उसका पित मेध भाग श्रौतसूत्र के ३१वें अध्याय में निहित है। हिरण्यकेशि का पित मेधसूत्र भी भारद्वाज पित मेधसूत्र से मिलता-जुलता है। वैखानस स्मार्तसूत्र का पंचम अध्याय पित मेध से सम्बन्धित है। मानव श्रौतसूत्र के ८वें तथा २३वें खण्ड में पित मेध विषय वर्णित है। अग्निवेश्य के ग ह्यसूत्र में तीसरे खण्ड में पित मेध वर्णित है। वाजसनेयी संहिता से सम्बन्धित पित मेध कात्यायन श्रौतसूत्र (२१.३.४) में वर्णित है।

सामवेद के पित मेधसूत्र-सामवेद की राणायनी शाखा से सम्बन्धित 'गौतम पित मेधसूत्र' नाम से प्रसिद्ध है जो गौतम सूत्र पर 'अनन्तयज्वा' के भाष्य में दिया हुआ है। कौथुम शाखा का 'गोभिल श्राद्धकल्प' अलग से उपलब्ध है।

अथर्ववेद के पित मेधसूत्र-कौशिक सूत्र का ११वां अध्याय पित मेध तथा पिण्डपित मेध से सम्बन्धित है।

५. शुल्ब सूत्र :-

कल्पसूत्रों का पंचम और अन्तिम अंग शुल्बसूत्र हैं। शुल्बसूत्रों में यज्ञशाला तथा यज्ञ-वेदियों से सम्बन्धित नियम वर्णित हैं। यद्यपि शुल्बसूत्र यज्ञ-तन्त्र के ही अंग हैं ओर उन्हें श्रौतसूत्रों के अन्तर्गत ही रखा जाता है, तथापि यज्ञ के भौतिक साधनों से सम्बन्धित विषय का प्रतिपादन करने के कारण इनका प थक् वैशिष्ट्य है। यज्ञशालाओं और वेदियों का निर्माण करने के कारण इनका प थक् वैशिष्ट्य है। यज्ञशालाओं और वेदियों का निर्माण अत्यन्त वैज्ञाानिक सिद्धान्तों के आधार पर होता था। ये सिद्धान्त ज्यामिति शास्त्र पर निर्भर थे। भारत में ज्यामिति ज्ञान के प्राचीनतम नमूने शुल्बसूत्र ही हैं।

सभी वैदिक शाखाओं से सम्बन्धित शुल्बसूत्र प्राप्त नहीं हुए हैं। केवल यजुर्वेद के शुल्बसूत्र ही प्राप्त हुए हैं। बौधायन शुल्बसूत्र, बौधायन श्रौतसूत्र का ३०वां प्रश्न है। आपस्तम्ब शुल्बसूत्र भी आपस्तम्ब श्रौतसूत्र का ३०वां प्रश्न है। हिरण्यकेशि-शुल्बसूत्र, हिरण्यकेशि-कल्प का २५वां प्रश्न है। मानव शुल्बसूत्र, मानव श्रौतसूत्र का १० वां अध्याय है ।

अधिक शुल्बसूत्रों के न मिलने का कारण सम्भवतः यह है कि यज्ञशाला तथा यज्ञवेदियों के निर्माण का कार्य यजुर्वेद के अध्वर्यु का ही था, अतः अन्य वेदों के श्रौत सूत्रों में शुल्बसूत्र की आवश्यकता नहीं समझी गई। यजुर्वेद के सभी श्रौतसूत्रों में शुल्बसूत्रों के न होने का कारण यह है कि यज्ञवेदियों का निर्माण सर्वत्र एक ही प्रकार के सिद्धान्तों के आधार पर होता होगा। इसलिए किसी भी एक शाखा या शुल्बसूत्र सभी के लिए मान्य होता होगा।

व्याकरण वेदाङ्ग

वेदांग के रूप में व्याकरण को बहुत अधिक मान्यता मिली है। परन्तु दुर्भाग्य से प थक् रूप से वैदिक् भाषा का कोई भी व्याकरण हमें प्राप्त नहीं हुआ है। पाणिनि का ही एकमात्र प्राचीन व्याकरण हमें प्राप्त हुआ है जिसमें वैदिक भाषा के रूपों पर प्रकाश डाला गया है। परन्तु पाणिनीय व्याकरण मुख्य रूप से लौकिक भाषा के लिए लिखा गया है, वैदिक रूपों के लिए तो अपवाद के रूप में ही नियम दिए गए हैं। इसलिए शंका उठती है कि क्या वास्तव में ऐसे व्याकरण लिखे गए जिनमें केवल वैदिक भाषा का ही विश्लेषण हुआ हो। पत जलि भी किसी ऐसे व्याकरण से परिचित नहीं थे जिनमें केवल वैदिक भाषा के शब्दों पर विचार हुआ हो। उन्होंने शब्दानुशासन में लौकिक और वैदिक दोनों ही प्रकार के शब्दों का विश्लेषण बताया है-

'शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिक तं वेदितव्यम्।

केषां शब्दानाम्? लौकिकाना वैदिकानां च।

यद्यपि पत जलि का उपर्युक्त कथन पाणिनि-व्याकरण के सन्दर्भ में है परन्तु पत जलि के महाभाष्य में ऐसा कोई संकेत नहीं है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि केवल वैदिक शब्दों को लेकर ही कोई व्याकरण लिखा गया है। पत जलि ने ब हस्पति द्वारा इन्द्र को एक-एक शब्द के द्वारा व्याकरण पढ़ाए जाने का उल्लेख किया है। एक हजार दिव्य वर्षों में भी ब हस्पति प्रतिपद के द्वारा सभी शब्दों का विषलेषण नहीं कर सके थे-एवं हि श्रूयते-ब हस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्त्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच नान्तं जगाम।

इससे प्रतीत होता है कि ब हस्पति ने न केवल वैदिक संहिताओं में प्रयुक्त शब्दों का ही विश्लेषण किया था अपितु लोक में प्रयुक्त शब्दों का भी विश्लेषण किया था क्योंकि संहिताओं में प्रयुक्त शब्द सीमित थे, उनका अन्त आ जाना सम्भव था। अनन्त शब्द तो लोक में ही होते हैं जहां प्रतिदिन नये शब्दों का जन्म होता है। इससे प्रतीत होता है कि व्याकरण ग्रन्थों की परम्परा समस्त भाषा का विश्लेषण करने की रही है, न केवल संहिताओं में प्रयुक्त भाषा की।

व्याकरण की वेदांगता :-

जब व्याकरण सम्पूर्ण भाषा-प्रव त्तियों का विश्लेषण करता है जिसमें लोकभाषा भी सम्मिलित है तो व्याकरण को वेदांग क्यों कहा गया है? पत जलि ने व्याकरण को सबसे प्रमुख वेदांग माना है-'प्रधानं च षट्ष्वङ्गेषु व्याकरणम्। प्रधाने च क तो यत्नः फलवान्भवति।' इसी प्रकार भर्त हरि ने भी व्याकरण को वेद के सर्वाधिक निकट, सर्वोत्तम तप और सबसे पहला वेदांग माना है-

आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः।

प्रथमं छन्दसामङ्गं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः।।

पत जलि ने व्याकरण की वेदांगता पर बहुत प्रकाश डाला है। यद्यपि व्याकरण लौकिक और वैदिक दोनों ही प्रकार के शब्दों का विश्लेषण करता है तथापि व्याकरण का वैदिक संहिताओं के संदर्भ में बहुत उपयोग होता रहा है। व्याकरण सीमित शब्दों या प्रयोगों का ही विश्लेषण नहीं करता है, अपितु भाषा की प्रव त्तियों को नियमबद्ध भी करता है जिसके आधार पर आवश्यकतानुसार शब्दों में परिवर्तन किया जा सकता है और नये प्रयोगों का अन्वेषण भी हो सकता है। वेदों के सन्दर्भ में भी व्याकरण की बहुत आवश्यकता पड़ती थी । पत जलि के व्याकरण के प्रयोजनों में दस ऐसे प्रयोजन हैं जो वेदों से सम्बन्धित हैं। उनका संक्षिप्त उल्लेख इस प्रकार है-

१ पत जलि ने व्याकरण का सबसे प्रमुख प्रयोजन वेदों की रक्षा बताया है। व्याकरण से लोप, आगम, वर्ण-विकारादि भाषा-प्रव त्तियों का ज्ञान होता है। इनके ज्ञान हाने पर ही वेदों के पाठ

को सुरक्षित रखा जा सकता है-

रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्। लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग्वेदान्परिपालयति।

२. यज्ञमें वैदिक शब्दों का यथावत् प्रयोग नहीं किया जाता अपितु लिंग और विभक्ति का प्रयोग यथाप्रसंग बदल दिया जाता है। यह कार्य केवल व्याकरण के ज्ञान से हो सकता है-

न सर्वैर्लिंगैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः। ते चावश्यं यज्ञगतेन यथायथं विपरिणमयितव्याः। तन्नावैयाकरणः शक्नोति यथायथं विपरिणमयितुम। तस्मादध्येयं व्याकरणम्।

३. वेदों का छह अंगों सहित अध्ययन करने से धर्म की प्राप्ति होती है। इन छह अंगों में व्याकरण प्रधान है। अतः व्याकरण का अध्ययन सर्वाधिक फलदायक है-

ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदो ध्येयो ज्ञेय इति। प्रधानं च षट्ष्वङ्गेषु व्याकरणम्। प्रधाने च क तो यत्नः फलवान्भवति।

४. वेदों में स्वर के परिवर्तन से ही अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। उदाहरणतया, 'स्थूलप षती' के शब्द के पूर्वपद पर यदि उदात्त स्वर होगा तो बहुब्रीहि समास होगा, यदि अन्तिम पद पर होगा तो तत्पुरुष समास होगा। यह ज्ञान वैयाकरण को ही हो सकता है-

याज्ञिकाः पठन्ति। स्थूलप षतीमाग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेतेति। तस्यां सन्देहः स्थूला चासौ प षती च स्थूलप षती स्थूलानि प षन्ति यस्याः सा स्थूल-प षतीति। तां नावैयाकरणः स्वरतो ध्यवस्यति।

५. वैदिक यज्ञों में उच्चारण की शुद्धता का बहुत महत्व है। यदि एक भी स्वर का दोष हो जाए तो मन्त्र का अर्थ विपरीत भी हो सकता है-

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।

स वाग्वज्रः यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतो पराधात्।।

६. वैदिक मन्त्रों का अर्थ जानना वेदों के पढ़ने से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान व्याकरण के बिना नहीं हो सकता-

'तस्मादनर्थकं माधिगीष्महीत्यध्येयं व्याकरणम्।'

७. यज्ञ में प्रयाजमन्त्र विभक्तियुक्त पढ़े जाते हैं। व्याकरण के अध्ययन के बिना विभक्तियों का ज्ञान नहीं हो सकता-

प्रयाजाः सविभक्तिकाः कार्या इति। न चान्तरेण व्याकरणं प्रयाजाः सविभक्तिकाः शक्याः कर्तुम्।

८. यज्ञ में ऋत्विक् कर्म करने के लिए वेद मन्त्रों के उच्चारण में स्वर अथवा अक्षर का भी भेद नहीं होना चाहिए। इस प्रकार के उच्चारण करने वाले याज्ञिक को ही आर्त्विजीन कहा जा सकता है, जो एक वैयाकरण ही हो सकता है-

यो वा इमां पदशः स्वरशो क्षरशो वाचं विदधाति स आर्त्विजीनो भवति। आर्त्विजीनाः स्यामेत्यध्येयं व्याकरणम्।

९. अपशब्द के उच्चारण से यज्ञ दूषित हो जाता है और उसके लिए प्रायश्चित्त करना पड़ता है। प्रायश्चित्त से बचने के लिए व्याकरण का अध्ययन करना आवश्यक है-

याज्ञिकाःपठन्ति। आहिताग्निरपशब्दं प्रयुज्य प्रायश्चित्तीयां सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेदिति। प्रायश्चित्तीया मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्।

१०. नामकरण संस्कार में नाम का उच्चारण क त्-प्रत्ययान्त होना चाहिए, न कि तद्धित प्रत्ययान्त। वैयाकरण को ही क त् और तद्धित का ज्ञान हो सकता है, अन्य को नहीं-

न चान्तरेण व्याकरणं क तस्तद्धिता वा शक्या विज्ञातुम्।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि वैदिक यज्ञों में व्याकरण का बहुत बड़ा योगदान था, अतः व्याकरण की वेदांगता स्वतः सिद्ध है।

व्याकरण और शिक्षा वेदांग में सम्बन्ध :-

जैसे कि शिक्षा वेदांग के अन्तर्गत स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रातिशाख्यों में वेदों के शुद्ध उच्चारण से सम्बन्धित अनेक नियमों का प्रतिपादन किया गया है। वेदों के सन्दर्भ में व्याकरण का मुख्य प्रयोजन भी वेदों के शुद्ध पाठ से रहा है। तो फिर दोनों वेदांगों में क्या अन्तर हुआ? दोनों वेदांगों को एक वेदांग के अंतर्गत ही रखा जा सकता था। इस विषय में पत जलि ने पाणिनि व्याकरण के सम्बन्ध में थोड़ा-सा प्रकाश डाला है। उसका कथन है कि प्राचीन काल में संस्कार के बाद ब्राह्मण व्याकरण पढ़ते थे। स्थल, करण और अनुप्रदान का ज्ञान हो जाने पर उन्हें वैदिक शब्दों का उपदेश कराया जाता था, परन्तु आजकल ऐसा नहीं होता। वेद को पढ़कर लोग तुरन्त भाषण देने लग जाते हैं और कहते हैं कि वेद से वैदिक शब्दों का ज्ञान हो गया तथा लोक से लौकिक शब्दों का, इसलिए व्याकरण को पढ़ना निरर्थक है। इसी प्रकार के विपरीत बुद्धि वाले विद्यार्थियों के लिए ही आचार्य ने इस शास्त्र (अर्थात् पाणिनीय शब्दानुशासन) की पूर्वशास्त्रों के आधार पर रचना की'-

'संस्कारोत्तरकालं ब्राह्मणा व्याकरणं समाधीयते। तेभ्यस्तत्र स्थानकरणानुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिकाः शब्दा उपदिश्यन्ते। तदद्यत्वे न तथा। वेदमधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति। वेदान्नो वैदिकाः शब्दाः सिद्धाः लोकाच्च लौकिकाः। अनर्थकं व्याकरणमिति। तेभ्य एवं विप्रतिपन्नबुद्धिभ्यो ध्येत भ्य आचार्य इदं शास्त्रमन्वाचष्टे।'

पत जलि के उपर्युक्त कथन से जिस बात का ज्ञान होता है वह यह है कि स्थान, करण और अनुप्रदान (बाह्यप्रयत्न) का ज्ञान व्याकरण शास्त्र के द्वारा होता था। परन्तु उपलब्ध वेदांगों में स्थान, करण तथा अनुप्रदान का विवरण प्रातिशाख्यों में है। प्रातिशाख्य शिक्षा वेदांग के अन्तर्गत है। पाणिनीय व्याकरण में स्थान, करण, अनुप्रदान का विवरण नहीं है। इससे यह प्रतीत होता है कि पाणिनि के काल तक स्थान, करण और अनुप्रदान के अध्ययन में रुचि समाप्त हो गई। इसलिए उन्हें सीधा ही शब्दशास्त्र का उपदेश दिया जाने लगा। उपर्युक्त सन्दर्भ में 'अन्वाचष्टे' पद महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है 'के अनुसार व्याख्यान किया'। इससे स्पष्ट है कि पाणिनि ने उन्हीं शब्दशास्त्रों का अनुसरण किया जो उससे पूर्व विद्यमान थे।

उपर्युक्त विवरण से दो बातें प्रकाश में आती हैं :-

१. जो विषय आज प्रातिशाख्यों में वर्णित है वह पहले व्याकरण का विषय था, तथा २. पाणिनि ने पूर्व-व्याकरण-शास्त्र का अनुसरण किया। इससे यह प्रतीत होता है कि षड्वेदांगों के विभाजन से पहले शिक्षा और व्याकरण वेदांग एक ही व्याकरण शास्त्र के अन्तर्गत थे परन्तु बाद में दोनों प थक्-प थक् हो गए। ध्वनि-शास्त्र शिक्षा वेदांग के अन्तर्गत आ गया और शब्द-शास्त्र व्याकरण वेदांग के अन्तर्गत आ गया परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि यह विभाजन पाणिनि के काल में हुआ। पाणिनि

से बहुत पहले ही यह विभाजन हो चुका था। प्रातिशाख्य निश्चित रूप से पाणिनि से पूर्व के हैं। पाणिनि से पूर्ववर्ती अनेक वैयाकरण हुए हैं। पाणिनि से पूर्व ग्रन्थों में ही षड्वेदांगों का उल्लेख है।

आज जो प्रातिशाख्य उपलब्ध हैं उनके रचयिताओं तथा पाणिनि के सम्मुख मूल व्याकरण ग्रन्थ भी उपलब्ध रहे होंगे जिनमें प्रातिशाख्य तथा शब्दानुशासन के विषय सम्मिलित रूप से वर्णित होंगे।

व्याकरणशास्त्र का उद्‌गम और विकास :-

व्याकरण भाषा का अविच्छिन्न अंग है। जब भी भाषा के रूप पर विचार किया जाता है, तब से ही व्याकरण-शास्त्र का जन्म हो जाता है। ऋग्वेद में व्याकरण शब्द तथा व्याकरण से सम्बन्धित अनेक पारिभाषिक शब्द, यथा-शब्द, आख्यात, उपसर्ग, निपात, धातु, सन्धि, समास, कारक, विभक्ति, प्रक ति, प्रत्यय, परस्मैपद, आत्मनेपद आदि उपलब्ध नहीं है। परन्तु ऋग्वेद काल में व्याकरण सम्बन्धी विश्लेषण प्रारम्भ हो गया था। इसके अनेक संकेत मिलते हैं। पत जलि ने पांच वेदमन्त्रों में व्याकरण सम्बन्धी तत्वों का विश्लेषण प्रदर्शित किया है। ऋग्वेद में पदों के चार भाग, सात विभक्तियों तथा उनके २१ रूप, क्रिया रूप तथा उनके प्रत्यय आदि विषयों का ज्ञान हो गया था। परन्तु इनसे सम्बन्धित पारिभाषिक शब्दों का अभी विकास नहीं हुआ था।

व्याकरण शब्द का प्रयोग हमें बहुत बाद के साहित्य में मिलता है। प्राचीन साहित्य में व्याकरण शब्द का प्रयोग गोपथ ब्राह्मण, मुण्डकोपनिषद्, रामायण तथा महाभारत में मिलता है। परन्तु इनसे पूर्व ही व्याकरण-शास्त्र का विकास हो चुका था। तैत्तिरीय संहिता में वि उपसर्ग पूर्वक क धातु का प्रयोग भाषा के विश्लेषण के अर्थ में ही हुआ है-

वाग्वै पराच्यव्याक तावदत् ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमां नो वाचं व्याकुर्विति तामिन्द्रो मध्यतो वक्रम्य व्याकरोत्।

मैत्रायणी संहिता में विभक्ति संज्ञा का उल्लेख हुआ है। ब्राह्मण काल तक व्याकरण की अनेक संज्ञाएं व्यवहार में आ चुकी थीं। गोपथ ब्राह्मण में धातु, प्रातिपदिक, नाम आख्यात, लिंग, वचन, विभक्ति, प्रत्यय, स्वर, उपसर्ग, निपात, व्याकरण, विकार, वर्ण, अक्षर आदि संज्ञाओं का उल्लेख है-

ॐकारं प च्छामः। को धातुः किं प्रातिपदिकं, किं नामाख्यातं, किं लिङ्ग, किं वचनं, का विभक्तिः, कः प्रत्ययः, क स्वर, उपसर्गो निपातः, किं वै व्याकरणं, को विकारः, को विकारी, कतिमात्रा, कतिवर्णः, कत्यक्षरः, कतिपदः, कः संयोगः, किं स्थाननादानुप्रदानानुकरणम्।

गोपथ ब्राह्मण की प्राचीनता निःसन्देह विवादास्पद है। परन्तु अन्य प्राचीन ब्राह्मणों में भी व्याकरण सम्बन्धी अनेक संज्ञाएं उपलब्ध होती हैं। उपनिषद् के काल तक शिक्षा और व्याकरण वेदांग प थक् हो चुके थे। तैत्तिरीयोपनिषद् में 'शिक्षा' नाम से प थक् अध्याय दिया हुआ है, यह बात शिक्षा वेदांग के अन्तर्गत वर्णित हो चुकी है। इससे स्पष्ट है कि व्याकरण शास्त्र का अस्तित्व ब्राह्मण काल में ही अच्छी प्रकार से स्थापित हो चुका था।

व्याकरणशास्त्र की आवश्यकता :-

सम्भवतः ऋग्वेद काल में ही व्याकरण शास्त्र की आवश्यकता पड़ गई थी। अनेक स्थानों पर ऋग्वेद में सुन्दर भाषा का उपदेश देने की प्रार्थना देवताओं से की गई है। ऋग्वेद के ऋषियों को सुन्दर और सजी हुई भाषा से विशेष प्रेम था। इसलिए स्तुति शब्द के साथ वे प्रायः सु उपसर्ग का प्रयोग करते थे। भाषा मर्मज्ञों के अनेक भेद हो गए थे। भाषाविद् के रूप में हमें अनेक नाम ऋग्वेद में मिलते हैं, यथा - ऋषि, कवि, विप्र, विद्वान, कारु, जरिता, निविद्, स्तोता आदि। परन्तु व्याकरण शास्त्र की प थक् शास्त्र के रूप में आवश्यकता उस समय पड़ी जब ऋग्वेद के मन्त्रों का अर्थ समझना कठिन हो गया था। निरुक्त की रचना के सन्दर्भ में यास्क ने यह स्पष्ट कहा है कि ऋषियों को मन्त्रार्थ पूर्णतः स्पष्ट थे। परन्तु बाद की पीढ़ियों को अर्थ समझना कठिन हो गया। वेदों की भाषा ज्यों-ज्यों लोक

भाषा से दूर होती गई, त्यों-त्यों ही वह कठिन होती गई। इसलिए ऐसे शास्त्र की आवश्यकता पड़ी जो पदों का विच्छेद करके उसके अर्थ को स्पष्ट कर सके। शाकल्यक त ऋग्वेद का पदपाठ इसी आवश्यकता का फल है। जैसे कि पत जलि द्वारा बताए हुए व्याकरण के प्रयोजनों से स्पष्ट है, यज्ञ के सम्बन्ध में भी व्याकरण शास्त्र अनिवार्य हो गया था। वेदमन्त्रों के स्वर तथा वेदमन्त्रों को भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में परिवर्तित रूप में प्रयुक्त करना व्याकरण से ही साध्य था। अतः व्याकरण का प थक् शास्त्र के रूप में निर्माण हुआ।

व्याकरणशास्त्र के आदि प्रवक्ता :-

व्याकरण शास्त्र का प्रथम प्रवक्ता कौन था, यह कहना सम्भव नहीं है। ऋक्तन्त्र के अनुसार व्याकरण का प्रथम प्रवक्ता ब्रह्मा था। ब्रह्मा ने यह शास्त्र ब हस्पति को दिया था, ब हस्पति ने इन्द्र को, इन्द्र ने भारद्वाज को, भारद्वाज ने ऋषियों को तथा ऋषियों ने ब्राह्मणों को दिया-

ब्रह्मा ब हस्पतये प्रोवाच, ब हस्पतिरिन्द्राय, इन्द्रो भरद्वाजाय, भरद्वाज ऋषिभ्यः, ऋषयो ब्राह्मणेभ्यः।

ब्रह्मा कोई वास्तविक व्यक्ति है या मिथकीय, यह कहना कठिन है। भारतीय परंपरा ब्रह्मा को स ष्टि का कर्ता मानती है। इसलिए प्रत्येक विद्या का प्रारम्भ ब्रह्मा से ही माना जाता है। पं० भगवद्दत्त ने ब्रह्मा को २२ शास्त्रों का प्रवक्ता बताया है।

ब हस्पति की स्थिति भी ब्रह्मा जैसी ही है। ब हस्पति वाणी के देवता माने जाते है। इन्हें देवताओं का पुरोहित भी कहा गया है। यही ब हस्पति व्याकरण शास्त्र के दूसरे प्रवक्ता हैं। ब्रह्मा की भांति ये भी कोई मिथकीय व्यक्ति है या कोई वास्तविक व्यक्ति, यह कहना सम्भव नहीं है। पतंजलि ने भी इस बात की पुष्टि की है कि ब हस्पति ने इन्द्र को शब्द शास्त्र का उपदेश दिया था। सम्भवतः उनके ग्रन्थ का नाम 'शब्दपारायण' था। महाभारत के अनुसार ब हस्पति ने समस्त वेदांगों का प्रवचन किया था। इनके अतिरिक्त ब हस्पति अनेक ग्रन्थों के रचयिता माने जाते हैं, यथा अर्थशास्त्र, सामगान, इतिहास, पुराण, ज्योतिष, वास्तुशास्त्र, अगदतन्त्र आदि। इन सब ग्रन्थों का रचयिता एक ब हस्पति नहीं हो सकता। सम्भव है ब हस्पति उपाधि हो जिसे भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने ग्रहण किया हो।

ब हस्पति के बाद इन्द्र का वैयाकरण के रूप में नाम आता है। तैत्तिरीय संहिता और महाभाष्य में इन्द्र का नाम व्याकरण से जोड़ा जाता है। व्याकरण सम्प्रदायों में ऐन्द्र सम्प्रदाय प्रसिद्ध है, जिसका तन्त्र व्याकरण आज भी प्रसिद्ध है। ऐन्द्र व्याकरण की पुष्टि और कई प्रमाणों से होती है। हेमव हद् व त्यावचूर्णि में ८ व्याकरणों में एक व्याकरण ऐन्द्र बताया गया है-

ब्रह्मैशानमैन्द्रं च प्राजापत्यं ब हस्पतिम्।

त्वाष्ट्रमापिशलं चेति पाणिनीयमथाष्टमम्।।

आठ व्याकरणों का उल्लेख प थक्-प थक् ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न प्रकार से हुआ है परन्तु ऐन्द्र व्याकरण सभी में सम्मिलित है, यथा-

कविकल्पद्रुम-

इन्द्रश्चन्द्रः काशक त्स्नापिशली शाकटायनः।

पाणिन्यमरजैनेन्द्र जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः।।

तत्वविधि नामक वैष्णव ग्रन्थ-

ऐन्द्रं चान्द्रं काशक त्स्नं कौमारं शाकटायनम्।

सारस्वतं चापिशलं शाकल्यं पाणिनीयकम्।।

इससे स्पष्ट है कि इन्द्र कोई वैयाकरण हुए हैं। परन्तु पाणिनि ने इन्द्र का उल्लेख नहीं किया है।

आदि वैयाकरणों में शिव या महेश्वर का नाम भी लिया जाता है। पाणिनीय शिक्षा के अनुसार पाणिनि ने अक्षर समाम्नाय को महेश्वर से ही ग्रहण किया था-

येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्।

क त्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः।।

नन्दीकेश्वर कारिका में १४ प्रत्याहार सूत्रों का रचयिता शिव ही बताया गया है-

न त्यावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवप चवारम्।

उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद् विमर्शे शिवसूत्रजालम्।।

अन्य स्थानों पर भी शिव को व्याकरण वेदांग का प्रवक्ता बताया गया है। महाभारत के शान्तिपर्व में शिव को षडंग का प्रवर्तक बताया गया है-

वेदात् षडंगेन्युद्ध त्य.....।

हैमब हद् व त्यावचूर्णि में आठ व्याकरणों में एक नाम ऐशान व्याकरण का भी लिया गया है। ऐशान का अर्थ है शैव व्याकरण क्योंकि ईशान शिव के लिए ही प्रयुक्त होता है।

ऋग्वेदकल्पद्रुम में आठ व्याकरणों के अन्तर्गत एक नाम रौद्र व्याकरण का भी गिनाया गया है-

तत्राद्यं ब्राह्ममुदितं द्वितीयं चान्द्रमुच्यते।

त तीयं याम्यमाख्यातं, चतुर्थं रौद्रमुच्यते।

वायव्यं पंचमं प्रोक्तं षष्ठं वारूणमुच्यते।।

सप्तमं सौम्यमाख्यातमष्टमं वैष्णवं तथा।।

उपर्युक्त सभी नाम अर्थात् ब्रह्मा, चन्द्र, यम, रुद्र, वायु, वरुण, सोम तथाविष्णु दैवी नाम हैं। ये वास्तव में व्याकरण शास्त्र के रचने वाले लौकिक व्यक्ति हैं, इस बात में सन्देह है। भारत की यह प्राचीन परम्परा रही है कि प्रत्येक शास्त्र को किसी देव के साथ जोड़ दिया जाता है ताकि उसकी प्राचीनता और दिव्यता सिद्ध हो सके। अतः व्याकरण शास्त्र के ब्रह्मा आदि आचार्य वास्तविक व्यक्ति हैं या कल्पित निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। यह सम्भव है कि कुछ प्राचीन वैयाकरणों ने ब्रह्मा आदि उपधि धारण की हो और बाद में इन नामों से विख्यात देवों के आधार पर उन्हें दैवी गुणों से मण्डित कर दिया गया हो

पाणिनि से पूर्व अनेक वैयाकरण हो चुके हैं। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में दस आचार्यों का नामोल्लेख किया है। ये आचार्य हैं-१. आपिशलि (वा सुप्यापिशले, पा० ६.१.६२), २. काश्यप (त षिम षिक शेः काश्यपस्य, पा० १.२.२५), ३. गार्ग्य, ४. गालव (अड्गार्ग्यगालवयो ७.३.६६), ५. चाक्रवर्मण (चाक्रवर्मणस्य, ६.१.३०), ६. भारद्वाज (ऋतो भारद्वाजस्य, ७.२.६३), ७. शाकटायन (लङः शाकटायनस्यैव, ३.४.१११), ८. शाकल्य (लोपः शाकल्यस्य ८.३.१६), ६. सेनक (गिरश्च सेनकस्य ५.४.११२), तथा स्फोटायन (अवङ् स्फोटायनस्य ६.१.१२३).

अपर्युक्त वैयाकरणों में से कुछ वैयाकरण बहुत प्रसिद्ध और प्राचीन हैं। गार्ग्य, गालव, शाकटायन तथा शाकल्य का उल्लेख यास्क के निरुक्त में भी हुआ है। काश्यप का उल्लेख वाजसनेयि-प्रातिशाख्य, गार्ग्य का उल्लेख ऋक् तथा वाजसनेयि-प्रातिशाख्य, भारद्वाज का उल्लेख तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, शकटायन का उल्लेख ऋक् प्रातिशाख्य, वाजसनेयि-प्राातिशाख्य तथा ऋक्तन्त्र में हुआ है। शाकल्य का उल्लेख ऋक् प्रातिशाख्य तथा वाजसनेयि-प्रातिशाख्य में हुआ है।

पाणिनि द्वारा गिनाए गये आचार्यों के अतिरिक्त और भी बहुत से प्राचीन वैयाकरण हुए हैं। युधिष्ठिर मीमांसक ने प्रातिशाख्यों में स्म त कुल ५६ आचार्यों के नाम गिनाए हैं।

ऐन्द्र व्याकरण :-

पााणिनि से पूर्ववर्ती वैयाकरणों के व्याकरण हमें प्राप्त नहीं हुए हैं। परन्तु पााणिनि से प्राचीन व्याकरणों के उल्लेख यत्र-तत्र अवश्य हुए हैं जिससे प्रतीत होता है कि पाणिनि से पूर्व अनेक व्याकरण विद्यमान थे। इस सन्दर्भ में ऐन्द्र व्याकरण का उल्लेख करना आवश्यक है। महाभारत के टीकाकार देवबोध के कथन से ज्ञात होता है कि ऐन्द्र व्याकरण का आकार बहुत बड़ा था जिसकी तुलना में पाणिनि-व्याकरण तो इतना छोटा था जैसे समुद्र की तुलना में गाय का खुर-

यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात्।

पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे।।

तिब्बतीय ग्रन्थों के अनुसार ऐन्द्रव्याकरण का आकार २५ हजार श्लोक था।

कथा सरित्सागर के अनुसार ऐन्द्रव्याकरण अति प्राचीन काल में ही नष्ट हो चुका था। युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार ऐन्द्र व्याकरण के दो सूत्र उपलब्ध हैं। एक सूत्र का उल्लेख चरक के व्याख्याकार भट्टारक हरिश्चन्द्र ने किया है जो इस प्रकार है-शास्त्रेष्वपि-अथ वर्णसमूह इति ऐन्द्रव्याकरणस्य। दूसरे सूत्र का उल्लेख निरुक्त के व त्तिकार दुर्गाचार्य ने किया है-

नैकं पदजातम् 'अर्थः पदम्' इत्यैन्द्राणाम्।

इसका अर्थ है कि ऐन्द्रव्याकरण में प्रारम्भ में वर्ण समूह का उपदेश किया गया था। अन्य प्रमाणों से भी ऐन्द्रव्याकरण की सत्ता सिद्ध होती है।

भागुरि-व्याकरण :-

भागुरि निश्चित रूप से एक प्रसिद्ध वैयाकरण थे। परन्तु उनका व्याकरण हमें उपलब्ध नहीं हुआ है। पाणिनि ने इनके किसी मत का उल्लेख नहीं किया है। परन्तु बाद के ग्रन्थों में कई स्थानों पर भागुरि के मतों का उल्लेख हुआ है। भाषाव त्ति में(४.१.१०) 'नप्तेति भागुरिः' इस प्रकार उल्लेख किया गया है। जगदीश तर्कालंकार ने शब्दशक्तिप्रकाशिका में भागुरि का मत इति भागुरिस्म तेः' कहकर दिया है। आदि आकार के लोप के सन्दर्भ में भागुरि के मत प्रसिद्ध है-

वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः। आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशादिशा।

इस नियम के अनुसार अवगाह्य का वगाह्य तथा अपिधानम् का पिधानम् रूप बनता है। हलन्त शब्दों से स्त्रीलिंग प्रत्यय आप् का विधान किया गया है जिसे वाचा, निशा तथा दिशा शब्द निष्पन्न होते है।

युधिष्ठिर मीमांसक भागुरि को पााणिनि से पूर्ववर्ती आचार्यों में गिनते हैं। परन्तु भागुरि के नाम से जिस प्रकार के मत उद्ध त किए गए हैं, उनसे भागुरिव्याकरण पाणिनीय व्याकरण से बाद का प्रतीत होता है। उदाहरणतया, भागुरिस्म ति के नाम से जो मत दिए गए हैं, वे अवलोकनीय हैं-

गुपुधुपविच्छिपणिपनेरायः कमेस्तु णिङ्।

ऋतेरियङ् चतुर्थेषु नित्यं स्वार्थे, परत्र वा।।

यह श्लोक पाणिनि के सूत्र गुपुधुपविच्छपणिपनिभ्य आयः (३.१.२८) ऋतेरियङ् (३.१.२९) कमेर्णिङ् (३.१.३०) आदि सूत्रों का श्लोकीकरण मात्र है। इसी प्रकार निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है-

गुपो वधेश्च निन्दायां, क्षमायां तथा तिजः।

प्रतीकाराद्यर्थकाच्च कितः स्वार्थे सनो विधिः।।

यह श्लोक पाणिनि के सूत्र 'गुप्तिज्किद्भ्यः' सन् (३.१.५)तथा वार्तिक 'निन्दाक्षमाव्याधिप्रतीकारेषु सन्निष्यते, अन्यत्र यथाप्राप्तं प्रत्यया भवन्ति' का ही श्लोक के रूप में रूपान्तरण है।

इससे स्पष्ट है कि भागुरि का काल बहुत बाद का है। शैली की द ष्टि से भी इन श्लोकों को पाणिनि से पूर्व का नहीं माना जा सकता। इयङ्, णिङ्, आदि अनुबन्ध युक्त प्रत्ययों का प्रयोग पाणिनि से पूर्व नहीं मिलता है। प्रातिशाख्य आदि ग्रन्थों में भी भागुरि का नाम कहीं नहीं मिलता है। भागुरि का काल निश्चित रूप से पतंजलि के बाद का है।

काशक त्स्न व्याकरण :-

महाभाष्य पस्पशाह्निक ग्रन्थ के अन्त में काशक त्स्न का स्मरण पाणिनि और आपिशलि के साथ हुआ है-पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम् आपिशलम् काशक त्स्नम्। यद्यपि पाणिनि ने वैयाकरण के रूप में काशक त्स्न का स्मरण नहीं किया है, तथापि काशक त्स्न और अरीहादि गण में काशक त्स्न शब्द पठित है। काशक त्स्न से ही अपत्यार्थ में काशक त्स्न शब्द निष्पन्न होता है। युधिष्ठिर मीमांसक काशक त्स्न को महाभाष्य के क्रम की द ष्टि से पाणिनि और आपिशलि दोनों से प्राचीन मानते हैं।

काशक त्स्न ने व्याकरण लिखा था, इसकी पुष्टि कई उल्लेखों से होती है। बोपदेव ने कविकल्पद्रुम में आठ प्रसिद्ध व्याकरणों में काशक त्स्न व्याकरण का नाम गिनाया है। क्षीरस्वामी ने क्षीरतरंगिणी में काशक त्स्न का मत दिया है-

'काशक त्स्ना अस्य निष्ठायामनिद्त्वमाहुः, आश्वस्तः, विश्वस्तः।'

इसी प्रकार बाद के अनेक व्याकरण-व्याख्या'ग्रन्थों में काशक त्स्न का नाम गिनाया गया है। काशक त्स्न का एक धातुपाठ भी उपलब्ध है जिसमें पाणिनीय धातुपाठ में पठित धातुओं की अपेक्षा ४५० धातुएं अधिक हैं।

व्याडिक त संग्रह :-

पाणिनि से पूर्ववर्ती आचार्यों में व्याडि का नाम उल्लेखनीय है। व्याडि ने किसी संग्रह नामक ग्रन्थ की रचना की थी जिसमें सूत्र या श्लोकों के संख्या एक लाख थी। इस बात की पुष्टि अनेक प्रमाणों से होती है। नागेश ने महाभाष्यप्रदीपोद्योत में लिखा है-संग्रहो व्याडिक तो लक्षसंख्यो ग्रन्थः। भर्त हरिक त महाभाष्य दीपिका में भी संग्रह का उल्लेख हुआ है-संग्रहो यस्यैव शास्त्रस्यैकदेशः। महाभाष्यकार पतंजलि संग्रह नामक ग्रन्थ से परिचित थे। शब्द के कार्य अथवा नित्य होने के विषय में पंतजलि ने कहा है कि यह विषय विशेष रूप से संग्रह में परीक्षित है कि शब्द कार्य है अथवा नित्य-

''संग्रह एतत्प्राधान्येन परीक्षितं नित्यो वा स्यात् कार्यो वेति।''

महाभाष्य २.३.६६ पर पतंजलि ने संग्रह को दाक्षायण की क ति माना है-

''शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य क तिः।''

व्याडि एक प्राचीन नाम है जिसका उल्लेख ऋक्प्रातिशाख्य में शाकल्य और गार्ग्य के साथ हुआ है-व्याडिशाकल्यगार्ग्याः। परन्तु संग्रहकार व्याडि और ऋक्प्रातिशाख्य में उल्लिखित व्याडि एक ही व्यक्ति है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। ऋक्प्रातिशाख्य पाणिनि से पूर्ववर्ती ग्रन्थ है। परन्तु वाक्यप्रदीप के टीकाकार पुण्यराज ने 'संग्रह' को पाणिनीय व्याकरण पर लिख हुआ ग्रन्थ बताया है -

इह पुरा पाणिनीये स्मिन् व्याकरणे व्याड्युपरचितं लक्षग्रन्था परिमाणं संग्रहाभिधानं निबन्धमासीत्।

समुद्रगुप्त द्वारा रचित माने गए 'क ष्णचरितम्' नामक काव्य में व्याडि को 'दाक्षिपुत्रवचोव्याक्ष्यापटुः' अर्थात् दाक्षिपुत्र के वचनों की व्याख्या करने में निपुण बताया है। दाक्षिपुत्र पाणिनि के लिए प्रयुक्त होता है। इन उल्लेखों से व्याडि, पाणिनि से बाद का सिद्ध होता है। महाभाष्य में (६.२.३६)पर व्याडि को आपिशलि आदि के साथ इस क्रम से याद किया गया है-'आपिशलपाणिनीय व्याडीयगौतमीयाः।' यदि यह क्रम काल का द्योतक है तो व्याडि निश्चित रूप से पाणिनि के बाद के सिद्ध होते हैं इस अवस्था में ऋक् प्रातिशाख्य में उल्लिखित व्याडि तथा संग्रहकार व्याडि दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं।

युधिष्ठिर मीमांसक व्याडि को पाणिनि का मामा मानते हैं। काशिका में व्याडि को दाक्षि कहा गया हैं। दाक्षि और दाक्षायण को एक मानते हुए युधिष्ठिर मीमांसक व्याडि को पाणिनि से कुछ पूर्व का मानते है। परन्तु यह बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती।

आपिशलि-व्याकरण :-

पाणिनि ने स्वयं आपिशलि का मत उद्ध त किया है। पतंजलि ने भी आपिशलि का पाणिनि से पूर्व स्मरण किया है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि आपिशलि पाणिनि से पूर्ववर्ती वैयाकरण थे। आपिशलि का कोई व्याकरण उपलब्ध नहीं है। युधिष्ठिर मीमांसक ने अनेक ग्रन्थों में दिए हुए उद्धरणों के आधार पर आपिशलि द्वारा रचित ११ सूत्र खोजे हैं। इन सूत्रों में एक सूत्र यह भी है- 'तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुकासुच्छन्दसि।' इसका निर्देश काशिका व त्ति में किया गया है-'आापिशलास्तुरुस्तु शम्यमः सार्वधातुकासुच्छन्दसीति पठन्ति।' इससे यह सिद्ध होता है कि आपिशलि व्याकरण में वैदिक भाषा के नियम वर्णित थे।

आपिशलि के सूत्रों तथा पाणिनि के सूत्रों में पर्याप्त समानता प्रतीत होती है जिसके आधार पर आपिशलि व्याकरण को पाणिनि का उपजीव्य ग्रन्थ माना जाता है।

व्याकरण के अतिरिक्त आपिशलिक त धातुपाठ, गणपाठ, उणादिसूत्र तथा शिक्षा के सूत्र भी उल्लेख हैं।

शाकटायन व्याकरण :-

पाणिनीय व्याकरण से पूर्ववर्ती व्याकरणों में शाकटायन व्याकरण का नाम भी महत्वपूर्ण है। यद्यपि शाकटायन से सम्बन्धित कोई व्याकरण या उसका सूत्र उपलब्ध नहीं हुआ है, परन्तु शाकटायन सम्बन्धी मत कई स्थानों पर उपलब्ध हैं। निरुक्त में शाकटायन का स्मरण कई बार हुआ है। वे सभी शब्दों को धातुज मानते थे। उन्होंने लोकिक और वैदिक दोनों ही प्रकार के प्रयोगों का आख्यान किया था। शौनकी चतुरध्यायी के चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में कहा गया है-

समासावग्रहविग्रहान् पदे यथोवाच छन्दसि।

शाकटायनः तथा प्रवक्ष्यामि चतुष्टयं पदम्।

शाकटायन के मत निरुक्त, ऋक्प्रातिशाख्य, वाजसनेयप्रातिशाख्य ऋक्तन्त्र आदि प्राचीन ग्रन्थों में उद्ध त हैं। इससे सिद्ध होता है कि शाकटायन वैदिक व्याकरण के प्रकाण्ड विद्वान् थे।

शाकल्य व्याकरण :-

पाणिनि ने शाकल्य का नाम चार बार लिया है। ऋग्वेद के पदपाठ और अष्टाध्यायी में उद्ध त शाकल्य के मतों की तुलना के आधार पर विद्वानों का मत है कि ऋग्वेद का पदपाठ करने वाला शाकल्य तथा पाणिनि द्वारा उल्लिखित शाकल्य एक ही व्यक्ति है-क्योंकि दोनों के नियमों में समानता

है।

शाकल्य वैदिक विद्वान् थे, इसमें कोई सन्देह नहीं। यद्यपि उसका कोई व्याकरण उपलब्ध नहीं है, तथापि मतों के उद्धरणों से यह जाना जा सकता है कि वह लौकिक और वैदिक दोनों ही भाषाओं का मूर्धन्य विद्वान था।

पाणिनि :-

जैसे कि उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है, पाणिनि से पूर्व वैयाकरणों की दीर्घ परम्परा रही है। परन्तु दुर्भाग्य से पाणिनि से पूर्व का कोई भी व्याकरण ग्रन्थ हमें उपलब्ध नहीं है। जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है, प्रातिशाख्यों को व्याकरण की कोटि में नहीं रखा जा सकता। यद्यपि प्रातिशाख्यों में भी व्याकरण के कुछ प्रकरण, यथा सन्धि, स्वर प्रक्रिया आदि वर्णित हैं। परन्तु उन सबका सम्बन्ध मन्त्रपाठ के उच्चारण से है। प्रातिशाख्यों के समानान्तर निश्चित रूप से प थक् व्याकरण ग्रन्थ रहे होंगे जो आज लुप्त हो गए हैं। अन्य व्याकरणों के लुप्त होने का कारण पाणिनीय व्याकरण की सर्वोत्क ष्टता है। विषय की पूर्णता और सूत्रों की लघुता के कारण ही अन्य व्याकरणों की आवश्यकता समाप्त हो गई।

पाणिनीय व्याकरण का स्वरूप :-

वर्तमान रूप में उपलब्ध पाणिनि क त व्याकरण आठ अध्यायों में विभाजित है। इसलिए यह अष्टाध्यायी नाम से विख्यात है। पंतजलि ने इसको शब्दानुशासन कहा है। अष्टक नाम से भी पाणिनीय व्याकरण विख्यात है। इसके लिए एक अन्य नाम व त्तिसूत्र भी प्रयुक्त हुआ है। महाभाष्य में दो स्थानों पर इसी नाम का प्रयोग हुआ है। चीनी यात्री इत्सिंग ने इसी नाम का उल्लेख किया है। अन्य व्याकरण ग्रन्थों में कई स्थानों पर इस नाम का उल्लेख हुआ है। प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में व्याकरण शास्त्र के लिए व त्ति शब्द का प्रयोग होता था। निरुक्त में व्याकरण सम्बन्धी प्रक्रिया के लिए व त्ति शब्द का ही प्रयोग किया है-

'विशयवत्यो व त्तयो भवन्ति।'

अष्टाध्यायी के प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। इस प्रकार समस्त ग्रन्थ में कुल ३२ पाद हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भ से पहले १४ प्रत्याहार सूत्र हैं जिन्हें माहेश्वर सूत्र कहा जाता है। इन सूत्रों की सहायता से प्रत्याहारों का निर्माण होता है। जिन्हें पाणिनि ने लघुता के लिए प्रयुक्त किया है।

प्रथम पाद में 'व द्धि' 'गुण' आदि संज्ञाओं के लक्षण बताए गए हैं। द्वितीय पाद में भी अनेक संज्ञाओं का विधान किया गया है। समस्त अष्टाध्यायी की व्यवस्था अपने ही ढंग की है। सभी संज्ञाएं एक स्थान पर वर्णित नहीं है। संज्ञाओं के विधान के साथ ही उस संज्ञा के अधिकार में प्रयुक्त होने वाले सूत्र स्थान पर उसी के साथ दिए गए हैं। प्रथम अध्याय में आत्मनेपद, परस्मैपद, कित् सम्बन्धी नियम, कारक आदि विषय वर्णित हैं। द्वितीय अध्याय के तीसरे पाद में भिक्तियों के प्रयोग के नियम वर्णित हैं। चतुर्थ पाद में समस्त पदों के लिंग और वचन तथा आदेश विधायक नियम वर्णित हैं। त तीय अध्याय के प्रथम दो पादों में धातु के साथ लगने वाले विभिन्न प्रत्ययों का विधान हैं। त तीय अध्याय के कुछ सूत्रों में पुनः प्रत्यय वर्णित हैं। शेष सूत्रों में लकारों का प्रयोग वर्णित है। त तीय अध्याय के चतुर्थ पाद में धातु से संबंधित प्रत्यय वर्णित हैं। चतुर्थ अध्याय के प्रथम पाद में स्त्रीप्रत्यय तथा तद्धितप्रत्यय वर्णित हैं। चतुर्थ अध्याय के शेष पाद तथा पंचम अध्याय के प्रथम दो पादों में तद्धित प्रत्यय वर्णित हैं। पंचम अध्याय के त तीय पाद में विभक्ति संज्ञक प्रत्ययों का विधान है। पुनः तद्धित प्रत्ययों का वर्णन होकर समासान्त प्रत्ययों का वर्णन है। छठे अध्याय के प्रथम पाद में द्वित्व सम्बन्धी नियम, सम्प्रसारण, वर्ण विकार, स्वरप्रक्रिया वर्णित है। षष्ठ अध्याय के द्वितीय पाद में भी स्वर प्रक्रिया वर्णित है। षष्ठ अध्याय के त तीय पाद में अलुक् के नियम, समासों में वर्ण विकार, आदेश आदि वर्णित हैं। चतुर्थ पाद में दीर्घत्व,

लोप आदेश ह्रस्व आदि नियम वर्णित हैं। सप्तम अध्याय के प्रथम पाद में विभिन्न प्रत्ययों के आदेश, द्वितीय पाद में लुङ् लकार के व द्धि, सम्बन्धी नियम, आगम, लोप, गुण आदि वर्णित हैं। त तीय तथा चतुर्थ पाद में भी आदेश, व द्धि, सम्बन्धी नियम, आगम, लोप, गुण आदि वर्णित हैं। अष्टम अध्याय के प्रथम पाद में द्वित्व, वीप्सादि के नियम वर्णित हैं। पाद के अन्त में स्वरों के नियम वर्णित हैं। अष्टम अध्याय के तीन पादों में भी लोप, आदेश, स्वर आदि के नियम वर्णित हैं। परन्तु इन तीन पादों के सूत्र असिद्ध माने जाते हैं और पूर्व सूत्रों को बाधित नहीं करते।

पाणिनीय व्याकरण में वैदिकी प्रक्रिया :-

पाणिनि ने वैदिक भाषा के लिए प थक् नियम नहीं बनाए हैं। समस्त पाणिनीय व्याकरण लौकिक और वैदिक भाषा पर समान रूप से लागू होता है। परन्तु जहां वैदिक प्रयोगों में लौकिक प्रयोगों से कुछ भिन्नता होती है, वहां 'छन्दसि' 'मन्त्रे' 'ब्राह्मणे' आदि शब्दों के द्वारा प थक् निर्देश किया गया है। कुछ विद्वानों का मत है कि पाणिनि ने वैदिक भाषा को गौण रूप से लिया गया है। इसलिए इसे वैदिक व्याकरण नहीं कह सकते। परन्तु यह मत ठीक नहीं है। वैदिक भाषा के सूक्ष्म से सूक्ष्म अन्तर को भी उन्होंने प थक् रूप से दिखाया है। स्वरों के सभी मुख्य नियम भी वर्णित हैं जो निश्चित रूप से वैदिक प्रयोगों से सम्बन्धित हैं। अतः पाणिनीय व्याकरण वैदिक भाषा पर भी उसी प्रकार लागू होता है, जिस प्रकार लौकिक भाषा पर। परन्तु इतना अवश्य है कि पाणिनि ने वैदिक भाषा की मुख्य प्रव त्तियों को ग्रहण किया है। समस्त वैदिक वाङ्मय को प्रतिपद लेना किसी भी वैयाकरण के लिए असम्भव था।

पाणिनीय व्याकरण की विशेषताएं :-

पाणिनीय व्याकरण की कुछ प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं-

१ पाणिनीय व्याकरण अपने सभी पूर्व व्याकरणों से संक्षिप्त है।

२. पाणिनि ने प्राचीन आचार्यो की अनेक संज्ञाओं को ग्रहण किया है। लोक प्रसिद्ध पारिभाषिक शब्दों की परिभाषा देना उन्होंने आवश्यक नहीं समझा है।

३. प्रत्याहारों के द्वारा अनेक विषयों को संक्षिप्त बनाकर उन्हें स्म तिगम्य बनाया है।

४. अनुबन्धों के प्रयोग में पाणिनि का विशेष कौशल है। अनुबन्धों के द्वारा अनेक बिखरे हुए नियमों को एकत्र किया गया है।

५. सूत्रों के निर्माण में अत्यन्त कौशल दिखाया है। सूत्रों को यथावश्यक लघु बनाया गया है, परन्तु स्पष्टता में कहीं भी कमी नहीं है।

अपने विशिष्ट गुणों के कारण पाणिनीय व्याकरण को बहुत सम्मान मिला है। पाणिनि की प्रशंसा पतंजलि ने इन शब्दों में की है-

प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचावकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म। तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुम्, किं पुनरियता सूत्रेण।

पतंजलि को पाणिनीय व्याकरण में कुछ भी अनर्थक प्रतीत नहीं होता था-

सामर्थ्ययोगान्नहि किंचिदस्मिन् पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्।

वामन जयादित्य ने पाणिनि की सूक्ष्म द ष्टि की इस प्रकार प्रशंसा की है-

महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य।

विदेशी विद्वानों ने भी पाणिनि की अष्टाध्यायी की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। चीनी यात्री ह्यूनसांग से लेकर आधुनिक विद्वानों तक सभी ने पाणिनीय व्याकरण को एक अनुपम ग्रन्थ और मानव मस्तिष्क का आश्चर्यजनक क त्य माना है।

पाणिनि का परिचय तथा काल :-

पाणिनि के विषय में अधिक कुछ भी ज्ञात नहीं है। पाणिनि के अनेक नाम प्रसिद्ध हैं, यथा-पाणिन, पाणिनि, दाक्षीपुत्र, शालङ्कि, शालातुरीय, आहिक आदि।

परम्परा के अनुसार पाणिनि की माता का नाम दाक्षी था। व्याडि को दाक्षायण या दाक्षि कहा गया है। इन नामों से व्याडि का पाणिनि की मां से कुछ रक्त सम्बन्ध प्रतीत होता है। युधिष्ठिर मीमांसक व्याडि को पाणिनि की माता दाक्षी का भाई मानते हैं। इस प्रकार व्याडि पाणिनि के मामा थे। ऋक्सर्वानुक्रमणी के भाष्यकार षड्गुरुशिष्य ने वेदार्थदीपिका में पिंगल को पाणिनि का छोटा भाई बताया है-तथा च सूत्र्यते पिंगलेन पाणिन्यनुजेन...। इस बात की पुष्टि पाणिनीय शिक्षा की 'शिक्षा प्रकार' नाम्नी व्याख्या से भी होती है।

ज्येष्ठभ्रात भिर्विहितो व्याकरणे नुजस्तत्र भगवान्
पिंगलाचार्यस्तन्मतमनुभाव्य शिक्षां वक्तुं प्रतिजानीते।

पाणिनि को शालातुरीय कहा गया है। इससे प्रतीत होता है कि पाणिनि शलातुर के रहने वाले थे। जैन लेखक वर्धमान ने गणरत्नमहोदधि में इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए हैं-

शलातुरो नाम ग्रामः सो भिजनो यास्तीति शालातुरीयः तत्रभवान् पाणिनिः।

आधुनिक विद्वानों का मत है कि शलातुर ग्राम भारत की पश्चिमोत्तर सीमा पर लाहौर के पास कहीं था। पंचतन्त्र में उद्ध त एक श्लोक के अनुसार पाणिनि की म त्यु शेर के द्वारा खाए जाने से हुई थी।

सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिनेः,
मीमांसाक तमुममाथ सहसा हस्ती मुनिजैमिनीम्।
छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिंगलम्,
अज्ञानाव तचेतसामतिरुषां को र्थस्तिरश्चां गुणैः।

काल :-

पाणिनि का काल अभी तक अनिर्णीत है। सोमदेवक त कथासरित्सागर के एक विवरण के अनुसार पाणिनि और कात्यायन समकालीन थे। कात्यायन ने पाणिनि को शास्त्रार्थ में हरा दिया था परन्तु शिव के प्रताप से पाणिनि अन्तिम रूप में जीत गया था। तत्पश्चात् शिव के क्रोध को कम करने के लिए कात्यायन ने पाणिनि की शिष्यता स्वीकार कर ली और पाणिनि-व्याकरण पर वार्तिक लिखे। कात्यायन मगध के राजा नन्द का समकालीन था और बाद में योगानन्द के नाम से उसके यहां मन्त्रिपद को ग्रहण किया।

सोमदेव की कथा पर अधिक विश्वास न करते हुए भी मैक्समूलर ने पाणिनि को कात्यायन का समकालीन ही माना है। नन्द चन्द्रगुप्त मौर्य का समकालीन था। चन्द्रगुप्त मौर्य का काल ३१५ ई० पू० है। इस आधार पर मैक्समूलर ने कात्यायन का काल चतुर्थ शताब्दी ई० पू० का उत्तरार्ध माना है। इस गणना से पाणिनि का काल भी ३५० ई० पू० के आसपास ठहरता है। बोथलिंग भी पाणिनि का समय ३५० ई० पू० ही मानते हैं।

परन्तु पाणिनि और कात्यायन को कथासरित्सागर के आधार पर समकालीन मानना उचिन नहीं है। गोल्डस्टुकर ने मैक्समूलर और बोथलिंग दोनों के मतों का खण्डन किया है। परन्तु गोल्डस्टुकर भी वाजसनेयि-प्रातिशाख्य के रचयिता और वार्तिकों के रचयिता एक ही कात्यायन को मानते हैं। इसी भूल के कारण उन्होंने सभी प्रातिशाख्यों को पाणिनि के बाद का माना है। इस विषय पर पहले ही

विचार किया जा चुका है। प्रातिशाख्य निश्चित रूप से पाणिनि से पूर्ववर्ती थे। यास्क भी पाणिनि से पूर्ववर्ती था। अतः पाणिनि का समय यास्क और प्रातिशाख्यों के बाद का ही सिद्ध होना चाहिए। परन्तु पाणिनि कात्यायन के समकालीन नहीं हो सकते क्योंकि पाणिनि और कात्यायन के काल के बीच में भाषा में पर्याप्त अन्तर आ गया था। इसी कारण से कात्यायन को पाणिनि के सूत्रों पर वार्तिक लिखने पड़े। अन्य सब तथ्यों पर विचार करके गोल्डस्टुकर ने पाणिनि का समय सातवीं ई० पू० माना है। रामक ष्ण गोपाल भण्डारकर ने भी पाणिनि का यही समय उचित माना है।

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने पाणिनि कालीन भारतवर्ष में पाणिनि की तिथि पर विचार किया है। उनका मत है कि अन्तः साक्ष्यों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि पाणिनि बुद्ध के बाद हुए। उनका मुख्य तर्क यह है कि पाणिनि ने मस्करी परिव्राजक का उल्लेख किया है जो वास्तव में मंखलि गोसाल है। मंखलि गोसाल और बुद्ध समकालीन थे। इसके अतिरिक्त पाणिनि व्याकरण में प्रयुक्त निर्वाण, कुमारी श्रमणा तथा संचीवरयते शब्द बौद्ध धर्म से सम्बन्धित हैं। परन्तु यह सब अनुमान पर आधारित है। मस्करी परिव्राजक को मंखलि गोसाल मानना मात्र कल्पना है। संस्क त में निर्वाण, श्रमण आदि शब्द पहले से ही विद्यमान थे। बौद्धों ने उन्हीं को अपनाया। यह मानना कि बौद्ध ने इन शब्दों का निर्माण अपने लिए स्वयं किया अत्युक्तियुक्त है।

पाणिनि ने ४.३.३४ में श्रविष्ठा आदि दस नक्षत्रों की सूची दी है। यहां श्रविष्ठा नक्षत्र को आदि में रखा गया है। इसी के आधार पर डॉ० अग्रवाल यह मानते हैं कि पाणिनि के समय में श्रविष्ठा के नक्षत्रों की गणना प्रारम्भ में होती थी। वेदांगज्योतिष में भी श्रविष्ठा (अर्थात धनिष्ठा) से ही नक्षत्रों की गणना प्रारम्भ की है। महाभारत काल में यह गणना श्रवण से होने लगी थी। अनेक विद्वानों के मतों के अनुसास ४०० ई० पू० के आसपास श्रवण नक्षत्र से गणना प्रारम्भ हो गई थी। अतः पाणिनि का समय ५०० ई० पू० से ४०० ई० पू० के बीच मानना चाहिए। पाणिनि के काल में नक्षत्र गणना ज्योतिष वेदांग की तरह श्रविष्ठा नक्षत्र से होती थी यह बात संयोग से ठीक हो सकती है, परन्तु पाणिनि ने इसे अन्य नक्षत्रों के प्रारम्भ में रखा है इससे यह बात सिद्ध होती है कि इसी नक्षत्र से गणना प्रारम्भ होती थी, यह मत निराधार है क्योंकि पाणिनि के इस सूत्र में जो नक्षत्र गिनाएं गए हैं वे बिना किसी क्रम में रखे हुए हैं।

डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल मध्य मार्ग का आश्रय लेकर और भारतीय जनश्रुति पर विश्वास करके कि पाणिनि नन्दराजा के समकालीन थे, पाणिनि का काल पांचवीं शती ई० पू० के मध्य भाग में मानते हैं।

युधिष्ठिर मीमांसक ने सभी प्राचीन मतों का खण्डन करके नये साक्ष्य देते हुए पाणिनि का काल २६०० विक्रम पूर्व माना है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि पाणिनि का काल निर्धारण पूर्णतः काल्पनिक है और किसी मत को अन्तिम नहीं माना जा सकता।

पाणिनि तथा गणपाठ, धातुपाठ एवं उणादिसूत्र :-

गणपाठ धातुपाठ तथा उणादिसूत्र के रचयिता के विषय में अनेक मतभेद हैं। कुछ विद्वान् इन्हें पाणिनिक त मानते हैं तो कुछ विद्वान इन्हें पाणिनि से पूर्ववर्ती आचार्य की क ति मानते हैं। निर्णयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। केवल इतना कहा जा सकता है कि जिस रूप में ये आज विद्यमान हैं, पाणिनि ने अपने व्याकरण में अन्हें उसी रूप में प्रयुक्त किया है। इन्हें पाणिनिक त मानने में कोई दोष नहीं है। यदि ये पाणिनि ने नहीं रचे तो इतना अवश्य है कि पाणिनि ने इन्हें अपने व्याकरण के अनुसार अवश्य ढाला।

निरुक्त वेदाङ्ग

वैदिकभाषा की सूक्ष्मताओं का विश्लेषण करने वाला यह वेदांग भी इतना ही प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण है जितने अन्य वेदांग। निरुक्त वेदांग का मुख्य प्रयोजन वेद में प्रयुक्त हुए शब्दों के सम्यक् अर्थ ज्ञान के लिए शब्दों का निवर्चन प्रस्तुत करना है। निरुक्त को वेद का कान माना जाता है। जिस प्रकार बिना कानों के मनुष्य सुन नहीं सकता उसी प्रकार बिना निरुक्त के बिना वैदिक शब्दों का अर्थ ग्रहण नहीं हो सकता। यास्कक त निरुक्त में ग्रन्थ लेखन का प्रयोजन ही अर्थज्ञान कराना बताया है। ग्रन्थ के प्रयोजनों में सबसे पहला प्रयोजन मन्त्रों का अर्थ ज्ञान कराना है-

अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते।

अर्थात निरुक्त शास्त्र के बिना मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। अर्थज्ञान के बिना स्वर तथा व्याकरण प्रक्रिया का ज्ञान भी नहीं हो सकता-

अर्थमप्रतियतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारोद्देशः।

वेदमन्त्रों में स्वरांकन की प्रक्रिया केवल औपचारिकता नहीं है। स्वर के उतार-चढ़ाव से ही अर्थों का सम्यग् ज्ञान हो सकता है। यदि अर्थों का ज्ञान नहीं होगा तो केवल अभ्यास मात्र से स्वर का ज्ञान नहीं हो सकता। स्वर ज्ञान और मन्त्रार्थ ज्ञानपरस्पर आश्रित हैं।

वेदमन्त्रों की अर्थवत्ता पर शंका करने वाले कौत्स के मतानुयायी को निरुक्तकार ने यह कहकर फटकारा है कि यह खम्भे का दोष नहीं है यदि कोई अन्धा व्यक्ति उसे न देखे और उससे टकरा जाए-

नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति पुरुषापराधः स भवति।

अर्थ को न जानने वाले व्यक्ति की यहां पर अन्धे व्यक्ति से तुलना की है। जो व्यक्ति वेद को केवल पढ़ता है परन्तु उसके अर्थ को नहीं जानता उसकी तुलना एक खम्भे से की गई है जिस पर भार लटका दिया गया हो। अर्थ को न जानने वाला व्यक्ति तो केवल वेदों के भार को ही ढोता है। इसके विपरीत अर्थज्ञ व्यक्ति अज्ञान नष्ट हो जाने से परम कल्याण को प्राप्त करता है-

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्यवेदं न विजानाति यो र्थम्।

यो र्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा।।

वेद को केवल शब्द मात्र से पढ़ने वाले का अध्ययन इस प्रकार फलीभूत नहीं होता है जिस प्रकार बिना अग्नि के सूखा ईधन भी नहीं जलता है-

यद्ग हीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।

अनग्नाविव शुष्कैंधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्।।

इससे स्पष्ट है कि निरुक्त वेदांग का मुख्य प्रयोजन मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान कराना है। यास्क के काल में वेदमन्त्रों का अर्थ न केवल कठिन अपितु पूर्णतः अज्ञात हो गया था। यह बात स्वयं निरुक्त के अन्तः साक्ष्यों से प्रमाणित है। एक शब्द के लिए अनेक अर्थो की कल्पना निरुक्तकार को करनी पड़ी। कौत्स के अनुयायी तो मन्त्रों को अनर्थक ही मानने लगे थे। निरुक्तकार ने स्वयं स्वीकार किया कि ऋषियों को तो अर्थ पूर्णतः स्पष्ट था परन्तु बाद की पीढ़ियों को उपदेश देने की आवश्यकता पड़ी इसलिए ऋषियों ने उपदेश के द्वारा बाद के व्यक्तियों के लिए मन्त्रों के अर्थों को स्पष्ट किया। परन्तु आगे चलकर बाद के पीढ़ियों को सामान्य उपदेश से भी अर्थ स्पष्ट नहीं होते थे। इसलिए उनकी उपदेश के प्रति अरुचि हो गई। इसलिए उन्होंने इस ग्रन्थ अर्थात् निरुक्त वेदांग की रचना की-

साक्षात्क तधर्माण ऋषयो बभूवुः। ते वरेभ्यो साक्षात्क त-धर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्संप्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तो वरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः।

निरुक्त वेदांग का स्वरूप :-

निरुक्त वेदांग से सम्बन्धित केवल यास्कक त निरुक्त ही उपलब्ध है। इसी के आधार पर हम निरुक्त के स्वरूप का विश्लेषण कर सकते हैं।

निरुक्त मूलतः अर्थ-प्रधान ग्रन्थ है। किसी शब्द विशेष का किसी अर्थ विशेष में प्रयुक्त होने के कारणों का अन्वेषण करना ही निरुक्त का मूल प्रयोजन है। सायण ने निरुक्त के विषय में कहा है कि जिस शास्त्र में बिना किसी प्रसंग की अपेक्षा के अर्थज्ञान के लिए पदों का निर्वचन किया जाए वह निरुक्त कहलाता है-

अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्।

सायण ने यह स्पष्ट किया है कि प्रत्येक पद के लिए सभी अवयवों के सम्भावित अर्थों को निःशेष रूप से कहा जाए, वह भी निरुक्त कहलाता है-

एकैकस्य पदस्य सम्भाविता अवयवार्था यत्र निः शेषेण उच्यन्ते तदपि निरुक्तम्।

सायण की दूसरी परिभाषा अधिक समीचीन है। निरुक्त पद स्वयं अन्वर्थक है-'निःशेषेण उक्तम् इति निरुक्तम्' अर्थात जहां किसी सम्भावना को छोड़े बिना अर्थ का निर्वचन किया जाए, वह निरुक्त कहलाता है।

निर्वचन की आवश्यकता पर स्वयं यास्क ने बहुत बल दिया है। निर्वचन की प्रक्रिया बताते हुए उन्होंने कहा है कि जहां व्याकरण की सामान्य प्रक्रिया से निर्वचन सम्भव हो तब तक तो वह करना चाहिए परन्तु जहां व्याकरण प्रक्रिया से सम्भव न हो वहां अन्यत्र साम्य देखकर निर्वचन करें और जहां साम्य भी उपलब्ध न हो वहां एक अक्षर या एक वर्ण की समानता के अधार पर भी निर्वचन करें, परन्तु बिना निर्वचन के पद को नहीं छोड़ना चाहिए-

तदेषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्यातां तथा तानि निर्ब्रूयात्। अथानन्विते प्रादेशिके विकारे र्थनित्यः परीक्षेत केनचिद्‌व ति सामान्येन। अविद्यमाने सामान्ये प्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयान्नत्वेव न निर्ब्रूयान्न संस्कारमाद्रियेत।

इससे स्पष्ट है कि निरुक्त मुख्यरूप से निर्वचन प्रधान ग्रन्थ है। काशिकाकार ने निरुक्त के पांच प्रकार बताए हैं-

वर्णागमो वणविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।

धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पंचविधं निरुक्तम्।।

अर्थात-१. वर्णागम, २. वर्णविपर्यय, ३. वर्णविकार, ४. वर्णनाश तथा ५. धातु के अर्थ से योग, निरुक्त के पांच प्रकार हैं। यास्क ने इन सभी प्रकारों से शब्दों का निर्वचन करके उनके वास्तविक अर्थ का निरूपण किया है।

निरुक्त की वेदांगता :-

कई बार निरुक्त की वेदांगता पर सन्देह व्यक्त किया जाता है क्योंकि निरुक्त निघण्टु में संकलित शब्दों का व्याख्या-ग्रन्थ है। निरुक्त का प्रारम्भ ही निघण्टु की व्याख्या की प्रतिज्ञा से होता है-'सामाम्नायः सामाम्नातः। स व्याख्यातव्यः। तमिमं समाम्नायं निघण्टव इत्याचक्षते।' निघण्टु में

वैदिक शब्दों का संकलन है। अतः निघण्टु का ही मूल वेदांग मानने के पक्ष में कुछ तर्क दिए जाते हैं क्योंकि निरुक्त तो निघण्टु को केवल व्याख्या ग्रन्थ मात्र है। परन्तु यह तर्क उचित नहीं है। निघण्टु निरुक्त का ही भाग है। शब्दों के निर्वचन करने के लिए शब्दों का संकलन होना आवश्यक है। यह संकलन ही निघण्टु कहलाता है। निघण्टु शब्द का निर्वचन करते हुए यास्क ने यही कहा है कि निघण्टु शब्द का निर्वचन निगम शब्द से है। निगम का अर्थ है वेद। वेदों से एकत्रित किये जाने के कारण ही इन्हें निघण्टु कहते हैं-

'निघण्टवः कस्मात्। निगमा इमे भवन्ति। छन्दोभ्यः समाहृत्य समाम्नाताः।'

अतः वैदिक शब्दों का निवर्चन करने के कारण निरुक्त की वेदांगता स्वतः सिद्ध है।

निरुक्त वेदांग का उद्गम और विकास :-

शब्दों के निर्वचन की प्रव त्ति बहुत प्राचीन काल से प्रारम्भ हो गई थी। यास्क से पहले अनेक निरुक्तकार हुए हैं इसका ज्ञान यास्कक त निरुक्त से ही होता है। अनेक बार नैरुक्तों के मत उद्ध त किए गए हैं। यास्क ने अनेक नैरुक्तों का नामोल्लेख किया है, यथा-औपमन्यव, आग्रयण, आग्रायण, औदुम्बरायण, और्णवाभ, कौत्स, क्रौष्टुकि, गार्ग्य, गालव, चर्मशिरा, तैतिकी, वार्ष्यायणि, शाकटायन, शाकपूणि, शाकल्य, स्थौलाष्ठीवि, तथा कात्थक्य। कम से कम १५ बार नैरुक्ताः' उल्लेख से मत उद्ध त किए हैं। इससे स्पष्ट है, यास्क से पूर्व अनेक निरुक्त लिखे जा चुके थे जो आज दुर्भाग्य से उपलब्ध नहीं हैं। सम्भवतः यास्कक त निरुक्त निरुक्तों में सबसे बाद का था। इसकी सर्वोत्क ष्टता के कारण अन्य निरुक्त प्रचलन में कहीं नहीं रहे और धीरे-धीरे लुप्त हो गए। परन्तु यास्क के बाद भी अन्य निरुक्तों का प्रयोग होता रहा है। विष्णु पुराण में शाकपूणि का नाम निरुक्तक त् के रूप में उल्लिखित है। सम्भवतः यह वही शाकपूणि है जिसे यास्क ने शाकपूणि के नाम से उल्लिखित किया है। इससे सिद्ध होता है कि पुराण काल तक अन्य निरुक्तकारों का नाम प्रचलन में था।

निरुक्त का वेदांग के रूप में जन्म कब हुआ, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। परन्तु इतना निश्चित है कि शब्दों के निर्वचन की प्रक्रिया ऋग्वेद काल से ही प्रारम्भ हो गई थी। ऋग्वेद में अनेक ऐसे स्थल हैं जिनमें धातु के मुख्य अर्थ और कार्य के आधार पर कुछ शब्दों के अर्थों का निर्वचन किया गया है। निम्नलिखित उदाहरण अवलोकनीय हैं-

१ पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती।

२. यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः।

३. वयं गीर्भिग णन्तः।

४. ये सहांसि सहसा सहन्ते।

५. स व षा व षभो भुवत्।

६. य पोता स पुनातु नः।

बाह्मण ग्रन्थों में शब्दों का विधिवत् निर्वचन प्रारम्भ हो गया था। उदाहरणतया व त्र शब्द का बाह्मणों में इस प्रकार निर्वचन हुआ है-'यद् अव णोत् तद् व त्रस्य व त्रत्वमिति, विज्ञायते। यदवर्धत तद्व त्रस्य व त्रत्वमिति विज्ञायते।' इसी प्रकार शक्वरी शब्द का निर्वचन शक् धातु से किया गया है-'तद् यदाभिर्व त्रमशकद् हन्तुं तच्छक्वरीणां शक्वरीत्वमिति विज्ञायते।' आरण्यक और उपनिषद् ग्रन्थों में भी शब्दों का निर्वचन किया गया है। मैक्समूलर का कथन है कि बाह्मण ग्रन्थों की वैदिक निरुक्तों के साथ आरण्यक और उपनिषदों में उपलब्ध निरुक्तियां मिला दी जाएं तो वे निरुक्त में दी हुई निरुक्तियों से भी अधिक हो जाएंगी। इस प्रकार निरुक्त वेदांग का आधार भी बाह्मण ग्रन्थ माने जा सकते हैं।

निरुक्त का प थक् वेदांग के रूप में जन्म लेना वेदमन्त्रों के दुरूह हो जाने का परिणाम है। जैसे कि पहले कहा जा चुका है यास्क के काल तक वैदिक शब्दों का अर्थ अज्ञात हो गया था। ब्राह्मण काल में वैदिक मन्त्रों के अर्थ इतने स्पष्ट नहीं रह गए थे। अतः अर्थ को जानने के लिए एक ऐसे शास्त्र की आवश्यकता पड़ी जिसमें वैदिक शब्दों का एक स्थान पर निर्वचन दिया गया हो। अतः निरुक्त वेदांग का जन्म हुआ। यास्क के काल तक निरुक्त अपने पूर्ण रूप में विकसित हो चुका था। इसीलिए इसके बाद कोई निरुक्त नहीं लिखा गया।

निरुक्त और व्याकरण :-

व्याकरण और निरुक्त कुछ सीमा तक बहुत निकट प्रतीत होते हैं। व्याकरण में पद के प्रक ति और प्रत्यय का विश्लेषण होता है। इसी विश्लेषण के आधार पर शब्दों के अर्थ का ज्ञान हो सकता है। अर्थ का ज्ञान करना ही निरुक्त का प्रयोजन है। अतः इस सीमा तक व्याकरण और निरुक्त समान हैं। परन्तु वस्तुतः निरुक्त का कार्य व्याकरण से बहुत जटिल है। जहाँ व्याकरण का कार्य समाप्त हो जाता है, निरुक्त का कार्य वहां से प्रारम्भ होता है। जहाँ सीधे प्रक ति और प्रत्यय के विश्लेषण से अर्थ का ज्ञान हो जाए वहां तो व्याकरण सक्षम है जैसा कि स्वयं यास्क ने भी कहा है-'तद् येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेणान्वितौ स्यातां तथा तानि निर्ब्रूयात्।' परन्तु जहां व्याकरण की सामान्य प्रक्रिया से शब्दों का निर्वचन न हो सके वहां निरुक्त शास्त्र की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त व्याकरण की प्रक्रिया से प्राप्त अर्थ व्यवहार में प्रयुक्त नहीं होता। इसीलिए यास्क ने कहा है-'विशयवत्यो व त्तयो भवन्ति' अर्थात् व्याकरण की प्रक्रिया संशययुक्त होती है।

व्याकरण शास्त्र में भी ऐसे शब्दों की सत्ता स्वीकार की गई है जिनका सामान्य व्याकरण प्रक्रिया से निर्वचन नहीं हो सकता। पाणिनि ने अनेक ऐसे शब्दों को निपातन सिद्ध किया है। उदाहरणतया पाणिनि के सूत्र 'प षोदरादीनि यथोपदिष्टम् (पा० ६.३.१०६) के अन्तर्गत ऐसे शब्दों को संग हीत किया गया है जो लोक में प्रचलित होने के कारण साधु हैं परन्तु व्याकरण के नियमों के अन्तर्गत जिनकी व्याख्या करना सम्भव नहीं है, जैसे प षुदुदर के लिए प षोदर, वारिवाहक के लिए बलाहक, जीवनमूल के लिए जीमूत आदि। व्याकरण इन शब्दों को यथावत् स्वीकार करता है, जैसे कि काशिकाकार ने उपर्युक्त सूत्र की व ति में कहा है-

प षोदरादीनि शब्दरूपाणि येषु लोपागमवर्णविकाराः शास्त्रेण न विहिताः, द श्यन्ते च तानि यथोपदिष्टानि साधूनि भवन्ति। यानि यथोपदिष्टानि शिष्टैरूच्चारितानि प्रयुक्तानि तथैवानुगन्तव्यानि।' परन्तु निरुक्त इतने मात्र से सन्तुष्ट नहीं हो जाता। वहां तो 'अर्थनित्यः परीक्षेत' का सिद्धान्त लागू होता है जिसके अनुसार वर्णागम, वर्णविकार, वर्णलोप, वर्णविपर्यय आदि साधनों का आश्रय लेकर सभी शब्दों का निर्वचन नितान्त आवश्यक है।

इस प्रकार निरुक्त व्याकरण का पूरक ग्रन्थ है। स्वयं यास्क ने भी इसी बात को कहा है-

'तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कात्स्र्यनम्।' परन्तु इसके साथ ही यास्क ने 'स्वार्थसाधकं च' कहकर निरुक्त की व्याकरण से प थक् सत्ता भी बताई है। निरुक्त में केवल शब्दों के निर्वचन पर ही बल नहीं है। इसमें मन्त्रार्थ तथा देवताओं के स्वरूप, उनकी ऐतिहासिकता आदि पर भी विचार किया गया है।

इस प्रकार व्याकरण और निरुक्त दोनों का सम्बन्ध भाषा से होते हुए भी दोनों का कार्यक्षेत्र प थक् है। वैसे तो व्याकरण में भी उणादि सूत्रों के द्वारा ऐसे शब्दों को नियमबद्ध करने का प्रयत्न किया गया है परन्तु यह विषय निरुक्त का है।

यास्कक त निरुक्त :-

निरुक्त वेदांग का एकमात्र उपलब्ध ग्रन्थ यास्कक त निरुक्त है इस ग्रन्थ के दो भाग हैं-निघण्टु और निरुक्त। निघण्टु में वैदिक शब्दों का संकलन है तथा निरुक्त में उन शब्दों की व्याख्या।

निघण्टु :-

निघण्टु में पाचं अध्याय हैं। पहले तीन अध्याय नैघण्टुक काण्ड, चौथा नैगम काण्ड तथा पांचवाँ दैवत काण्ड के नाम से प्रसिद्ध हैं। नैघण्टुक काण्ड में पर्यायवाची शब्दों का संग्रह है। नैगम काण्ड में अनेकार्थक शब्दों का संग्रह है। दैवत काण्ड में देवताओं के नाम हैं।

प्रथम अध्याय में प थ्वी, हिरण्य, अन्तरिक्ष, नभ, रश्मि, दिक्, रात्रि, उषा, अहः, मेघ, वाक्, उदक, नदी, अश्व, वायु तथा तैजस् के पर्यायवाची शब्द परिगणित हैं।

द्वितीय अध्याय में कर्म, अपत्य, मनुष्य, बाहु, अंगुलि, कान्तिकर्म, अन्न, अत्तिकर्म, बल, धन, गो, क्रोध, गत्यर्थक क्रियाएँ, क्षिप्र (शीघ्र) अन्तिक (समीप) संग्राम, व्याप्ति, वधार्थक क्रियाएँ, वज्र, ऐश्वर्य तथा ईश्वर के पर्यायवाची शब्द परिगणित हैं।

त तीय अध्याय में बहु (अधिक) ह्रस्व, महत्, ग ह, परिचरण, सुख, रूप, प्रशस्य, प्रज्ञा, सत्य, देखने अर्थ वाली क्रियाओं, यज्ञ आदि के पर्यायवाची शब्द संग हीत हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि इन अध्याओं में शब्दों का संकलन एक व्यवस्था से किया गया है। प्रथम अध्याय में प्राक तिक पदार्थों से सम्बन्धित शब्द संकलित हैं। द्वितीय अध्याय में मनुष्य तथा उसके अंग एवं उसकी विभिन्न क्रियाओं से सम्बन्धित हैं। त तीय अध्याय में भाववाची संज्ञा-शब्द संग हीत हैं।

निघण्टु एक प्रकार से कोश ग्रन्थ है। कोश ग्रन्थों के इतिहास में निघण्टु ही सबसे पहला ग्रन्थ माना जा सकता है। परन्तु निघण्टु के अतिरिक्त भी अनेक कोश ग्रन्थ रहे होंगे जो आज उपलब्ध नहीं हैं। कुछ कोश-ग्रन्थ जैसे सर्व कोश, रन्तिदेव कोश, यादव कोश, भागुरि कोश, बल कोश आदि के उल्लेख मिलते हैं परन्तु इन कोश ग्रन्थों में से कोई उपलब्ध नहीं है।

निघण्टु शब्द की व्युत्पत्ति :-

निघण्टु शब्द बहुत प्राचीन है। इसकी व्युत्पत्ति पर यास्क तथा उसके पूर्ववर्ती आचार्यों ने विचार किया है। यास्क ने औपमन्यव का मत देकर 'निघण्टव' शब्द की व्युत्पत्ति 'निगन्तव' शब्द से बताई है और 'निगन्तव' शब्द की उत्पत्ति निगम (वेद) शब्द से बताई है-''ते निगन्तव एव सन्तो निगमान्निघण्टव उच्यन्ते इत्यौपमन्यवः।'' वैदिक शब्दों का ज्ञान कराने के कारण यह ग्रन्थ 'निगन्तु' कहलाया और ग् का घ् तथा त् का ट् होकर 'निघण्टु' हो गया। यास्क इस शब्द की उत्पत्ति 'आ' उपसर्गपूर्वक 'हन्' धातु से भी सम्भव मानते हैं क्योंकि शब्द एक स्थान पर एकत्रित हैं-''अपि वा आहननादेव स्युः भवन्ति।'' यहां हन् धातु से 'निहन्तु' हुआ। ह् को घ् तथा त् को ट् होकर निघण्टु शब्द बना। एक अन्य सम्भावना व्यक्त करते हुए यास्क हृ धातु से मानते हैं-''यद्वा समाहृताः भवन्ति।'' सम के अर्थ में नि उपसर्ग मान कर निहर्तु शब्द बना होगा। तब ह् को घ्, र् को न् तथा त् को ट् होकर निघण्टु शब्द बना।

यास्क की उपर्युक्त व्युत्पत्ति अधिक समीचीन प्रतीत होती है क्योंकि यह ध्वनि परिवर्तनों के नियमों के अधिक निकट है। संस्क त में अनेक स्थानों पर ग् को घ् तथा त् को ट् हुआ है। निहन्तु शब्द से भी निघण्टु हो जाना सम्भव है क्योंकि हन् धातु के 'ह्' को अनेक स्थानों पर घ् हुआ है। (यथा) घ्नन्ति, घ्नन्तु, जघान आदि। व्युत्पत्ति चाहे कुछ भी हो परन्तु यह अवश्य है कि निघण्टु शब्द का निर्वचन सीधा ही किसी धातु से नहीं होता। निगन्तु का निहन्तु, शब्द से निघण्टु शब्द बनने में बहुत समय लगा

होगा। इसी से निघण्टु शब्द की प्राचीनता सिद्ध होता है कि लोकभाषा के अपभ्रंश शब्दों को बहुत प्राचीन काल में ही मान्यता मिलने लगी थी।

निघण्टु का रचयिता :-

निघण्टु के रचयिता के विषय में सन्देह है। यास्क इसकी रचना निरुक्त प्रारम्भ करने से पहले ही मानकर चलते हैं-''समाम्नायः सम्मानातः, स व्याख्यातव्यः, अर्थात्, वैदिक शब्द समुदाय पहले ही संकलित है, उसकी व्याख्या की जानी चाहिए! यह संकलन यास्क ने स्वयं तैयार किया था या किसी अन्य आचार्य ने, इस विषय में मतभेद है। महाभारत के मोक्ष पर्व में दो श्लोक आए हैं-

व षो हि भगवान् धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत।

निघण्टुकपदाख्याने विद्धि मां व षमुत्तमम्।।

कपिर्वराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च व ष उच्यते।

तस्माद् व षाकपिं प्राह कश्यपो मां प्रजापतिः।।

इन श्लोकों के आधार पर विद्वान् निघण्टु का रचयिता कश्यप मानते हैं क्योंकि व षाकपि शब्द का परिगणन निघण्टु में किया गया है। परन्तु डॉ० लक्ष्मण स्वरूप इस मत को असंगत मानते हैं क्योंकि उपर्युक्त श्लोक की अन्तिम पंक्ति का अर्थ है 'इसलिए प्रजापति कश्यप ने मुझे व षाकपि कहा।' लक्ष्मण स्वरूप के अनुसार यदि व षाकपि शब्द के निर्माता स्वयं कश्यप होते तो वे अपने निघण्टु में संकलित कठिन शब्दों की सूची में व षाकपि शब्द न देते।

लक्ष्मण स्वरूप का मत है कि निघण्टु किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं है अपितु एक सम्पूर्ण पीढ़ी या कई पीढ़ियों के सामूहिक प्रयत्नों का फल है। लक्ष्मण स्वरूप के इस मत की पुष्टि यास्क के कथन से भी होती है जहां उन्होंने कहा है कि निघण्टु की रचना वेदों से शब्द बटोर-बटोर कर हुई है-''छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः'' समाहृत्य पद का दो बार प्रयोग करना सामूहिक प्रयत्न का द्योतक है।

निरुक्त :-

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है निरुक्त उपयुक्त निघण्टु का व्याख्या स्वरूप ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ हमें दो संस्करणों में प्राप्त हुआ है एक लघु संस्करण तथा दूसरा ब हत् संस्करण। डॉ० लक्ष्मण स्वरूप के अनुसार दोनों ही संस्करणों में प्रक्षिप्त अंश हैं। दोनों ही संस्करणों में परिशिष्ट भाग है जो प्रक्षिप्त है। इस प्रकार दोनों ही संस्करणों में से किसी को भी मूल निरुक्त की अक्षरशः प्रतिलिपि नहीं माना जा सकता। रॉथ ब हत् संस्करण को ठीक मानते हैं। लगभग सभी संपादकों ने ब हत् संस्करण को ही अपनाया है। लक्ष्मण स्वरूप का मत है कि लघु संस्करण में ब हत् संस्करण की प्रतिलिपि तैयार करते समय अनेक पंक्तियां भूल से छूट गई हैं। परन्तु ब हत् संस्करण में भी अनेक स्थान पर परिवर्धन किया गया है।

निरुक्त आज हमें जिस रूप में प्राप्त है, उसमें १४ अध्याय है। पिछले दो अध्याय परिशिष्ट नाम से हैं। लक्ष्मणस्वरूप का मत है कि ये दोनों अध्याय बाद में जोड़े गए हैं क्योंकि इनकी शैली यास्क की शैली से भिन्न है। इसके अतिरिक्त दुर्गाचार्य ने भी केवल १२ अध्यायों पर भाष्य किया है। इससे लक्ष्मण स्वरूप यह निष्कर्ष निकालते हैं कि दुर्गाचार्य इन परिशिष्टों से परिचित नहीं थे। १२ अध्यायों के मूलपाठ के बीच में भी अनेक प्रक्षिप्त अंश माने जाते हैं।

निरुक्त का वर्ण्य विषय :-

निरुक्त के पहले तीन अध्याय नैघण्टुक काण्ड, ४-६ तक नैगम काण्ड तथा ७-१२ तक दैवत काण्ड से सम्बन्धित हैं। १३वें तथा १४वें अध्याय परिशिष्ट के रूप में हैं।

प्रथम अध्याय में भाषा के सामान्य सिद्धान्तों का विवेचन है। भाषा के चार आवश्यक तत्त्व नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपातों का विवेचन है। निरुक्त के प्रयोजनों को बताते हुए निरुक्त की उपादेयता पर प्रकाश डाला गया है। द्वितीय अध्याय में सर्वप्रथम निर्वचन के सिद्धान्त विहित किए गये हैं। इसके पश्चात् निघण्टु के क्रम से शब्दों का निर्वचन प्रारम्भ होता है। छठे अध्याय की समाप्ति तक शब्दों का निर्वचन है। सप्तम तथा अष्टम अध्यायों में देवताओं से सम्बन्धित अनेक सैद्धान्तिक पक्षों यथा देवताओं का एकत्व, द्वित्व, बहुत्व का करण, देवताओं की भक्ति आदि पक्षों पर विचार किया है। नवम अध्याय में प थ्वीस्थानी देवताओं का विवेचन है। दशम तथा एकादश अध्यायों में अन्तरिक्षस्थानी देवताओं का वर्णन है। द्वादश अध्याय में द्युस्थानी देवताओं का विवेचन है। त्रयोदश अध्याय में प्रमुख देवताओं की स्तुति के मन्त्र तथा उनकी व्याख्या दी गई है। चतुर्दश अध्याय में ऊर्ध्वमार्ग गति तथा आत्मा और महत् के नाम दिए गए हैं।

निरुक्त की भाषा शैली तथा रचना प्रकार :-

निरुक्त की शैली सूत्रात्मक है। परन्तु प्रकाशित संस्करणों में निरुक्त का पाठ सूत्रों में विभाजित नहीं है। परन्तु वाक्य बहुत छोटे-छोटे और सूत्रात्मक हैं। अनुव त्ति भी विद्यमान रहती है। अतः इस शैली को सूत्रात्मक कहना ही समीचीन है। भाषा बहुत सरल और प्रांजल है। सिद्धान्त तथा लक्षण प्रतिपादन के बाद वेदमन्त्रों के उदाहरण दिए गए हैं। वेदमन्त्रों की व्याख्या करते हुए वेदमन्त्रों में प्रयुक्त शब्दों का भी निर्वचन किया गया है।

निरुक्त की प्रमुख विशेषताएं :-

निरुक्त बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यास्क के मत अनेक आचार्यों ने अपने ग्रन्थों के उद्ध त किए हैं। निरुक्त की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं-

१ सभी वेदांगों में निरुक्त ही एक ऐसा वेदांग है जो परम्परा को मानते हुए भी तर्क को प्रमुख स्थान देता है। वैदिक शब्दों की व्याख्या में यास्क अपने आपको किसी परम्परा से जुड़ा हुआ नहीं मानते। वे सभी के विचारों को यथोचित सम्मान देते हैं और उनके मतों का उल्लेख करते हैं। शब्दों के निर्वचन में वे किसी घिसे-पिटे मत का आश्रय न लेकर सभी सम्भावनाओं पर विचारधाराओं का उल्लेख करते हैं। उदाहरणतया व त्र शब्द की व्याख्या करते हुए यास्क दो विचारधाराओं का उल्लेख करते हैं-एक तो निरुक्तों की, जो मेघ मानते हैं, दूसरी ऐतिहासिकों की जो व त्र को त्वष्टा का पुत्र मानते हैं-तत्को व त्रः? मेघ इति निरुक्ताः। त्वाष्ट्रो सुर इत्यैतिहासिकाः।

परन्तु अन्त में वे ऐतिहासिकों की बात से सहमत नहीं होते। वे व त्र को मेघ मानकर यह प्रतिपादित करते हैं कि जल और बिजली का मिश्रण होता है तब वर्षा होती है। इसीलिए उपमा के लिए ही युद्ध जैसा वर्णन किया जाता है।

अपां व ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्ष कर्म जायते।

तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति।

वेदमन्त्रों का उदाहरण देकर अपने पक्ष का समर्थन करते हुए यास्क व त्र शब्द की व्युत्पत्ति तीन धातुओं से सम्भव मानते हैं-व , व त् तथा व ध्—

व त्रो व णोतेर्वा वर्ततेर्वा वर्धतेर्वा। ''यदव णोतद् व त्रस्य व त्रत्वम्' इति विज्ञायते। 'यदवर्त्तत तद् व त्रस्य व त्रत्वम्' इति विज्ञायते।

इससे स्पष्ट है कि यास्क ने तर्क के आधार पर मन्त्रों का अर्थ तथा शब्दों का निर्वचन किया है किसी परम्परा से प्रभावित होकर नहीं। उसने इसीलिए व्याकरण प्रक्रिया को दोषयुक्त बताया है क्योंकि उसमें तर्क का स्थान नहीं होता-

विशयवत्यो हि व त्तयो भवन्ति।

२. निरुक्त ने भाषा विज्ञान के अनेक सिद्धान्तों को जन्म दिया है जिनका अनुकरण करके आधुनिक भाषा विज्ञान पनपा है। भाषा विज्ञान के जो सिद्धान्त आज अपनी शैशव अवस्था में हैं वे निरुक्त में पूर्ण रूप से विकसित हैं।

३. देवताओं के स्वरूप और आकार निर्धारण के क्षेत्र में निरुक्त का महत्त्वपूर्ण योगदान है। मन्त्रार्थों की भांति देवता के स्वरूप के विवरण में किसी परम्परा का आश्रय न लेकर तर्क का आश्रय लिया है। उदाहरणतया देवताओं के बहुत्ववाद के विषय में यास्क का कथन है कि निरुक्तों के मत में केवल तीन ही देवता होते हैं-प थ्वीस्थानक अग्नि, अन्तरिक्षस्थानक वायु तथा द्युस्थानक सूर्य। इन तीन देवों की विशालता के कारण अथवा भिन्न-भिन्न कर्म के कारण इनके ही अनेक नाम हो जाते हैं-

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः प थिवीस्थानः। वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः। सूर्यो द्युस्थानः। तासां महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति। अपि वा कर्मप थक्त्वात्।

इस प्रकार निरुक्त मुख्यतः तर्काश्रित ग्रन्थ है। वैदिक कर्मकाण्ड के युग में परम्परा से हटना और तर्क के आधार पर मन्त्रार्थ और देवताओं की व्याख्या करना भारतीय मनीषियों के स्वतन्त्र चिन्तन का परिचायक है।

यद्यपि यास्क की सभी निरुक्तियां सटीक और मान्य नहीं हैं क्योंकि कहीं-कहीं वे बहुत क त्रिम होती हैं परन्तु यास्क ने निर्वचन करने की जो विधि सुझाई है वह बहुत ही उपयुक्त और भाषा विज्ञान के क्षेत्र में अध्ययन के नये मार्ग खोलती है।

निरुक्त के भाषा वैज्ञानिक सिद्धान्त तथा उनकी समीक्षा :-

निरुक्त के रचयिता यास्क भाषा के क्षेत्र में बहुत बड़े विद्वान थे। प्रातिशाख्यों में अनेक बार अनके मतों को उद्ध त किया गया है। उन्होंने निरुक्त में जिस वैज्ञानिक रीति से भाषा के अनेक पक्षों का विश्लेषण किया है, वह न केवल उस युग की द ष्टि से अपितु आज के वैज्ञानिक युग में भी अनुपम है। यूरोप में भाषा विज्ञान का जन्म बहुत आधुनिक है। भाषा के विश्लेषण की जिन वैज्ञानिक रीतियों पर आधुनिक भाषा विज्ञान अब विचार कर रहा है, यास्क ने उन पर आज से कई हजार वर्ष पूर्व विचार कर लिया था। उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त आज के भाषा विज्ञान के सन्दर्भ में भी उतना ही महत्त्व रखते हैं जितना प्राचीन काल में। उनके द्वारा प्रतिपादित भाषा वैज्ञानिक सिद्धान्तों में से कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं -

शब्द का नित्यत्व :-

यास्क के निरुक्त से प्रतीत होता है कि भाषा के दार्शनिक पक्षों पर बहुत प्राचीन काल से विचार होना प्रारम्भ हो गया था। यास्क ने पद के चार भेद बताए हैं-नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात-'तद यान्येतानि चत्वारि पदजातानि, नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च, तानीमानि भवन्ति।' परन्तु वहां औदुम्बरायण का मत दिया गया है। जिसके अनुसार शब्दों की सत्ता केवल तब तक होती है जब तक वे मुखादि

इन्द्रिय में होते हैं, उसके पश्चात् तो शब्द नष्ट हो जाता है। यास्क इस मत में दोष प्रदर्शित करते हैं। शब्द के नष्ट हो जाने पर पद के ये चार भेद नहीं हो सकते हैं। शब्द एक साथ तो उत्पन्न होते नहीं हैं। अलग-अलग समय पर उत्पन्न होने और उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाने के कारण शब्दों का परस्पर सम्बन्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार वाक्य आदि की सत्ता भी सिद्ध नहीं हो सकती । इसके अतिरिक्त व्याकरण की प्रक्रिया जैसे धातु और उपसर्ग का मेल, प्रत्यय और प्रक ति का मेल भी सिद्ध नहीं हो सकता। ये सब शब्द के अनित्य मानने पर दोष प्राप्त होते हैं। अतः निरुक्तकार के मत में शब्द को नित्य माना जाना चाहिए क्योंकि ऐसा मानने से उपर्युक्त दोष नहीं आएंगे-

इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः तत्र चतुष्ट्वं नोपपद्यते। अयुगपदुत्पन्नानां

वा शब्दानामितरेतरोपदेशः। शास्त्रक तो योगश्च। व्याप्तिमत्त्वात्।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध :-

शब्दों के द्वारा पदार्थों का अभिधान होता है। निरुक्तकार ने इस विषय पर प्रकाश डाला है। शब्दों का व्यवहार लोक में क्यों होता है? इस विषय पर विचार करते हुए निरुक्तकार ने कहा है कि शब्द का रूप छोटा होता है अतः पदार्थों का संज्ञाकरण शब्दों के द्वारा होने से लोकव्यवहार सिद्ध होता है। जिस प्रकार मनुष्यों का अभिधान शब्दों के द्वारा होता है, उसी प्रकार देवताओं का अभिधान भी शब्दों के द्वारा हो सकता है-

शब्दस्याणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं

लोके। तेषां मनुष्यवद् देवताभिधानम्।

इससे स्पष्ट है कि यास्क के काल तक शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का सिद्धान्त तथा शब्द की अभिधान शक्ति का सिद्धान्त निर्मित हो चुके थे।

वाक्य विज्ञान :-

वाक्य विज्ञान की प्रक्रिया से यास्क पूर्णतया परिचित थे। वे वाक्य में शब्दों के परस्पर सम्बन्ध को अच्छी प्रकार जानते थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने वाक्य में प्रयुक्त होने वाले विभिन्न प्रकार के पदों के कार्य को भी भाषा शास्त्रीय द ष्टि से विश्लेषित किया है। उन्होंने उपसर्ग और निपात के कार्यों पर अर्थाभिधान की द ष्टि से प्रकाश डाला है। प्रत्येक उपसर्ग और निपात का किस अवस्था में क्या कार्य है, यह यास्क ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में विवेचित किया है।

ध्वनि सिद्धान्त :-

ध्वनि परिवर्तन के अनेक सिद्धान्तों के आविष्कार यास्क ने कर लिये थे। इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर अनेक शब्दों का निर्वचन किया गया है। इन सिद्धान्तों में प्रमुख हैं - लोप जैसे गम् धातु से गत, जग्मु आदि, वर्ण विपर्यय जैसे स ज् से रज्जु, क त् से तर्कु, वर्णागत जैसे अस् धातु से आस्थत, भ्रस्ज से भरुजा, द्विवर्ण लोप जैसे तिस्रः ऋचः से त चः आदि।

निर्वचन के सिद्धान्त :-

यास्क के निर्वचन के अनेक सिद्धान्तों का आविष्कार कर लिया था। व्याकरण प्रक्रिया को सर्वप्रथम स्थान दिया है। जिन शब्दों का निर्वचन व्याकरण प्रक्रिया से हो सके और वह प्रक्रिया अर्थ से अन्वित होती है तो सबसे पहले उसी का आश्रय लेना चाहिए-'तद् येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्यातां तथा तानि निर्ब्रूयात्। परन्तु जहां व्याकरण के नियम लागू नहीं होते हों, वहां साद श्य के आधार पर निर्वचन करना चाहिए। पूर्ण साद श्य न होने पर वर्ण अथवा अक्षर की

समानता के आधार पर निर्वचन करना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि यास्क भाषा के सन्दर्भ में साद श्य के सिद्धान्त से पूर्णतः परिचित थे। यास्क इस बात से भी परिचित थे कि भिन्न-भिन्न प्रदेशों में एक ही शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ प्रदान करता है। एक क्षेत्र में केवल धातु का ही प्रयोग होता है तो दूसरे क्षेत्र में उस धातु से बने शब्द का-'अथापि प्रक तय एकेषु भाष्यन्ते, विक तय एकेषु। क्षेत्रीय भिन्नता के आधार पर मूल धातु जिस अर्थ में प्रयुक्त हो उससे बना हुआ शब्द दूसरे अर्थ में प्रयुक्त हो सकता है।

निर्वचन के सिद्धान्त के पीछे यास्क नैरुक्तों के मूलभूत मत को मानते थे कि अधिकांश शब्द धातुज होते हैं।-'तत्र नामानि आख्यातजानि इति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च।' परन्तु यह उनका आग्रह कदापि नहीं था कि इसी सिद्धान्त से चिपके रहें। वे वस्तु की प्रक ति और कार्य देखकर भी शब्दों के निर्वचन में विश्वास रखते थे। यथा-कम्बोज शब्द की उत्पत्ति कम्बलभोज या कमनीय भोज से मानते हैं क्योंकि कम्बल भी कमनीय होता है-कम्बोजाः कम्बलभोजाः कमनीयभोजा वा। कम्बलः कमनीयो भवति।'

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यास्क पूर्ण भाषाविद् थे। भाषा विज्ञान के क्षेत्र में उसका योगदान आधुनिक वैज्ञानिक युग में भी कम नहीं किया जा सकता। उनके सिद्धान्त पूर्ण तथा प्रौढ थे।

निरुक्त तथा अन्य ग्रन्थों का सम्बन्ध :-

निरुक्त का अनेक ग्रन्थों से गहरा सम्बन्ध है। तैत्तिरीय संहिता, मैत्रायणी संहिता, काठक संहिता, ऐतरेय ब्राह्मण, कौषीतकि ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण, गोपथ ब्राह्मण आदि ग्रन्थों की उक्तियां निरुक्त में विद्यमान हैं। सामवेद के दैवत ब्राह्मण तथा निरुक्त के कुछ सन्दर्भ अक्षरशः मिलते हैं। निरुक्त की अनेक पंक्तियां सर्वानुक्रमणी,. ऋक्प्रातिशाख्य, वेदार्थ दीपिका, अथर्ववेद प्रातिशाख्य, व हद्देवता, महाभाष्य आदि ग्रन्थों में मिलती हैं। इससे सिद्ध होता है कि यास्क ने अपने से पूर्ववर्ती साहित्य का बहुत अधिक अध्ययन किया था। यास्क को भी उत्तरवर्ती आचार्यों ने बहुत सम्मान दिया है और उसके मतों का उल्लेख किया है।

यास्क का काल :-

संस्क त के अन्य ग्रन्थ तथा आचार्यों के काल की भांति यास्क का काल भी अन्धकार में है। कुछ विद्वान् यास्क को पाणिनि से भी बाद का मानते हैं। भारतीय विद्वानों में सामश्रमी तथा पाश्चात्त्य विद्वानों में जे० गोंडा तथा पाल थिमे का नाम उल्लेखनीय है जो पाणिनि को यास्क से पूववर्ती मानते हैं यास्क के पाणिनि से अर्वाचीन होने के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए जाते हैं-

१ यास्क ने पाणिनि के सूत्र 'परः सन्निकर्षः संहिता' को अक्षरशः ग्रहण किया है।

२. यास्क को पाणिनि के पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान था। वह धातु, क त्, तथा तद्धित से परिचित थे।

३. कुछ शब्दों के निर्वचन में यास्क पाणिनि के नियमों को ध्यान में रखकर लोपादि कार्य करते हैं।

४. यास्क ने 'आ' उपसर्ग के लिए 'आङ्' का प्रयोग किया है जो पाणिनि के सूत्र १.३.२० के अनुकरण पर है।

५. यास्क ने अपार्ण शब्द का प्रयोग किया है जो अप+ऋण शब्दों के योग से बना है। ऋण शब्द के योग में पाणिनि ने कहीं भी व द्धि का विधान नहीं किया है। वार्तिककार ने प्र, वत्सतर, कम्बल, वसन तथा देश के साथ ऋण के योग होने पर व द्धि का विधान किया है।

उपर्युक्त तर्कों पर यदि ध्यान से विचार किया जाए तो स्पष्ट हो जायेगा कि ये तर्क तिथि निर्धारण के सन्दर्भ में कितने दुर्बल हैं। इन तर्कों का उत्तर इस प्रकार है-

१ 'परः संन्निकषः संहिता' सूत्र यास्क और पाणिनि दोनों ने प्रयुक्त किया है। अब यह कैसे निर्णय हो कि यास्क ने पाणिनि से ग्रहण किया है। यह उल्लेखनीय है कि पाणिनि के सभी सूत्र अपने नहीं हैं। शिक्षा वेदांग के अध्याय में पहले ही बताया जा चुका है कि पाणिनि ने अनेक सूत्र अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से लिये हैं। पाणिनि के अनेक सूत्र प्रातिशाख्यों से ऋण लिये गए हैं। उच्चैरुदात्तः, नीचैरनुदात्तः, समाहारः स्वरितः आदि सूत्र प्रातिशाख्यों में उपलब्ध हैं। अतः यहां भी यह सम्भव है कि पाणिनि ने ये सूत्र निरुक्त से ही लिये हो।

२. यास्क के द्वारा पारिभाषिक शब्द जैसे धातु, क त्, तद्धित, आदि का प्रयोग किया जाना यह किसी भी अवस्था में सिद्ध नहीं करता कि इन्हें पाणिनि से लिया गया है। इस प्रकार के पारिभाषिक शब्द बहुत पहले से भाषा में विद्यमान थे। पाणिनि ने अनेक पारिभाषिक संज्ञाओं को प्रातिशाख्यों से लिया है। पाणिनि द्वारा प्रयुक्त अनेक पारिभाषिक शब्द ब्राह्मण ग्रन्थों में भी मिलते हैं। अतः यह कहना कि सभी पारिभाषिक शब्दों का निर्माण पाणिनि ने किया है, नितान्त मिथ्या है।

३. यास्क तो भाषा में प्रयुक्त शब्दों को ध्यान में रखकर चलते हें, व्याकरण के नियमों का नहीं। उनके अधिकांश निर्वचन व्याकरण सम्मत नहीं हैं। यदि गम् धातु से गत या गत्वा रूप बनता है तो म् का लोप बताना स्वाभाविक ही है। यास्क ने कहीं भी पाणिनि के सूत्र का उल्लेख नहीं किया है।

४. 'आङ्' संज्ञा को यास्क ने पाणिनि से लिया है, यह किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होता।

५. यास्क के द्वारा प्रयुक्त 'अपार्ण' को पाणिनि द्वारा छोड़ दिया जाना किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं करता है कि पाणिनि यास्क से पूर्ववर्ती थे। अनेक शब्द ऐसे हैं जो पाणिनि से पूर्ववर्ती ग्रन्थों में विद्यमान थे परन्तु पाणिनि ने उनके लिए कोई नियम नहीं बनाया है। भाषा में ऐसे अनेक प्रयोग होते हैं जिनकी ओर वैयाकरण का ध्यान नहीं जाता। अपार्ण शब्द को वार्तिककार ने भी नहीं लिया है। क्या इससे यह अर्थ लिया जाए कि यास्क कात्यायन से भी बाद का था?

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि पाणिनि को यास्क से पूर्ववर्ती मानने वाला मत निराधार है। इसके विपरीत अधिक ठोस प्रमाणों के आधार पर यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि यास्क पाणिनि से पहले के थे। कुछ तर्क इस प्रकार हैं-

१ यास्क ने अनेक व्याकरणों, जैसे-शाकटायन, गार्ग्य आदि के नाम और मत दिए हैं परन्तु पाणिनि का मत कहीं भी नहीं दिया है। पाणिनि जैसे प्रसिद्ध वैयाकरण यदि यास्क से पूर्ववर्ती होते तो यास्क उनका नामोल्लेख अवश्य करता। इसके विपरीत पाणिनि यास्क से परिचित था क्योंकि पाणिनि ने यास्कादिभ्यो गोत्रे सूत्र से यास्क शब्द की सिद्धि बताई है।

२. यास्क बहुत प्राचीन आचार्य थे। पाणिनि से अनेक पूर्ववर्ती ग्रन्थों में जैसे ऋक् प्रातिशाख्य, ब हद्देवता आदि में यास्क का नामोल्लेख है।

३. भाषा की द ष्टि से भी यास्क प्राचीन ही सिद्ध होता है। अतः यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि यास्क पाणिनि से पूर्ववर्ती थे। परन्तु उनकी तिथि के विषय में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। वे प्रातिशाख्यों से भी पहले थे।

निरुक्त के भाष्य :-

निरुक्त पर विस्त त भाष्य दुर्गाचार्य ने लिखा है। लक्ष्मण स्वरूप ने दुर्गाचार्य का समय १३वीं शताब्दी के आस पास माना है। निरुक्त की दो अन्य टीकाओं का उल्लेख है। उग्र ने निरुक्त की कोई टीका लिखी थी, इसका उल्लेख ओफ्रेक्ट ने केटेलोगस केटेलोगोरम में किया है। परन्तु इसका कोई

हस्तलेख प्राप्त नहीं हुआ है। निरुक्त पर स्कन्दस्वामी ने भी एक टीका लिखी थी, इसका उल्लेख निघण्टु के भाष्यकार देवराज यज्वा ने किया है। इस टीका का हस्तलेख प्राप्त हो गया है।

निघण्टु पर देवराज यज्वा ने भाष्य लिखा है। लक्ष्मणस्वरूप ने इसका समय १५वीं शताब्दी माना है।

छन्द वेदाङ्ग

छन्द :-

छन्दः शास्त्र बहुत प्राचीन वेदांग है। ऋग्वेद के मन्त्र ही इस बात के प्रमाण हैं कि ऋग्वेद के रचना काल में वैदिक ऋषियों को छन्दः शास्त्र का पूर्ण ज्ञान था। ऋग्वेद में छन्दों के अनेक प्रकार प्रयुक्त हुए हैं। ऋग्वेद के मन्त्रों को हम तीन मुख्य भागों में बांट सकते हैं-

१ अनुष्टुप् वर्ग के छन्द-गायत्री, अनुष्टुप्, पंक्ति, महापंक्ति, शक्वरी।

२. त्रिष्टुप्वर्ग के छन्द-त्रिष्टुप्, जगती, विराज, द्विपाद विराज।

३. प्रगाथ अथवा लयात्मक छन्द-उष्णिक्, ककुभ, ब हती, सतोब हती, अत्यष्टि।

इन छन्दों को परस्पर मिलाकर भी अनेक नये छन्द बनाए गए हैं। आर्नोल्ड ने लगभग ८८ प्रकार के छन्द ऋग्वेद में खोजे हैं। उन्होंने कहा कि वैदिक ऋषि नये से नये छन्दों की रचना में लगे रहते थे। वे एक अच्छे शिल्पी के शिल्प से अपने छन्दों की तुलना करते थे तथा ऐसा मानते थे कि नये छन्द में गाये हुए गीत से देवता अधिक प्रसन्न होते हैं।

इससे प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक काल में ही छन्दःशास्त्र का विकास हो चुका था। परन्तु छन्दःशास्त्र से सम्बन्धित ग्रन्थ हमें अधिक नहीं मिल पाये हैं। आरण्यक तथा उपनिषदों में छन्दःशास्त्र से सम्बन्धित अनेक सन्दर्भ मिलते हैं। परन्तु इसका विकसित रूप हमें सूत्र काल में ही मिलता है।

शांखायन श्रौतसूत्र :-

शांखायन श्रौतसूत्र के सप्तम अध्याय के २५, २६ तथा २७वें भाग में छन्दों की चर्चा की गई है तथा उनमें लक्षण आदि पर विचार किया गया है। इन अध्यायों में प्रगाथ छन्द का विस्त त विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त ब हती, ककुभ, सतोब हती, उष्णिक्, पुरउष्णिक, ककुप, अनुष्टुप्, जगती, त्रिष्टुप् पंच पंक्ति, भूरिक् आदि छन्दों के नाम तथा उनकी प्रमुख विशेषताएं बताई गई हैं। प्रगाथ छन्द का लक्षण बताते हुए शांखायन सूत्र में कहा गया है-'ब हती पूर्वा ककुबा सतो ब हत्युत्तरा तं प्रगाथ इत्याचक्षते।' गायत्री छन्द का लक्षण त्रिपदा कहकर किया गया है-

'त्रिपदा गायत्री'

इस विवरण से स्पष्ट होता है कि शांखायन श्रौतसूत्र के समय निश्चित रूप से छन्दःशास्त्र का विकास हो चुका था। छन्दःशास्त्र के उपदेश की बात भी शांखायन के इन सूत्रों से स्पष्ट हो जाती है-शास्त्रेषु प्रायेणायथासमाम्नातम्।

ऋक् प्रातिशाख्य :-

ऋक् प्रातिशाख्य में पिछले तीन पटलों में ऋग्वेद के छन्दों पर विचार किया गया है। यहां छन्दों से सम्बन्धित विविध पक्ष, यथा-पाद, गुरु-लघु भाव, पादों के विभाग के प्रकार, न्यूनाक्षर पादों की पूर्ति के उपाय, व्यूह, व्यवाय, अधिकाक्षर छन्द (भूरिक) आदि विषयों का विवेचन करते हुए ऋग्वेद में प्रमुख छन्दों के लक्षण आदि बताए गए हैं।

निदान सूत्र :-

सामवेद के छन्दों का विस्त त विवेचन निदान सूत्र में किया गया है। निदान सूत्र में कुल दस प्रपाठक हैं। इसे सामवेद का श्रौतसूत्र माना जाता है परन्तु इसका वर्ण्य विषय अन्य श्रौतसूत्रों से भिन्न है।

गोभिल ग ह्य-कर्म-प्रकाशिका के अनुसार निदान सूत्र कौथुमी शाखा का श्रौतसूत्र है। इस सूत्र के कुछ हस्तलेखों में इसे दस सूत्रों में त तीय सूत्र माना है-

'इति दशमः प्रपाठकः समाप्तः निदानसूत्रं समाप्तमिति। निदानं नाम त तीयं सूत्रम्।'

इस सूत्र में मुख्य रूप से सामगान में प्रयुक्त छन्दों पर विचार किया गया है। प्रथम प्रपाठक के पहले ७ खण्ड छन्दोविचिति के नाम से विख्यात हैं। इसका प्रारम्भ छन्दोज्ञान की प्रतिज्ञा के साथ ही होता है-'अथातश्छन्दसां विचयं व्याख्यास्यामः।' इस भाग में छन्दों से सम्बन्धित विविध पक्षों पर विचार किया गया है-यथा, पाद, विभिन्न छन्दों में अक्षर, ह्रस्व, दीर्घ आदि। छन्दों की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए ७वें खण्ड के अन्त में कहा गया है-

छन्दसा विचयं जानन् सः शरीराद्विमुच्यते।

छन्दसामेति सालोक्यमानन्त्यायाश्नुते।।

अन्य विषयों के बीच में भी छन्दों का विचार किया गया है। यथा प्रथम प्रपाठक के दसवें खण्ड में स्तोम में प्रयुक्त ७ मुख्य छन्दों का विचार किया गया है। इसी प्रकार १, १३; ३.४, ५, १०; ४.१, ६ आदि स्थलों में छन्द सम्बन्धी विवरण हैं। छन्दों के अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी प्रकाश डाला गया है, जो श्रौतसूत्र के विषय हैं।

निदान सूत्र के रचयिता के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इस सूत्र के कुछ हस्तलेखों में केवल 'ऋषिप्रोक्तम्' कहा गया है। कुछ हस्तलेखों में इसका रचयिता पत जलि को माना गया है। छन्दोविचित के भाष्यकार हृषीकेश ने भी इसका रचयिता पत जलि को ही माना है। अन्य कई स्थानों से भी इस मत की पुष्टि होती है कि इस ग्रन्थ के रचयिता पत जलि ही है। तातप्रसाद की तत्त्वबोधिनी व त्ति के प्रारम्भ में ये श्लोक दिए गए हैं।

विघ्नेशं भारतीमीशमाचार्यं च पतंजलिम्।

नत्वा निदानसूत्रस्य व त्तिं कुर्वे यथामति।

क्व सूत्रमतिगम्भीरं क्वैतद् व त्या नु साहसम्।

तातप्रसादः कुरुते व त्तिं तत्त्वसुबोधिनीम्।।

मद्रास के राजकीय पुस्कालय में संग हीत 'छान्दोग्य-श्रौत-प्रदीपिका' की हस्तलिखित प्रति में प्रारम्भ में द्राह्यायण आदि के साथ पतंजलि का नाम भी लिया गया है-

'द्राह्याणीय-पातंजल-वाररुचमाशकानुपसंग ह्य।'

केलेंड भी निदान सूत्र के रचयिता पतंजलि को ही मानते हैं। माधवभट्ट ने ऋग्वेदानुक्रमणी में कहा है-

सन्ति प्रगाथा बहवः प्रातिशाख्यप्रदर्शिताः।

पात जले निदाने तु द्वौ प्रगाथौ प्रदर्शितौ।

इन सब प्रमाणों से यह लगभग निश्चित ही हो जाता है कि परम्परा निदान सूत्र का रचयिता पतंजलि को ही मानती है।

परन्तु यह कहना बहुत कठिन है कि ये कौन से पंतजलि थे। एक पंतजलि महाभाष्यकार के रूप में प्रसिद्ध है, एक पंतजलि योगसूत्रकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। एक पतंजलि वैद्यक शास्त्र के निर्माता थे।

वासवदत्ता की टीका में शिव राम ने कहा है-

योगेन चित्तस्य, पदेन वाचाम्, मलं शरीरस्य तु वैद्यकेन।

यो पाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां, पतंजलिं प्रांजलिरानतो स्मि।।

समुद्रगुप्त द्वारा रचित क ष्ण चरित की प्रस्तावना में पतंजलि को इन्हीं तीन ग्रन्थों का रचयिता माना है-

विद्यायोद्रिक्तगुणतया भूमावमरतां गतः, पतंजलिर्मुनिवरो नमस्यो विदुषां सदा।।
क तं येन व्याकरणभाष्यं वचनशोधनम्, धर्मावियुक्ताश्चरके योगा रोगमुषः क ताः।।
महानन्दमयं काव्यं योगदर्शनमद्भुतम्, योगव्याख्यानभूतं तद् रचितं चित्तदोषहम्।।

उपर्युक्त उद्धरण में कथन है कि पतंजलि ने व्याकरण भाष्य तथा योगसूत्र के अतिरिक्त आयुर्वेद के ग्रन्थ चरकसंहिता में रोगमुक्त करने वाले कुछ योगों का समावेश किया था। उपर्युक्त किसी भी कथन में महाभाष्यकार पतंजलि को निदान सूत्र का रचयिता नहीं माना गया है परन्तु कात्यायन की सर्वानुक्रमणी के भाष्यकार षड्गुरुशिष्य ने पतंजलि को योगशास्त्र तथा निदान सूत्र का रचयिता तथा कात्यायन के वार्तिकों पर भाष्य लिखने वाला बताया है-

यत्प्रणीतानि वाक्यानि भगवांस्तु पतंजलिः।

व्याख्यच्छान्तनवीयेन महाभाष्येण हर्षितः।।

योगाचार्यः स्वयं कर्त्ता योगशास्त्रनिदानयोः।

एवं गुणगणैर्युक्तः कात्यायनमहामुनिः।।

परन्तु यहां यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि निदान से तात्पर्य सामवेदीय निदान सूत्र से है या निदान नाम से कोई आयुर्वेद का ग्रन्थ है। आयुर्वेद में 'निदान' शब्द का प्रयोग रोग के परीक्षण अर्थ में होता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि सामवेदीय निदानसूत्र का रचयिता पतंजलि महाभाष्य के रचयिता पतंजलि से भिन्न व्यक्ति है। महाभाष्य और निदानसूत्र की शैली की तुलना करने से प्रकट होता है कि महाभाष्यकार की शैली बहुत सरल और भाषा बहुत प्रवाहमयी है। इसके विपरीत निदानसूत्र की शैली सूत्रात्मक है और भाषा क्लिष्ट है। महाभाष्यकार पतंजलि पाणिनि के भक्त थे। परन्तु निदानसूत्र में कहीं भी पाणिनि का उल्लेख नहीं हुआ है। सन्धियों का परिगणन करते समय उन्होंने दो श्लोक दिए हैं जिनमें सन्धियों के जो नाम दिए हैं वे पाणिनि ने कहीं नहीं बताए हैं-

चत्वारि सन्धिजातानि यैश्छन्दो हसते न च।

प्रश्लिष्टमभिनिहितं क्षिप्रसन्धिरभिध्रुवम्।।

एतानि सन्धिजातानि मिमानश्छन्दसो क्षरैः।

द्वैधं कुर्यादसम्पूर्ण सम्पूर्णे कि चनेङ्गयेत्।।

यहां प्रश्लिष्ट सन्धि, अभिनिहित सन्धि, क्षिप्र आदि दिए गए हैं जिनका प्रयोग प्रातिशाख्यों में तो हुआ है परन्तु पाणिनीय व्याकरण में कहीं नहीं। इसके अतिरिक्त निदानसूत्र में कई अपाणिनीय शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इससे सिद्ध होता है कि निदानसूत्र का रचयिता पाणिनि से परिचित नहीं था।

निदानसूत्र किस काल में लिखा गया, यह एक कठिन समस्या है। निदानसूत्र में आर्षेय कल्प का उल्लेख है। यह सूत्र लाट्यायन श्रौतसूत्र के निकट प्रतीत होता है परन्तु लाट्यायन का उल्लेख कहीं भी नहीं किया गया है। लाट्यायन श्रौतसूत्र और निदानसूत्र दोनों ही एक-दूसरे से स्वतन्त्र रूप में लिखे गए प्रतीत होते हैं और दोनों के सम्मुख आर्षेय कल्प विद्यमान था।

निदानसूत्र का रचयिता यदि पतंजलि माना जाता है तो वह पतंजलि पाणिनि से पूर्ववर्ती है। गणपाठ में, जिसका उपयोग पाणिनि ने किया है, पतंजलि का नाम उपकादिगण में पढ़ा गया है। पतंजलि का काल आर्षेय कल्प तथा पाणिनि के मध्य माना जाना चाहिए।

निदानसूत्र के उपजीव्य ग्रन्थ :-

निदानसूत्र और लाट्यायन श्रौतसूत्र की तुलना करने से ज्ञात होता है कि दोनों में अनेक स्थान पर समानता है। परन्तु कहीं पर भी लाट्यायन श्रौतसूत्र का उल्लेख नहीं मिलता। आर्षेय कल्प, जिस पर लाट्यायन श्रौतसूत्र आधारित है, निदानसूत्र में उल्लिखित है। इससे प्रतीत होता है कि दोनों ही सूत्रों अर्थात् लाट्यायन तथा निदानसूत्र किसी अन्य ग्रन्थ से जो आर्षेय कल्प पर आधारित था, ग्रहण किया है। इसके अतिरिक्त निदानसूत्र पर पंचविंश ब्राह्मण का भी प्रभाव है। अनेक ऐसे स्थल हैं जो पंचविंश ब्राह्मण तथा निदान सूत्र में ज्यों के त्यों मिलते हैं।

निदानसूत्र की उपजीव्यता :-

निदानसूत्र बहुत लोकप्रिय और प्रचलित ग्रन्थ रहा है। इस बात का प्रमाण यह है कि सायण, वरदराज, धन्वी तथा अन्य भाष्यकारों ने निदानसूत्र से बहुत उद्धरण लिये हैं। सायण ने पंचविंश ब्राह्मण के भाष्य में लगभग २० स्थानों पर निदानसूत्र के मत उद्ध त किए हैं। वरदराज ने आर्षेय कल्प के भाष्य में लगभग ५० स्थानों पर निदानसूत्र का उल्लेख किया है। धन्वी ने द्राह्यायण सूत्र के भाष्य में लगभग २४ स्थानों पर निदानसूत्र से उद्धरण दिए हैं। अन्य व्याख्याकारों ने भी निदानसूत्र से उद्धरण लिये हैं।

निदानसूत्र पर भाष्य :-

निदानसूत्र का छन्दोविचिति भाग बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस पर तातप्रसाद की तत्त्वसुबोधिनी तथा हृषीकेश की टीकाएं उपलब्ध हैं।

पिंगल का छन्दःसूत्र :-

छन्दोविचिति शास्त्र के प्राचीनतम ज्ञाताओं में पिंगल का नाम सर्वाधिक सम्मान के साथ लिया जाता है। यद्यपि प्राचीन ग्रन्थों में छन्दःशास्त्र का परिशीलन हुआ है परन्तु जो वैज्ञानिकता छन्दःशास्त्र को पिंगल ने दी है वह उससे पूर्व किसी आचार्य ने नहीं दी है।

पिंगल का एकमात्र ग्रन्थ 'छन्दःशास्त्रम्' या 'छन्दःसूत्रम्' नाम से विख्यात है। व त्तिकार हलायुध ने सूत्र और शास्त्र दोनों शब्दों का प्रयोग किया है, यथा-

पिंगलाचार्यसूत्रस्य मया व त्तिर्विधास्यते।

व त्तानि मौक्तिकानीव कानिचिद्विचिनोम्यहम्।।

अपनी टीका के अन्तिम श्लोक में भी हलायुध ने छन्दः शास्त्र का ही प्रयोग किया है-

पिंगलाचार्यरचिते छन्दशास्त्रे हलायुधः।
म तसंजीवनीं नाम व त्तिं निर्मितवानिमाम्।।

पिंगल के छन्दःशास्त्र की वेदांगता :-

पिंगल के छन्दः शास्त्र में वैदिक और लौकिक दोनों ही प्रकार के छन्दों पर विमर्श किया गया है। इसलिए इसे विशुद्ध वेदांग नहीं कह सकते। परन्तु इसके उस भाग को वेदांग अवश्य माना जा सकता है जिसमें वैदिक छन्दों पर विचार किया गया है।

छन्दःशास्त्र का विषय-विश्लेषण :-

छन्दःशास्त्र कुल आठ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में सर्वप्रथम गणनिर्माण की प्रक्रिया को बताया गया है। मगण, यगण, रगण, तगण, जगण, भगण तथा नगण, ये गण बताये गये हैं। इसके पश्चात् लघु-गुरु संज्ञा बताई गई है। द्वितीय अध्याय में गायत्री छन्द के भेद बताये गये हैं यथा-एकाक्षर वाली गायत्री की दैवी संज्ञा, १५ अक्षरों वाली गायत्री की आसुरी संज्ञा आदि। आर्षी, दैवी, आसुरी, प्राजापत्या, याजुषी, सॉम्नी, आर्ची, ब्राह्मी- ये गायत्री की संज्ञाएं गिनाई गई हैं। त तीय अध्याय में गायत्री-आदि छन्दों के पाद-पूर्ण प्रकार पर विचार किया गया है। चतुर्थाध्याय में उत्क ति आदि छन्दों के लक्षण दिये गये हैं। पंचम अध्याय में 'व त्त' नाम से लौकिक छन्दों की संज्ञा, भेदादि पर विचार किया गया है। षष्ठ अध्याय में यति आदि के नियमों का विश्लेषण किया गया है इसके अतिरिक्त छन्दों के मगण, यगण आदि अक्षरक्रमों को निर्दिष्ट किया गया है। सप्तम और अष्टम अध्यायों में भी भिन्न-भिन्न छन्दों में वर्णक्रम बताया गया है।

छन्दःशास्त्र में जिन वैदिक छन्दों का विमर्श हुआ है उनमें प्रमुख हैं-अनुष्टुप्, जगती, अतिजगती, गायत्री, पंक्ति, ब हती, उष्णिक, त्रिष्टुप्, भुरिक, महापंक्ति, महाब हती, महासतो ब हती, यवमध्या, वर्धमाना, विराट् आदि। वैदिक छन्दों का विवरण केवल ६७ सूत्रों में हुआ है, शेष २११ सूत्रों में लौकिक छन्दों का।

ग्रन्थकर्त्ता का परिचय तथा काल :-

ग्रन्थकार पिंगलाचार्य नाम से प्रसिद्ध है। उसे पिंगलनाग भी कहते हैं। व त्तिकार हलायुध ने दोनों नामों का प्रयोग किया है। यह पिंगल कौन है, इस विषय में कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता। महाभारत के आदि पर्व में वर्णित जैमिनीय सर्पयज्ञ में पिंगल नाम का एक नाग बताया गया है, जो दग्ध हो गया था।

निष्टानको हेमगुहो नहुषः पिंगलस्तथा।

परन्तु यह पिंगल छन्दः शास्त्र का रचयिता प्रतीत नहीं होता। सम्भव है नग नामक कोई प्राचीन ऋषि हो जिसकी वंश-परम्परा में पैदा होने के कारण पिंगल को पिंगलनाग कहा जाने लगा हो।

षड्गुरुशिष्य की सवानुक्रमणी की टीका में पिंगल को पाणिनि का अनुज बताया गया है।

सूत्र्यते हि भगवता पिंगलेन पाणिन्यनुजेन।

शबरस्वामी ने अपने शाबरभाष्य में पिंगल तथा उसके मगण का, जिसमें तीनों अक्षर गुरु होते हैं, उल्लेख किया है-

यथा मकारेण पिंगलस्य सर्वगुरुस्त्रिकः प्रतीयेत।-शाबरभाष्य १.१५

पतंजलि के महाभाष्य में पैंगल काण्व का उल्लेख हुआ है। पुराणों में पिंगल का नामोल्लेख अनेक स्थानों पर हुआ है। वामनपुराण में सनक, सनन्दनादि अति प्राचीन आचार्यों के साथ पिंगल का स्मरण

किया गया है।

सनत्कुमारः सनकः सनन्दनः।

सनातनो प्यासुरिपिंगलौ च।। वामन पुराण १४.२५

अग्निपुराण के आठ अध्यायों में छन्दों का ही निरूपण हुआ है। वहां ग्रन्थकार ने स्वयं कहा है कि छन्दों का निरूपण पिंगल के आधार पर ही किया गया है।

छन्दो वक्ष्ये मूलजैस्तैः पिंगलोक्तं यथाक्रमम्। २.२६

पिंगल की म त्यु के विषय में पंचतन्त्र में बताया गया है कि उसे समुद्र तट पर मकर ने मार दिया था।

छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिंगलम्। पंचतन्त्र

इससे कुछ विद्वानों का विचार है कि पिंगल समुद्रतट के निवासी थे। इसके समर्थन में वे एक तर्क और देते हैं कि पिंगल के छन्दों में अपरान्तिका तथा वानवासिका नाम आये हैं। बलदेव उपाध्याय के शब्दों में तथ्यतः ये दोनों शब्द अपरान्त तथा वनवास देश के स्त्रीजनों के लिए प्रयुक्त होते हैं। अपरान्त तथा वनवास ये एक-दूसरे से संलग्न प्रान्त बम्बई प्रान्त के पश्चिम समुद्रस्थ प्रदेश कोंकण को सूचित करते हैं।

परन्तु यदि पिंगल को समुद्रतट का निवासी मान लें तो षड्गुरुशिष्य का कथन कि पिंगल पाणिनि के अनुज थे, संगत नहीं बैठता है क्योंकि पाणिनि पश्चिमोत्तर में शालातुर के निवासी माने जाते हैं। यह सम्भव है कि पिंगल शालातुर में पैदा हुए हों और बाद में समुद्रतट पर बस गये हों।परन्तु जब तक और अधिक प्रमाण सामने नहीं आते हैं तब तक केवल किंवदन्तियों पर विश्वास करके कुछ भी निर्णय नहीं लिया जा सकता। अतः यह प्रश्न अभी अनिर्णीत ही है। पाणिनि का स्थान और काल भी अभी विवादास्पद है, अतः यह समस्या अभी बनी हुई है।

पिंगल से पूर्ववर्ती आचार्य :-

पिंगल से पूर्व भी अनेक आचार्य छन्दः शास्त्र के ज्ञाता रहे हैं, इसका प्रमाण स्वयं पिंगल का छन्दः शास्त्र है जिसमें अनेक पूर्ववर्ती आचार्यों के नाम दिए गए हैं, यथा क्रौष्टुकि, यास्क, ताण्डि, सैतव, काश्यप, रात, माण्डव्य आदि। क्रौष्टुकि कोई बहुत पुराने आचार्य थे क्योंकि यास्क ने भी क्रौष्टुकि का नाम लिया है-

द्रविणोदा इन्द्र इति क्रौष्टुकिः।

निरुक्त :-

इससे स्पष्ट है कि छन्दः शास्त्र का विकास भारत में अति प्राचीन काल में ही हो गया था परन्तु दुर्भाग्य से इस शास्त्र के ग्रन्थ लुप्त हो गये हैं।

ज्योतिष वेदाङ्ग

ज्योतिष वेदांगों में सबसे अन्तिम वेदाङ्ग माना गया है। इस वेदांग को प्रारम्भ कब और किस प्रकार हुआ, कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता क्योंकि वेदांग ज्योतिष से सम्बन्धित हमें कोई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्राप्त नहीं हुआ है।

'वेदांग ज्योतिष' के नाम से केवल एक लघु आकार की पुस्तिका प्राप्त हुई है जिसके दो संस्करण हैं-ऋग्वेद ज्योतिष तथा यजुर्वेद ज्योतिष। ऋग्वेद ज्योतिष में कुल ३६ श्लोक हैं जबकि यजुर्वेद ज्योतिष में ४१ श्लोक हैं। कुछ संस्करणों में ४३ श्लोक भी मिले हैं परन्तु डॉ० साम शास्त्री द्वारा सम्पादित संस्करण, जो अधिक प्रामाणिक है, में ४४ श्लोक हैं।

ज्योतिष का भारत में प्रारम्भ :-

भारत में ज्योतिष का प्रारम्भ कब से हुआ, इस विषय में मतभेद है। पाश्चात्त्य विद्वानों की धारणा है कि भारत में ग्रीकों के सम्पर्क से ज्योतिष का ज्ञान प्राप्त हुआ। परन्तु यह धारणा बहुत भ्रामक और मिथ्या है। भारत में ज्योतिष शास्त्र इतना ही प्राचीन है जितना ऋग्वेद। ऋग्वेद में नक्षत्र शब्द का कम से कग ११ बार प्रयोग हुआ है। एक स्थान पर नक्षत्र, जो सम्भवतः चन्द्रमा के लिए प्रयुक्त हुआ है, सूर्य की किरणों के द्वारा प्रकाशित किया गया बताया गया है-

उदुस्रियाः स जते सूर्यः सचा उद्यन्नक्षत्रमर्चिवत्।

अर्थात् सूर्य सभी किरणों को एक साथ ही उत्पन्न करता है तथा उदित हुए नक्षत्र (अर्थात् चन्द्रमा) को प्रकाश से युक्त करता है। चन्द्रमा का सूर्य की किरणों के द्वारा प्रकाशित होना एक ऐसा तथ्य है जिसका ज्ञान ज्योतिष के उच्च ज्ञान के बिना नहीं हो सकता।

चन्द्रमा सूर्य के द्वारा प्रकाशित होता है, इस तथ्य का वैदिक ऋषियों को अच्छी प्रकार से ज्ञान था। वाजसनेयी संहिता में चन्द्रमा का विशेषण सूर्यरश्मि दिया गया है-**सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः**

मैक्समूलर ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि ऋग्वेद काल में वैदिक ऋषियों को ज्योतिष का ज्ञान था। उन्होंने इसके लिए ऋग्वेद का मंत्र १०.८५.२ प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया है जहां चन्द्रमा नक्षत्रों की गोद में स्थित कहा है।

अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः।

अर्थात् 'इन नक्षत्रों की गोद में सोम (चन्द्र) स्थापित कर दिया गया है।' यह मन्त्र नक्षत्रों के मध्य में चन्द्रमा की गति को सूचित करता है। मैक्समूलर ने यह भी स्वीकार किया है कि ऋग्वेद के ऋषियों को संवत्सर के १२ मास के अतिरिक्त अधिक मास का भी ज्ञान था। इसके प्रमाण में ऋग्वेद का मन्त्र १.२५.८ अवलोकनीय है-

'वेद मासो ध तव्रतो द्वादश प्रजावतः।

वेद य उपजायते।'

अर्थात् वह (वरुण) जात सत्यव्रत को धारण करने वाला है, बारह मासों को उनकी प्रजाओं सहित (अर्थात् दिनादि भागों सहित) जानता है। वह उस मास को भी जानता है जो संवत्सर में अधिक उत्पन्न हो जाता है। 'वर्ष में बारह तथा अधिक मास का ज्ञान होना उच्च वैज्ञानिक ज्ञान का परिचायक है। तेरह मास के ज्ञान की बात को तैत्तिरीय संहिता में स्पष्ट कहा गया है, जैसा कि सायण ने ऋग्वेद के २.४०.३ के भाष्य में कहा है-

'अस्ति त्रयोदशो मासः इति श्रुतेः'

तैत्तिरीय ब्राह्मण (४.५) तथा वाजसनेयी संहिता (३०.१०.२०) में नक्षत्रः तथा गण शब्दों का प्रयोग किया गया है जो ज्योतिर्विद् के पर्यायवाची हैं। छान्दोग्योपनिषद् में नक्षत्रविद्या शब्द का प्रयोग हुआ है। इससे सिद्ध होता है प्रारम्भिक वैदिक काल में ज्योतिष का पर्याप्त ज्ञान था और ज्योतिष एक विद्या का रूप ले चुका था। चरणव्यूह में न केवल ज्योतिष अपितु उपज्योतिष शब्द का भी प्रयोग हुआ है।

पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी ज्योतिष-शास्त्र के नक्षत्रादि शब्दों का प्रयोग हुआ है। गणपाठ में जहां अन्य वैदिक ग्रन्थों को गिनाया गया है वहां ज्योतिष का भी परिगणन हुआ है।

ज्योतिष शास्त्र से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थों का निर्माण हुआ होगा परन्तु आज उनमें से अधिकांशतः लुप्त हो गए हैं। चरणव्यूह के फलश्रुति खण्ड में वेदों, भारत तथा व्याकरण का आकार लक्षात्मक बताया है तो ज्योतिष का आकार चार लक्षात्मक बताया है-

लक्षं तु चतुरो वेदा लक्षं भारतमेव च

लक्षं व्याकरण प्रोक्तं चतुर्लक्षं तु ज्योतिषम्।

इससे सिद्ध होता है चरणव्यूह के काल तक ज्योतिष का विपुल साहित्य रचा जा चुका था जो इस शास्त्र की लोकप्रियता का परिचायक है। परन्तु धीरे-धीरे यह सभी साहित्य लगभग नष्ट हो गया है। संभवतः विदेशी आक्रमण इसका कारण है।

उपलब्ध 'वेदांग ज्योतिषः' छोटा-सा ग्रन्थ होते हुए भी अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएं प्रदान करता है। इसकी शैली सूत्रात्मक है। इसकी अनेक व्याख्याएं हुई हैं। प्राचीन टीकाकारों में सोमाकर प्रसिद्ध है। अनेक आधुनिक विद्वानों ने भी इस पर अपने मत प्रकट किए हैं जिनमें प्रमुख हैं-वेबर, विलियम जोंस, ह्विटनी, मैक्समूलर, शंकर बालक ष्ण दीक्षित पं० सुधाकर द्विवेदी आदि।

ऋग्वेद ओर यजुर्वेद के दोनों संस्करणों में बताया गया है कि रचनाकार को कालज्ञान महात्मा लगध से हुआ है-

कालज्ञानं प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मनः

ऋग्वेदज्योतिषः २. यजु० ज्यो० ४३

ग्रन्थकार के काल और स्थान के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। इस ग्रन्थ में विश्व की जो स्थिति बताई गई है उसके आधार पर इसका काल कुछ भारतीय विद्वानों ने १२०० ई० पू० बताया है। कुछ पाश्चात्त्य विद्वानों ने भी इसी के आस पास इसका काल माना है। यह निश्चित है कि इसकी रचना ब्राह्मण काल के बाद हुई।

सम्भवतः यह ग्रन्थ हमें पूर्णरूप में उपलब्ध नहीं हुआ। वह किसी अन्य बड़े ग्रन्थ का अंश है।

प्राचीन ज्योतिष परम्परा के आधार पर ही भारत में ज्योतिष का विकास हुआ परन्तु बाद में यूनानी और अरबी लोगों से सम्पर्क होने के बाद अनेक अतिरिक्त बातें ज्योतिष शास्त्र में जुड़ गई।

परिशिष्ट ग्रन्थ

इस अध्याय में उन ग्रन्थों का विवरण है जिन्हें किसी वेदांग विशेष की कोटि में नहीं रखा जा सकता। परन्तु इन ग्रन्थों का सम्बन्ध वैदिक संहिताओं से है क्योंकि ये उनके विषय में महत्त्वपूर्ण सूचनाएं देते हैं। अतः ये सब ग्रन्थ वैदिक साहित्य का भाग हैं।

ये ग्रन्थ प्रायः वेदांग शैली में लिखे गए हैं। ये वैदिक अध्ययन के सहायक ग्रन्थ हैं अतः ये ग्रन्थ वेदांग की कोटि में ही परिगणित होने चाहिए। परन्तु इन्हें उक्त षड्वेदांगों की कोटि में नहीं रखा जा सकता। अतः उन्हें परिशिष्ट के रूप में प थक् दिया जा रहा है। इन ग्रन्थों को हम 'उप-वेदांग' नाम दे सकते हैं।

प्रत्येक वेद से सम्बन्धित परिशिष्ट ग्रन्थ हैं जिनका विवरण इस प्रकार है-

ऋग्वेदीय परिशिष्ट ग्रन्थ :-

ऋग्वेद से सम्बन्धित अनेक परिशिष्ट ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अनुक्रमणियां हैं। अनुक्रमणियां एक प्रकार से विषय-सूचियां हैं जो तत्-तत् सहिंता से सम्बन्धित अनेक प्रकार के विवरण देती हैं। इन अनुक्रमणियों का बहुत महत्त्व है क्योंकि इनके द्वारा वैदिक संहिताओं के स्वरूप को जाना जा सकता है। ये अनुक्रमणियों वैदिक संहिताओं के विषय में जो सूचनाएं देती हैं वे सब अक्षरशः वर्तमान संहिताओं पर घटती हैं। इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि इन संहिताओं का जो स्वरूप आज विद्यमान है अनुक्रमणी काल में भी वही था। वेदों के स्वरूप को अक्षुण्ण बनाए रखने में इन अनुक्रमणियों ने बड़ा योगदान दिया है क्योंकि किसी भी प्रकार की शंका होने पर इन अनुक्रमणियों को देखा जा सकता था।

वेदों को सुरक्षित रखने में इन दो ऋषियों का महान् योगदान रहा - कात्यायन तथा शौनक। इन्होंने जहां श्रौतसूत्र आदि अनेक ग्रन्थ लिखे वहां वेदों के स्वरूप को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए सहायक ग्रन्थ भी लिखे। ऋग्वेद से सम्बन्धित कात्यायन का प्रमुख ग्रन्थ है-ऋग्वेद सर्वानुक्रमणी। शौनक ने ऋग्वेद से सम्बन्धित अनेक सहायक ग्रन्थ लिखे। चरणव्यूह के व्याख्याकार षड्गुरुशिष्य के अनुसार शौनक ने ऋग्वेद के रक्षा के लिए दस ग्रन्थ लिखे-१. आर्षानुक्रमणी, २. छन्दो नुक्रमणी, ३. देवतानुक्रमणी, ४. अनुवाकानुक्रमणी, ५. सूक्तानुक्रमणी, ६. ऋग्विधान, ७. पादविधान, ८. ब हद्देवता, ६. प्रातिशाख्य तथा १०. शौनक स्म ति।

शौनकीय प्रातिशाख्य का विवरण पीछे दिया जा चुका है। शेष ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है-

ऋग्वेद सर्वानुक्रमणी :-

यह अनुक्रमणी ऋग्वेद की सभी अनुक्रमणियों से अधिक पूर्ण और विस्त त है। इसके रचयिता कात्यायन माने जाते हैं। षड्गुरुशिष्य के अनुसार कात्यायन की सर्वानुक्रमणी से पूर्व शौनक की पांच अनुक्रमणियां विद्यमान थी। १. आर्षानुक्रमणी, २. छान्दसी अनुक्रमणी, ३. दैवती अनुक्रमणी, ४. अनुवाकानुक्रमणी तथा ५. सूक्तानुक्रमणी-

आर्षानुक्रमणीत्याद्या छान्दसी दैवती तथा।

अनुवाकानुक्रमणी च सूक्तानुक्रमणी तथा।।

यह अनुक्रमणी सूत्र शैली में लिखी गई है। इसमें कुल दस मण्डल हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भ में १२ काण्डों में परिभाषाएं वर्णित हैं। प्रथम काण्ड में ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय तथा उसकी उपयोगिता पर प्रकाश डाला गया है। प्रतिपाद्य विषय में सूक्त, प्रतीक, ऋक्संख्या, ऋषि, देवता तथा छन्दों के विषय में विवरण प्रस्तुत करने की प्रतिज्ञा की गई है-

अथ ऋग्वेदाम्नाये शाकलके सूक्तप्रतीकऋक्-

संख्यऋषिदैवतच्छन्दांस्युनक्रमिष्यामो यथोपदेशम्।।

ग्रन्थ की उपयोगिता सिद्ध करने के लिए उपर्युक्त विवरण का ज्ञान होना आवश्यक माना गया है क्योंकि ज्ञान के बिना श्रौत और स्मार्त कर्म की सिद्धि नहीं हो सकती-नह्येतज्ज्ञानम ते श्रौतस्मार्तकर्मप्रसिद्धिः। दूसरे काण्ड में ऋषि, देवता छन्द, आदि की परिभाषा दी गई है। शेष काण्डों में छन्दों के अक्षर तथा उनके लक्षणादि दिए गए हैं। ऋग्वेद के दस मण्डलों में ऋग्वेद की ऋचा, सूक्त, छन्द, देवता आदि की सूचना दी गई है।

सर्वानुक्रमणी के रचयिता कात्यायन तथा उसके काल के विषय में पहले ही प्रकाश डाला जा चुका है (देखें कात्यायन श्रौतसूत्र)। ये कात्यायन वार्तिककार कात्यायन से भिन्न हैं तथा पाणिनि से पूर्ववर्ती हैं।

आर्षानुक्रमणी :-

यह अनुक्रमणी शौनक द्वारा रचित है। यह दस मण्डलों में विभाजित है। इसमें ऋग्वेद के दस मण्डलों का विवरण है। सायण ने इस अनुक्रमणी का उल्लेख ऋग्वेद मन्त्र १.१००.१ के भाष्य में किया है।

छन्दो नुक्रमणी :-

यह भी शौनक की रचना है। यह पद्यात्मक शैली में लिखी हुई है। इसके दस मण्डल है। इस अनुक्रमणी में ऋग्वेद में प्रयुक्त छन्दों का विवरण है जैसे कि इसके पहले मन्त्र में ही प्रतिज्ञा की गई है -

ऋग्वेदगतसूक्तानां सूक्तस्थानाम चामपि।

यानि छन्दांसि विद्यन्ते तानि वक्ष्यामि सम्प्रति।।

इस अनुक्रमणी के विवरण के अनुसार ऋग्वेद में प्रयुक्त हुए गायत्री आदि छन्दों की संख्या उन्नीस बतलाई गई है।

अनुवाकानुक्रमणी :-

इस अनुक्रमणी में ४५ पद्य हैं। इसमें ऋग्वेद में आए अनुवाकों का विवरण है। इसके विवरण के अनुसार ऋग्वेद में ८५ अनुवाक, १०१७ सूक्त २००६ वर्ग तथा १०४१७ मन्त्र हैं। यह अनुक्रमणी यद्यपि परम्परा से शौनक क त मानी जाती है, परन्तु यह शौनक द्वारा रचित प्राचीन अनुक्रमणी का नवीन संस्करण प्रतीत होता है। इसके प्रारम्भिक पद्य में गणेश की वन्दना की गई है-

सर्वं कर्मसफलं यत्र तुष्टे तुष्टे न कि चत्तमहं नमामि।

विनायकं गिरिराजेन्द्रपुत्रीमहेश्वरप्रियसूनुं, घ णाब्धिम्।।

यहां शिव का पुत्र विनायक कहा गया है। इस रूप में गणेश की पूजा शौनक के काल में प्रारम्भ नहीं हुई थी। दूसरे पद्य में निश्चित रूप से यह कहा गया है कि यह अनुवाकानुक्रमणी शौनक की क पा से लिखी जा रही है-

बह्वचानां जनानां तु शौनकस्य प्रसादतः।

अनुवाकानुक्रमणी रूपः किंचित्प्रवर्ण्यते।।

इससे सिद्ध होता है कि यह शौनक की अनुक्रमणी के आधार पर पुनः लिखी गई है। मैक्समूलर को यह अनुक्रमणी प्राप्त नहीं हुई थी। उनके अनुसार यह अनुक्रमणी षड्गुरुशिष्य के समय थी परन्तु बाद में लुप्त हो गई। षड्गुरुशिष्य ने अनुवाकानुक्रमणी से उद्धरण दिए हैं।

सूक्तानुक्रमणी :-

यह भी शौनक की रचना है। इसमें ऋग्वेद के सूक्तों का विवरण है।

ऋग्विधान :-

शौनकक त ऋग्विधान में ६६ पद्य हैं। इसमें ऋग्वेद के सूक्त, वर्ग, पद या मन्त्र के पाठ से प्राप्त होने वाले लाभ वर्णित हैं।

पादविधान :-

पादविधान में ऋग्वेद के शब्दों की सूची है।

ऋग्वेदानुक्रमणी :-

वेकंट माधव के नाम से भी एक ऋग्वेदानुक्रमणी प्रकाशित है। इसमें स्वरानुक्रमणी, आख्यातानुक्रमणी, निपातनुक्रमणी, शब्दाव त्त्यनुक्रमणी, आर्षानुक्रमणी, छन्दो नुक्रमणी, देवतानुक्रमणी तथा मन्त्रार्थानुक्रमणी संकलित हैं।

ब हद्देवता :-

शौनक की रचनाओं में ब हद्देवता का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह पद्य शैली में लिखा हुआ है। इसमें आठ अध्याय हैं। इसके दो संस्करण उपलब्ध हैं- एक ब हत् संस्करण तथा दूसरा लघु संस्करण। मैक्डानल के अनुसार लघुसंस्करण ब हत् संस्करण का संक्षिप्त रूप है। ब हत् संस्करण ही मूल ब हद्देवता है। उनका यह मत दो तर्कों पर आधारित है-१. सर्वानुक्रमणी में, जो यद्यपि सूत्र शैली में लिखा गया है, ब हद्देवता के ब हत् संस्करण से अनेक पद्य उद्ध त किए गए हैं। २. तीसरे अध्याय में यद्यपि बहुत से श्लोक छोड़ दिए गए हैं परन्तु वर्गसंख्या वही है जो ब हत्संस्करण में है।

ब हद्देवता में वर्णित विषय :-

ब हद्देवता का पहला अध्याय तथा दूसरे अध्याय के २५ वर्ग परिचयात्मक हैं। इन अध्यायों में देवताओं की कोटि तथा किस मन्त्र का कौन-सा देवता है, इसके ज्ञान के लिए सामान्य सिद्धान्त निर्धारित किए हैं। मन्त्र के देवता की सामान्य पहचान यह है कि मन्त्र में प्रत्यक्ष रूप से जिस देवता का नाम आए, वही उस मन्त्र का देवता है—

प्रत्यक्षं देवतानां यस्मिंमन्त्रे भिधीयते।

तामेव देवतां विद्यान् मन्त्रे लक्षणसम्पदा।।

द्वितीय अध्याय के १६ से लेकर २५ वर्ग तक निपात, उपसर्ग, नाम, आख्यात, लिंग, सर्वनाम आदि व्याकरण सम्बन्धी विषयों पर प्रकाश डाला गया हे। भाषा वैज्ञानिक द ष्टिकोण से यह विवरण बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह विवरण इस बात का परिचायक है कि भाषा के विभिन्न घटकों का सूक्ष्म भाषा वैज्ञानिक एवं दार्शनिक विवेचन बहुत प्राचीन काल से ही भारत में प्रारम्भ हो गया था। मन्त्रार्थ को समझने के लिए किस प्रकार व्याकरण प्रक्रिया का आश्रय लेना चाहिए यह बहुत सुन्दर ढंग से वर्णित है। शब्दों के अर्थ को समझने के लिए नाना उपायों का आश्रय लेना चाहिए—

प्रधानमर्थः शब्दो हि तद्गुणायत्त इष्यते।

तस्मान्नानान्वयोपायैः शब्दानर्थवंश नयेत।।

दूसरे अध्याय के २६वें वर्ग से देवताओं का वर्णन प्रारम्भ होता है। इसमें किस सूक्त या मन्त्र का कौन सा देवता है, इसका विवरण दिया हुआ है परन्तु इसमें केवल देवताओं के मात्र नाम नहीं गिनाए हैं। इसमें वे सब आख्यायिकाएं भी दी हुई हैं जिनके सन्दर्भों में ऋग्वेद में देवताओं के स्वरूप एवं कार्यों का वर्णन किया गया है। ब हद्देवता में लगभग ४० आख्यायिकाएं वर्णित हैं। ब हद्देवता का लगभग एक चौथाई भाग आख्यायिकाओं के वर्णन में ही प्रयुक्त हुआ हैं। इन आख्यायिकाओं में प्रमुख है वासिष्ठ और लोपामुद्रा, इन्द्र का जन्म तथा वामदेव से युद्ध, उर्वशी और पुरूरवा, ऋभु और त्वष्टा, नहुष तथा सरस्वती, पणि तथा सरमा, विश्वामित्र, विष्णु तथा इन्द्र आदि। ब हद्देवता में वर्णित अनेक आख्यायिकाएं ज्यों की त्यों महाभारत में मिलती हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि ब हद्देवता में ये कथाएं महाभारत से ली गई हैं। परन्तु मैक्डानल इस मत से सहमत नहीं है।

ब हद्देवता में देवताओं के साथ ऋषियों का भी विवरण प्रस्तुत किया गया है। अन्त में देवतादि के ज्ञान के महत्त्व और उपयोगिता पर प्रकाश डाला गया है—

ब हद्देवता में निम्नलिखित आचार्यों या सम्प्रदायों का नामोल्लेख है— आध्वर्यव, आश्वलायन, ऐतर, ऐतरेयक, औपमन्यव, और्णवाभ, कात्थक्य, कौषीतकि, क्रौष्टुकि, गार्ग्य, गालव, छन्दोग, निदान, नैरुक्त, बाष्कल, ब्राह्मण, भागुरि, भाल्लवि ब्राह्मण, भाल्लवेयिश्रुति, मधुक, माठर, मुद्गल, भार्ग्यस्व, मैत्रायणीयक, यास्क, रथीतर, राथीतर, लामकायन, शाकटायन, शाकपुणि, शाण्डिल्य, शौनक तथा श्वेतकेतु।

ब हद्देवता तथा अन्य ग्रन्थ :-

ब हद्देवता में अन्य ग्रन्थों के समानान्तर सन्दर्भ उपलब्ध हैं जिससे एक का दूसरे से ग्रहण करने की सम्भावना प्रतीत होती है। ब हद्देवता में अनेक स्थलों पर देवता का वर्णन निघण्टु के समान है। उदाहरणतया ब हद्देवता १.१०६-१०६ में वर्णित अग्नि का विवरण निघण्टु ५.१.२.के समान है। निरूक्त के अनेक सन्दर्भ ब हद्देवता के सन्दर्भों से मिलते हैं। निरूक्त के लगभग ७३ सन्दर्भ ब हद्देवता के सन्दर्भों से मिलते हैं। इसी प्रकार आर्षानुक्रमणी, अनुवाकानुक्रमणी, ऋग्विधान, सर्वानुक्रमणी, भगवद्गीता,

अभिधान चिन्तामणि ग्रन्थों में भी ब हद्देवता के समानान्तर सन्दर्भ हैं।

ब हद्देवता का रचयिता तथा काल :-

ब हद्देवता का रचयिता परम्परा से शौनक माना जाता है। षड्गुरूशिष्य द्वारा गिनाई गई शौनक की दस रचनाओं में ब हद्देवता का नाम है। परन्तु मैक्डानल इसे शौनक की रचना न मानकर शौनक सम्प्रदाय के किसी अन्य आचार्य की रचना मानते हैं जो शौनक से अधिक बाद का नहीं था। अपने पक्ष के समर्थन में उनके द्वारा दिए गए मुख्य तर्क इस प्रकार हैं—१. अनेक अनुक्रमणियों में देवतानुक्रमणी ग्रन्थ निश्चित रूप से शौनक की रचना है। देवताओं का विवरण उक्त अनुक्रमणी में देने के पश्चात् शौनक पुनः उसी विषय को लिखने के लिए ब हद्देवता नामक ग्रन्थ लिखता, यह उचित प्रतीत नहीं होता है। २. ग्रन्थकर्ता ने अपने लिए सदा उत्तम पुरूष का प्रयोग किया है, जबकि शौनक का उल्लेख लगभग १५ बार यास्कादि आचार्यों के साथ नाम से किया है। उसने एक स्थान पर शौनक के साथ आचार्य शब्द का प्रयोग किया है, यथा—

नदीवद्देवतावच्च तत्राचार्यस्तु शौनकः।

नदीवन्निगमाः षट् ते सप्तमो नेप्युवाच ह।।

लेखक स्वयं अपने लिए इस प्रकार नहीं कह सकता था।

मैक्डानल के उपर्युक्त तर्क निर्णयात्मक नहीं माने जा सकते। पहला तर्क तो बहुत ही दुर्बल है। देवतानुक्रमणी लिखने के पश्चात् ब हद्देवता लिखने की आवश्यकता तो दोनों ग्रन्थों के प्रतिपाद्यविषय और नामों से ही स्पष्ट हो जाती हैं। देवतानुक्रमणी में केवल देवताओं की सूचीमात्र है, जबकि ब हद्देवता में देवताविषयक अनेक तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है। देवतानुक्रमणी शीघ्र-ज्ञान के उद्देश्य से लिखा गया संक्षिप्त सूची ग्रन्थ है जबकि ब हद्देवता में देवताओं से सम्बन्धित अनेक सिद्धान्त और आख्यायिकाओं का वर्णन है। इसका नाम 'ब हद्देवता' भी तभी सार्थक है जब 'देवतानुक्रमणी' नाम का छोटा ग्रन्थ लिखा जा चुका था। अतः प्रथम तर्क मान्य नहीं है।

दूसरा तर्क अवश्य विचारणीय है। लेखक अपने लिए स्वयं आचार्य शौनक लिखे, यह आज के सन्दर्भ में अटपटा लगता है। परन्तु यदि अन्य प्राचीन ग्रन्थों की शैली पर द ष्टिपात किया जाए तो यह बात अधिक असंगत नहीं लगती है। प्राचीन आचार्य स्वयं अपने विचारों को अपना नाम लेकर बहुधा देते थे। बौधायन कल्पसूत्र में भी काण्व बौधायन के नाम से उल्लेख हुआ है। केवल इसी बात से यह मान लेना कि बौधायन की रचना नहीं है, विद्वज्जनों को मान्य नहीं है। यही बात ब हद्देवता के सन्दर्भ में भी कही जा सकती है। जब तक कोई और ठोस प्रमाण अपलब्ध नहीं होते, इसे शौनक की रचना मानना ही उपयुक्त है।

इस रचना का शौनककृत होना अन्य बातों से भी प्रमाणित होता है। मैक्डानल स्वयं मानते हैं कि कात्यायन की सर्वानुक्रमणी में ब हद्देवता से ऋण लिया गया है। वे इस कात्यायन को पाणिनि से पूर्ववर्ती मानते हैं तथा सर्वानुक्रमणी के कात्यायन तथा कात्यायन श्रौतसूत्र के रचयिता कात्यायन के काल में अधिक अन्तर नहीं था। कात्यायन शौनक का शिष्य माना जाता है। इतने काल का अन्तराल ही नहीं था कि शौनक और कात्यायन के बीच में कोई अन्य आचार्य ब हद्देवता लिखता। इसलिए ब हद्देवता को शौनक की रचना मानने वाली परम्परा में कोई दोष नहीं है। भाषा और विषय की द ष्टि से ब हद्देवता प्राचीन कृति है, इसलिए यह शौनक की ही रचना प्रतीत होती है।

ब हद्देवता की तिथि निश्चयात्मक रूप से निर्धारित करना सम्भव नहीं है। यह रचना निश्चित रूप से यास्क के बाद की है क्योंकि इसमें यास्क के नाम का उल्लेख कई बार किया गया है। ब हद्देवता के अनेक सन्दर्भ वर्तमान निरूक्त के हैं। इसमें पाणिनि का कहीं उल्लेख नहीं है। कात्यायन

पाणिनि से पूर्व के थे। अतः कात्यायन और यास्क के बीच का काल ब हद्देवता का काल हो सकता है। मानदण्ड के अनुसार वे ब हद्देवता का समय ५००ई० पू० के बाद का तथा ३५०ई० पू० से पहले का मानते हैं। परन्तु मैक्डानल और अन्य विद्वानों के मत में बहुत अन्तर है। मैक्समूलर या मैक्डानल द्वारा निर्धारित काल तथा विन्तरनित्ज, सी० वी० वैद्य, जैकोबी, तिलक आदि विद्वानों द्वारा निर्धारित कालों में कई हजार वर्षों का अन्तर है। अतः इसी अनुपात से ब हद्देवता का काल भी बहुत प्राचीन सिद्ध होता है।

यजुर्वेदीय परिशिष्ट ग्रन्थ :-

यजुर्वेद की तीन अनुक्रमणियां उपलब्ध हैं—एक तैत्तिरीय संहिता की आत्रेयिशाखा से सम्बन्धित, दूसरी चारायणीय शाखा से सम्बन्धित, तीसरी माध्यन्दिन वाजसनेयिशाखा से सम्बन्धित। इन तीनों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

आत्रेयिशाखानुक्रमणी :-

मैक्समूलर के अनुसार इस अनुक्रमणी में न केवल आत्रेयि-संहिता अपितु आत्रेयि-ब्राह्मण तथा आत्रेयि-आरण्यक से सम्बन्धित भी सूची दी हुई है। इसमें काण्ड, प्रश्न, अनुवाक तथा कण्डिकाओं की सूचना के अतिरिक्त यज्ञ-विशेष से सम्बन्धित सभी उपलब्ध सामग्री को एकत्रित किया गया है। हमें आत्रेयी-शाखा से सम्बन्धित कोई संहिता नहीं मिली है और न ही चरणव्यूह में आत्रेयि-शाखा का उल्लेख है। यह सम्भवतः औखीय शाखा की ही कोई उपशाखा हो। इस अनुक्रमणी के अनुसार इस संहिता को वैशम्पायन ने यास्क पैंगी को दिया, यास्क ने तैत्तिरि को तैत्तिरि ने उख को तथा उख ने आत्रेय को, जिसने इसका पदपाठ तैयार किया तथा कुण्डिन ने इस पर व त्ति लिखी।

चारायणीय शाखानुक्रमणी :-

मैक्समूलर की सूचना के अनुसार इस अनुक्रमणी का नाम मन्त्रार्षाध्याय है। यह चरकशाखा की उपशाखा चारायणीय शाखा से सम्बन्धित है। इस अनुक्रमणी में संहिता का नाम यजुर्वेद काठक दिया हुआ है परन्तु यह काठकसंहिता से सम्बन्धित नहीं है।

माध्यन्दिन-वाजसनेयि-अनुक्रमणी :-

यह अनुक्रमणी वाजसनेयि की माध्यन्दिन शाखा से सम्बन्धित है। इसके रचयिता कात्यायन माने जाते हैं। इसमें ऋषि, देवता, छन्द तथा खिल का विवरण दिया हुआ है।

सामवेद के परिशिष्ट ग्रन्थ :-

सामवेद की अनुक्रमणियां लिखने का प्रारम्भ सूत्रकाल से भी पहले हो चुका था। आर्षेय ब्राह्मण में वेदगान तथा आरण्य गान के क्रम से सामवेद के मन्त्रों की सूची दी हुई है। इस प्रकार आर्षेय ब्राह्मण सामवेद की पहली अनुक्रमणी है। सामवेद की अन्य अनुक्रमणियां बहुत आधुनिक मानी जाती हैं। सामवेद के २० परिशिष्टों(हस्तलेख) के संग्रह में उन अनुक्रमणियों की संख्या ५वीं तथा छठी है।

सामगान के क्रियात्मक पक्षों के सम्बन्ध में अनेक ग्रन्थ लिखे गए जिन्हें लक्षण ग्रन्थ कहा जाता है। इनमें से कुछ प्रकाश में आए हैं। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

पुष्पसूत्र :-

सामगान में प्रयुक्त मात्रा के परिवर्तन को पुष्प कहते हैं। उसी विषय को लेकर लिखे जाने के कारण इस ग्रन्थ का नाम पुष्पसूत्र है। इस ग्रन्थ को सामप्रातिशाख्य भी कहते हैं। परन्तु विषय विस्तार की द ष्टि से इसे प्रातिशाख्यों की कोटी में नही रखा जा सकता। इसमें सामगान में होने वाले विभिन्न

परिवर्तनों जैसे स्वर परिवर्तन, गति, स्वरभक्ति आदि का वर्णन है।

सामतन्त्र :-

सामतन्त्र भी पुष्पसूत्र के समान ही सामगान के क्रियात्मक पक्षों से सम्बन्धित है। विषय की द ष्टि से सामतन्त्र तथा पुष्पसूत्र बहुत निकट हैं।

पंचविधसूत्र :-

पंचविधसूत्र की रचना भी सामगान के क्रियात्मक पक्ष को लेकर हुई हैं। यह सामगान की पांच भक्तियों से सम्बन्धित है—प्रस्ताव, उद्‌गीथ, प्रतिहार, उपद्रव तथा निधन। सामगान में तीन प्रकार के पुरोहितों की आवश्यकता होती थी—प्रस्तोता, उद्‌गाता तथा प्रतिहार। प्रस्तोता प्रारम्भ करता था जिसे प्रस्ताव कहा जाता था, उदगाता तथा उद्‌गीध गाता था तथा तीसरा प्रतिहार गाता था। प्रस्तोता पुनः उपद्दव नामक गान गाता था। इसके पश्चात् तीनों मिलकर निधन गाते थे। इन पांच प्रकार के गानों को भक्ति नाम से पुकारा जाता है। यह ग्रन्थ इन्हीं पांच भक्तियों से सम्बन्धित है, इसलिए इसे पंचविधसूत्र कहते हैं।

पंचविधसूत्र सूत्र शैली में लिखा गया है। इसमें दो प्रपाठक हैं। इस ग्रन्थ पर व ति भी उपलब्ध है परन्तु इसके अथवा इसकी पूरी व ति के रचयिता के विषय में कुछ भी ज्ञान नहीं है।

मात्रा लक्षण :-

यह ग्रन्थ सामगान में प्रयुक्त हस्व, दीर्घ, प्लुत तथा व द्धमात्राओं से सम्बन्धित है। इसमें मात्राओं के भी बहुत सूक्ष्म वर्गीकरण किए हुए हैं, यथा अर्धमात्रा, अणुमात्रा, अर्धतिस्र, अर्धचतस्र आदि। इसमें तीन व त्तियों--द्रुता, मध्यमा तथा विलम्बिता का भी वर्णन है। इसमें प्रत्युक्रम, अतिक्रम, कर्षण, स्वर गीति, काल आदि विषयों का वर्णन है। यह तीन खण्डिकाओं में विभाजित छोटा-सा ग्रन्थ है। इस पर व त्ति भी उपलब्ध है। इस ग्रन्थ के रचयिता तथा व त्तिकार के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है।

प्रतिहारसूत्र :-

उपर्युक्त ग्रन्थों के समान प्रतिहारग्रन्थ भी सामगान के क्रियात्मक पक्ष से सम्बन्धित हैं। परन्तु इसमें श्रौतसूत्र के विषय, यथा—सम्पत्सिद्धि, प्रायश्चित्त, प ष्ठानुकल्प तथा श्रौतयज्ञों में साममन्त्रों का विनियोग आदि भी वर्णित हैं। इसलिए इसे सामकल्पसूत्र का परिशेष माना जा सकता है।

यह ग्रन्थ सूत्र शैली में लिखा हुआ है। इसमें कुल १५ खण्ड हैं। प्रथम दो खण्डों में परिभाषाएं दी हुई हैं। इसका मुख्य विषय सामगान में प्रतिहार की विवेचना है। ग्रन्थ के प्रथम सूत्र में ही प्रतिहार-भक्ति की विवेचना की प्रतिज्ञा की गई है—

अथातः प्रतिहारस्य न्यायसमुद्‌देशं व्याख्यास्यामः। तीन से लेकर १० खण्ड तक ग्रामेगेयम् सामगान के नियम वर्णित हैं। ग्यारह से लेकर १४खण्ड तक आरण्यक गान के नियम हैं। १५वे खण्ड में निधन गान सम्बन्धी नियम वर्णित हैं।

प्रतिहारसूत्र का रचयिता कात्यायन माना जाता है। वरदराज ने प्रतिहार सूत्र और आर्षेयकल्प दोनों पर व त्ति लिखी है। जैसा कि उसने स्वयं कहा है उसने इस व त्ति को लिखने से पहले ब्राह्मण, कल्पसूत्र, उपग्रन्थ, निदानसूत्र तथा उनकी व्याख्याओं को अच्छी प्रकार से देखा है—

रचयति स वरदराजः प्रतिहारार्षेयकल्पयोव त्तिम्।

वीक्ष्य ब्राह्मणकल्पसूत्रोपग्रन्थनिदानतद्‌व्याख्याः।

इस व ति में अनेक प्राचीन ग्रन्थों यथा ताण्ड्य ब्राह्मण, पुष्पसूत्र, आर्षेयकल्प, द्राह्यायण, श्रौतसूत्र, आर्षेय ब्राह्मण, निदानसूत्र, क्षुद्रकल्प से उद्धरण लिये हुए हैं।

प्रतिहारसूत्र में अनेक प्राचीन आचार्यों और ग्रन्थों, सम्प्रदायों के उल्लेख हैं। यथा, अगस्त्य, अंगिरस, आत्रेय, काण्व, औशन, कौत्स, गौतम, जमदग्नि, भारद्वाज, माण्डव, मेधातिथि, वसिष्ठ, वात्स, वामदेव्य, वैखानस, वैष्णव, सौमित्र आदि।

क्षुद्रकल्पसूत्र :-

क्षुद्रकल्पसूत्र सामवेद की कौथुम शाखा का ग्रन्थ है। यह आर्षेयकल्प का ही उत्तर भाग माना जाता है। भाष्यकार श्रीनिवास ने इसे उत्तरकल्पसूत्र ही कहा है। इस प्रकार क्षुद्र शब्द का प्रयोग सम्भवतः उत्तर अर्थ में ही हुआ है।

विषय की द ष्टि से यह ग्रन्थ श्रौतसूत्र का ही भाग है। इसे आर्षेय कल्प का ही एक पूरक ग्रन्थ माना जा सकता है। यह ग्रन्थ तीन प्रपाठकों में विभाजित है। प्रपाठक अध्यायों में और अध्याय खण्डों में विभाजित हैं। इसमें कुल छह अध्याय और १६खण्ड हैं। भाष्यकार श्रीनिवास के अनुसार यह सूत्र आर्षेय कल्प का ही अविभाज्य अंग है। सम्पूर्ण आर्षेय कल्प में १७ अध्याय हैं। श्रीनिवास के अनुसार पहले ५१ अध्यायों में ज्योतिष्टोम से लेकर विश्वस जामयन तक एकाह, हीन तथा सत्र यज्ञों का वर्णन ब्राह्मणक्रम से है जबकि बाद के छह अध्यायों में ज्योतिष्टोम के प्रकरण में तथा अन्य शाखाओं में उल्लिखित षडह आदि यज्ञों तथा 'ऊह' और रहस्य यज्ञों के प्रायश्चित्त तथा क्षुद्रादि साममन्त्रों का यज्ञों में नियम वर्णित है—

आर्षेयकल्पः सप्तदशाध्यायः। तत्रैकादशभिरध्यायैः ज्योतिष्टोमादिविश्व-स जामयनपर्यन्तानि एकाहहीनसत्राणि ब्राह्मणक्रमेणोक्तानि। क्षुद्रकल्पे तु षड्भिरध्यायैः ब्राह्मणे ज्योतिष्टोमप्रकरणोक्तानां शाखान्तरोक्तानां षडहविचारादीनां ऊहरहस्ययोः प्रायश्चित्तक्षुद्रादीनां साम्नां यज्ञेषु कल्प उच्यते।

क्षुद्रकल्पसूत्र में मुख्यरूप से काम्ययज्ञ, वर्णकल्प, उभयसामयज्ञ, अग्निष्टोम, प ष्ठयज्ञ, द्वादशाह, यज्ञों का वर्णन है।

क्षुद्रकल्प के रचयिता गार्ग्य मशक, जिन्होनें आर्षेय कल्प की रचना की है, माने जाते हैं। निदानसूत्रादि बाद के ग्रन्थों में आर्षेय कल्प तथा क्षुद्रकल्प में से उद्धरण एक ही ग्रन्थ मानकर दिये हैं। इसी आधार पर डॉ० बी० आर० शर्मा दोनों ग्रन्थों का रचयिता एक ही व्यक्ति को मानते हैं। परन्तु डॉ० रामगोपाल का मत है कि क्षुद्रकल्प की शैली आर्षेय कल्प की शैली से बहुत भिन्न है। इसलिए दोनों ग्रन्थों को एक ही व्यक्ति की रचना नहीं माना जा सकता। उनके अनुसार क्षुद्रकल्प बाद की रचना है।

प्रमाणों के अभाव मे केवल अटकलों के आधार पर निश्चयपूर्ण ढंग से कुछ नहीं कहा जा सकता। इसलिए जब तक विपरीत ठोस प्रमाण नहीं मिलते है, परम्परा पर विश्वास करते हुए क्षुद्रकला को मशक गार्ग्य की रचना माना जाना चाहिए।

क्षुद्रकल्प पर श्रीनिवास का भाष्य उपलब्ध है। यह भाष्य बहुत विस्त त एवं उपयोगी है। इसमें अनेक प्राचीन ग्रन्थों से उद्धरण दिए गए हैं।

सामवेद के अन्य कुछ ग्रन्थ हैं जिन्हे उपग्रन्थ नाम से जाना जाता है। क्षुद्रकल्प, निदानसूत्रादि उपग्रन्थों की कोटि में ही रखे गए हैं।

अथर्ववेदीय-अनुक्रमणी :-

अथर्ववेदीय-अनुक्रमणी के एक हस्तलेख की सूचना मैक्समूलर ने दी है जिसे ब्रिटिश संग्रहालय में प्रो० व्हिटने ने खोजा था। यह दस पटलों में विभाजित है और अथर्ववेद के मन्त्रों को पूर्ण सूची प्रस्तुत करती है। इसका नाम ब हत् सर्वानुक्रमणी है।

अन्य परिशिष्ट ग्रन्थ :-

उपर्युक्त परिशिष्ट ग्रन्थों के अतिरिक्त और भी परिशिष्ट ग्रन्थ लिखे गए जो वैदिक वाङ्मय के

सम्बन्ध में सूचना देते हैं। इसमें से कुछ परिशिष्ट तो पूर्वरचित सूत्र ग्रन्थों के पूरक ग्रन्थ हैं। जो बात मुख्य सूत्र में वर्णित नहीं हुई उसका विवरण उस ग्रन्थ के परिशिष्ट ग्रन्थ में दिया गया। परन्तु कुछ परिशिष्ट स्वतन्त्र रूप से लिखे गए जो किसी एक वेद से सम्बन्धित न होकर सभी वेदों के विषय में सामान्य सूचना देते हैं। इस प्रकार के ग्रन्थ अब प्रायः नष्ट हो गए हैं। परन्तु एक बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अब भी उपलब्ध है जिससे चारों वेदों के विषय में सूचना मिलती है। यह ग्रन्थ है चरणव्यूह जिसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है।

चरणव्यूह :-

चरणव्यूह सूत्र शौनक की कृति मानी जाती हैं यह बहुत छोटी सी कृति है। इसमें पांच खण्ड हैं—

१. ऋग्वेदखण्ड, २. यजुर्वेदखण्ड, ३. सामवेदखण्ड, ४. अथर्ववेदखण्ड तथा ५. फलश्रुतिखण्ड।

इस ग्रन्थ में प्रत्येक वेद की शाखाओं का विवरण है। भाष्यकार महीदास ने चरणव्यूह की व्याख्या इस प्रकार की है—''वेदराशेः चतुर्विभागाच्चरण उच्यते। तस्य व्यूहः समुदायः। चतुर्वेदानां समुदायं व्याख्यास्यामः इत्यर्थः'' अर्थात् समस्त वाङ्मय के चार भागों में विभाजित होने के कारण चरण कहते हैं। व्यूह का अर्थ है, समुदाय इस प्रकार चरणव्यूह का अर्थ हुआ चार वेदों का समुदाय। एक अन्य स्थान पर चरणव्यूह की व्याख्या इस प्रकार की है—''वेदशाखापरिज्ञानार्थं चरणव्यूहसूत्रम्'' अर्थात् चरणव्यूहसूत्र की रचना वेद की शाखाओं के ज्ञान के लिए है। दूसरा अर्थ अधिक समीचीन है क्योंकि चरण का अर्थ शाखा होता है।

शाखाओं के ज्ञान के अतिरिक्त चरणव्यूह में अन्य सूचनाएं भी दी गई हैं। उदाहरणतया यजुर्वेद के परिशिष्ट ग्रन्थों की गणना कराई गई है जो इस प्रकार हैं—यूपलक्षण, छागलक्षण, प्रतिज्ञा, अनुवाकसंख्या, चरणव्यूह, श्राद्धकल्प, शुल्वक, पार्षद, ऋग्यजूंषि, इष्टकापूरण, प्रवराध्याय, उक्थशास्त्र, क्रतुसंख्या, निगमा, यज्ञपार्श्व, होत्रक, प्रसवोत्थान, कर्मलक्षण। अथर्ववेद के पांच कल्प बताए हैं—नक्षत्रकल्प, विधानकल्प, विधिविधानकल्प, संहिताकल्प तथा शान्तिकल्प। उपर्युक्त परिशिष्टों के कुछ हस्तलेख विद्यमान हैं। चरणव्यूह पर महीदास का भाष्य उपलब्ध है।

कल्पसूत्रों के परिशिष्ट :-

प्रत्येक वेद की शाखा के अनुयायी बहुत बाद के काल तक अपनी शाखा की परंपरा सुरक्षित रखते आए थे। उन्होंने परिस्थिति तथा काल के अनुसार होने वाले परिवर्तनों के अनुसार यज्ञ पद्धति में भी कुछ परिवर्तन तथा परिवर्धन किए। इन सब अतिरिक्त विषयों का समावेश पूरक ग्रन्थों के रूप में हुआ! ये पूरक ग्रन्थ ही परिशिष्ट कहलाए। कल्पसूत्र के सम्बन्धित अंगो के साथ इन्हें जोड़ा गया। इन परिशिष्टों का उल्लेख सम्बन्धित कल्पसूत्रों के प्रसंग में किया गया है।

कल्पसूत्र से सम्बन्धित पद्धति और प्रयोग नामक ग्रन्थ भी लिखे गए। पद्धति ग्रन्थों में यज्ञ के सैद्धान्तिक पक्षों को समझाया गया जबकि प्रयोग ग्रन्थों में यज्ञ के क्रियात्मक पक्ष को स्पष्ट किया गया। कुछ पद्धतिग्रन्थ उल्लेखनीय हैं—केश स्वामी द्वारा रचित बौधायन पद्धति, अग्निष्टोम पद्धति, याज्ञिकदेव द्वारा रचित कात्यायन पद्धति, भावदेवकृत छन्दोग पद्धति, हरिहरकृत अन्त्येष्टि पद्धति, अथर्वणीय पद्धति, नारायणकृत शांखायन श्रौतसूत्र पद्धति। प्रयोग ग्रन्थों में उल्लेखनीय हैं—रुद्रदेव कृत आध्वर्यवम्, ब्रह्मत्वम्, आपस्तम्ब स्मार्तप्रयोग, वेंकटेशकृतप्रयोगमाला, नारायण भट्ट कृत प्रयोगरत्न, तालव न्तनिवासिकृत प्रयोगव त्तियां आदि।

ये ग्रन्थ यद्यपि वेदांग की कोटि में नहीं आते परन्तु वैदिक परम्परा को आगे बढानें में इन्होनें महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है, अतः इनका वेदांग के सहायक ग्रन्थों के रूप में प्रमुख स्थान है।

Unit-III
वैदिक अध्ययन विवरण

वेदभाष्य की आवश्यकता :-

भारतीय परम्परा के अनुसार वेद ईश्वरीय ज्ञान है। इस ज्ञान को हमारे प्राचीन ऋषियों ने एकाग्र चिन्तन की अवस्था में पाया था। मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने जिन मन्त्रों को पाया था, वे न तो सर्वसाधारण की कविता हो सकते हैं, न गड़रियों के गीत, न साधारण कथा, न उपन्यास या मनोरंजन-सम्बन्धी साहित्यस्वरूप।

वेदों के किसी वर्ण, मात्रा या स्वर में भी परिवर्तन न आने पाए, इसकी रक्षा के लिए पदपाठ, क्रमपाठ और संहिता-पाठ मन्त्रों के दे दिये गये हैं। इससे वेद की भाषा संस्क त या अन्य भाषाओं से भिन्न हो गई है। यह भाषा अन्य भाषाओं से अत्यन्त क्लिष्ट है। सैकड़ों वर्षों तक वेदों की रक्षा कण्ठ-परम्परा और श्रुति-परम्परा से होती रही, इसी कारण वेदों को ''श्रुति'' भी कहा जाता है।

उपर्युक्त कथन से यह बात स्पष्ट होती है कि वैदिक मन्त्रों के अर्थ सभी मानवों के लिए सरलता से बोधगम्य नहीं हैं। वेदों के मन्त्रों के अर्थों एवं भावों को बोधगम्य बनाने के लिए ही भाष्यों एवं विभिन्न टीका-टिप्पणियों की आवश्यकता है। इसी आवश्यकता के कारण हम ब्राह्मण ग्रन्थों से आधुनिक काल तक के भाष्यकारों की एक दीर्घ परम्परा पाते हैं।

वेदभाष्य की इस आवश्यकता को हम आचार्य यास्क के निरूक्त में इस प्रकार से उल्लिखित पाते हैं :-

''साक्षात्क तधर्माण ऋषयो बभूवुः। ते अवरेभ्यो असाक्षात्क तधर्मेभ्य उपदेशेन मन्त्रान्सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तो अवरे बिल्मग्रहणायेनं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदांगानि च।

यास्काचार्य के इस वचन के अनुसार वैदिक भाष्यकारों के पूर्व वैदिक अध्ययन का क्रम क्रमशः तीन स्थितियों से गुजरता है। सर्वप्रथम, मन्त्रों के साक्षात्कर्ता ऋषि हुए, तत्पश्चात् असाक्षात्कर्ता ऋषि हुए, जिन्हें साक्षात्कर्ता ऋषियों ने उपदेश दिया। तीसरी स्थिति में ऋषि न तो मन्त्र द्रष्टा थे, और न ही साधारण उपदेश से इन मन्त्रों को समझ ही सकते थे, इसीलिए मन्त्रों के अर्थों को समझने के लिए वेदांगों की सविस्तार रचना की गई। इस प्रकार, स्पष्ट है कि मन्त्रों को समझने के लिए प्रारम्भ से ही विविध प्रकार का प्रयास चला आ रहा है।

इसी प्रयास के फलस्वरूप वेद के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए अथवा उसके निगूढ़ तत्त्वों की विव त्ति के लिए भाष्यों की रचना हुई है। वेदों का प्रणयन होने के पश्चात् उनके सम्यक् अर्थावबोध या ज्ञान प्राप्ति के निमित्त विभिन्न ग्रन्थों का निर्माण हुआ। ब्राह्मण ग्रन्थ भी एक प्रकार से वेदार्थ अवबोध के प्रधान साधन के रूप में विख्यात हैं, क्योंकि इनमें वेदों में प्रतिपादित यज्ञों की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। 'निरुक्त' को भी वेद व्याख्या के क्षेत्र में महनीय प्रयास कहा जा सकता है। उसमें ब्राह्मणों में निर्दिष्ट विभिन्न शब्दों की व्याख्या की गयी है तथा वैदिक मन्त्रों-विशेषतः ऋग्वेद के मन्त्रों तथा मन्त्रखण्डों की आनुपूर्वी क्रम से व्याख्या की गयी है। यास्क ने अपने पूर्ववर्त्ती समग्र ज्ञात साधनों का

उपयोग कर निरुक्त की रचना की थी। न केवल निरुक्त, अपितु अन्य सभी वेदांग भी वेदार्थ-अनुशीलन की द ष्टि से महार्घ साधन के रूप में प्रतिष्ठित हैं। शिक्षा, निरुक्त और व्याकरण के सम्मिलित योग का उपयोग कर सायणाचार्य ने वेदार्थ के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान हमें दिया है। वेदों के अनुशीलन की द ष्टि से प्रातिशाख्य ग्रन्थों का कम महत्त्व नहीं है। इनमें ध्वनिशास्त्रीय विषयों का सम्यक् निरूपण करते हुये सन्धि, अवग्रह तथा दीर्घीकरण का इस प्रकार विवेचन किया गया है जिससे कि वेद मन्त्रों के पद-पाठ तथा पद-स्वरूप निर्धारण में पर्याप्त सहायता प्राप्त होती है। इसी प्रकार वेदों के अनुशीलन की द ष्टि से अनुक्रमणी ग्रन्थों की उपादेयता भी असंदिग्ध है। इनमें वैदिक ऋषियों, छन्दों, देवताओं एवं सूक्तों की सूची प्रस्तुत कर इस दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रयास किया गया है। शौनक-रचित 'ब हद्देवता' की रचना श्लोकों में हुई है तथा इसमें ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्त के देवताओं का निर्देश, देवतातत्त्व की भूमिका, निरुक्त विषयक विवेचन एवं यत्र-तत्र देवताओं से सम्बद्ध आख्यानों का उल्लेख है। इसी क्रम में कात्यायनक त सर्वानुक्रमणी, की महत्ता और उपयोगिता पर भी विचार किया जा सकता है। इसमें ऋग्वेद से सम्बद्ध सूक्त के प्रथम पद, ऋचाओं की संख्या, सूक्तों के ऋषि, उनके नाम और गोत्र तथा मंत्रों के देवता और छन्दों के नाम निर्दिष्ट हैं। ये सभी प्रयत्न वैदिक अनुशीलन की द ष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और महार्घ हैं तथा भावी भाष्यकारों के लिए उपजीव्य ग्रन्थ के रूप में समाद त हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थ :-

वेदों के भाष्य का सर्वप्रथम प्रयास हम ब्राह्मण ग्रन्थों में पाते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों का यह प्रयास प्रत्यक्ष रूप लिए हुए नहीं है। प्रत्यक्ष रूप से तो ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों में प्रतिपादित यज्ञविधियों का विस्तार से वर्णन करते हैं। विद्वानों ने विषय प्रतिपादन की द ष्टि से ब्राह्मण ग्रन्थों के चार भाग किये हैं - विधि भाग, अर्थवाद भाग, उपनिषद् भाग और आख्यान भाग।

विधिभाग में मुख्यतः कर्मकाण्ड सम्बन्धी विधि विधानों का विस्तार से वर्णन है। वेद मन्त्रों की अर्थ मीमांसा और वैदिक शब्दों की निष्पत्ति इसी भाग में निरूपित है। ब्राह्मण ग्रन्थों द्वारा वैदिक शब्दों की इस निरुक्ति परम्परा में ही वेद भाष्यों की परम्परा के बीज तत्त्व को देखा जा सकता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध प्राचीन ऋषिवंशों, आचार्य परम्पराओं तथा राजवंशों के आख्यानों ने भी तत्कालीन इतिहास बोध के माध्यम से अर्वाचीन आचार्यो को वेदभाष्य करने का मार्ग दिखाया था।

ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित अर्थवाद ने वैदिक संहिताओं में प्रतिपादित क्रियाकलापों के प्रयोजन और उनकी सांस्क तिक प ष्ठभूमि से परिचित कराया। उपनिषद् भाग ने वेद में प्रतिपादित अध्यात्म को विस्त त रूप से समझाने का यत्न किया है।

इस प्रकार यज्ञीय विधि विधानों का वर्णन करते हुए वैदिक शब्दों की निरुक्ति, आख्यान परक तत्कालीन इतिहास, विधि विधानों की प्रयोजनमूलक सांस्क तिक प ष्ठभूमि तथा औपनिषदिक अध्यात्म के ब्राह्मण ग्रन्थीय प्रतिपादन में परोक्षतः उपलब्ध वेद भाष्य परम्परा का उद्‌भव देखा जा सकता है। यूनिट-२ में ब्राह्मण ग्रन्थों के इतिहास और वर्ण्यविषयादि के विषय में विस्तार से लिखा जा चुका है, अतः पुनः उन्हीं विषयों का पिष्टपेषण उचित नहीं है।

कल्पसूत्र :-

यूनिट-२ में ही वेदांग, साहित्य के विवरण में कल्पसूत्र साहित्य का विस्त त विवेचन कर दिया गया है। यहाँ तो वेदभाष्य की परम्परा में कल्पसूत्र साहित्य की भूमिका के विषय में संक्षिप्त रूप से कुछ लिखा जा रहा है।

जैसा कि आप पूर्व में पढ़ चुके हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञादि विधानों का जो प्रौढ और विस्त त रूप प्राप्त होता है, कालान्तर में उसे क्रमबद्ध और व्यवस्थित करने की आवश्यकता के फलस्वरूप ही

कल्प साहित्य का जन्म हुआ। वेदविहित कर्मों की क्रमपूर्वक कल्पना करने वाले शास्त्र को ही कल्प कहा जाता है। कल्पसूत्र साहित्य में प्रत्यक्षतः वेद भाष्य अथवा वेद भाष्य पद्धति विषयक विवरण तो उपलब्ध नहीं होता किन्तु यह सूत्र साहित्य ब्राह्मण ग्रन्थों के इतस्ततः फैले हुए भिन्न-भिन्न और विस्त त विषयों क्रमिक रूप से व्यवस्था प्रदान करने के कारण यह वेद भाष्य करने में अत्यन्त उपयोगी सहायक साहित्य है। वस्तुतः कल्पसूत्र साहित्य के बिना ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित वैदिक विधि-विधानों को समझना सम्भव नहीं है और बिना इनका स्वरूप समझे वेद का उचित भाष्य करना भी सम्भव नहीं है। यह साहित्य एक प्रकार से ग ह्य और श्रौत कर्मों की सूची और विषयादि का क्रमिक और व्यवस्थित सूत्र शैली में वर्णन करने के द्वारा वेद भाष्य के लिए अनुक्रमणी साहित्य के समान ही अथवा उससे अधिक उपयोगी है। कल्पसूत्र साहित्य के प्रणेता ऋषियों ने भारत के तत्कालीन धार्मिक, आध्यात्मिक और समाजिक जीवन के नियमन में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। यह साहित्य विविध वैदिक कर्मों को व्यवस्थित रूप में निबद्ध करने के कारण वेदभाष्य के इतिहास में परोक्षतः ही सही किन्तु महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

निरुक्त :-

वेद के भाष्य का सबसे पहले व्यवस्थित प्रयास हमें आचार्य यास्क के निरुक्त में देखने को मिलता है। वेदांग, भाग के अन्तर्गत निरुक्त के विषय में यद्यपि पर्याप्त लिखा जा चुका है तथापि पारम्परिक वेदभाष्यों और उनकी पद्धतियों के इस सर्वेक्षण के अन्तर्गत वेदभाष्य परम्परा में निरुक्त के महत्त्व को देखते हुए कुछ पक्षों पर विचार आवश्यक है।

वेदांगों में चौथा स्थान पाने पर भी निरुक्त अपनी कई विशेषतायें रखता है। इसमें मुख्यतया वैदिक शब्दों के अर्थ जानने की प्रक्रिया बतलाई जाती है, जैसा कि सायण ने इसका लक्षण अपने ऋग्वेदभाष्य की भूमिका में किया है - 'अर्थज्ञान के लिए स्वतंत्र रूप से जहा पदों का समूह कहा गया है वही निरुक्त है।' अर्थ चूँकि शब्द के अन्तरंग से सम्बन्ध रखता है अतएव यह कहना कदाचित् अनुचित न होगा कि अन्य वेदांग जहाँ वेद के बहिरंग से ही संबंध रखते हैं, निरुक्त उसके अन्तरंग से संबद्ध है। अन्य वेदांग प्रायः सूत्रों में हैं, किन्तु निरुक्त भाष्यशैली के गद्य में है, जिससे अर्थावगम में बड़ी सहायता मिलती है। निरुक्त स्वयं निघण्टु-नामक वैदिक-कोश का भाष्य है तथा यास्क का लिखा हुआ है। निघण्टु में शब्द केवल गिना दिये गये हैं जो प्रायः अमरकोश की शैली में है। इन्हीं शब्दों पर यास्क ने अपना विशेष ध्यान रखा है तथा उनके अर्थ तक पहुँचने की चेष्टा की है। अर्थज्ञान के लिए वे उस शब्द से सम्बद्ध धातु तथा उसके अर्थ का आश्रय लेते हैं। यही निरुक्त की आधार-शिला है। निघण्टु के पाँच अध्यायों की व्याख्या यास्क ने बारह अध्यायों में की है तथा पीछे दो अध्याय परिशिष्ट के रूप में जोड़े गये हैं।

निघण्टु तथा निरुक्त :-

ऊपर कहा जा चुका है कि निरुक्त में यास्क ने निघण्टु में गिनाये गये वैदिक शब्दों की व्याख्या की है। इस द ष्टि से निघण्टु बहुत महत्त्वपूर्ण है। डॉ. लक्ष्मणसुरूप निघण्टु के विषय में कहते हैं कि निघंटु की रचना कोश-रचना के अभी तक के सभी ज्ञात प्रयासों में प्रथम है, भारत में तो यह कोश-साहित्य के आरम्भ का ही द्योतक है।' साहित्य में जितने बिखरे हुए शब्द हैं उन्हें एकत्र करके एक नियम से सजा देना उस प्राचीन-काल के लिये नई ही वस्तु थी। यह सत्य है कि निघंटु वैदिक शब्दों का पूर्ण कोश नहीं - इसमें किसी भी वेद के सारे शब्द गिनाये नहीं गये, तथापि कोश-रचना के तात्कालिक सिद्धान्त को देखने पर उसे पूर्ण ही कहना पड़ेगा।

जिस निघण्टु पर यास्क ने भाष्य की रचना की है वह पाँच अध्यायों में बँटा है। प्रथम तीन अध्याय नैघण्टुक-काण्ड कहलाते हैं और इनके शब्दों की व्याख्या यास्क ने निरुक्त के द्वितीय तथा त तीय अध्यायों में की है। निघण्टु के इन अध्यायों में कुल १३४० शब्द परिगणित हैं जिनमें केवल २३०

शब्दों की ही व्याख्या यास्क ने इन अध्यायों में की है। इन १३४० शब्दों में पर्यायवाची शब्द संग हीत हैं जैसे - प थिवी के २१ पर्याय-शब्द, ११ 'जलना' अर्थवाली क्रियायें, १२ 'बहुत' के पर्याय आदि। इसकी रचना ठीक अमर-कोश की शैली में ही हुई है। यद्यपि इनमें कई शब्द वैदिक साहित्य भर में नहीं आये हैं किन्तु वैदिक वाङ्मय का अधिकांश विनष्ट हो जाने के कारण हम ऐसा नहीं कह सकते। तथापि यह कहने में कोई आपत्ति नहीं कि कितने शब्द ऐसे भी हैं तो निघण्टु में जिस अर्थ में गिनाये गये हैं, वेदों में उसी अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुए हैं। यही कारण है कि अब कट्टर पण्डितों को भी निघण्टु की प्रामाणिकता में सन्देह होने लगा है। प्रो. राजवाड़े ने आलोचनात्मक द ष्टि से निघण्टु पर विचार करते हुए लिखा है कि तीनों अध्यायों में कई उत्तर-वैदिक शब्द हैं। इनकी गणना भी उन्होंने करा दी है। इन अध्यायों में प्रायः सुबन्त-शब्द प्रथमा एकवचन में तथा क्रिया-पद वर्तमानकाल के प्रथमपुरुष एकवचन में निर्दिष्ट हैं।

निघण्टु के चतुर्थ-अध्याय में तीन खण्ड हैं जिनमें क्रमशः ६२, ८४ तथा १३२ पद - अर्थात् कुल २७८ पद हैं। ये किसी के पर्याय नहीं, सभी शब्द स्वतन्त्र हैं। तीनों खण्डों की व्याख्या यास्क ने निरुक्त के चतुर्थ, पंचम तथा षष्ठ अध्यायों में की है। इस अध्याय को नैगम या ऐकपदिक - काण्ड भी कहते हैं। इस काण्ड के शब्द प्रायः सन्दिग्ध और कठिन हैं। डा. बेलवलकर कहते हैं - 'निघण्टु नामक वैदिक-शब्दों की सूची के चतुर्थ अध्याय को, जिस पर यास्क ने निरुक्त नाम की व्याख्या लिखी है, एकपदिक कहते हैं क्योंकि इसमें अज्ञात या सन्दिग्ध मूलवाले २७८ शब्द गिनाये गये हैं।' इस काण्ड की व्याख्या आरम्भ करते हुए यास्क भी कहते हैं - 'अथ यानि अनेकार्थानि एकशब्दानि तानि अतो नुक्रमिष्यामः। अनवगतसंस्काराँश्च निगमान्। तत् 'ऐकपदिकम्' इत्याचक्षते' (नि. ४।१)। इससे निष्कर्ष निकलता है कि ये नाम स्वतन्त्र हैं तथा अनेक अर्थ धारण करते हैं, स्वयं किसी के पर्याय नहीं। किन्तु साथ ही साथ इसकी बनावट का पता लगाना भी कठिन है, इसिलिये इन्हें एकपदिक-निगम (उदाहरण या प्रयोग) कहते हैं। इस काण्ड के शब्द भिन्न-भिन्न रूपों और विभक्तियों में हैं। राजवाड़े के अनुसार एक 'व न्दं' को छोड़कर इस अध्याय के सभी शब्द वैदिक हैं।

निघण्टु का प चम या अन्तिम अध्याय दैवत-काण्ड के नाम से विख्यात है। इनके छः खण्डों में क्रमशः ३, १३, २६, ३२, ३६ तथा ३१ पद हैं जो भिन्न-भिन्न देवताओं के नाम हैं। ये भी पर्याय नहीं, स्वतन्त्र हैं, किन्तु इनमें विशेषता यही है कि इन नामों के द्वारा देवताओं की स्तुति प्रधानतया की जाती है। इन खण्डों के शब्दों की व्याख्या यास्क ने निरुक्त के सातवें अध्याय से बारहवें अध्याय तक की है। एक-एक खण्ड की व्याख्या एक-एक अध्याय में हुई है। चूँकि इन अध्यायों में यास्क को पर्याप्त स्थान मिला है अतएव देवताओं के विषय में यास्क ने पूर्ण प्रकाश डाला है। निघण्टु की व्याख्या यद्यपि बारहवें अध्याय में समाप्त हो जाती है किन्तु बाद के किसी लेखक ने दैवत-काण्ड को इस परिशिष्ट के रूप में जोड़कर कुल चौदह अध्याय बना दिये हैं। दैवत-काण्ड के इस परिशिष्ट में देवताओं और यज्ञों के विषय में लिखा है तथा प्रसंगतः कतिपय दार्शनिक विषयों का भी विवेचन है। इसकी शैली भी निरुक्त से बिलकुल मिलती-जुलती है। इस दैवतकाण्ड पर ही वैदिक धर्म और संस्क ति का इतिहास अवलम्बित है क्योंकि वैदिक-देवतावाद पर आलोचनात्मक-द ष्टि से विचार करने वाला कोई भी ग्रन्थ निरुक्त से प्राचीन नहीं। यहीं हम किसी जाति की अपने धर्म के विषय में चिन्तन की प्रथम किरणें पाते हैं।

यास्क ने निरुक्त में निघण्टु के सभी शब्दों की व्याख्या नहीं की है - यह ऊपर की उक्ति से स्पष्ट है। पर्यायवाची शब्दों वाले अध्यायों में तो पूरे पर्याय के समूह (जैसे 'उदक' के १०० नामों) में से केवल किसी एक (जैसे 'उदक') शब्द की व्याख्या करके ही आगे बढ़ जाते हैं। फिर भी यह तथ्य है कि केवल निघण्टु के शब्दों का ही निर्वचन उन्होंने नहीं किया, प्रसंगतः आये हुए कितने ही अन्य शब्दों का भी निर्वचन किया है, जिनमें बहुत-से संस्क त-भाषा (वैदिक नहीं) के भी शब्द हैं। डा. सिद्धेश्वर वर्मा की गणना के अनुसार निरुक्त में कुल १२६८ निर्वचन हैं। जहाँ से निघण्टु के शब्दों की

व्याख्या आरम्भ होती है उसके पूर्व यास्क ने अपने शास्त्र में प्रवेश करनेवालों के लिये बहुत ही विस्त त भूमिका लिखी है। निघण्टु के प्रथम शब्द 'गो' की व्याख्या निरुक्त में द्वितीय अध्याय के द्वितीय-पाद से आरम्भ होती है। तब तक का अंश अर्थात् पूरा प्रथम अध्याय और द्वितीय अध्याय का प्रथम पाद केवल भूमिका ही है जिसमें पद के भेद, शब्दों का धातुज-सिद्धान्त, निरुक्त की उपयोगिता, निर्वचन के नियम आदि विभिन्न उपयुक्त विषयों पर विचार किया गया है। यही दशा दैवत-काण्ड के आरम्भ में भी है। वैदिक देवताओं के नामों का निर्वचन करने के पूर्व यास्क सप्तम अध्याय में भूमिका के रूप में देवताओं के स्वरूप, भेद, स्वभाव आदि का विश्लेषण कर लेते हैं। भाष्य की भूमिका लिखने की इसी प्रणाली का अनुसरण पत जलि ने महाभाष्य में किया है।

महाभाष्य की शैली निरुक्त की शैली से बहुत कुछ मिलती है। दोनों में ही छोटे-छोटे वाक्यों का तथा समासरहित शब्दों का प्रयोग हुआ है। किन्तु यास्क के शब्द बहुत स्थानों पर सन्देहास्पद तथा आधुनिक संस्क तज्ञ के लिये क्लिष्ट हैं। कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग है जिन्हें पीछे दूसरे अर्थ में लिया गया। 'कर्म' शब्द का मतलब है 'अर्थ', जैसे 'गतिकर्मा धातुः' = 'गति' अर्थवाली धातु। इसी तरह 'उपेक्षा' का अर्थ है - समीप जाकर परीक्षा करना (दुर्गाचार्य), देखना आदि। पीछे चलकर इसका अर्थ 'तिरस्कार' हो गया। सप्तम अध्याय में 'आशीर्वाद' का अर्थ है 'कामना'। इस प्रकार कितने ही शब्द अज्ञात और अप्रत्याशित अर्थों में प्रयुक्त हैं, इस द ष्टि से यास्क का अध्ययन अर्थविज्ञान के लिए बड़ा ही उपयोगी है।

इस प्रकार की व्याख्या द्वारा यास्क ने निघण्टु की महत्ता प्रायः बढ़ा दी है, क्योंकि यास्क के द्वारा प्रदर्शित मौलिकता होने पर भी निरुक्त की प ष्ठभूमि तो निघण्टु ही है। इस स्थान पर इन दोनों के ऐतिहासिक-पक्ष का विश्लेषण करना आवश्यक है।

यह बात निर्विवाद सत्य है कि निघण्टु अनेक थे। प्रत्येक में वैदिक शब्दों का कोश था जो संकलन करने वाले की इच्छा के अनुसार अपनी विशेषता लिये हुए था। वर्तमान निघण्टु के अलावे यास्क ने स्वयं एक अन्य निघण्टु का संकेत किया है। यास्क के १।२० के उद्धरण से सिद्ध होता है कि निघण्टु व्यक्तिवाचक शब्द नहीं, किन्तु जातिवाचक है। वे कहते हैं कि जिसमें निम्नलिखित चार बातें हों वही निघण्टु है - (१) समानार्थक धातुओं का संग्रह (एतावतः समानकर्माणो धातवः), (२) एक ही अर्थ वाले भिन्न शब्दों का संग्रह (एतावन्ति अस्य सत्त्वस्य नामधेयानि), (३) कई अर्थों वाले शब्दों का संग्रह (एतावतामर्थानाम् इदमभिधानम्) और (४) देवताओं के प्रधान तथा गौण नामों का संग्रह (नैघण्टुकमिदं देवतानाम्, प्राधान्येन इदम्, तदन्यदैवते मन्त्रे निपतति नैघण्टुकं तत्)। प्रो. राजवाड़े तीसरे लक्षण को वर्तमान निघण्टु से मिलते हुए न पाकर अनुमान करते हैं कि इन लक्षणों से युक्त भी एक निघण्टु था। वस्तुतः ऐकपदिक-काण्ड में ऐसे शब्दों का संग्रह है जो कई अर्थवाले भी हैं तथा कुछ व्याकरण की द ष्टि से अज्ञातसंस्कार वाले भी हैं - दोनों का मिश्रण निघण्टु में उचित नहीं। वर्तमान निघण्टु के केवल तीन ही खण्ड हैं जिनका इन चारें से मेल दिखाने का प्रयास दुर्गाचार्य ने अपनी निरुक्त-व त्ति में किया है। ऐकपदिक-काण्ड के 'अनवगत संस्कार' वाले शब्द इस चतुर्लक्षणी में नहीं आते। अवश्य ही इन्हीं लक्षणों से युक्त अन्य निघण्टु भी रहे होंगे जिनमें लक्षण के अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष नहीं होंगे। पुनः 'तान्यपि एके समामनन्ति' (७।१५) कितने आचार्य देवताओं के ऐसे नामों की भी गणना (अपने निघण्टु में) कर लेते हैं। यह भी सिद्ध कर देता है कि निघण्टु कई थे।

यास्क ने निरुक्त के आरम्भ में ही निघण्टु का बहुवचन में प्रयोग करके सम्भवतः इसी तथ्य की ओर निर्देश किया है। वे शब्दों के चार भाग करते हैं - नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। वर्तमान निघण्टु में तो केवल नाम और आख्यात ही हैं, क्या उपसर्ग और निपातों का संग्रह रखने वाला भी निघण्टु था ? आचार्य भगवद्दत्त ने भी कई प्रमाणों से सिद्ध किया है कि निघण्टु अनेक थे। निरुक्त में जिन प्राचीन आचार्यों (निरुक्तकारों) के नाम आये हैं वे सब निघण्टु की भी रचना करने वाले थे। अथर्वपरिशिष्ट का ४८ वाँ परिशिष्ट भी निघण्टु ही है जिसे ये कौत्सव्य-क त मानते हैं। ब हद्देवता

में यास्क के नाम के साथ-साथ शाकपूणि का भी उल्लेख कई बार हुआ है, इससे निश्चय ही उनका निघण्टु और निरुक्त रहा होगा। पूना से उन्होंने शाकपूणि के निघण्टु को प्रकाशित भी कराया है। इस प्रकार वे १५-२० निघण्टुओं के होने का अनुमान करते हैं।

निरुक्त और वैदिक वाङ्मय :-

निरुक्त में विभिन्न वैदिक संहिताओं और ग्रन्थों से वाक्य उद्ध त किये गये हैं परन्तु उनमें प्रधानता ऋग्वेद की ही है। इसका कारण यह है कि निरुक्तकार जिस निघण्टु पर भाष्य लिखते हैं उसमें ऋग्वेद के शब्दों का ही संकलन हुआ है अतएव ऋग्वेद में ही उसके प्रयोगों को दिखलाना यास्क के लिए उचित था। निरुक्त के अधिकांश परिच्छेद ऋग्वेद की किसी ऋचा से आरम्भ होते हैं जिसके बाद उन ऋचाओं की व्याख्या की जाती है। ये ऋचायें कहीं-कहीं दूसरी जगह भी मिल जाती हैं परन्तु इन्हें प्राचीनता की द ष्टि से ऋग्वेद से ही उद्ध त मानना संगत है। किन्तु केवल अन्य संहिताओं में मिलने वाले वाक्य भी निरुक्त में हैं। इस खींचतान के कारण निरुक्त को किस वैदिक-शाखा से सम्बद्ध मानें, यह निश्चय करना कठिन हो जाता है। फिर भी चूँकि अन्य वेदांगों के ग्रन्थ भिन्न-भिन्न वैदिक शाखाओं के हैं, अतएव इसे भी किसी-न-किसी शाखा से सम्बद्ध मानना आवश्यक प्रतीत होता है।

इस प्रश्न को समाहित करने में रॉथ का कहना है कि निरुक्त क ष्ण-यजुर्वेद से, विशेषतया तैत्तिरीय-शाखा से, सम्बद्ध है। भण्डारकर और गुणे कहते हैं कि यास्क स्वयं यजुर्वेदी थे और उन्होंने विभिन्न संहिताओं से उद्धरण लिये हैं जिनमें तैत्तिरीय, मैत्रायणी और काठक-संहितायें मुख्य हैं। वेबर के अनुसार निरुक्तकार काण्व-शाखा से उद्धरण देते हैं। यजुर्वेद के उद्धरण के लिए वे वाजसनेयीसंहिता का आश्रय लेते हैं। इस प्रकार ये विद्वान् यजुर्वेद की कतिपय शाखाओं से यास्क का सम्बन्ध जोड़ते हैं। इनके तर्कों के मूल में यही बात है कि निरुक्त वेदांग है, किसी-न-किसी शाखा से अवश्य सम्बद्ध होगा। अन्य शाखाओं के भी अपने निरुक्त रहे होंगे जो आज प्राप्त नहीं हैं।

अब यह विचारना है कि क्या निरुक्त वस्तुतः किसी शाखा से सम्बद्ध है। हमने ऊपर अन्य वेदांगों से निरुक्त की विलक्षणता देख ली है। निरुक्त स्वयं भी भाषा-विज्ञान नामक एक विलक्षण-शास्त्र का अध्ययन प्रस्तुत करता है। भाषा विज्ञान को किसी एक पुस्तक या भाषा पर सीमित रहना नहीं पड़ता। उसे तो अनन्त भाषाओं, ग्रंथों और शाखाओं के क्षेत्र में स्वच्छन्द विचरण करना पड़ता है। कोई भी नियन्त्रण उसके लिए सम्भव नहीं। यही कारण है कि निरुक्त अन्य वेदांगों से विलक्षण है, किसी एक शाखा के शब्दों तक इसे सीमित करना अनुचित है। यास्क स्वयं भले ही कोई वेदी हों, यजुर्वेदी या ऋग्वेदी, परन्तु निरुक्त का सम्बन्ध है सभी वेदों से, उपनिषदों से और तात्कालीन साहित्य से। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अपने काल के अनुकूल निरुक्त वैदिक भाषाविज्ञान का महानिबन्ध है। इसलिए निरुक्त इस प्रकार से सभी वेदों का निरुक्त है। अन्य निरुक्तों की भी शैली ऐसी ही रही होगी, वे भी सभी वेदों से उद्धरण देते होंगे।

यह तर्क यहाँ अनुचित प्रतीत होता है कि उस काल में कोई भी साहित्य किसी कुल और शाखा से सम्बद्ध था, क्योंकि यास्क-जैसे और निघण्टुकार-जैसे वैज्ञानिकों का अभाव कभी नहीं रहता जो सभी शाखाओं और कुलों में जाकर किसी विषय विशेष का अध्ययन करके संसार को नवीन प्रकाश देते हैं। यास्क स्वयं किस शाखाध्यायी कुल के थे - यह हमारा विषय ही नहीं। डा. स्कोल्ड का कथन है कि - '..... क्या यह सामान्य वैदिक-अध्ययन की क ति समझी जाय, या किसी वेद-विशेष की या वेदों के समूह की ? हम नहीं जानते कि किस शाखा से इसका सम्बन्ध है या पहले रहा होगा। .... प्रायः सभी वेद निरुक्त का स्रोत होने का गौरव रखते हैं। यह अब निश्चित है कि इस तथ्य के मूल में कौन-सी बात है। डा. लक्ष्मणसरूप भी निरुक्त के उद्धरणों से यास्क की बहुज्ञता का परिचय देते हुए लिखते हैं - निरुक्त में उदाहरण देने के लिए दिये गये उद्धरणों से निष्कर्ष निकलता है कि यास्क ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, यजुर्वेद और उसके पदपाठ, तैत्तिरीयसंहिता, मैत्रायणी-संहिता,

काठक-संहिता, ऐतरेय ब्राह्मण, गोपथ-ब्राह्मण, कौषीतकि-ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण, प्रातिशाख्यों को और कुछ उपनिषदों को जानते थे। इतने ग्रन्थों का उद्धरण देने वाले ग्रंथ को यदि हम वेद की किसी एक शाखा में बाँध दें तो अन्याय होगा। यह और बात है कि यास्क स्वयं किसी एक शाखा के ब्राह्मण होंगे जिसकी छाप निरुक्त पर पड़ना आवश्यक है जैसे सायण ने क ष्ण-यजुर्वेद के भाष्य को प्राथमिकता देकर उसकी पुष्टि भी की है।

अथर्ववेद के उद्धरण तो यास्क में हैं परन्तु जिस समय निरुक्त में वेदों का निर्वचन होने लगा है अथर्व का नाम नहीं। बौद्ध-साहित्य में भी त्रिवेदी का ही उल्लेख है। हाँ, छान्दोग्योपनिषद् में अथर्व का नाम आया है किन्तु अलग संख्या देकर 'चतुर्थमाथर्वणम्' कहा है। इससे यह पता लगता है कि अथर्व पहले एक स्वतन्त्र ग्रन्थमात्र था जो वैदिक-संहिताओं की ही शैली में संकलित किया गया था। अभिचार-प्रयोगों के कारण उसे वेद की संज्ञा नहीं मिली थी, यद्यपि उसे तुल्य समझा जाता था। फिर भी यास्क ने उसका उद्धरण अपनी बहुज्ञता का परिचय देने के लिए दिया है।

निरुक्त और वेदार्थ :-

अब हम देखें कि वैदिक-शब्दों और वाक्यों के अर्थ-प्रकाशन में निरुक्त का क्या स्थान है ? यह मानी हुई बात है, किसी भी ग्रन्थ से बहुत दिनों तक के लिए सम्पर्क छूट जाने पर उसके अर्थ करने में बड़ी कठिनाइयाँ होती हैं। इसलिए प्राचीन होने के कारण वेदों के अर्थ का निर्णय करना बहुत कठिन है। 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' के अनुसार आज अनेक अर्थ किये जा रहे हैं। अपनी समझ और पद्धति से जिसे जो मिला उसने वही अर्थ कर दिया। निरुक्त का काल वैदिक काल की प्रायः अन्तिम सीमा है। वैदिक-संहिताओं को बहुत समय हो गया था। स्वयं यास्क ने हो वैदिक अर्थ करनेवालों की विप्रतिपत्ति का उल्लेख किया है। उनके अनुसार वेदार्थ के ये सम्प्रदाय हैं - आधिदैवत, आध्यात्मिक, आख्यानसमय, ऐतिहासिक, नैदान, नैरुक्त, परिव्राजक, पूर्व याज्ञिक, याज्ञिक। इससे स्पष्ट है कि आज की भाँति उस समय भी विभिन्न आधार हो गये थे। फिर भी उनमें एक परम्परा-प्राप्त अर्थ की रक्षा की गई है।

यास्क वैदिक अर्थ करनेवालों में अत्यधिक संयत हैं, यह उनकी व्याख्याओं से पता लगता है। वैदिक व्याख्या में उन्होंने समस्त प्राप्य साधनों का उपयोग किया है। ब्राह्मण-ग्रन्थों के अर्थ, परम्परा-प्राप्त अर्थ और निर्वचनात्मक अर्थ - सबों को समुचित स्थान दिया है। कहना नहीं होगा कि यास्क की व्याख्या ही सायण और आधुनिक भाषा-शास्त्रियों के अर्थ का मूल है।

वेदार्थ करने में यास्क की कतिपय विशेषताएँ सदा स्मरणीय हैं -

(क) वैदिक वाङ्मय में एकमात्र निरुक्त ही सर्वप्रथम ग्रन्थ है जिसमें इतनी अधिक संख्या में वैदिक मन्त्रों का तथा मंत्रांशों का उद्धरण देकर व्याख्या की गयी है। इस क्रम में अनेक दुरूह मन्त्रों की व्याख्या हुई है। यद्यपि अपने निर्वचनों की धुन में यास्क कहीं-कहीं भ्रामक अर्थ भी कर देते हैं किन्तु प्रथम उपलब्ध व्याख्याकार के रूप में उनका स्थान निर्विवाद है।

(ख) वेद-व्याख्या करने वाले अनेक संप्रदायों का आविर्भाव यास्क के समय तक हो चुका था। यास्क ने अपना अर्थ देते हुए इन संप्रदायों तथा कहीं-कहीं उनके प्रवक्ता आचार्यों का भी उल्लेख करके अपना आर्जव प्रदर्शित किया है। 'बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश' की व्याख्या में यास्क परिव्राजकों का मत सर्वप्रथम देते हैं। इसी प्रकार व त्र की कल्पना की भी भौतिक व्याख्या करते हुए अन्य संप्रदायों के अनुसार भी अर्थ करते हैं।

(ग) वेद के कई मन्त्रों का ऐतिहासिक प्रसंग है जिन्हें जाने बिना उनका अर्थ दुर्बोध होगा। यास्क इन प्रसंगों का उल्लेख करने के बाद ही ऐसे मन्त्रों की व्याख्या में प्रव त्त होते हैं। वे स्वयं अप्रासंगिक निर्वचन के विरोधी हैं (नैक पदानि निर्ब्रूयात् २।३)। विश्वामित्र का नदियों से संवाद या

देवापि और शंतनु की कथा इसके साक्षी हैं। प्रथम अध्याय में 'न नूनमस्ति' का रोचक प्रसंग वे वर्णन करते हैं कि अगस्त्य ने इन्द्र को हवि देने का संकल्प करके समय पर दूसरे देवताओं (मरुतों) को दे दिया जिससे इन्द्र आकर शिकायत करने लगे। इस प्रकार प्रासंगिक अवतरण के साथ मन्त्र व्याख्यान करके यास्क ने सप्रसंग व्याख्या को जन्म दिया है।

(घ) यास्क की व्याख्या अन्वयमुखी न होकर मन्त्र की आनुपूर्वी का अनुसरण करती है। विरल स्थानों पर ही इसका अतिक्रमण हुआ है। यह बात अवश्य है कि जिन पदों की परस्पर सन्निधि नितान्त अपेक्षित है उन्हें वे एक साथ कर देते हैं, जैसे धातु तथा उपसर्ग। इस आनुपूर्वी-मुख व्याख्यान का कारण है वेदों के प्रति अप्रतिम आस्था कि शब्दों का क्रम बदला नहीं जा सकता। यास्क वेदार्थ-विषयक उन दो विरोधी धारणाओं के मध्य में आते हैं जिनमें एक के अनुसार वेद उच्चारण-मात्र के लिए है क्योंकि शब्दानुपूर्वी का भंग सम्भव नहीं और दूसरे के अनुसार वेदों का अर्थ लौकिक वाक्यों के समान ही हो सकता है। यद्यपि यास्क ने भी 'अर्थवन्तः शब्दसामान्यात्' कहकर वैदिक अर्थ करने की प्रक्रिया को लोकसामान्य ही समझा है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यास्क के समय वेदार्थ करने में आनुपूर्वी भंग का साहस लोग नहीं कर पाते होंगे। दूसरा विकल्प यह हो सकता है कि वाक्य-विन्यास की प्रक्रिया का अधिक विकास नहीं हुआ होगा और न अन्वय की प्रणाली ही प्रयुक्त होती होगी। किन्तु इस विकल्प के विरोध में अनेक प्रमाण हैं।

(ङ) यास्क का वैदिक व्याख्यान सरलार्थ तथा निर्वचन के समन्वय का अपूर्व उदाहरण है। वेदार्थ करने के प्रसंग में ही (सायण के समान बाद में नहीं) वे शब्दों का विश्लेषण भी करते जाते हैं।

वेदार्थ पद्धतियां :-

निरुक्त में उपलब्ध सामग्री के आधार पर आचार्य यास्क के समय में प्रचलित जिन विभिन्न वेदार्थ पद्धतियों के विषय में जानकारी मिलती है उनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है :-

अधिदैवत पद्धति :-

अधिदैवत पद्धति के अनुसार वेदों में आये अग्नि, वायु, सूर्य, मरुत् आदि शब्दों के क्रमशः आग, हवा, सूर्य, आंधी-तूफान आदि अर्थ किये जाने चाहिए क्योंकि इनमें से अधिकांश का प्रक तिपरक स्वरूप स्पष्ट है। जिन देवों का वेदों में प्रक तिपरक स्वरूप स्पष्ट नहीं है अधिदैवतवादियों ने उनका भी प्रक तिपरक स्वरूप निश्चित करने का प्रयत्न किया है।

अध्यात्म पद्धति :-

अध्यात्मवादी भाष्यकार वेदमन्त्रों की शरीरविद्या तथा ब्रह्मविद्यापरक व्याख्याएं करते हैं। इस द ष्टि से अध्यात्मवादियों के दो वर्ग हो जाते हैं : प्रथम के अनुसार वेदमन्त्रों के अर्थ शरीर, वाक्, मन, प्राण, जीवात्मा आदि परक किये जाते हैं। द्वितीय वर्ग के विद्वान् परमात्मा के गुण, कर्म, स्वभावतया मनुष्य द्वारा परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना, उपासनापरक वेदमन्त्रों की व्याख्या करते हैं। निरुक्त में सत्रह स्थलों पर अध्यात्म शब्द के नाम के साथ वेदमन्त्रों की दूसरी व्याख्याओं के साथ अध्यात्मव्याख्या भी दी गई है। सायण से पहले के भाष्यकार आत्मानन्द ने अपने भाष्य के विषय में स्वयं लिखा है - 'अधियज्ञविषयं स्कन्दादि भाष्यम्। निरुक्तम् अधिदैवतविषयम्। इदं तु भाष्यम् अध्यात्मविषयमिति।'

आर्ष पद्धति :-

अध्यात्म पक्ष से मिलती हुई आर्षवादियों की पद्धति है। निरुक्त में आर्षवादियों के विषय में लिखा है - 'तस्माद् यदेव किं चानूचानो भ्यूहत्यार्षं तद् भवति।' इस शब्द का प्रयोग यास्क ने चार बार किया है। निरुक्त (१.२०) में ऐसा प्रसंग आया है कि जब साक्षात्क द्धर्मा ऋषि नहीं रहे तो मनुष्यों ने

जाकर देवताओं से पूछा कि अब हमारा ऋषि कौन होगा ? इस पर देवताओं ने उन्हें तर्क रूपी ऋषि दिया। इसलिए प्रमाण, युक्ति, प्रतिभा और बुद्धि का प्रयोग करके जब तर्क द्वारा अर्थ का अनुसन्धान किया जाता है तो वह आर्ष पद्धति द्वारा निष्पन्न अर्थ कहा जाता है।

परिव्राजक पद्धति :-

परिव्राजक पद्धति का निरुक्त में एक बार उल्लेख हुआ है। इस प्रक्रिया के अनुसार ऋग्वेद के 'अस्यवामीय' सूक्त के बत्तीसवें मन्त्र की चतुर्थ पंक्ति 'बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश' के अर्थ की व्याख्या करते हुए यास्क ने लिखा है - 'बहुप्रजाः क च्छ्रमापद्यत इति परिव्राजकाः, वर्षकर्मेति नैरूक्ताः'। इस ग्रन्थ में पीछे आरण्यकों के प्रसंग में जिन अरण्यवासियों के विषय मे ंविचार प्रस्तुत किया गया है ये परिव्राजक सम्भवतः उनके समकक्ष ही किसी सम्प्रदाय के लोग होंगे और वैदिक मन्त्रों की व्याख्या में अपनी एक नवीन ही पद्धति का प्रयोग करते होंगे।

याज्ञिक पद्धति :-

यज्ञप्रक्रियावादी अथवा अधियज्ञवादी सम्प्रदाय वेदों का अर्थ करने में सबसे प्रसिद्ध सम्प्रदाय रहा है। इस सम्प्रदाय का एक अन्य नाम याज्ञिक सम्प्रदाय भी दिया जा सकता है। वैदिक मन्त्रों की यज्ञपरक व्याख्या इस सम्प्रदाय की प्रमुख विशेषता है। निरुक्त में लगभग एक दर्जन स्थलों पर इस सम्प्रदाय की चर्चा हुई है। ऋग्वेद के १०.७१.५ मन्त्र की 'वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्' पंक्ति की व्याख्या में 'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह, याज्ञदैवते पुष्पफले, देवताध्यात्मे वा' ऐसा निरूक्त में आया है। निरुक्त के सातवें अध्याय में 'देवता परीक्षाविधि' के प्रसंग में यह निर्देश दिया गया है कि जिन मन्त्रों के विषय में किसी देवता का निर्देश न हो वहां वह मन्त्र जिस यज्ञ या यज्ञांग में पठित हो उस यज्ञ या यज्ञांग के देवता को ऐसे मन्त्र का देवता मान लेना चाहिए। यास्क ने अपने निरुक्त में वैदिक व्याख्याकारों की जितनी श्रेणियां गिनायी हैं उनमें सबसे अधिक महत्त्व अधिदैवत प्रक्रिया और अधियज्ञ पद्धति को दिया है।

नैरुक्त पद्धति :-

नैरुक्त पद्धति का समर्थन वर्तमान में केवल यास्क के निरुक्त में उपलब्ध होता है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि यास्क से पहले नैरुक्तप्रक्रिया विद्यमान नहीं थी। स्वयं यास्क ने अपने निरुक्त में अपने से पूर्ववर्ती चौदह नैरुक्तों के नाम गिनाये हैं जिनमें से आग्रायण, औदुम्बरायण, और्णवाभ, शाकपूणि प्रमुख हैं। नैरुक्त वेदों के समस्त नामपदों को यौगिक मानते हैं। इस मत को न मानने वाले गार्ग्य आदि आचार्यों की युक्तियों का खण्डन करते हुए यास्क ने सभी नामों के यौगिक होने के सिद्धान्त का प्रबल समर्थन किया है। यास्क ने लगभग १३०० वैदिक शब्दों का निर्वचन देते हुए बहुत से वेदमन्त्रों का अर्थ अपने निरुक्त में किया है। इस पद्धति को नैरुक्त पद्धति का नाम दिया जा सकता है। नैरुक्त प्रक्रिया वस्तुतः शब्दों के निर्वचन पर बल देती है तथा निर्वचन द्वारा अधिदैवत, अध्यात्म एवं याज्ञिक प्रक्रियाओं की विरोधी न होकर उनकी पूरक है।

व्याकरण पद्धति :-

निरुक्त में चार स्थलों पर व्याकरण की चर्चा आई है। यास्क की द ष्टि में निरुक्तशास्त्र और व्याकरणशास्त्र में अन्तर है। यास्क ने इस विषय में लिखा है - 'तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कात्स्र्न्यं स्वार्थसाधकं च' (नि. १.१५)। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि निरुक्त व्याकरणशास्त्र में अन्तर है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि निरुक्तशास्त्र केवल शब्दों का निर्वचनमात्र प्रतिपादित करता है और व्याकरणशास्त्र पदों के प्रक ति, प्रत्यय, आगम, विकार आदि का अनुसन्धान करके पद की सिद्धि

निष्पन्न करता है। इस द ष्टि से निरुक्ति से आगे व्याकरण का क्षेत्र प्रारम्भ होता है। वैयाकरणों का विशेष वर्णन निरुक्तकार ने ऋग्वेद के 'चत्वारिवाक् परिमिता पदानि (२.१६४.४५) ऋचा की व्याख्या करते हुए किया है - 'नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः' (नि. १३.६)। वस्तुतः व्याकरण पद्धति निरुक्त से प थक् सत्ता रखते हुए भी वेदार्थ की द ष्टि से कोई प थक् प्रक्रिया नहीं है अपितु वह नैरुक्त प्रक्रिया में ही अन्तर्भूत हो जाती है।

नैदान पद्धति :-

निरुक्तकार ने दो स्थलों पर नैदान सम्प्रदाय का उल्लेख किया है - प्रथम तो नैघण्टुक काण्ड में 'स्याल' शब्द की व्याख्या करते हुए और द्वितीय दैवत काण्ड में 'सामन्' शब्द का निर्वचन करते हुए। नैदान सम्प्रदाय वेदार्थ की किसी प्रक्रिया विशेष का प्रवर्त्तक न होकर केवल पद-साधन को निष्पन्न करने वाला एक सम्प्रदाय मात्र है। यह सम्प्रदाय किसी सीधी धातु से पद निष्पत्ति न करके अर्थ को ध्यान में रखते हुए विधियों और परम्परा आदि के आधार पर पदनिष्पत्ति दिखाता है। यास्क ने कई स्थलों पर इस प्रक्रिया को स्वीकार किया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में 'उलूखल' की निष्पत्ति 'उरू' और 'कर' के योग से दिखाई गई है। यह और ऐसी बहुत सी निष्पत्तियां इसी सम्प्रदाय के अनुसार हैं। संक्षेप में इस सम्प्रदाय का अन्तर्भाव भी नैरुक्त सम्प्रदाय में किया जा सकता है।

ऐतिहासिक पद्धति :-

वेद का अर्थ करने वालों में ऐतिहासिक सम्प्रदाय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस सम्प्रदाय का उल्लेख यास्क ने अपने निरुक्त में बहुत से स्थलों पर किया है। इन्द्र और व त्रयुद्ध पर विचार करते हुए यास्क ने लिखा है - 'तत् को व त्रः ? मेघ इति नैरुक्ताः त्वाष्ट्रो सुर इत्यैतिहासिकाः' लिखकर यास्क ने अपने से प्राचीन समय से प्रसिद्ध ऐतिहासिक सम्प्रदाय का वर्णन किया है। स्वयं यास्क ने अपने से प्राचीन समय से प्रसिद्ध ऐतिहासिक सम्प्रदाय का वर्णन किया है। स्वयं यास्क कुछ स्थलों पर ऐतिहासिक सम्प्रदाय की द ष्टि से अभिमत अर्थ को ही प्रदर्शित करता है। इसके विपरीत कुछ अन्य स्थलों पर उनके अभिमत अर्थ का खण्डन करके अधिदैवत अथवा अध्यात्म द ष्टि से मन्त्र का व्याख्यान करता है। सायण ने अनेक स्थलों पर यास्क की इस प्रव त्ति की ओर अपने भाष्य में निर्देश किया है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद १.१०५.११ मन्त्र 'सुपर्णा एत आसते मध्य आरोचने दिवः। ते सेधन्ति पथोव कं तरन्तं यह्ननी रपो वितं मे अस्य रोदसी' की व्याख्या करते हुए सायण ने पहले तो ऐतिहासिक सम्प्रदाय की द ष्टि से अर्थ करते हुए लिखा है, 'कूपपतनात् पूर्वं त्रितं द ष्ट्वा एनं भक्षयितुं कश्चिदयश्वा महतीं नदीं तितीर्षुः आजगाम। सच सूर्यरश्मीन् द ष्ट्वा अयमवसरो न भतीति निवव ते। अतो रश्मयो व कं निषेधन्तीत्युच्यते। यास्कपक्षे तु आप इत्यन्तरिक्षनाम। यहवतीरपो महदन्तरिक्षं पथः। पथा द्वादशराश्यात्मना मार्गेण तरन्तं व कं चन्द्रमसं सूर्यरश्मयो निषेधन्ति। अहनि हि सूर्यरश्मिभिः निरुद्धश्चन्द्रमा निष्प्रभो द श्यते। अतो निष्प्रभं कुर्वन्तीत्यर्थः'। यद्यपि इस मन्त्र की व्याख्या यास्क ने अपने निरुक्त में नहीं की है फिर भी 'यास्क पक्षे' कहकर सायण ने ऐतिहासिकों से भिन्न नैरुक्त सम्प्रदाय की ओर इंगित किया है। ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर सायण ने ऐतिहासिक द ष्टि से मन्त्रों के अर्थ किए हैं। यद्यपि स्वयं उसने अपनी ऋग् भाष्य भूमिका में ऐतिहासिक पक्ष का खण्डन ही किया है।

अन्य भाष्यकारों ने भी ऐसा ही किया है। उन्होंने भी बहुत से नामों को व्यक्ति विशेष के नाम मानकर उनका ऐतिहासिक पक्ष की द ष्टि से अर्थ दिया है, पुनश्च अधिदैवत या आध्यात्मिक अर्थ देते हुए उन नाम-पदों को यौगिक मानकर उनका अर्थ दिया है। स्कन्दस्वामी के भाष्य में अनेक स्थलों पर यह प्रक्रिया द ष्टिगोचर होती है। ऋग्वेद १.३३.१२ में आए हुए 'इलीविश' पद का अर्थ उसने 'मेघ' भी किया है और 'असुर' भी माना है। इसी प्रकार ऋ. १.३३.१ में आए 'अंगिरा' पद का अर्थ अंग की स्थिति के कारणभूत रस का 'कर्त्ता' और 'अंगिरा नामक ऋषि' दोनों ही अर्थ उसने किये हैं।

प्राचीन भाष्यकारों के भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए एक अन्य प्रव त्ति भी द ष्टिगोचर होती है। कोई एक भाष्यकार किसी एक नाम को ऐतिहासिक व्यक्ति विशेष मानकर अर्थ करता है और दूसरा भाष्यकार उसी पद को यौगिक मानकर उसका अर्थ नैरुक्त शैली से करता है। ऋग्वेद २.१३.८ में आए हुए 'प क्ष' और 'दासवेश' पदों का अर्थ वेंकटमाधव ने उन्हें ऋषि विशेष मानकर किया है। किन्तु सायण इनमें से प्रथम पद का अर्थ 'अन्नलाभ' और दूसरे का अर्थ 'दस्यूनाम् विनाशः' मानकर करता है। यही बात २.१५.६ में आए हुए 'रम्भी' पद पर लागू होती है। वेंकटमाधव ने इसे व्यक्तिवाचक पद माना है और सायण इसका अर्थ 'वेत्रधारी' करता है। इस प्रसंग में ध्यान देने योग्य एक अन्य तथ्य यह है कि वेद में ऐसे अनेक पद हैं जिनका अर्थ किसी भी प्राचीन भाष्यकार ने इतिहासपरक नहीं किया है; उदाहरणार्थ - महावीर (ऋ. १.३२.६), दशरथ (ऋ. १.१२६.४), वातापि (ऋ. १.१८७.८), धनंजय (ऋ. ३.४२.६), अजातशत्रु (ऋ.५.३४.१), विभीषण (ऋ.७.१०४.२१), पराशर (ऋ. ६.६६. १६), राम (ऋ. १०.६३.१४), लक्ष्मण्य (ऋ. ५.३३.१०) आदि। यदि इन पदों के आधार पर कोई वेद में से इतिहास निकालना चाहे तो सम्पूर्ण वेद इतिहास के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता। चूंकि किसी भी भाष्यकार ने ऐसा प्रयत्न नहीं किया है अतः यह आसानी से समझा जा सकता है कि वेदों का ऐतिहासिक अर्थ करने वाला सम्प्रदाय अपेक्षाक त पीछे का तथा कल्पना-प्रधान रहा है।

इसी क्रम में ऋग्वेद ६.८३ में वर्णित दाशराज्ञ युद्ध आधुनिक विद्वानों द्वारा आर्यों और दस्युओं के मध्य लड़ा गया युद्ध माना गया है परन्तु नैरुक्त सम्प्रदाय इन युद्धों को ऐतिहासिक नहीं मानता। उनकी द ष्टि में इस प्रकार के युद्धदेवासुर संग्राम के प्रतीक हैं जो आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक क्षेत्रों में सदा होते रहते हैं।

आधुनिक युग के तीन वेद व्याख्याता - स्वामी दयानन्द, श्री अरविन्द और श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ऐतिहासिक पक्ष के प्रबल विरोधी हुए हैं। स्वामी दयानन्द ने अपने भाष्य में सायण, महीधर आदि भाष्यकारों के ऐतिहासिक अर्थ का स्थान-स्थान पर खण्डन किया है। यजुर्वेद ३.६२ मन्त्र में आए हुए जमदग्नि और कश्यप पदों को व्यक्तिवाचक नाम न मानकर स्वामी दयानन्द ने शतपथ ब्राह्मण (८.१.२.३) तथा (७.५.१.५) का प्रमाण देते हुए इनका अर्थ 'चक्षु' और 'प्राण' किया है। इसी प्रकार ऋ. १.१८.१ में आए हुए 'औशिजः' पद का अर्थ सायण द्वारा किए गए 'उशिक् नामक माता का पुत्र' न करके स्वामी दयानन्द ने 'ओशिजः य उशिजि प्रकाशे जातः स उशिक् तस्य विद्यावतः पुत्र' किया है। ऋ. १.३१.१७ में आए हुए 'ययातिवत्' पद का सायणक त अर्थ 'ययाति' नामक राजा के समान है। स्वामी दयानन्द ने इस पद का अर्थ प्रत्यनवान पुरुष किया है। एक अन्य सन्दर्भ ऋ. १.३६.१८ में 'तुर्वश', 'यदु', 'उग्रादेव', 'नववास्तु', 'ब हद्रथ' और 'तुरवीति' पदों को सायण ने ऐतिहासिक राजाओं के नाम माना है। स्वामी दयानन्द ने इन पदों का यौगिक अर्थ किया है यथा - तुर्वशं = दूसरे के पदार्थों की कामना करने वाले को, यदु = दूसरे के धन के लिए प्रयत्न करने वाला, उग्रादेव = तीव्र स्वभाव वालों को जीतने वाला, नववास्तु = नए घरों वाला, ब हद्रथ = बड़े रथ वाला, तुरवीति = हिंसक दुष्ट। अपनी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में स्वामी दयानन्द ने लिखा है - 'अतो नात्र मन्त्रभागे हीतिहासलेशो प्यस्तीत्यवगन्तव्यम्। अतो यच्च सायणाचार्यादिभिर्वेदप्रकाशादिषु यत्रकुत्रेतिहासवर्णनं क तं तद् भ्रममूलमस्तीति मन्तव्यम्।'

इसी प्रकार श्री अरविन्द ने अपने ग्रंथ 'वेद रहस्य' के प ष्ठ २६५-२६६ पर भारतीय इतिहास द्रष्टाओं और ऐतिहासिक वेद-विचारकों को एक ही कोटि में रखकर इनके द्वारा किए जाने वाले वेद के अर्थ की तथा उनकी पद्धति की समालोचना की हैं श्री अरविन्द ने लिखा है - 'जिस प्रकार प्राचीन ऐतिहासिक वेद की अलग-अलग ऋचाओं अथवा सूक्तों को आधार बनाकर नाना प्रकार का इतिहास तैयार करते थे, इनकी (पाश्चात्त्य विद्वानों की) भी ठीक वही प्रणाली है। अतः विचित्र, अतिप्राक तिक घटनाओं से भरी चित्र कहानी न घड़कर ...... ये (पाश्चात्त्य विद्वान्) आर्य त त्सुराज सुदास् के साथ मिश्र जातियों वाले दस राजाओं के युद्ध; पर्वतगुहा निवासी द्रविड़ जाति द्वारा आर्यों के गोधन का हरण;

नदी-प्रवाह का बन्धन; देवशुनी सरमा की उपमा के बहाने द्रविडों के पास आर्यों का राजदूती भोजन आदि सत्य या मिथ्या सम्भव घटनाओं को लेकर प्राचीन भारत का इतिहास लिखने की चेष्टा करते हैं। इस प्राक तिक क्रीड़ा के परस्पर विरोधी रूपक में और इस इतिहास सम्बन्धी रूपक में मेल बैठाने की चेष्टा करते हुए पाश्चात्त्य पंडित-मंडली ने जो गोलमाल किया है वह वर्णनातीत है।' इस प्रकार श्री अरविन्द के मत में पौरस्त्य और पाश्चात्त्य दोनों ही विद्वान् वेद-रहस्य से कोसों दूर हैं। उनकी द ष्टि में वेद एक आध्यात्मिक रचना है जो एक विशिष्ट वर्ग के दीक्षित लोगों द्वारा दीक्षित लोगों के लिए ही लिखी गई थी। अतः इसका अर्थ दीक्षित वर्ग के लोग ही समझ सकते हैं।

श्री श्रीपाद सातवलेकर ने वेद का अर्थ सामाजिक संदर्भ में किया है। यद्यपि उनके मत में वेद का आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तीनों प्रकार का अर्थ उपयुक्त है फिर भी अपने भाष्यों में उन्होंने सामाजिक (आधिदैवत) पक्ष को अधिक महत्त्व दिया है। ऋग्वेद में आने वाले कुछ पदों का अर्थ उन्होंने इस प्रकार किया है - परब्रह्म = विश्व राज्य का राष्ट्रपति; परमात्मा = उपराष्ट्रपति; सदसस्पति = विधानसभा का अध्यक्ष; क्षेत्रपति = विधानसभा का उपाध्यक्ष; जातवेदः अग्नि = शिक्षामन्त्री; ब्रह्मणस्पति = उपशिक्षामन्त्री; इन्द्र = रक्षामन्त्री; रुद्र = सेनाध्यक्ष; मरुतः = सैनिक; अश्विनौ = स्वास्थ्यमन्त्री (एक शल्य चिकित्सा में प्रवीण और दूसरा औषधिचिकित्सा में प्रवीण), पूषा = खाद्यमंत्री; भग = अर्थमंत्री; विश्वकर्मा = उद्योगमंत्री; वास्तोष्पति = ग ह निर्माण मंत्री; त्वष्टा = शस्त्रास्त्र निर्माण मंत्री; वरुण = यानमंत्री; पर्जन्य = क षिमंत्री; अश्व = वाहन और संचारमंत्री। निश्चय ही वेद के ऐतिहासिक अर्थ को वह भी स्वीकार नहीं करते।

आख्यानवादी पद्धति :-

निरुक्त में कुछ स्थलों पर आख्यान शब्द का प्रयोग किया गया है। सामान्यतया इतिहास के साथ इसे भी ऐतिहासिक अर्थ से सम्बद्ध माना जा सकता है तथापि निरुक्त में यास्क ने कुछ स्थलों पर इतिहास और आख्यान में भेद दिखाया है। वास्तव में घटी हुई घटना इतिहास के अन्तर्गत आती है और काल्पनिक व त्त आख्यान के अन्तर्गत आता है। यास्क के दोनों प्रयोग 'इत्याख्यानम्' और 'तत्रेतिहासमाचक्षते' कुछ-कुछ संभ्रान्ति पैदा करने वाले हैं। उसने अश्विनौ देवता द्वारा व क के मुख से वर्तिकामोचन के प्रसंग को तथा पणियों के साथ सरमा के वार्तालाप को आख्यान माना है। इसी प्रकार यम-यमी के संवाद को भी आख्यान कहा है और इसी कोटि में शुनःशेप की कथा को रखा है। इसके विपरीत, देवापि तथा मुद्गल भार्म्यश्व ऋषि के प्रसंग को इतिहास कहा है। इस प्रकार की व्याख्यान विषयक उलझन से यही परिणाम निकाला जा सकता है कि वेदार्थ निर्धारित करने में आख्यान पद्धति कोई स्वतन्त्र पद्धति नहीं है केवल एक शैली मात्र है।

ब हद्देवता :-

यद्यपि वेदाङ्ग प्रकरण के अन्तर्गत परिशिष्ट में ब हद्देवता और सर्वानुक्रमणी का सामान्य परिचय दिया जा चुका है पुनरपि वेदार्थ पद्धति के प्रसंग में कुछ विशिष्ट परिचय पुनः दिया जा रहा है। वैदिक साहित्य के अनेक ग्रन्थों के सन्दर्भों के अनुसार चारों वेदों की अनेक शाखाओं पर उतने ही ब हद्देवता ग्रन्थों की रचना होने का उल्लेख मिलता है; किन्तु सम्प्रति केवल एक ही 'ब हद्देवता' उपलब्ध है, जो कि प्रमुख रूप से ऋग्वेद की माण्डूकेय शाखा से और गौण रूप से शाकल शाखा से सम्बद्ध है। इसके रचयिता महर्षि शौनक हैं।

'ब हद्देवता' के अब तक तीन संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। प्रथम संस्करण श्री राजेन्द्र लाल मित्रा के सम्पादकत्त्व में १८८६ ई. में कलकत्ता से, दूसरा संस्करण श्री मैकडॉनेल के सम्पादकत्व में १६०४ ई. में हर्बर्ट ओरिएण्टल सीरीज से प्रकाशित हुआ है। यह संस्करण अँग्रेजी अनुवाद और टिप्पणी सहित है। तीसरा सानुवाद हिन्दी संस्करण श्री रामकुमार राय के सम्पादकत्व में १६६३ ई. में चौखम्बा

संस्क त सीरीज, वाराणसी से प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ में एक ओर तो श्वेतकेतु, गालव, औपमन्यव, गार्ग्य, शाकपूणि, रथीतर और यास्क प्रभ ति पूर्वाचार्यों के मतों को उद्ध त किया गया है, तो दूसरी ओर परवर्ती अनेक ग्रन्थों में उसका उल्लेख हुआ है। इस द ष्टि से उसे ई. पूर्व तीसरी-चौथी शताब्दी की रचना मानना उचित प्रतीत होता है।

'ब हद्देवता' में आठ अध्याय और दस मण्डल हैं। यह ऋग्वेद से सम्बद्ध है और इसमें ऋग्वेद के देवताओं की प्रक ति, कर्म और गुण के अनुसार उनका निरूपण किया गया है। ग्रन्थ के उद्देश्य के सम्बन्ध में उसके प्रथम मंगल श्लोक में कहा गया है कि 'मंत्रद ष्टा (ऋषियों) को नमस्कार करते हुए मैं, परम्परागत पाठ के सन्दर्भ में (प्रत्येक) ऋचा को उद्दिष्ट करके सूक्तों के देवताओं, ऋचाओं, अर्ध ऋचाओं और मन्त्रों का वर्णन करूँगा' :

मन्त्रद ग्भ्यो नमस्क त्वा समाम्नायानुपूर्वशः।

सूक्तर्गर्धर्चपादानाम् ऋग्भ्यो वक्ष्यामि दैवतम्।।

प्रत्येक मंत्र से सम्बद्ध देवता की जानकारी प्राप्त करने के अनन्तर ही मंत्रों का अर्थबोध सम्भव है; क्योंकि भिन्न-भिन्न मन्त्रों से सम्बद्ध देवताओं का ज्ञान प्राप्त हुए बिना जो लौकिक तथा वैदिक कर्म किये जाते हैं, वे निष्फल होते हैं। जो देवता को जानता है और स्वाध्याय करता है वह देवताओं द्वारा प्रशंसित होता है (८।१३३)।

देववर्ग के यहाँ तीन विभाग किये गये हैं। प्रथम वर्ग के देवता अग्नि के अन्तर्गत, द्वितीय वर्ग के वायु या इन्द्र के अन्तर्गत और त तीय वर्ग के सूर्य के अन्तर्गत परिगणित किये गये हैं। प्रत्येक देवता की स्तुति के आधार उसके नाम, रूप, कार्य और बन्धुत्व है। इनके अतिरिक्त देवता का स्थान और गुण (भक्ति) भी व्यक्त करना आवश्यक है (८।१३४)। तीनों वर्गों के सभी देवताओं को योग, दक्षता, दम, बुद्धि, पाण्डित्य, तप तथा नियोग से उपासना करनी चाहिए। जो ऋचाओं को जानता है वह देवताओं को भी जानता है।

योगेन दाक्ष्येण दमेन बुद्धया

बाहुश्रुत्येन तपसा नियोगैः।

उपास्यास्ता क त्स्नशो देवता या

ऋचो ह यो वेद स वेद देवान्।।

इस ग्रंथ में देवताओं का महत्त्व प्रतिपादित करने के साथ ही अन्य अनेक विषयों का उल्लेख किया गया है। उदाहरण के लिए उसमें उपसर्ग, लिंग, संज्ञा, सर्वनाम, आशय, अन्वय, शब्द-विग्रह, समास, वर्णलोप, भावप्रधान क्रिया आदि व्याकरण-विषयों पर भी प्रकाश डाला गया है।

उसमें विभिन्न देवताओं, ऋषियों और राजाओं की रुचिकर एवं शिक्षाप्रद कथाएँ दी गयी हैं। उदाहरण के लिए दध्य ाच और मधु, कक्षीवत् और स्वनय, दीर्घतमस्, ग त्समद और इन्द्र, त्र्यरुण व शजान, श्यावाश्व, कण्व और प्रगाथ, पुरूरवा और उर्वशी तथा सरण्ड् आदि की कथाओं को उद्ध त किया जा सकता है। इन कथाओं में दिये गये वंशव त्त ऐतिहासिक द ष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। उनमें धर्म, दर्शन, समाज, नीति और भूगोल आदि अन्य अनेक विषयों पर भी प्रकाश डाला गया है। तत्कालीन जीवन के रहन-सहन और खान-पान आदि का भी पता चलता है। एक बार अनाव ष्टि के समय शचीपति ने ऋषियों से पूछा, 'इस महान् संकट के समय आप लोग किस कर्म से जीवित हैं ?' उन्होंने उत्तर दिया, 'हे राजन्, गांडी, खेत, पशु, क षि, न बहने वाले जल (तालाब), वन, समुद्र और पर्वतों से हम जीवित हैं' (६।१३७-१३८)।

इस प्रकार 'ब हद्देवता' एक ऐसा स्वरूप है, जिसमें लौकिक-वैदिक विषयों का एक साथ समन्वय देखने को मिलता है।

सर्वानुक्रमणी :-

आचार्य शौनक के बाद अनुक्रमणि साहित्य में जिस आचार्य का नाम आदर के साथ लिया जाता है वे हैं कात्यायन। आचार्य कात्यायन सर्वानुक्रमणी नामक ग्रन्थ के प्रणेता हैं। इस अनुक्रमणी में ऋग्वेद की ऋचाओं की संख्या, सूक्त के ऋषि का नाम और गोत्र मन्त्रों के देवता तथा छन्द का उल्लेख है। यह ग्रन्थ सूत्र शैली में प्रणीत है।

इस सर्वानुक्रमणी नामक ग्रन्थ के प्रणेता कात्यायन, श्रौत सूत्रकार कात्यायन ही हैं। ''शुक्ल यजुः सर्वानुक्रम सूत्र'' भी इन्होंने ही लिखा है। पाणिनि के सूत्रों पर वार्तिक लिखने वाले वैयाकरण कात्यायन से ये भिन्न हैं। प्रोफेसर मैक्डॉनल ने सर्वानुक्रमणी के लेखक कात्यायन का समय ई.पू. चतुर्थ शताब्दी का मध्य माना है। दूसरी ओर आचार्य बलदेव उपाध्याय ने इनको पाणिनि से प्राचीन स्वीकार करते हुए इनका समय ई.पू. आठवीं शताब्दी स्वीकार किया है। डा. उमेश चन्द्र शर्मा भी उपाध्याय जी के मत से ही सहमत हैं। सर्वप्रथम इस ग्रन्थ को १८८६ में प्रो. मैक्डॉनल ने सम्पादित कर आक्सफोर्ड से प्रकाशित किया। मैक्डॉनल ने इस ग्रन्थ को इसकी षड्गुरुशिष्य क त वेदार्थ दीपिका नामक व त्ति सहित प्रकाशित किया था।

१९७७ में डा. उमेशचन्द्र शर्मा ने एक छात्रोपयोगी संस्करण अलीगढ़ से प्रकाशित किया था। अभी हाल में ही डा. राजेन्द्र नानावटी की टिप्पणियों सहित प्रोफेसर मैक्डॉनल द्वारा सम्पादित संस्करण का भारतीय विद्या प्रकाशन दिल्ली से पुनर्मुद्रण हुआ है।

सर्वानुक्रमणी में विषय प्रतिपादन का क्रम इस प्रकार है :- ग्रन्थ के मुख्य अंश के पहले बारह परिच्छेदों में प्रस्तावना है। प्रथम परिच्छेद ग्रन्थ की विषय मर्यादा तथा इस ग्रन्थ के ज्ञान से प्राप्तव्य का वर्णन करता है। दूसरा और बारहवाँ परिच्छेद ग्रन्थ के मुख्य अंश के सूत्रों की कु जीरूप आवश्यक परिभाषा का निर्देश करते हैं। परिच्छेद तीन से लेकर ग्यारह तक ऋग्वेद के छन्दों का निरूपण है। ग्रन्थ का मुख्यांश ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्त के लिए शाकल शाखा की वाचना के क्रमानुसार उसके प्रारम्भिक पद के उल्लेख सहित ऋचाओं की संख्या, ऋषि और देवता के नाम और समग्र सूक्त या उसके विविध अंशों के छन्दों का निरूपण करता है। प्रंसगोपान्त सूक्त के अर्थ को अधिक स्पष्ट करने के लिए संक्षेप में इतिहास दिया गया है। इस इतिहास का षड्गुरुशिष्य ने अपनी व त्ति में ब हद्देवता के उद्धरणों सहित विस्तार प्रदान किया है।

इस प्रकार कात्यायन क त सर्वानुक्रमणी वेदार्थ ज्ञान की प्रक्रिया के सहायक ग्रन्थों में उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है। कालान्तर में जब वेद मन्त्रों की दुरूहता स्पष्ट होने लगी तो उपर्युक्त सभी ग्रन्थों का आधार ग्रहण कर वेद-भाष्यों का निर्माण होने लगा। प्रसिद्ध भाष्यकारों में स्कन्द-स्वामी, वेंकट-माधव, आनन्दतीर्थ, भट्टभास्कर, नारायण, माधवभट्ट, उद्गीथ, धानुष्कयज्वा, आत्मानन्द तथा सायण के नाम उल्लेखनीय हैं।

स्कन्दस्वामी :-

ये 'ऋग्वेद' के भाष्यकर्त्ता हैं। इनका समय ६२५ ई. (स. ६८२) है। इन्होंने 'निरुक्त' पर भी टीका की रचना की थी। इनका ऋग्भाष्य अत्यन्त विस्त त है, जिसमें प्रत्येक सूक्त के देवता एवं ऋषि का उल्लेख कर अपने कथन की पुष्टि के लिए अनुक्रमणी ग्रन्थों, निघण्टु तथा निरुक्त आदि के उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं। इसमें व्याकरणिक तथ्यों का भी संक्षिप्त विवेचन हुआ है। सम्प्रति यह भाष्य चतुर्थ अष्टक तक ही प्राप्त होता है, जिसका प्रकाशन अनन्त - शयन ग्रन्थावली से हो चुका है। स्कन्दस्वामी

ने अपने भाष्य की पुष्पिकाओं में अपना जो परिचय दिया है, उससे ज्ञात होता है कि इनके पिता का नाम भर्तध्रुव था और ये 'शतपथ-ब्राह्मण' के भाष्यकार हरिस्वामी के गुरु थे। स्कन्दस्वामी गुजरात की राजधानी वलभी के निवासी थे। ऋग्वेद भाष्य के प्रथमाष्टक अध्याय के अन्त में इनका परिचय इस प्रकार है -

वलभीनिवास - स्येताम गर्थागमसंह्वतिम्।

भर्तध्रुवसुतश्चक्रे स्कन्द-स्वामी यथा स्म तिः।।

वेंकटमाधव के भाष्य से ज्ञात होता है कि स्कन्दस्वामी ने ऋग्भाष्य की रचना चार ही अष्टक तक की थी और शेष अंशों की पूर्त्ति नारायण तथा उद्‌गीथ द्वारा हुई -

स्कन्दस्वामी नारायण उद्‌गीथ इति ते क्रमात्।

चक्रुः सहैकम ग्भाष्यं पदावाक्यार्थगोचरम्।

हरिस्वामी ने अपने भाष्य की रचना का समय दिया है -

यदाब्दानां कलेर्जग्मुः सप्तत्रिंशच्छतानि वै।

चत्वारिंशत्समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं क तम्।।

इसके अनुसार कलियुग के ३४७० वर्ष व्यतीत हो जाने पर भाष्य की रचना हुई। कलियुग का आरम्भ ई. पू. ३१०२ वर्ष से माना जाता है। इस द ष्टि से शतपथ भाष्य की रचना (३७४०-३१०२) ६३७ ई. में हुई है। इसके साक्ष्य पर स्कन्द-स्वामी की भाष्य-रचना ६०० से ६२५ ई. के आसपास हुई होगी।

नारायण :-

वेंकटमाधव के ऋग्वेद-भाष्य के एक श्लोक में इस बात का उल्लेख है (पूर्व उदध तश्लोक) कि स्कन्दस्वामी, नारायण तथा उद्‌गीथ ने क्रमशः सम्मिलित रूप से ऋग्वेद भाष्य का प्रणयन किया है। इनका आनुमानिक समय विक्रम की सप्तम शताब्दी है।

उद्‌गीथ :-

इनका उल्लेख सायण तथा आत्मानन्द के भाष्यों में प्राप्त होता है। उद्‌गीथ क त ऋग्वेद के अन्तिम भाग के भाष्य पर इनका परिचय इस प्रकार प्राप्त होता है - 'वनवासी विनिर्गताचार्यस्य उद्‌गीथस्य क ता ऋग्वेदभाष्ये .... अध्यायः समाप्तः। इससे उद्‌गीथाचार्य का वनवासी होना सिद्ध होता है। उस समय कर्नाटक प्रान्त के पश्चिमी भाग के निवासी वनवासी कहे जाते थे। ६३४ ई. में उत्कीर्ण ऐहोल के एक शिलालेख में वनवासी की नगरी का वर्णन होने से उद्‌गीथ का समय ७वीं शताब्दी का उत्तरार्ध निश्चित होता है।

वरदातुङ्गतरङ्गविलसद्धंसावलीमेखलां।

वनवासीमवम द्नतः सुरपुरप्रस्पर्धिनीं सम्पदा।।

महेश्वर :-

महेश्वर निरुक्त के भाष्यकार हुए हैं। उनका वेदभाष्य उपलब्ध नहीं होता। निरुक्त के उनके भाष्य को स्कन्द स्वामी के भाष्य के साथ जोड़ा जाता है। महेश्वर के काल के विषय में आचार्यों में मतभेद हैं। डा. उमा शंकर शर्मा ने उनका काल १५०० ई. माना है। किन्तु पं. भगवद्दत्त ने उन्हें स्कन्द

का शिष्य माना है। अतः उनका काल भी स्कन्द (६२५ ई.) के आस-पास ही होना चाहिए।

माधवभट्ट :-

ऋग्वेद के माधव नामक चार भाष्यकारों का उल्लेख प्राप्त होता है। इनमें एक का सम्बन्ध सामवेद से तथा शेष का सम्बन्ध ऋग्वेद से है। एक माधव तो सायणाचार्य ही है और दूसरे माधव वेंकटमाधव। एक अन्य माधव की प्रथम अष्टक की टीका मद्रास से प्रकाशित हुई है। यद्यपि यह टीका अल्पाक्षर है; किन्तु मन्त्रों के अर्थ ज्ञान के लिये अत्यन्त उपयोगी है। इनके द्वारा रचित ग्यारह अनुक्रमणियों के संकेत प्राप्त होते हैं, जिनमें से नामानुक्रमणी तथा अख्यातानुक्रमणी का प्रकाशन हो चुका है। अन्य अनुक्रमाणियों के नाम हैं - स्वरानुक्रमणी, निर्वचनानुक्रमणी, छन्दोनुक्रमणी।

वेंकट माधव :-

इन्होंने सम्पूर्ण ऋग्संहिता पर भाष्य की रचना की है। भाष्य के अन्तिम अध्याय में इन्होंने जो अपना परिचय दिया है उसके अनुसार इनके पितामह का नाम माधव, पिता का नाम वेंकटार्य, मातामह का भवगोल तथा माता का नाम सुन्दरी था। इनके दो पुत्र थे वेंकट और गोविन्द और ये चोल देश (आन्ध्र प्रान्त) के निवासी थे। इनका उल्लेख सायण (ऋ. १०/८६/१), देवराजयज्वा (निघण्टुभाष्य भूमिका, समय १३०० ई.) और केशवस्वामी देवराजयज्वा (निघण्टुभाष्य भूमिका, समय १३०० ई.) और केशवस्वामी (नानार्थार्णवसंक्षेप, समय १२५०) ने किया है, अतः इनका समय १२०० ई. के पश्चात् नहीं हो सकता। डॉ. लक्ष्मण सरूप के अनुसार इनका समय १०वीं शताब्दी है। इनका भाष्य अत्यन्त संक्षिप्त है जिसमें केवल मन्त्रों के पदों की व्याख्या है - 'वर्जयन् शब्दविस्तारं शब्दैः कतिपयैरिति। इसका संपादन डॉ. लक्ष्मण सरूप ने किया है जो मोतीलाल बनारसीदास से प्रकाशित हो चुका है। माधव केवल पर्यायवाची शब्दों को देकर ही मन्त्रों के पदों का अर्थ स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। इसमें व्याकरणिक तथ्यों का निर्देश नहीं है, पर ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रमाण दिये गये हैं। इनके अनुसार जिसने व्याकरण और निरुक्त का सश्रम अध्ययन किया है, वह संहिता का चतुर्थांश ही जानता है; किन्तु जिसने ब्राह्मण ग्रन्थों के अर्थ का परिश्रमपूर्वक विवेचन किया है, वही वेदार्थ का वास्तविक ज्ञाता है।

''संहितायास्तुरीयांशं विजानन्त्यधुनातनाः।

निरुक्त-व्याकरणयोरासीत् येषां परिश्रमः।।

अथ ये ब्राह्मणार्थानां विवेक्तारः क त-श्रमाः।

शब्दरीतिं विजानन्ति ते सर्वं कथयन्त्यपि।।''

धानुष्कयज्वा :-

ये १३०० विक्रम संवत् के पूर्ववर्त्ती हैं। इन्होंने तीन वेदों पर भाष्य की रचना की है। इनका उल्लेख वेदाचार्य की 'सुदर्शन मीमांसा' में प्राप्त होता है।

आनन्दतीर्थ :-

प्रसिद्ध द्वैतवादी आचार्य मध्व का ही नाम आनन्दतीर्थ था। इन्होंने ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के चालीस सूक्तों पर पद्यबद्ध व्याख्या लिखी है। इनका समय संवत् १२५५ से १३३५ विक्रम है।

आत्मानन्द :-

इन्होंने 'ऋग्वेद' के अन्तर्गत 'अस्यवामीय' सूक्त पर भाष्य की रचना की है। इनके भाष्य में सायण का नामोल्लेख नहीं है, पर स्कन्द और भास्कर के नाम प्राप्त होते हैं। इससे ज्ञात होता है कि ये सायण के पूर्ववर्त्ती थे। इन्होंने 'मिताक्षरा' के रचयिता विज्ञानेश्वर (१०७०-११०० ई.) और स्म ति

चन्द्रिका' के प्रणेता देवण्णभट्ट को (१३वीं शताब्दी ई.) उद्ध त किया है, अतः इनका समय विक्रम की चौदहवीं शती निश्चित होता है। इनका भाष्य अध्यात्मपरक है, जिसकी स्वीक ति स्वयं लेखक ने की है - ''अधिक यज्ञविषयं स्कन्दादि भाष्यम्। निरुक्तमधिदैवतविषयम्। इदन्तु भाष्यमध्यात्मविषयमिति। न च भिन्न विषयाणां विरोधः। अस्य भाष्यस्य मूलं विष्णुधर्मोत्तरम्।''

सायणाचार्य :-

वेदार्थानुशीलन में जितना विस्त त और महत्त्वपूर्ण कार्य आचार्य सायण ने किया है वैसा किसी अन्य विद्वान् भाष्यकार ने शायद ही किया हो।

आचार्य सायण के जीवन के आरम्भिक तीस वर्षों की प्रामाणिक जानकारी यद्यपि आज उपलब्ध नहीं है तथापि तीस वर्ष के बाद के उनके जीवन के स्वरूप के आधार पर विद्वानों ने उनके प्रारम्भिक जीवन के कुछ तथ्यों का उद्घाटन किया है।

डाक्टर औफ्रेक्ट के लेखानुसार सायण की म त्यु विक्रम संवत् १४४४ (ईस्वी सन् १३८७) में हुई उनकी अवस्था उस समय ७२ (बहत्तर) साल की थी। अतः सायणाचार्य का जन्म वि. सं. १६७२ (ई. सं. १३१५) में हुआ। इनके पिता का नाम मायण और इनकी माता का नाम श्रीमती था। इससे लगभग १५ वर्ष पहले इनके ज्येष्ठ भ्राता माधव विद्यारणय का जन्म वि. सं. १३५७ (ई. स. १३००) में हो चुका था। सायण अपने माता-पिता के दूसरे पुत्र थे। इनके माता-पिता साधारण स्थिति के ब्राह्मण ग हस्थ थे। अतः इनका बाल्यकाल विशेष सम द्धि तथा सौख्य में बीता होगा, इसकी कल्पना हम नहीं कर सकते। इतना तो हमें बाध्य होकर कहना पड़ेगा कि बचपन में इनको बहुत ही अच्छी शिक्षा दी गई होगी। बिना व्याकरण ज्ञान के संस्क त भाषा तथा साहित्य के विशाल दुर्ग में प्रवेश करना एक प्रकार से असम्भव ही है। अतः पाणिनीय व्याकरण की सुचारु शिक्षा इन्हें दी गयी थी। तभी तो आगे चलकर इन्होंने 'माधवीया धातुव त्ति' की रचना कर व्याकरण के विद्यार्थियों के लिए एक प्रामाणिक ग्रन्थरत्न प्रस्तुत कर दिया।

व्याकरण के बाद मीमांसा में भी इनको विशेष प्रवीणता प्राप्त थी। अतः बाल्यकाल में इन्होंने मीमांसा का सुव्यवस्थित अध्ययन किया होगा। इनके जेठे भाई माधव मीमांसा के एक प्रकार से आचार्य ही माने जाते हैं। बहुत सम्भव है कि सायण ने माधव से ही यह आवश्यक विषय पढ़ा होगा। सायण की अपनी संहिता यजुर्वेदीय 'तैत्तिरीय संहिता' है। अतः इस संहिता का भी अध्ययन तथा मन इन्होंने विशेष मनोयोग पूर्वक अवश्य किया होगा। इनके अतिरिक्त संस्क त-साहित्य के अन्य विभागों में भी इन्होंने अभिज्ञता प्राप्त की होगी। सायणाचार्य का बाल्यकाल अपने जीवन की लक्ष्यसिद्धि की तैयारी करने में बीता होगा। उनके जीवन का सर्वोत्तम कार्य है वेदभाष्य का प्रणयन। अतः इस काल में तदुपयोगी विषयों में इन्होंने अपनी अभिज्ञता प्राप्त कर ली होगी।

वि. सं. १४०३ (सन् १३४६) में एकतीस साल की उम्र में सायणाचार्य हरिहर के अनुज कम्पण के राज्य के मन्त्री थे। इस वर्ष के नेल्लोर जिले के 'कोडवलूरु' स्थान से मिले हुए शिलालेख से सायण के ओडयलु 'कम्पणति ओडयर' (प्रसिद्ध नाम कम्पणभूपाल) के महा प्रधान (प्रधान मन्त्री) होने का पता चलता है। सायण नौ वर्ष तक कम्पण के महामन्त्री रहे। सम्भवतः १२७७ शक सं. (१३५५ ईस्वी) में कम्पण की म त्यु हो गयी। अतः वि. सं. १४०३ से लेकर १४१२ तक (१३४६ से १३५५ ई. तक) अर्थात् जब तक कम्पण ने विजयनगर के पूर्वी प्रदेशों पर शासन किया, तब तक इन्होंने पूरे नौ वर्ष तक शासन की बागडोर अपने हाथ में रखी।

वि. सं. १४१२ (ई. स. १३५५) में जब कम्पण नरेश ने अपनी ऐहिक लीला समाप्त की, तब उनके एकमात्र पुत्र संगम (द्वितीय) अभी तक निरे बालक थे। सायण साम्राज्य के प्रधानमंत्री थे, अतः कम्पण ने अपने सन्तान तथा साम्राज्य दोनों के निरीक्षण का भर अपने कुशल मन्त्री के समर्थ हाथों में छोड़ा।

राजनीति-कुशल आचार्य सायण ने बालक संगम को अपनी देख-रेख में रखा तथा भावी राजा के लिए उपयोगिनी समस्त विद्याएं इन्हें पढ़ा डाली। अनुगत तथा श्रद्धालु शिष्य को जैसा होना चाहिए, संगम ने भी अपने शिक्षक के प्रति उसी तरह का व्यवहार किया। सायण की योग्य शिक्षा का यह प्रभाव हुआ कि संगम नरेश राजनीति के प्रयोगों में अत्यन्त प्रौढ़ बन गये।

वि. सं. १४२१ (१३६४ ई.) का एक शिलालेख नल्लूर शहर से मिला है जिसमें लिखा है कि 'श्रीमान् महामण्डलेश्वर वीर श्री सावण्ण (सायण) ओडयलु ने प थ्वी पर शासन किया। इस शिलालेख में संगम भूपाल का नाम उल्लिखित नहीं है जिससे प्रोफेसर हेरास ने यह परिणाम निकाला है कि सङ्गम उस समय राज्य प्रबन्ध के कार्य से प थक् से हो गया था। अतः सायणाचार्य बुक्क नरेश की अधीनता में ही नल्लूर प्रान्त का शासन वि. सं. १४२१ में कर रहे थे। अतः इस वर्ष के पहले ही सायण बुक्क की अधीनता में कार्य करने लगे थे। इसके कुछ ही वर्ष बाद सायण विजयनगर राजधानी में आ गये और महाराज बुक्क के यहाँ भी मन्त्रिपद पर अधिष्ठित हो गये। इस समय सायण की अवस्था लगभग ४८ वर्ष की थी। बुक्क के यहाँ सायण ने लगभग १६ वर्षों तक वि. सं. १४२१ से लेकर १४३७ तक (१३६४ ई. १३८० ई.) मन्त्री के उत्तरदायी कार्य को सुचारू रूप से किया, सायण के जीवन का यही काल सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसी मन्त्रित्व के समय में सायण ने वेदभाष्यों की रचना की। वेदभाष्य महाराज बुक्क की इच्छा तथा अनुज्ञा से बनाये गये। ऋग्वेद भाष्य की पुष्पिका में इसी लिए सायण ने अपने को 'वीर बुक्क साम्राज्य धुरन्धर' लिखा है। इस प्रकार वर्षों की अधिक संख्या तथा कार्यों की महनीयता के कारण श्री सायणाचार्य के जीवन के इस काल को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानना चाहिए।

वि. सं. १४३८ (१३७६ ई. में) बुक्क महाराज की म त्यु के पश्चात् उसी वर्ष उनके पुत्र हरिहर राज्य सिंहासन पर आरूढ़ हुए। क्रमानुसार पिता की म त्यु के बाद सायण पुत्र के राज्य के भी मन्त्री हुए। हरिहर के शासन काल में सायण अधिक दिनों तक मन्त्री न रहे। उस समय वे व द्ध हो चले थे उनकी उम्र हरिहर के मन्त्रित्व स्वीकार करने के समय लगभग ६४ वर्षों की थी परन्तु फिर भी उनके शरीर में प्रबन्ध करने की शक्ति बनी हुई थी तथा अपने जीवन कार्य को समाप्त करने का पर्याप्त सामर्थ्य उनके उन्नत मस्तिष्क में अब भी बना हुआ था। हरिहर की आज्ञा से सायण ने अवशिष्ट वैदिक संहिता तथा ब्राह्मण का भाष्य रच कर एक प्रकार से अपने जीवन लक्ष्य को पूर्ण कर दिया। सायण केवल छः वर्षों ही तक वि. सं. १४३८-१४४४ (१३७६ से १३८५ ई.) तक हरिहर द्वितीय के अमात्य रहे। सं. १४४४ (१३८७ ई.) में ७२ वर्ष की उम्र में सायण ने हरिहर के राज्य काल में ही उनका शरीर पूर्ण हुआ।

वेदभाष्य :-

महाराज बुक्कराय का संस्क त साहित्य, आर्य धर्म तथा हिन्दू सभ्यता के प्रति विमल तथा प्रगाढ अनुराग था। महाराज ने अपने उच्च विचारों को कार्यरूप में परिणत करने के लिए यह आवश्यक समझा कि हिन्दू धर्म के आदिम तथा प्राणभूत ग्रन्थरत्न वेदों के अर्थ की सुन्दर तथा प्रामाणिक ढंग से व्याख्या की जाये। इस विषय में तैत्तिरीय संहिता भाष्य के आरम्भ में एक विवरण प्राप्त होता है जिसके अनुसार महाराज बुक्क ने अपने आध्यात्मिक गुरु तथा राजनीतिज्ञ अमात्य माधव को आदेश दिया कि वेदों के अर्थ का प्रकाशन किया जाये। माधवाचार्य वेदार्थ के मर्मज्ञ मीमांसक थे। जैमिनीय न्यायमाला की रचना कर उन्होंने अपने मीमांसा ज्ञान का प्रक ष्ट परिचय दिया था। अतः ऐसे सुयोग्य विद्वान् से वेदार्थ की व्याख्या के लिए प्रार्थना करना नितान्त उपयुक्त था। परन्तु जान पड़ता है कि अनेक अन्य आवश्यक कार्यों में व्यग्र रहने के कारण माधव अपने शिष्य तथा आश्रयदाता के इस आदरणीय आदेश को मानने के लिए तैयार नहीं हुए। इस कारण से अथवा किसी अन्य किसी अभिप्राय से माधव ने अपने ऊपर इस गुरुतर कार्य के निबाहने का भार नहीं रखा। फलतः उन्होंने राजा से कहा - यह मेरा छोटा

भाई सायणाचार्य वेदों की सब बातों को जानता है - गूढ़ से ही गूढ़, अभिप्राय तथा रहस्य से परिचित है। अतः इन्हीं को इस व्याख्या कार्य के लिए नियुक्त कीजिए। माधवाचार्य के इस उत्तर को सुनकर वीर बुक्क महीपति ने सायणाचार्य को वेदार्थ के प्रकाशन के लिए आज्ञा दी। तब क पालु सायणाचार्य ने वेदार्थों की व्याख्या की।

यद्यपि बुक्क की ही आज्ञा से वेदभाष्यों की रचना का सूत्र-पात हुआ, तथापि माधवाचार्य का हाथ इसमें विशेष दीखता है। अतः जिस प्रकार हम इन ग्रन्थ रत्नों के लिए सायणाचार्य के ऋणी हैं उसी प्रकार हम माधवाचार्य के भी हैं। माधव के लिए हमें और भी आदर है। यदि उनकी प्रेरणा कहीं न हुई होती, तो इन वेदभाष्यों की रचना ही सम्पन्न नहीं होती। अतः वेदाभिमानियों को महाराज बुक्क, माधवाचार्य तथा सायणाचार्य - इन तीनों के प्रति इन गौरवमय ग्रन्थों के लिए अपनी प्रगाढ़ क तज्ञता प्रकट करनी चाहिए।

जिन संहिताओं तथा ब्राह्मणों के ऊपर सायण ने अपने भाष्य लिखे उनके नामों का यहाँ उल्लेख किया जामता है। जहाँ तक पता चलता है सायण ने ज्ञान काण्ड की व्याख्या में किसी ग्रन्थ को नहीं लिखा। उनका पूरा जोर कर्मकाण्डपरक व्याख्याओं पर ही रहा।

सायण ने इन सुप्रसिद्ध वैदिक संहिताओं के ऊपर अपने भाष्य लिखे :-

(१) तैत्तिरीय संहिता (क ष्ण् यजुर्वेद की)

(२) ऋग्वेद संहिता

(३) सामवेद संहिता

(४) काण्व संहिता (शुक्लयजुर्वेदीय)

(५) अथर्ववेद संहिता

सायण के द्वारा व्याख्यात ब्राह्मण तथा आरणयक -

क-कृक णयजुर्वेदीय ब्राह्मण और आरण्यक -

(१) तैत्तिरीय ब्राह्मण

(२) तैत्तिरीय आरणयक

ख-ऋग्वेद के ब्राह्मण और आरण्यक :-

(३) ऐतरेय ब्राह्मण

(४) ऐतरेय आरणयक

ग-सामवेद के ब्राह्मण -

(५) ताण्ड्य (प चविंशामहा) ब्राह्मण

(६) षड्विंश ब्राह्मण

(७) सामविधान ब्राह्मण

(८) आर्षेय ब्राह्मण

(६) देवताध्याय ब्राह्मण

(१०) उपनिषद् ब्राह्मण

(११) संहितोपनिषद् ब्राह्मण

(१२) वंश ब्राह्मण

घ- शुक्ल यजुर्वेदीय ब्राह्मण :-

(१३) शतपथ ब्राह्मण

इस प्रकार सायणाचार्य ने ५ संहिताओं के भाष्य तथा १३ ब्राह्मण-आरण्यकों की व्याख्या लिखी। सायणक त वेदभाष्यों के नामोल्लेख से स्पष्टतः प्रतीत होता है कि उन्होंने चारों वेदों की संहिताओं के ऊपर अपने प्रामाणिक भाष्य लिखे तथा चारों वेदों के ब्राह्मण भाग की भी व्याख्या लिखी। शुक्लयजुर्वेद तथा सामवेद के समग्र ब्राह्मणों पर सायण ने भाष्य लिखे। शुक्लयजुर्वेद का एक ही ब्राह्मण मिलता है। वह है शतपथ ब्राह्मण। यह विपुलकाय ग्रन्थ सौ बड़े २ अध्यायों में विभक्त है। सायण ने इस ग्रन्थरत्न की सुन्दर व्याख्या लिखी। सामवेद के आठ ब्राह्मण मिलते हैं। इन आठों ब्राह्मणों पर सायण ने व्याख्यान लिखा है। ऋग्वेद के दो ब्राह्मण तथा दो आरणयक हैं - ऐतरेय ब्राह्मण तथा ऐतरेय आरणयक; कौषीतकि ब्राह्मण तथा कौषीतकि आरण्यक। इनमें सायण ने पहले दोनों पर ही व्याख्या लिखी है। इसी प्रकार क ष्ण यजुर्वेद की एक ही शाखा से सम्बद्ध ब्राह्मण तथा आरण्यक की व्याख्या सायण ने बनाई। क ष्णयजुर्वेद की अनेक शाखाओं के ग्रन्थ उपलब्ध हैं, परन्तु सायण ने इन सबों को छोड़कर अपनी ही शाखा के ब्राह्मण तथा आरण्यक के भाष्य लिखे। इस प्रकार सायणाचार्य ने वैदिक साहित्य के एक विशाल भाग के ऊपर अपने विस्त त तथा प्रामाणिक भाष्य लिखे। यह कार्य इतना महत्त्वपूर्ण हुआ है कि उनकी समता न तो किसी प्राचीन आचार्य से ही की जा सकती है और न किसी परवर्ती भाष्यकार से ही; क्योंकि किसी ने भी इतने वैदिक ग्रन्थों पर भाष्य नहीं बनाए। यही सायणाचार्य के भाष्यों का महत्त्व है।

सायणाचार्य ने अपने भाष्यों के आरम्भ में कुछ न कुछ उपोद्घात के रूप में कतिपय पद्यों को रखा है। इनकी परीक्षा से हम इन भाष्यों की रचना के क्रम को भली-भाँति जान सकते है। सायणाचार्य ने सब से पहले बुक्कराय के आदेश से जिस वैदिक संहिता पर भाष्य लिखा क ष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता है। इस संहिता के सर्वप्रथम भाष्य लिखे जाने का कारण यह नहीं है कि यह सायण की अपने संहिता थी। सायण तैत्तिरीय शाख्याध्यायी ब्राह्मण थे।

अतः अपनी शाखा होने से तथा अतिपरिचित होने के हेतु तैत्तिरीय संहिता के ऊपर सब से पहले भाष्य लिखना उनके लिए उचित ही नहीं बल्कि स्वाभाविक भी है। परन्तु केवल इसी कारण से ही तैत्तिरीय भाष्य को सर्वप्रथम रचित होने का गौरव नहीं प्राप्त है। इसका एक और ही कारण है। यागानुष्ठान के लिए चार ऋत्विजों की आवश्यकता होती है जिनके नाम अध्वर्यु, होता, उद्गाता तथा ब्रह्मा हैं। इनमें अध्वर्यु की प्रधानता मानी जाती है। वही यज्ञ के समस्त अनुष्ठानों का यजमान के द्वारा विधान कराता है। ऋग्वेद ने तो यहाँ तक कहा है कि वही यज्ञ के स्वरूप का निर्माता है। (यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उत्वः)। इस अध्वर्यु के लिए यजुर्वेद की संहिता प्रस्तुत की गई। यजुर्वेद के मंत्रों के द्वारा अध्वर्यु अपने कर्म (जिसे 'आध्वर्यव' कहते हैं) का निष्पादन करता है। 'यजुः' शब्द की निरुक्ति ही (यजुः यजतेः) इसके यागनि पादकत्व की सूचना देती है। यजुर्वेद के द्वारा यज्ञ के स्वरूप की निष्पत्ति के अनन्तर की स्रोत तथा शस्त्र नामक अवयवों की ऋग्वेद तथा सामवेद के द्वारा पूर्ति की जाती है। अतएव सब से अधिक उपयोगी होने के कारण उसका व्याख्यान सर्वप्रथम करना उपर्युक्त है। यजुर्वेद भी दो प्रकार का है - क ष्ण तथा शुक्ल। क ष्णयजुः की बहुत-सी शाखाओं में तैत्तिरीय शाखा ही भाष्यकार की अपनी शाखा है। अतः तैत्तिरीय भाष्य की व्याख्या का सबसे पहले लिखा जाना प्रमाणसिद्ध है।

सायण ने तैत्तिरीय संहिता के भाष्य को लिखकर उसके ब्राह्मण तथा आरणयक के व्याख्यान लिखने को क्रमबद्ध तथा उचित समझा। किसी अन्य वेद की संहिता पर भाष्य बनाने को अपने हाथ में लेने की अपेक्षा यह कहीं अधिक युक्ति युक्त प्रतीत होता है कि पूर्व वेद के ब्राह्मण तथा आरणयकों का भी व्याख्यान उस की संहिता के भाष्य के अनन्तर प्रस्तुत कर दिया जाये। इस प्रकार उस वेद का भाष्य पूर्ण हो जाता है। इसी श्लाघनीय तथा स्वाभाविक क्रम को सायण ने सर्वत्र आदर दिया है। इसी शैली के अनुसार सायण ने तैत्तिरीय संहिता के अनन्तर तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय आरणयक पर भाष्य बनाया। सायण ने इन ग्रन्थों के आरम्भ में इनके पूर्वोक्त रचनाक्रम को स्पष्टतः ही प्रदर्शित किया है -

व्याख्याता सुख बोधाय तैत्तिरीयकसंहिता।

तद् ब्राह्मणं व्याकरि ये सुखेनार्थविबुद्धये।।

व्याख्याता सुखबोधार्थं तैत्तिरीयकसंहिता।

तद् ब्राह्मणं च व्याख्यातं शिष्टमारण्यकं ततः।।

(२) तैत्तिरीय शाखा की संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यक के भाष्य निर्माण के पश्चात् ऋग्वेद के व्याख्यान लिखने की बारी आई। अध्वर्यु के बाद होता का कार्य महत्त्वपूर्ण माना जाता है। उसके लिए ऋग्वेद की आवश्यकता होती है। होता का कार्य - हौत्र - ऋग्वेदों के मंत्रों के द्वारा यागानुष्ठान के समय विशिष्ट देवताओं को बुलाना है। वह ऋचाओं को स्वर के साथ उच्चारण करता है तब यज्ञों में देवताओं का आगमन होता है। इस हौत्र कर्म में ऋग्वेद संहिता का उपयोग है। अतः व्याख्यात संहिताओं में यह दूसरी संहिता है। सायण ने ऋग्भाष्य के आरम्भ में स्वयं लिखा है :-

''आध्वर्यवस्य यज्ञेषु प्राधान्याद् व्याक तः पुरा।

यजुर्वेदोथ हौत्रार्थम ग्वेदो व्याकरिष्यते।।''

तैत्तिरीय श्रुति के अनन्तर ऋग्वेद का भाष्य लिखा गया, यह बात ठीक है। परन्तु सायण ने इस वेद के ब्राह्मण - ऐतरेय तथा आरण्यक (ऐतरेय) का भाष्य लिखा, अनन्तर संहिता का भाष्य तैयार किया। ऋग्वेद भाष्य के आरम्भ में ही सायण ने इस काम को स्वीकार किया है --

मन्त्रब्राह्मणात्मके वेदे ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानोपयोगित्वात् आदौ ब्राह्मणमारण्यकाण्डसहितं व्याख्यातम्। अथ तत्र तत्र ब्राह्मणोदाहरणेन मन्त्रात्मकः संहिताग्रन्थो व्याख्यातव्यः।।

सायण ने अपने वेदभाष्य का नाम 'वेदार्थ प्रकाश' लिखा है तथा इसे अपने गुरु विद्यातीर्थ को समर्पित किया है :-

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन्।

पुत्रार्थांश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः।

समूचे ऋग्भाष्य का प्रथम संस्करण डा. मैक्समूलर ने छ जिल्दों में १८४६-७४ ई. में सम्पादित किया था जिसे ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने प्रकाशित कराया था। दूसरा संस्करण पहले से अधिक शुद्ध ४ जिल्दों में प्रकाशित किया गया है। भारतवर्ष में तुकाराम तात्या ने ८ जिल्दों में इस भाष्य को निकाला था। तिलक विद्यालय पूना से भाष्य का बहुत ही विशुद्ध संस्करण प्रकाशित हुआ है। यह संस्करण मैक्समूलर के संस्करण से कहीं अच्छा है। इसमें उपलब्ध समग्र हस्तलेखों का उपयोग किया गया है।

(३) होता के अनन्तर उद्गातृ नामक ऋत्विक् का काम आता है। वह उच्च स्वर में सामों को गाता है। इसी कारण वह 'उद्गात ' (उच्च स्वर में गाने वाले) के नाम से प्रसिद्ध है। सामों के गाने के

उसके इस कार्य को 'औद्गात्र' कहते हैं। इसके लिए सामवेद की आवश्यकता होती है। ऋचाओं के ऊपर साम गाए जाते हैं। अतः ऋग्वेद के बाद सामवेद की व्याख्या युक्ति युक्त है। यजुर्वेद के द्वारा यज्ञ के स्वरूप की निष्पत्ति होती है। जिस प्रकार शरीर के उत्पन्न होने पर आभूषण पहने जाते हैं, उसी प्रकार ऋचाओं के द्वारा यज्ञ शरीर भूषित किया जाता है और जैसे आभूषणों में मोती तथा हीरे जड़े जाते हैं तथा उनका आश्रय आभूषण ही होता है, वैसे ही ऋचाओं को अलंक त करने वाले तदाश्रित रहने वाले सामों की स्थिति है। अतः एक के बाद दूसरे की व्याख्या क्रम-प्राप्त भी है तथा स्वाभाविक भी। सायणाचार्य ने इसको स्वयं स्वीकार किया है तथा सामभाष्य को ऋग्भाष्य के अनन्तर विरचित बतलाया है। सामवेद की संहिता के अनन्तर उसके ब्राह्मणग्रन्थों पर भाष्य लिखे गए। सामवेद के आठ ब्राह्मण हैं। इन सब ब्राह्मणों की व्याख्या सायण ने की है। अष्टम वंश ब्राह्मण के व्याख्यान के आरम्भ में संहितात्रयी के अनन्तर साम ब्राह्मणों के निर्माण होने की बात को भाष्यकार ने भी स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। सामवेद का कोई भी आरण्यक नहीं है। अतः अभाववशात् इसके भाष्य-ग्रन्थ भी सायण ने नहीं बनाए। इन साम ब्राह्मणों की भी व्याख्या उसी क्रम से की गई जिस क्रम से इनका नामोल्लेख पहले किया गया है। सबसे पहले ताण्ड्य ब्राह्मण की तथा सबके अन्तर में वंश ब्राह्मण की व्याख्या लिखी गई।

(४) सामवेद के अनन्तर काणव संहिता का भाष्य बना। यजुर्वेद के दो प्रकार हैं - क ष्ण यजुः तथा शुक्ल यजुः। इनमें क ष्णयजुः की तैत्तिरीय संहिता की व्याख्या सबसे पहले की गई है। शुक्ल यजुः की दो संहितायें हैं - एक माध्यन्दिनि संहिता और दूसरी काण्व संहिता। सायण के लगभग तीन सौ वर्ष पहले ही राजा भोजन के शासन काल में आनन्दपुर वास्तव्य आचार्य उव्वट ने माध्यन्दिन संहिता की विव त्ति लिखी थी। वह इतनी प्रामाणिक है कि इसके ऊपर फिर से भाष्य लिखने की आवश्यकता नहीं। अतः शेष बची काण्व संहिता का भाष्य सायण ने लिखा, परन्तु इसके आधे ही पर (२० अध्यायों पर ही) उनका भाष्य मिलता है तथा चौखम्भा से प्रकाशित हुआ है। जान पड़ता है कि सायण ने उत्तरार्ध के ऊपर व्याख्या नहीं लिखी। अनन्ताचार्य ने अपने काण्व संहिता भाष्य के आरम्भ में इस बात की पुष्टि की है :-

व्याख्याता काण्वशाखीया संहिता पूर्वविंशतिः।

माधवाचार्यवर्येण स्पष्टीक त्य न चोत्तरा।।

साम के अनन्तर काण्व भाष्य के लिखे जाने की बात को सायण ने स्वयं स्वीकार किया है।

(५) संहिताभाष्यों में अथर्व भाष्य सब के अन्त में बना। सायणाचार्य ने अथर्व भाष्य के उपोद्घात में लिखा है कि वेदत्रयी के अनन्तर अथर्व की व्याख्या लिखी गई। वेदत्रयी के पहले व्याख्या करने का कारण ऊपर दिया गया है। उसमें एक अन्य कारण यह भी है कि वेदत्रयी के विधानों का फल स्वर्गलोक में मिलने वाला होता है, परन्तु अथर्ववेद के द्वारा प्रतिपादित अनुष्ठानों का फल पारलौकिक (आमुष्मिक) ही नहीं होता, प्रत्युत ऐहिक भी होता है। अतः पारलौकिक फल वाले तीन वेदों के भाष्य के पीछे उभय लोक के कल्याण करने वाले (ऐहिकामुशिमक) अथर्ववेद का भाष्य सायण ने बनाया -

व्याख्याय वेदत्रितयमामुष्मिकफलप्रदम्।

ऐहिकामुष्मिकफलं चतुर्थं व्याचिकीर्षति।।

--अथर्वभाष्य का उपोद्घात।

अथर्ववेद के ऊपर सायण का ही एकमात्र भाष्य मिलता है, परन्तु दुःख की बात है कि अभी तक उसका सम्पूर्णकोष उपलब्ध नहीं हुआ।

अभी तक यह त्रुटित ही है। इस वेद का सायण भाष्य श्री काशीनाथ पाण्डुरंग पण्डित ने बड़े परिश्रम से ४ बड़े-बड़े जिल्दों में बम्बई से (१८६५-१८६८ ई.) प्रकाशित किया है। वही इस भाष्य का एकमात्र संस्करण है। इसमें अथर्व के २० काण्डों में से केवल १२ काण्डों (१, २, ३, ४, ६ - ८, ११, १७-२०) पर ही सायण भाष्य है, अन्य ८ काण्ड (५, ६, १०, १२-१६) बिना भाष्य के ही छापे गये हैं।

सायण के भाष्यों में शतपथभाष्य सब से पीछे की रचना है। वेदत्रयी का तथा अन्य ब्राह्मणों के भाष्य बुक्क के राज्यकाल में लिखे गये। अथर्व तथा शतपथ के भाष्य हरिहर द्वितीय के राज्यकाल की रचनायें हैं। सायण ने पूरे शतपथ पर भाष्य लिखा था, परन्तु वह उपलब्ध नहीं होता। इसके तीन संस्करण समय-समय पर प्रकाशित हुये हैं। डा. वेबर के संस्करण मकं सायण भाष्य अधूरा है। स्थान-स्थान पर हरिस्वामी का भाष्य दिया गया है। कलकत्ता के एशिएटिक सोसाइटी का संस्करण अधूरा है। वेंकटेश्वर प्रेस से शतपथ भाष्य ५ जिल्दों में अभी हाल में प्रकाशित हुआ है। यह संस्करण विशुद्ध प्रतीत होता है। इसमें जिन काण्डों पर सायण का भाष्य उपलब्ध नहीं है, वहां हरिस्वामी का भाष्य दे दिया गया है। अतः हरिस्वामी तथा सायण- दोनों के स्थान-स्थान पर भाष्यों को मिला देने से हमें पूरा सभाष्य शतपथ उपलब्ध हो गया है। ब हदारणयक उपनिषद् पर वेबर ने द्विवेद गंग का भाष्य प्रकाशित किया था; वेंकटेश्वर संस्करण में 'वासुदेव ब्रह्म भगवान्' का भाष्य है। इस संस्करण का प्रकाशन वेदानुशीलन के लिए बड़ा उपयोगी है।

वेदभाष्यों के रचना काल का निर्णय नितान्त महत्त्वपूर्ण कार्य है। सायणाचार्य ने किस समय इनकी रचना की ? इनकी रचना के समय भाष्यकार की अवस्था क्या थी ? वे उस समय युवा थे अथवा व द्धावस्था में पैर रखा था ? इन प्रश्नों का समुचित उत्तर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस रचना-काल का निर्णय हम बहिरंग तथा अन्तरंग साधनों की सहायता से यहां करने का प्रयत्न करेंगे।

बड़ौदा की सेन्ट्रल लाइब्रेरी में ऋग्वेदभाष्य की एक हस्तलिखित प्रति सुरक्षित है। इसमें केवल ऋग्वेद के चतुर्थ अष्टक का सायण भाष्य है। इस प्रति का लिपिकाल १४५२ विक्रम संवत् है। इसे ऋग्वेदभाष्य की सबसे प्राचीन उपलब्ध प्रति समझनी चाहिए। इससे अधिक प्राचीन प्रति अब तक कहीं भी प्राप्त नहीं हुई है। सायण की म त्यु वि. सं. १४४४ में बतलाई गई है। अतः सायण की म त्यु के आठवें वर्ष ही संभवतः यह हस्तलिखित प्रति तैयार की गई। इससे ऋग्वेदभा य की रचना वि.सं. १४५२ के पहले अवश्य की गई होगी यह नितान्त स्पष्ट है।

भाष्यों में सायण ने ग्रन्थ रचना के काल का निर्देश कहीं भी नहीं किया है। यदि किया होता, तो रचना काल का निःसन्दिग्ध निर्णय हो जाता, परन्तु काल-निर्देश न होने पर भी सायण ने अपने आश्रयदाताओं के नाम का जो उल्लेख किया है उससे रचना-समय का पता भली भाँति चल सकता है। तैत्तिरीय संहिता आदि चारों संहिताओं तैत्तिरीय ब्राह्मण आदि उपरि निर्दिष्ट बारह ब्राह्मणों के भाष्य के आरम्भ में सायण ने बुक्क नरेश के आदेश से इन के भाष्यों के रचे जाने की घटना का उल्लेख किया है। इन भाष्यों की पुष्पिका में सायण ने अपने को वैदिकमार्गप्रवर्तक राजाधिराज श्री वीर बुक्क का मन्त्री (साम्राज्य-धुरन्धर) लिखा है। अथर्वसंहिता की भाष्यावतरणिका में सायण ने बुक्कनरेश के पुत्र महाराजाधिराज, 'धर्मब्रह्माध्वन्य,' षोडश महादानों को करने वाले, विजयी हरिहर (द्वितीय) का उल्लेख किया है। शतपथ ब्राह्मण के भाष्यारम्भ में इन्हीं हरिहर का उल्लेख प्रायः इन्हीं शब्दों में पाया जाता है। इनकी पुष्पिका से पता चलता है कि इन भाष्यों की रचना के समय सायण हरिहर द्वितीय के प्रधानमन्त्री थे तथा उन्हीं के कहने पर इन्होंने इन ग्रन्थों की रचना की। इन निर्देशों से हम वेदभाष्य की रचना के समय का निर्धारण कर सकते हैं। हमने सप्रमाण सिद्ध किया है कि सायण वि. सं. १४२१ से लेकर वि. सं. १४३७ तक (१३६४ ई. से १३६८ ई. तक) लगभग सोलह वर्षों तक बुक्क महाराज के प्रधानमंत्री तथा वि. सं. १४३८ (१३७६ ई.) से लेकर अपनी म त्यु सं. १४४४ वि० हरिहर द्वितीय के प्रधान अमात्य थे। इससे प्रतीत होता है कि लगभग वि. सं. १४२० से लेकर वि. सं. १४४४ तक अर्थात २४ वर्षो के सुदीर्घ काल में सायणाचार्य ने वेदों के भाष्य बनाए। उस समय सायण की उम्र लगभग अड़तालीस

या पचास वर्ष की थी।

इस समय ये वेदों के सकल गूढ अर्थ के प्रतिपादन करने में नितान्त निष्णात थे। अतः अपने गंभीर शास्त्र ज्ञान का परिचय सायण ने इन भाष्यों में दिया है। आजकल पंडितजन तो पचास की उम्र में शास्त्राभ्यास से किनारा करने लगते हैं। इसी उम्र में इतना बड़ा काम उठाना तथा उसे सुचारु रूप से समाप्त करना देना बड़े साहस अध्यवसाय तथा पाण्डित्य का आश्चर्यजनक कार्य है। सायणाचार्य ने इस कार्य के स्वीकार करने के अनन्तर अन्य किसी विशिष्ट कार्य को अपने हाथ में नहीं लिया। उन्होंने अपना शेष जीवन इसी कार्य में लगाया। इससे निश्चित होता है कि सायण ने अपने जीवन के अन्तिम बीस या चौबीस वर्ष इसी महत्त्वपूर्ण कार्य के सम्पादन में लगाये तथा इसे सफलतापूर्वक समाप्त किया। पूर्वोक्त आधार पर वेदभाष्य का रचनाकाल वि.सं. १४२० से लेकर वि. सं. १४४४ है।

सायणाचार्य ने अपने कतिपय ग्रन्थों के नामों के पहिले 'माधवीय' शब्द का प्रयोग किया है। सायण की ही बनाई धातुव त्ति 'माधवीया धातुव त्ति' के नाम से प्रसिद्ध है। सायण विरचित ही ऋक् संहिता भाष्य 'माधवीय' नाम से ग्रन्थ की पुष्पिका में कहा गया है। इसे देखकर कतिपय आलोचकों को भ्रम बना हुआ है कि इन ग्रन्थों की रचना माधव ने ही की परन्तु सायण के ग्रन्थों की छानबीन करने से यही प्रतीत होता है कि आलोचको का यह का सिद्धान्त भ्रान्त है। इन ग्रन्थों के आरम्भ और अन्त की परीक्षा करने से इस विषय में किसी को भी सन्देह नहीं रहना चाहिये कि इनके वास्तविक रचयिता सायण ही हैं। तब माधवीय नाम देने का क्या रहस्य है ? इसका ऊहापोह करने पर समुचित कारण को समझना कुछ कठिन नहीं है। यह प्रमाण तथा उद्धरण के साथ पहले ही दिखलाया जा चुका है कि इन ग्रन्थों की रचना का आदेश तत्कालीन विजयनगराधीश ने माधवाचार्य ही को दिया। इनके लिखने की आज्ञा प्रत्यक्ष रूप से सायण को कभी नहीं मिली। माधवाचार्य के ही द्वारा तथा उन्हीं की प्रशस्ति प्रशंसा करने पर बुक्क नरेश ने इस महत्त्वपूर्ण कार्य के सम्पादन का भार सायण के हाथों में दिया। इस प्रकार इन वेद भाष्यों की रचना में माधव का प्रोत्साहन नितान्त सहायक था। अतएव अपने ज्येष्ठ भ्राता के उपकार भारत से अवनत होकर यदि सायण ने इन ग्रन्थों का 'माधवीय' नामकरण किया तो इसमें हमें तो नितान्त औचित्य ही नहीं दिखाई पड़ता प्रत्युत सायण के निष्छल तथा निष्कपट ह्रदय की भी एक भव्य झांकी मिलती है। अतएव अपनी स्वतन्त्र रचनाओं में भी 'माधवीय' नाम देना इस बात को सूचित कर रहा है कि माधव के द्वारा ही सायण को अपने साहित्यिक कार्यों को सुसम्पादित करने का अवसर मिला। अतः 'माधवीय' नाम से माधव के ग्रन्थ-कर्त त्व से किसी तरह का संबंध हमें नहीं प्रतीत होता। सायण ने इन वेदभाष्यों का नाम 'वेदार्थ प्रकाश' लिखा है तथा इन्हें अपने विद्यागुरु श्री विद्यातीर्थ स्वामी को अर्पित किया है -

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमोहार्दं निवारयन्।

पुत्रार्थांश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः।।

आचार्य सायण की वेदभाष्य पद्धति और उसका महत्त्व :-

वेद के समुचित अर्थ का पता कैसे चल सकता है ? इस प्रश्न का समुचित उत्तर है भारतीय परम्परा। भारतीय साहित्य तथा अन्य साहित्यों में भी ऐसे ग्रन्थरत्न मिलते हैं जिनके वास्तविक अर्थ का प्रकाश बिना तद्देशीय परम्परा की पूरी जानकारी किये नहीं हो सकता। अतः परम्परा का आश्रय वेदार्थानुशीलन में परम आवश्यक है।

सायणाचार्य ने अपने भाष्यों में इसी भारतीय परम्परा को अपनाया है, इसीलिये उनकी व्याख्या का विशेष महत्त्व है। सायण ने अपनी व्याख्या प्राचीन आचार्यों के आधार पर ही लिखी है। बहुतों ने, प्रायः यूरोपियन पण्डितों ने, सायण की अर्वाचीनता के कारण उनकी व्याख्या में परम्परा के

पालन करने में सन्देह प्रकट किया है, परन्तु प्राचीन परम्परा के सायण तक अविच्छिन्न रूप से चले आने के प्रबल प्रमाण उपलब्ध हो रहे हैं। अतः उनके सन्देह का निराकरण शीघ्र ही किया जा सकता है। परिच्छेद में दिखलाया गया है कि स्कन्द स्वामी ने छटी शताब्दी के लगभग ऋग्वेद के ऊपर अपना भाष्य लिखा था। स्कन्द स्वामी के साथ सायण की तुलना करने पर दोनों ही एक ही अभिन्न परम्परा के पालन करने वाले स्पष्टतः प्रतीत होते हैं। दोनों के भाष्यों में व्याख्या की समानता बनी हुई है। सायण का समय स्कन्द स्वामी से लगभग आठ सौ वर्ष पीछे है; काल में इस प्रकार अन्तर होने पर भी उनकी व्याख्याओं में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है; अतः स्पष्ट रूप से जान पड़ता है कि दोनों एक ही परम्परा के अनुयायी हैं। इतना ही क्यों ? सायण ने निरुक्तकार यास्क के मत का उल्लेख अपने भाष्यों मे ंयथावकाश सैंकड़ों बार किया है। यास्क के द्वारा की गई व्याख्या को सायण ने अपने भाष्य में अविकल रूप से उद्ध त किया है और अपनी व्याख्या को भी तदनुरूप ही रखा है। यास्क की शब्द-व्युत्पत्ति सायण को भी मान्य है। अतः यास्क ने जिस परम्परा का पालन अपने निरुक्त में मन्त्रों के अर्थ करने में किया है उसी का अनुसरण जब हमें सायण भाष्य में भी मिलता है, तब हम परम्परा अविच्छिन्न क्यों न मानें ? यास्क ने स्वयं परम्परा की प्रशंसा की है और उसके जानने वाले को 'पारोवर्यवित्' कहा है। निरुक्त (१३।११) का कहना है :-

''अयं मन्त्राभ्यूहो भ्यूहो पिश्रुतितो तितर्कतः'',

अर्थात् - मन्त्र का विचार परम्परा अर्थ के श्रवण और तर्क से निरूपित किया है। क्योंकि-

''न तु प थक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः प्रकरणश एव निर्वक्तव्याः''

मन्त्रों की व्याख्या प थक्-प थक् करके न होनी चाहिए, बल्कि प्रकरण के अनुसार ही होनी चाहिए।

''न ह्येषु प्रत्यक्षमस्ति अन षेरतपसो वा''

वेदों का अर्थ कौन कर सकता है ? इसके विषय में यास्क का कहना है कि जो मनुष्य न तो ऋषि है न तपस्वी, वह मन्त्रों के अर्थों का साक्षात्कार नहीं पा सकता।

''पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदित षु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति इत्युक्तं पुरस्तात्।''

यह कहले ही कहा जा चुका है (निरुक्त १।१६) कि परम्परागत ज्ञान प्राप्त करनेवालों में वह श्रेष्ठ है जिसने ज्यादा अध्ययन किया है।

अतः परम्परा तथा मीमांसा, निरूक्त, व्याकरण आदि शास्त्रों की जानकारी वेदार्थ जानने के लिए नितान्त आवश्यक है।

यास्क ने कम से कम आठ-नौ मतों की चर्चा की है। वैयाकरण, नैदान, परिव्राजक, ऐतिहासिक आदि मतों का उल्लेख स्थान-स्थान पर मन्त्रों की व्याख्या में किया है। कोई कारण नहीं दिख पड़ता कि इन विभिन्न आचार्यों के मतों को हम अप्रामाणिक मानें, क्योंकि इनका उल्लेख ब्राह्मण ग्रन्थों में भी प्रचुरता से मिलता है। उदाहरण के लिए 'अश्विनौ' को ले लीजिये। इनके विषय में यास्क ने अनेक मतों का निर्देश किया है। कुछ लोगों के मत में दोनों अश्विन् स्वर्ग और प थिवी हैं। इस मत का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण (४।१।५) में पाया जाता है और यास्क का अपना मत भी उसी स्थान पर निर्दिष्ट है। अतः इन विभिन्न आचार्यों के मतों की प्रामाणिकता स्पष्ट है। इतना ही क्यों ? यास्क की अधिकांश व्याख्यायें और व्युत्पत्तियाँ ब्राह्मणों के ही आधार पर है। इसलिए उन्हें परम्परागत होने में सन्देह करने के लिए स्थान नहीं है।

कालान्तर में जब वेद की भाषा का समझना नितान्त दुरूह हो गया, तो सीधी-सादी बोलचाल की भाषा में वेद के रहस्यों का प्रतिपादन हमारे परम कारुणिक ऋषियों ने स्म तियों तथा पुराणों में

संसार के उपकार के लिए किया। अतः स्म ति तथा पुराण प्रतिपादित सिद्धान्त वेदों के ही माननीय सिद्धान्त हैं, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। वेदों में आस्था रखने वाले सज्जनों को पुराणों के विषय में श्रद्धाहीन होना उचित नहीं है क्योंकि केवल भाषा तथा शैली के विभेद को छोड़ देने पर हमारे इन धर्मग्रन्थों में किसी प्रकार का भी भेद भाव नहीं है। वेदों में प्रतिपादित सिद्धान्त ही कालान्तर में पुराणों में सन्निविष्ट किये गये हैं। शैली का भेद अवश्य ही दोनों में वर्तमान रहने वाली एकता को आपाततः खण्डन करनेवाला प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में वेद और पुराण में किसी प्रकार का सैद्धान्तिक विरोध परिलक्षित नहीं होता। वेदों में रूपक का प्रचुर उपयोग देखते हैं, तो पुराणों में अतिशयोक्ति का। वेदों में जो बातें रूपकमयी भाषा में लपेट में कही गई हैं, वे ही बातें पुराणों में अतिशयोक्तिमयी वाणी के द्वारा प्रकट की गई हैं। एक ही उदाहरण इस शैली भेद को प्रकट करने के लिए पर्याप्त होगा। ऋग्वेद के अनेक मण्डलों में इन्द्र की स्तुति में व त्र के साथ उनके भयंकर संग्राम का उल्लेख किया गया है। ये व त्र कौन हैं ? जिनके साथ इन्द्र का युद्ध हुआ। यास्क ने निरुक्त में (२।१६) व त्र के विषय में अनेक प्राचीन मतों का निर्देश किया है। इनमें नैरुक्तों का ही मत मान्य माना जाता है। इस व्याख्या के द्वारा हम ऋग्वेद के इन्द्र-व त्र-युद्ध के भौतिक आधार को अच्दी तरह से समझ सकते हैं। आकाश को चारों ओर से घेरनेवाला मेघ ही व त्र है और उसको अपने वज्र से मारकर संसार के जीव जन्तुओं को व ष्टि से त प्त कर देने वाले 'सत्परश्मिः व षभः' इन्द्र वर्षा के देवता हैं और प्रति वर्षा ऋतु में गगन मण्डल में होने वाला यह भौतिक संग्राम ही इन्द्र-व त्र-युद्ध का परिद श्यमान भौतिक द श्य है। इसी का वर्णन 'रूपक' के द्वारा ऋग्वेद में किया गया है। और पुराणों में क्या है ? वहाँ इन्द्र महाराज देवताओं के अधिपति बतलाये गये हैं और व त्र असुरों या दानवों का राजा। दोनों प्रबल प्रतापी हैं। दोनों अपने-अपने वाहनों पर चढ़कर आते हैं, देवताओं को भी रोमांच कर देनेवाला संग्राम होता है और अन्त में व त्र के ऊपर इन्द्र की विजय होती है। इस संग्राम का वर्णन बड़े विस्तार के साथ पुराणों में पाया जाता है, विशेषकर श्रीमद्भागवत के षष्ठ स्कन्ध में। परन्तु क्या यह वर्णन अतिशयोक्तिमयी भाषा में रहने पर भी वेदवाले वर्णन से किसी प्रकार सिद्धान्त में भिन्न है ? नहीं, वह तो एक ही घटना है जो इन भिन्न ग्रन्थों में भाषा और शैली के भेद के साथ प्रतिपादित की गई है। यह कैसे कहा जा सकता है कि जिसने पुराणों में इस घटना का इतना रोचक सूक्ष्म वर्णन कर रखा है वह वेद के रूपक के भीतर छिपे हुये सिद्धान्त से अपरिचित है। पुराण तो वेद के ही अर्थों और सिद्धान्तों को बोधगम्य भाषा में रोचक शैली का आश्रय लेकर प्रतिपादित करने वाले हैं। अतः वेद में आस्था रखना और पुराणों से विमुख रहना दोनों में ग हीत शैली भेद के ठीक-ठाक न पहचानने के ही कारण है। इस संक्षिप्त विवरण से वेद के अर्थों को समझने के लिए स्म तियों और पुराणों का प्रक ष्ट महत्त्व भली भाँति ध्यान में आ सकता है। इसी कारण प्राचीन ग्रन्थकारों ने वेद के समझने के लिए इतिहास पुराण की आवश्यकता बतलाई है :-

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपब ंहयेत्।

बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरेदिति।।

इतिहास पुराणों से अनभिज्ञ अल्पशास्त्रवाले पुरुषों से वेद सदा डरा करता है कि कहीं ये मुझे ठग न लें। मेरा सच्चा अर्थ न बतलाकर लोगों को उन्मार्ग में न ले जायें। इसी हेतु इतिहास और पुराणों की अभिज्ञता वेदार्थानुशीलन के लिए परमावश्यक है।

इस कथन की पुष्टि के लिए एक-दो उदाहरणों का देना अतिप्रसङ्ग न समझा जायगा। शुक्ल यजुर्वेद के ईशावास्योपनिषद् में कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन करनेवाला यह रहस्यमय मंत्र है :-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।

एवं त्वयि नान्यथेतो स्ति न कर्म लिप्यते नरे।।

जिसका भाव है कि इस संसार में कर्म को करता हुआ ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। ऐसा करने से ही तुम्हारी सिद्धि होगी, दूसरी तरह से नहीं। कर्म मनुष्य में लिप्त नहीं होता।

क्या इसकी व्याख्या गीता के इस श्लोक (४।१४) में नहीं पाई जाती ?

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्प हा।

इति मां यो भिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।।

कामनाओं के परित्याग के विषय में ब हदारणयक (४।४।७) और कठ उपनिषद् (४।१४) का निम्नलिखित मन्त्र लीजिए -

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा ये स्य हृदि स्थिताः।

अथ मर्त्यो म तो भवत्यथ ब्रह्म समश्नुते।।

इसका अर्थ है कि जब मनुष्य के हृदय में रहनेवाली कामनायें छूट जाती हैं, तब मरणशील मनुष्य अमर बन जाता है और ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। इसकी व्याख्या के लिए - इसके अर्थ को आसानी से समझने के लिए, गीता के इस श्लोक (२।७१) का जानना जरूरी है :-

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्प हः।

निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति।।

इस प्रकार अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। कहा जा सकता है कि भगवद्गीता तो सब उपनिषदों का सार है; अतः उसमें उपनिषदों के मन्त्रों की व्याख्या का मिलना कोई आश्चर्यजनक व्यापार नहीं है, परन्तु अन्यत्र ऐसा दुर्लभ होगा। परन्तु यह बात भी ठीक नहीं। ऊपर स्म ति रचना और पुण्यनिर्माण के हेतु का निदर्शन किया जा चुका है। अतः इन ग्रन्थों में या तो वेदों के मन्त्रों का अर्थ विकसित रूप में मिलता है या उनके सिद्धान्त मिलते हैं। सर्वथा परम्परागत अर्थ की उपलब्धि इन ग्रन्थों से हो सकती है। अतः इनका वेदार्थ के लिए उपयोग करना नितान्त आवश्यक है।

सायणाचार्य ने इन सब ऊपर उल्लिखित साधनों की सहायता अपने वेदभाष्यों में ली है। उन्होंने परम्परागत अर्थ को ही अपनाया है और उसकी पुष्टि में पुराण, इतिहास, स्म ति, महाभारत आदि ग्रन्थों से आवश्यकतानुसार प्रमाणों को उद्घ त किया है। वेद के अर्थ के लिए षडङ्गों की भी आवश्यकता होती है। सायण इनसे सविशेष परिचित थे। ऋग्वेद के प्रथम अष्टक की व्याख्या में उन्होंने शब्दों के व्याकरण की खूब ही छानबीन की है। प्रायः प्रत्येक महत्त्वपूर्ण शब्द की व्युत्पत्ति, सिद्धि तथा स्वराघात का वर्णन पाणिनीय सूत्रों तथा कहीं-कहीं प्रातिशाख्य की सहायता से इतने सुव्यवस्थित ढंग से किया गया है कि इसे ध्यान से पढ़ जाने पर समस्त ज्ञातव्य विषयों की जानकारी सहज में हो जाती है। द्विरुक्ति के भय से सायण ने आगे के अष्टकों में व्याकरण का विस्तार नहीं किया है, प्रत्युत अत्यन्त आवश्यक सूत्रों का कहीं-कहीं उल्लेख करना ही पर्याप्त समझा है। निरुक्त का भी उपयोग खूब ही किया गया है। यास्क द्वारा व्याख्यात मन्त्रों की व्याख्या को सायण ने तत्तत् मन्त्रों के भाष्य लिखते समय अविकल रूप से लिख दिया है। इसके अतिरिक्त सायण ने ऋग्वेद के प्राचीन स्कन्द स्वामी, माधव जैसे भाष्यकारों के अर्थ को भी यथावकाश ग्रहण किया है। कल्पसूत्रों का उपयोग विस्तार के साथ किया गया है। सायण यज्ञ विधान से नितान्त परिचय रखते थे। अतः कल्पसूत्र विषयक आवश्यक बातों का वर्णन बड़ी ही खूबी के साथ उन्होंने सर्वत्र किया है। सूक्त व्याख्या के आरम्भ में ही उन्होंने उसके विनियोग, ऋषि, देवता आदि ज्ञातव्य बातों का वर्णन प्रामाणिक ग्रन्थों के उद्धरण के साथ-साथ सर्वत्र किया है। सूक्तविषयक उपलभ्यमान आख्यायिका को भी सप्रमाण दे दिया है। मीमांसा के विषय का भी निवेश भाष्य के आरम्भवाले उपोद्घात में बड़े ही सुन्दर

और बोधगम्य भाषा में सायण ने कर दिया है। वेद विषयक समंग्र सिद्धान्तों का प्रतिपादन और रहस्यों का उद्‌घाटन इन उपोद्‌घातों में बड़े अच्छे ढंग से किया गया है जिसके कारण ये भूमिकायें वैदिक सिद्धान्तों के भाण्डागार के समान प्रतीत होती है। इन्हीं सब कारणों से सायण के वेदभाष्य का गौरव है। सायण ने याज्ञिक पद्धति को अपने भाष्य में महत्त्व दिया है। उस समय इसी की आवश्यकता थी। कर्मकाण्ड का उस समय बोलबाला था। इसी कारण इसके महत्त्व को द ष्टि में रखकर सायण ने अपने भाष्यों का प्रणयन किया है। आजकल इसमें कुछ परिवर्तन करने की आवश्यकता होगी। परन्तु मार्ग यही है।

सायणाचार्य के सामने इस महत्त्व के कारण प्रत्येक वेदानुशीली को अपना सिर झुकाना चाहिए। यदि सायणाभाष्य न होते तो वेदार्थ के अनुशीलन की कैसी दयनीय दशा हो जाती; ऐतिहासिक पद्धति के माननेवाले यूरोपियन स्कालर लोग भाषाशास्त्र की मनमानी व्युत्पत्ति के आधार पर एक ही शब्द के विरुद्ध अनेक अर्थ करने पर तुले हुये हैं, तब परम्परागत अर्थ को ही अपने भाष्य में स्थान देनेवाले सायणाचार्य के अतिरिक्त हम किसे अपना आश्रय मानें। वास्तव में वैदिक भाषा और धर्म के सुद ढ़ गढ़ में प्रवेश पाने के लिए हमारे पास एक ही विश्वासार्ह साधन है और वह है सायण का चारों वेदों की संहिताओं का भाष्य। प्रत्येक वैदिक विद्वान् के ऊपर सायण का ऋण यथेष्ट मात्रा में है। पाश्चात्त्य विद्वानों ने वेदों के समझने का जो विपुल प्रयत्न किया है और किसी अंश में उन्हें जो सफलता मिली है वह सायण की ही अनुकम्पा का फल है। सायण भाष्य की ही सहायता से वे लोग वैदिक मन्त्रों के अर्थ समझने में क तकार्य हुए है। छिट-फुट शब्दों के अर्थों में यत्किंचित् विरोधाभास दिखला कर सायण की हंसी उड़ाना दूसरी बात है, परन्तु वास्तव में संहितापंचक के ऊपर इतना सुव्यवस्थित, पूर्वापर विरोधहीन, उपादेय तथा पाणिडत्यपूर्ण भाष्य लिख डालना जरा टेढ़ी खीर है। इस कार्य के महत्त्व को पण्डित जन ही यथार्थ में समझ सकते हैं। इसके लिए वैदिक धर्म तथा संस्क त भाषा की कितनी अभिज्ञता प्राप्त करनी चाहिए इसका सर्वसाधारण अनुमान भी नहीं लगा सकता। सायण की क पा से वेद में प्रवेश करने वाले यूरोपीय विद्वान् आदि आधुनिक विद्या के दर्प से उन्मत्त होकर Losvon Sayana (सायण का बहिष्कार करो) का झंडा ऊँचा करें, तो इसे सम्प्रदायविद् सायण के सामने सत्य के प्रति द्रोह भले न समझा जाय, वस्तुस्थिति की अनभिज्ञता अवश्य प्रकट होती है। यूरोपीय विद्वान् सम्प्रदाय के महत्त्व से भली भांति परिचित न होने से इस विषय में उपेक्षणीय भले मान लिये जायें, परन्तु अधिक दुःख तो उन भारतीयों के लिए है जो आँख मूँदकर इन पाश्चात्त्य गुरुओं के चेला बनने में ही अपने पाणिडत्य का चरम उत्कर्ष देखते हैं और भारतीय सम्प्रदाय के महत्त्व को जानकर उसकी उपेक्षा करने में जी जान से तुले हैं। ऐसा कहने का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि सायणभाष्य में दोष नहीं है। किसी भी मानव क ति में हमें दोषहीनता के सर्वथा अभाव की कल्पना नहीं करनी चाहिए, परन्तु पूरे भाष्य के ऊहापोह तथा आलोचना करने पर विद्वानों का यही निश्चित सिद्धान्त है कि सम्प्रदाय के सच्चे ज्ञाता होने के कारण सायणाचार्य का वेदभाष्य वास्तव में वेदार्थ की कुंजी है।

पाश्चात्त्य जगत में ऋग्वेद के प्रथम अनुवादक, विद्वान् विल्सन का यह कथन अविस्मरणीय है कि निश्चिय रूप से सायणाचार्य का वेदज्ञान इतना अधिक था जितना कोई भी यूरोपियन विद्वान् रखने का दावा नहीं कर सकता और चाहे स्वयं अपनी जानकारी से या अपने सहायकों के द्वारा वेद के परम्परागत अर्थों से नितान्त परिचित थे। सायण भाष्य के प्रथम यूरोपियन सम्पादक डाक्टर (मोक्षमूलर भट्ट) मैक्सम्यूलर का यह कथन भी यथार्थ ही है कि यदि सायण के द्वारा की गई अर्थ की लड़ी हमें नहीं मिलती, तो हम इस दुर्भेद्य किले के भीतर प्रवेश ही नहीं पा सकते थे।

Unit-IV
आधुनिक वैदिक अध्ययन विवरण

पाश्चात्त्य विद्वान्

पाश्चात्त्य पण्डितों द्वारा संस्क त साहित्य के अध्ययन और अनुशीलन की ओर प्रव त्त होने से वैदिक वाङ्मय के विवेचन में नये युग का शुभारम्भ हुआ और इस द ष्टि से अठारहवीं शताब्दी का अन्तिम चरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ, जब सरविलियम जोन्स नामक आंग्ल विद्वान् ने कलकत्ता में बंगाल एशियाटिक सोसाइटी नामक शोध संस्था की नींव डाली (१७८४ ई.) १८०४ ई. में कोल ब्रुक ने 'एशियाटिव रिसर्चेज' नामक पत्रिका में वेदों के सम्बन्ध में शताधिक प ष्ठों में शोध परक निबन्ध लिखकर वैदिक साहित्य का सर्वेक्षण प्रस्तुत किया। १८३८ ई. में जर्मन विद्वान् फ्रेडरिख रोजेन ने ऋग्वेद का संपादन करना प्रारम्भ किया था; किन्तु उनकी असामयिक म त्यु के कारण उसका प्रथम अष्टक ही (१८३७ ई. में) प्रकाशित हुआ। पेरिस के संस्क त प्राध्यापक यूजीन बूर्नफ के दो शिष्यों रॉथ और मैक्समूलर - ने वैदिक अनुशीलन में नवीन प्राण भर दिये। रुडाल्फ रॉथ ने १८४६ ई. में 'वेद का साहित्य तथा इतिहास' नामक छोटी, किन्तु महत्त्वपूर्ण पुस्तिका लिख कर पश्चिमी विद्वानों का ध्यान आक ष्ट किया। उन्होंने आगमन विधि का प्रयोग करते हुए 'संस्क त-महाकोश' की रचना की जिसमें विकास क्रम के अनुसार प्रत्येक शब्द का अर्थ दिया गया है। इसमें वैदिक शब्दों का अर्थ रॉथ ने और लौकिक या संस्क त शब्दों का अर्थ ओटो बोथलिंक ने प्रस्तुत किया है। इस कोश का प्रकाशन १८५२ से १८७५ ई. तक सात खण्डों में हुआ है। आज भी इस कोश की महत्ता विद्वत्ता की द ष्टि से अक्षुण्ण है। पाश्चात्त्य विद्वानों का वेद-विषयक अध्ययन तीन धाराओं में विभाजित है - वैदिक ग्रन्थों का वैज्ञानिक एवं शुद्ध संस्करणों का प्रकाशन, वैदिक ग्रन्थों के अनुवाद एवं वेद-सम्बन्धी अनुशीलनात्मक ग्रन्थों का लेखन। कुछ प्रमुख विद्वानों तथा उनके कार्यो का विवेचन यहां प्रस्तुत है :-

कोलब्रुक :-

विन्टरनिट्ज के शब्दों में हेनरी थामस कोलब्रुक को "भारतीय भाषा विज्ञान तथा पुरातत्त्व का संस्थापक कहा जा सकता है। मैक्डॉनल का कथन है - "कोलब्रुक एक अद्भुत परिश्रम करने वाले विद्वान् हुए जिनमें अत्यन्त विशद बुद्धि एवं सन्तुलित समीक्षा की क्षमता का दुर्लभ समन्वय था - परवर्ती विद्वानों के द्वारा संस्क त विद्या के प्रसार की वास्तविक नींव ही उन्होंने डाली थी।" "कोलब्रुक १७ वर्ष की आयु में भारत में सरकारी कर्मचारी बनकर आया। भारत-निवास के प्रथम ११ वर्षो में उसका संस्क त व संस्क त-साहित्य की ओर ध्यान नहीं गया। जब १७६४ में विलियम जोन्स का देहावसान हुआ तो कोलब्रुक ने संस्क त भाषा का अध्ययन अभी समाप्त ही किया था तथा विलियम जोन्स के मार्ग-निर्देशन में कानून की एक संस्क त पुस्तक का अनुवाद शुरू किया था।"

कोलब्रुक ने भारतीय साहित्य की गवेषणा में अथक उत्साह से कार्य किया। उन्होंने भारतीय कानून पर अनेक ग्रन्थ लिखे और संस्क त के वैज्ञानिक साहित्य को अपना क्षेत्र बनाया। उन्होंने दर्शन, धर्म, व्याकरण, ज्योतिर्विज्ञान तथा गणित पर भी कार्य किया। अमरकोश जैसे कतिपय शब्दकोशों, पाणिनीय व्याकरण, हितोपदेश तथा किरातार्जुनीय का सम्पादन किया। कुछ शिलालेखों का सम्पादन

तथा अनुवाद भी किया। विभिन्न विषयों की पाण्डुलिपियों का सङ्ग्रह करना उनका महत्त्वपूर्ण कार्य है। यह पाण्डुलिपि-संग्रह आज लन्दन के इण्डिया आफिस के पुस्तकालय की अमूल्य निधि है।

कोलब्रुक के वेद-सम्बन्धी विचारों को जानने का प्रमुख स्रोत है -

Eassy on the Vedas (Published in Asiatic Researches, Calcuatta, 1805) Vol. VIII, pp. 369-76.

यह निबन्ध तथा अन्य दार्शनिक, धार्मिक एवं सामाजिक विषयों पर लिखे गये कुछ निबन्ध Essays on the Religion and Philosophy of Hindus नाम से संकलित करके प्रकाशित कराये गये हैं। वेदों पर (On the Vedas) नामक निबन्ध में कोलबुक ने भारतीयों के प्राचीन युग का महत्त्वपूर्ण परिचय दिया है।

वेदों के प्रतिपाद्य विषय पर कोलब्रुक ने प्रस्तुत निबन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाला है। उसी के आधार पर उनके वेद-प्रामाण्य सम्बन्धी विचार खोजे जा सकते हैं। यह निबन्ध यूरोप के विद्वानों को वेद की ओर आक ष्ट करने वाले निबन्धों में से अन्यतम है। उस समय पाश्चात्य विद्वान् वेद के प्रतिपाद्य विषय के सम्बन्ध में ऊहापोह कर ही रहे थे।

कोलब्रुक की द ष्टि में जिन मन्त्रों पर जो ऋषि लिखे हैं वे ही उनके रचयिता हैं। ऋग्वेद के कुछ सूक्तों के कर्त्ता राजघराने से भी हैं। इन सन्दर्भो में कुछ स्थलों पर उन राजाओं के नाम की ओर सङ्केत हैं जिनके नाम भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध हैं। अन्य स्थलों पर उन राजाओं का स्पष्ट वर्णन है। अनेक स्थलों पर विविध राजाओं के सम्वादों का वर्णन है।

कोलब्रुक ने वैदिक देवों के विषय में भी अपने विचार प्रकट किये है। निरुक्त में बतलाये गये तीन देवों का वर्णन करके उन्होंने दिखलाया है कि वेद-मन्त्रों में इन्द्र, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा आदि को अनेक बार सम्बोधित किया गया है। उन्होंने ऐसे अनेक सूक्तों और मन्त्रों को उद्ध त भी किया है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी भी स्तुतियाँ है जिनका शत्रु के विनाश-सम्बन्धी अनुष्ठानों में प्रयोग किया जाता था। यहाँ स ष्टि रचना - सम्बन्धी भी कुछ सूक्त हैं।

उनके अनुसार शुक्ल यजुर्वेद में विशेष रूप से यज्ञों का वर्णन हैं। इसमें देवताओं के लिए प्रार्थनाएँ भी हैं। यहाँ अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध और पित मेध आदि का वर्णन भी है। इसके अन्तिम पाँच अध्यायों का ऋषि अथर्वन् का पुत्र या सन्तान दध्यच् है। इनमें से चार में विविध धार्मिक क त्य सम्बन्धी स्तुतियाँ है। कोलब्रुक ने कुछ मन्त्रों के अनुवाद भी प्रस्तुत किये है जिनमें अग्नि आदि की स्तुतियाँ है। यह भी कहा है कि किन्हीं मन्त्रों में परमात्मा सम्बन्धी सङ्केत भी मिलते हैं।

सामवेद के प्रतिपाद्य विषय पर लेखक ने इतना ही प्रकाश डाला है - इसमें ऐसी स्तुतियाँ है जिनका गान किया जाता रहा है।

अथर्ववेद के विषय में लेखक का कथन है - जैसा कि प्रसिद्ध है, अथर्ववेद में शत्रु के नाश के लिये अनेक अभिचार मिलते हैं। किन्तु इससे यह अनुमान नहीं लगाया जाना चाहिये कि इस वेद का यही मुख्य विषय है, क्योंकि इस वेद में अत्यधिक संख्या में सुरक्षा-सम्बन्धी एवं अपात्तियों के निवारण-सम्बन्धी स्तुतियाँ है और अन्य वेदों के समान ही देवता-सम्बन्धी अनेक सूक्त हैं। साथ ही यज्ञों के अतिरिक्त विविध संस्कारों तथा धार्मिक क त्यों में प्रयुक्त होने वाले मन्त्र भी हैं।

कतिपय उपनिषदों के प्रतिपाद्य विषय पर विचार करते हुए लेखक ने वेदोक्त धर्म के बारे में भी कुछ सङ्केत दिये हैं। उनके अनुसार वेदों में राम और क ष्ण के अवतार के रूप में पूजा का कोई सङ्केत नहीं। यद्यपि वेद में अनेक देवों के सङ्केत हैं तथापि देवरूप में किसी व्यक्ति की पूजा अथवा देवों का अवतार लेना आदि वहाँ नहीं है।

इस प्रकार कोलब्रुक के अनुसार ऐतिहासिक और धार्मिक विषयों के कुछ संकेत वेदों में मिलते हैं। उन्हीं विषयों में इन्हें प्रमाण कहा जा सकता है। परवर्ती विद्वानों के समान उन्होंने वेद के प्रतिपाद्य विषयों पर विस्त त प्रकाश नहीं डाला।

विल्सन :-

वेद के पश्चिमी विद्वानों में विल्सन का नाम भी उल्लेखनीय है। उनका जन्म २६ सितम्बर, १७८६ को हुआ। उनकी शिक्षा लन्दन में हुई और वे १८०८ में चिकित्सा - सेवा के लिए कलकत्ता में आये। १८११-३३ तक वे एसियाटिक सोसाइटी बंगाल के सचिव रहे। उन्होंने लगन से संस्क त पढ़ी और १८१३ में मेघदूत का अनुवाद किया। उन्होंने विविध विषयों पर महत्त्वपूर्ण कार्य किए और यूरोप के विज्ञान तथा अंग्रेजी साहित्य का यहाँ की शिक्षा में समावेश कराया। वे संस्क त कालेज के भी निरीक्षक रहे। १८३२ में उन्होंने भारत छोड़ दिया और १८३३ में आक्सफोर्ड में संस्क त के बाडन प्रोफेसर नियुक्त हुए। विल्सन ने एक अफसर के रूप में काम करते हुए निरन्तर भारतीय साहित्य का अध्ययन किया। उन्होंने हस्तलिपियों का एक सम द्ध भण्डार बनाया और बड़ी मात्रा में साहित्य की रचना की।

उन्होंने अपने से पूर्ववर्ती वेद-भाष्य तथा अनुवादों का आश्रय लिया है, फिर भी उनका अनुवाद विशेषकर सायण-भाष्य का अनुसरण करने वाल कहा जा सकता है। विल्सन उन विद्वानों में है जो सायण-भाष्य का महत्त्व बतलाते हुए कहते हैं - यद्यपि सायण की व्याख्या पर कहीं-कहीं प्रश्न चिह्न लगाये जा सकते हैं, फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि यूरोपीय विद्वानों द्वारा प्रदर्शित वेद-ज्ञान की अपेक्षा सायण बहुत अधिक वेदों का ज्ञान रखते थे। ऋग्वेद के अंग्रेजी अनुवाद के अतिरिक्त उन्होंने संस्क तकोश की रचना की थी तथा हिन्दू धर्म के भिन्न-२ सम्प्रदायों पर एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा था।

विल्सन के वेदसम्बन्धी विचार उनके निम्नलिखित ग्रन्थों से जाने जा सकते हैं :-

(1) Rg-Veda Samhita (English Translation Notes and Appendix etc., Nag Publishers, Jawahar Nagar, Delhi - 7, 1977)

(2) Hindu Religions (Bhartiya Book Corporation, Delhi - 7, India 1977)

ऋग्वेद के अंग्रेजी अनुवाद के आरम्भ में उन्होंने जो एक विस्त त भूमिका (Introduction) दी है उससे भी यह जाना जा सकता है कि वेदों में किन विषयों का वर्णन मिलता है। विल्सन कहते हैं - हमे हिन्दू धर्म के इतिहास में ऋग्वेद का अत्यधिक महत्त्व मानना पड़ता है। वस्तुतः हम हिन्दुओं की धार्मिक एवं सामाजिक संस्थाओं के स्वरूप का यथार्थ तथा प्राचीनतम ज्ञान प्राप्त करने के लिए मुख्यरूप से ऋग्वेद का आश्रय ले सकते हैं।

विल्सन ने ऋग्वेद को अपने समय के धार्मिक विश्वासों, अनुष्ठानों तथा सामाजिक अवस्था आदि का बोधक ग्रन्थ माना है। वे बतलाते हैं - वेद के सूक्तों में विस्तार से भेंट (आहुति), प्रार्थना तथा स्तुति आदि का वर्णन किया गया है। वहाँ किसी मन्दिर का संकेत नहीं, न ही पूजा के किसी सार्वजनिक स्थान का ही। यह स्पष्ट है कि उन समय पूजा नितान्त घरेलू कार्य था। सामान्यरूप से यज्ञ घ त और सोमरस से सम्पन्न किये जाते थे, किन्तु पशु-बलि और मानव-बलि से भी लोग अपरिचित नहीं थे। सामान्यतः सम्पत्ति, अन्न, जीवन, सन्तान, पशु तथा शत्रुओं पर विजय आदि की प्रार्थनाएँ की जाती थी। कुछ ऐसे भी सङ्केत हैं जिनमे अमरता और भावी आनन्द की आशाएँ की गई हैं। वहाँ नैतिक हितों के लिए बहुत कम प्रार्थना की गई है। फिर भी कुछ सन्दर्भो में असत्य के प्रति घ णा और पाप से बचने की इच्छा प्रकट की गई है। हाँ, इन प्रार्थनाओं का मुख्य उद्देश्य सांसारिक और शारीरिक लाभ है।

विल्सन ने यह भी विचार किया है कि जिन देवों की स्तुति और प्रार्थना की गई है वे कौन हैं। वे इस निर्णय पर पहुँचे है कि ऋग्वेद के आख्यान और वीरकाव्य एवं पुराणों की कथाओं में अन्तर

है। उन्होंने एक - एक देव को लेकर विस्तार से विवेचन किया है और यह भी कहा है कि वेद के मुख्य देवता, अग्नि और इन्द्र हैं। उन्होंने सभी वर्णित देवों को तीन वर्गों में रखते हुए निरुक्तकार यास्क का मत भी दिखलाया है, और कहा है कि विश्व की एक आत्मा का विचार यहाँ स्पष्टरूप से नहीं प्रकट हुआ।

उस समय के लोगों की सामाजिक और राजनैतिक दशा का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि उस समय के हिन्दू खानाबदोश नहीं थे, वे ग्रामों और नगरों में रहते थे, किसी अंश तक उनका जीवन चरागाह की जीवन था, किन्तु अधिकांश में उनका व्यवसाय क षि था, साथ ही उनमें शिल्प-कला का भी विकास हुआ था, वस्त बुनना, लकड़ी का काम तथा सोने की गढ़ाई आदि से वे परिचित थे, उनमें सामान्य व्यापारी भी थे और समुद्र के व्यापारी भी।

विल्सन का विचार है कि ऋग्वेद में हिन्दुओं की राजनैतिक अवस्था के विषय में विशेष सूचनाएँ नहीं मिलती। हाँ, कुछ राजाओं के नाम अवश्य मिलते हैं जो परवर्ती वीर-काव्य तथा पुराणों से भिन्न हैं। उस समय की प्रदेशों की स्थिति भी परवर्ती स्थिति से भिन्न थी।

जातियों का भेद कम से कम प्रथम अष्टक में स्पष्ट नहीं है। यहाँ जो 'प चक्षितयः' शब्द आया है इसका कुछ व्याख्याकारों ने चार वर्ण और प चम निषाद अर्थ किया है।

इसका उपसंहार करते हुए विल्सन कहते हैं कि ऋग्वेद के प्रथम अष्टक का परिशीलन करने पर कितने ही प्रश्नों के उत्तर नहीं मिलते। फिर भी ये मन्त्र धार्मिक पूजा, सामाजिक दशा आदि का जो विवरण प्रस्तुत करते हैं वह अन्य हिन्दू शास्त्रों के समान नहीं है।

इस प्रकार विल्सन की द ष्टि में वेदों से उस समय के लोगों के धार्मिक एवं सामाजिक सन्दर्भो में कुछ सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। फलतः उसी विषय में उन्हें प्रमाण कहा जा सकता है।

रुडोल्फ रॉथ तथा ग्रासमान :-

भाषा-विज्ञान की कसौटी पर वेदों के सच्चे अनुसन्धान की परम्परा १८३८ में लन्दन में छपे फ्रीड्रिख रोजेन के ऋग्वेद के प्रथम अष्टक के साथ होती है।

"दुर्भाग्य से रोजेन अपने संस्करण को पूर्ण करने से पूर्व ही स्वर्ग सिधार गया, सो यूरोप में वैदिक अनुशीलन की आधारशिला का श्रेय फ्रांस के महान् प्राच्यविद् (जो १९वीं सदी के पंचम दशक में कालेज द फ्रांस में संस्क त प्रोफेसर थे) यूजीन बर्नफ को है। यूजीन ने संस्क त तथा वैदिक में शिष्यों की एक विशिष्ट परम्परा (को) तैयार किया जो आगे चलकर सभी प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् बन गए। बर्नफ के इन्हीं शिष्यों में एक रुडोल्फ रॉथ था जिसने १८४६ में जर्मनी में वैदिक अनुशीलन की आधुनिक परम्परा चलाई।"

इनकी रचनाएँ जर्मन भाषा में हैं, जिनके अंग्रेजी आदि में अनुवाद हो चुके हैं। इनकी विशिष्ट क तियाँ है -

रॉथ ने अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा का भी अन्वेषण किया।

1. Literature and History of the Vedas (1846).

2. Sanskrit Worterbuch (St. Peter's Berg Dictionary by Bohtlingk and Roth) यह संस्क त कोश १८५२-७५ में सात जिल्दों में प्रकाशित हुआ।

३. गेटिगेन (निरुक्त संस्करण १८४८ - ५२)

४. अथर्ववेद (शौनक शाखा) सम्पादित, रॉथ तथा व्हिटनी (बर्लिन, १८५६)

राथ का मानना था कि वेदों तथा तुलनात्मक आलोचना शास्त्र से सुसज्जित-समर्थित पाश्चात्त्य मेधावी उस ग्रन्थ का कहीं अधिक गम्भीर, एवं सत्य, अन्वेषण कर सकते हैं।" "कारण, उसका निर्णय ईश्वरवादी परम्परा से जकड़ा हुआ नहीं है, उसके पास भाषा की प्रक ति का मापदण्ड है। उसका बौद्धिक क्षितिज कहीं अधिक विस्त त और वैज्ञानिक रीति से भासमान है। शास्त्रज्ञता का बल उसके पास पर्याप्त है ....। उन्होंने संस्क त भाषा के दायरे में ही ऋग्वेद का ऐतिहासिक रीति से अध्ययन किया। इसके पश्चात् उन्होंने तुलनात्मक पद्धति की भी सहायता ली। रॉथ ने एक - एक शब्द का निर्वचन करके वैदिक संहिताओं के वैज्ञानिक अर्थ निकालने का प्रयास किया। उनके एक शिष्य और अनुयायी ग्रासमान ने सम्पूर्ण ऋग्वेद का अनुवाद किया।

ग्रासमान किसी हाईस्कूल में गणित के अध्यापक थे। उन्होंने समस्त ऋग्वेद का पद्यमय जर्मन भाषा में अनुवाद किया है जो दो जिल्दों में प्रकाशित हुआ। इस भाष्य से सायण-भाष्य की उपेक्षा करते हुए रॉथ की पद्धति से स्वतन्त्र-भाष्य किया गया है। इसके अतिरिक्त ग्रासमान ने एक वैदिक कोश भी तैयार किया जिसमें पूर्ण सन्दर्भों सहित ऋग्वेद के शब्दों का अर्थ-निर्णय किया गया है।

रॉथ की वेद-व्याख्यान - पद्धति के पक्ष और विपक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है। इनके वेदार्थ में तुलनात्मक भाषा-विज्ञान को अधिक महत्त्व दिया गया है और उसका आधार मुख्यरूप से इतिहास ही कहा जा सकता है। फलतः इस पद्वति के अनुसार वेदों का ऐतिहासिक द ष्टि से ही प्रामाण्य देखा जा सकता है।

मैक्समूलर :-

पाश्चात्त्य संस्क त विद्वानों, विशेषकर वेदज्ञों में मैक्समूलर का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। उन्होंने वेद के विषय में नाना ग्रन्थों की रचना की, वेदोक्त धर्म तथा संस्क ति आदि की व्याख्या प्रस्तुत की और अन्य विद्वानों को भी वेद-विषयक अध्ययन करने की प्रेरणा दी। फलतः उन्हें जर्मन पण्डित की मानद उपाधि से विभूषित किया गया।

मैक्समूलर का जन्म १८२३ में हुआ। जब ये ४ वर्ष के थे तभी उनके पिता का देहावसान हो गया। आरम्भ में उन्होंने ग्रामर स्कूल में पढ़ना आरम्भ किया। फिर लिपझिग विश्वविद्यालय में प्रविष्ट होकर लेटिन और ग्रीक का अध्ययन किया। तत्पश्चात् प्रो० Brockhaus से संस्क त का अध्ययन आरम्भ किया। बर्लिन विश्वविद्यालय में कई विशिष्ट विद्वानों के साथ उन्होंने भाषा-विज्ञान और दर्शन का विशेष अध्ययन किया। तदनन्तर पैरिस में जाकर रॉथ के साथ प्रो० बर्नफ से वेदाध्ययन की प्रेरणा प्राप्त की।' पैरिस से मैक्समूलर इंग्लैण्ड गये और आक्सफोर्ड में निवास करने लगे। उन्होंने अपने जीवन का बड़ा भाग पौरस्त्य विद्याओं के अध्ययन-अध्यापन में व्यतीत किया। वे जीवन-पर्यन्त वेद के विविध विषयों का अध्ययन करते रहे और वैदिक साहित्य के भण्डार को भरते रहे।

भारतीय विद्याओं के क्षेत्र में उनका कार्य अनुपम है। `Sacred Books of the East' की जिल्दों का सम्पादन अपने आप में एक बेजोड़ कार्य है। इसके अतिरिक्त सायण-भाष्य-सहित ऋग्वेद का अनुवाद उनकी कीर्ति का उद्घोष करता है। उनकी विशिष्ट क तियाँ इस प्रकार है -

1. Critical Edution of Rgveda with Sayan's Commentary (1849-74).
2. Rgveda (A text alone 1873).
3. Text of the Pratisakhyas (with transatlation 1856-69)
4. Six systems of Indian Philosophy (1899).
5. Chips from a German Workshop (Collection of his articles).
6. History of Ancient Sanskrit Literature (1859).

7. The Vedas (A collection of Max Muller's six lecturers).

8. India - What can it teach us (1882).

इनके अतिरिक्त उन्होंने अनेक ग्रन्थों के सम्पादन किये, अनुवाद किये तथा वेद के सम्बन्ध में कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे। वेदों की व्याख्या के विषय में उनके विविध ग्रन्थों, भूमिकाओं तथा व्याख्याओं से उनके वेद प्रामाण्य-विषयक विचारों का ज्ञान होता है। वे मानते हैं कि मानवता के विशेषकर आर्य जाति के अध्ययन के लिये संसार में वेद के समान महत्त्वपूर्ण कुछ नहीं हैं वे यह भी मानते है कि जो अपने पूर्वजों, अपने इतिहास और बौद्धिक विकास को ज्ञान करना चाहता है उसके लिए वैदिक साहित्य का अध्ययन अनिवार्य है।

ऋग्वेद के एक सूक्त (१०.७५) की व्याख्या करते हुए वे कहते है कि यह वैदिक कवियों तथा वातावरण के विषय में हमारे धुंधले विचारों को वास्तविकता प्रदान करने में सहायक है। यहाँ वर्णित नदियाँ, प जाब की असल नदियां है और यह काव्य एक ग्रामीण चारण (भाट) के वचनों की अपेक्षा एक स्पष्ट भौगोलिक क्षेत्र का वर्णन करता है। ऐतिहासिक द ष्टि से विश्लेषण करते हुए वे कहते हैं कि ये (सिन्धु, गङ्गा, यमुना आदि) नदियों के व्यक्तिवाचक नाम है और इससे एक पर्याप्त, विकसित सभ्य जीवन का बोध होता है।

मैक्समूलर ने इन नदियों की भौगोलिक स्थिति की सिकन्दर-कालीन विवरण से तुलना करते हुए अपने कथन की पुष्टि की है।

उनकी द ष्टि से वेदों से कुछ भौगोलिक, कुछ ऐतिहासिक और कुछ धार्मिक तथ्यों का ज्ञान होता है। ऋग्वेद के दशम मण्डल के ७५वें सूक्त को उद्ध त करते हुए वे इस सूक्त को चुनने के दो आधार बतलाते हैं - एक तो यह कि यह सूक्त वैदिक कवि के विस्त त भौगालिक वातावरण को दिखलाता है, दूसरा यह कि यह सूक्त वैदिक युग की ऐतिहासिक प ष्ठभूमि पर प्रकाश डालता है। इस प्रकार यह भारत के तत्कालीन निवासियों के जीवन की झांकी प्रस्तुत करता है। वेदोक्त धर्म का विश्लेषण करते हुए उन्होंने यह विचार किया है कि वेद में एकदेववाद या बहुदेववाद नहीं माना जा सकता अपितु हीनोथीज्म (Henotheism) मानना युक्तियुक्त प्रतीत होता है। भाव यह है कि कवि जिस देव के प्रति भक्तिभाव प्रकट करता है उसे ही श्रेष्ठ समझ लेता है।

इस प्रकार का भक्तिभाव एकदेववाद से भिन्न है। जहाँ एकदेववाद में केवल एक ब्रह्म या ईश्वर के प्रति भक्ति का भाव है वहां हीनोथीज्म में किसी एक उपास्य देव को सर्वश्रेष्ठ मान लिया जाता है। यही Henotheism अर्थात् उपास्यश्रेष्ठतावाद है।

इस प्रकार मैक्समूलर की द ष्टि से वेद तत्कालीन भूगोल, इतिहास, धर्म, संस्क ति आदि के ज्ञान के विषय में प्रमाण कहे जा सकते हैं, इनका प्रामाण्य ऐतिहासिक द ष्टि से ही है।

टी० एच० ग्रिफ़िथ :-

ये संस्क त कालेज बनारस में प्रिंसिपल के पद पर कार्य करते रहे। इन्होंने वाल्मीकि रामायण का अंग्रेजी में अनुवाद किया तथा चारों वेदों का अनुवाद अंग्रेजी में प्रस्तुत किया। इन्हें आधुनिक युग का सायण कहा जाता है। स्वामी दयानन्द ने जो नमूने का भाष्य लाहौर में पंजाब गवर्नमेन्ट को भेजा था उस पर भी ग्रिफ़िथ साहब ने विचार प्रस्तुत किये थे। और, उसके पश्चात् भी राजा शिवप्रसाद तथा स्वामी दयानन्द के विचार-विनिमय में ग्रिफ़िथ साहब का नाम लिया जाता रहा।

ग्रिफ़िथ साहब ने सायण-भाष्य का आश्रय लेते हुए भी यूरोप के विद्वानों की व्याख्याओं का यथोचित उपयोग किया है। वे लिखते हैं - मेरा अनुवाद जो मैक्समूलर के अनुपम छः जिल्दों वाले संस्करण का अनुसरण करता है, आंशिक रूप में महान् विद्वान् सायण के कार्य पर आधारित है। वे

यह भी बतलाते हैं कि इस अनुवाद में सायण-भाष्य को बौद्धिक सम्भावना, प्रसङ्‌ग और समान शब्दों तथा अवतरणों की तुलना से संशोधित तथा नियन्त्रित भी किया गया है। इसके लिये यूरोप के वेद-भाष्यकारों की सहायता ली गई है। ऋग्वेद के अनुवाद के समान ही उन्होंने अन्य वेदों के अनुवादों में भी मध्यकालीन वेद-भाष्यों का आश्रय लिया है। यजुर्वेद के अनुवाद के विषय में वे कहते हैं कि इसमें महीधर भाष्य का आश्रय लिया गया है। इसी प्रकार, जैसा कि प्रस्तावनाओं से विदित होता है, सामवेद के अनुवाद में भी सायण भाष्य का तथा अथर्ववेद के अनुवाद में भी मध्यकालीन भाष्यों का, और आधुनिक यूरोप के विचारों का भी आश्रय लिया गया है।

ग्रिफ़िथ वेदों में प्राचीन आर्यों के धार्मिक विश्वासों और ऐतिहासिक तथ्यों की कुछ सूचनाएँ स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं - ऋग्वेद के कुछ मन्त्र आर्यों के भारत में पूर्ण रूप से बस जाने से पहली अवस्था को प्रकट करते हैं। उन्होंने वेबर का मत दिखलाते हुए वह भी बतलाया कि आर्यों का उत्तरी भारत में फैलना सरस्वती के पार गङ्‌गा तक पहुंचना इत्यादि वेदों में उपलब्ध होता है। उनकी द ष्टि में काव्यात्मकता की अपेक्षा वेद का ऐतिहासिक महत्त्व अधिक है। वेद में वर्णित धार्मिक विश्वास इत्यादि ईसाई मत के आरम्भ से पूर्व के यूरोपीय देशों के धर्म पर भी पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। साथ ही तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का ज्ञान वेद के अध्ययन के बिना सम्भव नहीं है।"

ग्रिफ़िथ ने उपर्युक्त विषयों में ही ऋग्वेद की प्रामाणिकता स्वीकार की है और वेद-व्याख्या के विषय में विविध विद्वानों के मत भी प्रकट किये हैं।

यजुर्वेद के अनुवाद की प्रस्तावना (Perface) में उन्होंने यजुर्वेद आदि का अर्थ दिखलाकर बतलाया है - यद्यपि भारतीय वेद-गणना में यजुर्वेद को दूसरे स्थान पर रखा गया है तथापि इससे जातियों और उपजातियों का पूर्ण विकास तथा कला, विज्ञान, व्यापार शिल्प और व्यवसायों की पर्याप्त प्रगति का बोध होता है। अतः स्पष्ट है कि यह अथर्व से भी परवर्ती रहा होगा। इस प्रकार यजुर्वेद ऋग्वेद की अपेक्षा एक उन्नत सभ्यता एवं संस्क ति का बोध कराता है। यजुर्वेद सम्बन्धी अन्य जानकारी के लिए ग्रिफ़िथ ने प्रो० वेबर की हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर तथा प्रो० मैक्समूलर की हिस्ट्री ऑफ एनश्येन्ट संस्क त लिटरेचर का नाम लिया है।

सामवेद के अनुवाद के आरम्भ में जो संक्षिप्त प्रस्तावना (Perface) दी गई है उसमें ग्रिफ़िथ ने बताया है - सामसंहिता में उद्‌गाता द्वारा विशेषकर सोमयागों में गाये जाने वाले मन्त्रों का संकलन किया गया है। इसमें मुख्य रूप से ऋग्वेद के उन मन्त्रों का संग्रह है जिनका विविध धार्मिक अनुष्ठानों में विनियोग किया जाता है। सामसंहिता के संकलन की तिथि का कोई संकेत नहीं मिलता, न ही इसके संकलयिता का नाम ज्ञात होता है। जब आर्य लोग प्रथमतः भारत में आये उस आरम्भिक काल में इस प्रकार के ग्रन्थ की आवश्यकता न रही होगी किन्तु अपने नवीन प्रदेश में फैलने और व्यवस्थित रूप से बस जाने के बाद उन आक्रान्ताओं का कर्मकाण्ड विस्त त हो गया तथा उस जटिल (उलझे) कर्मकाण्ड में मार्ग-दर्शन के लिये ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता हुई। इस प्रकार के विवेचन से प्रतीत होता है कि सामवेद के द्वारा भारतीय आर्यों के ऋग्वेद से परवर्ती धर्मानुष्ठान के विषय में जानकारी मिलती है।

ग्रिफ़िथ ने अथर्ववेद के अनुवाद की विस्त त (प ० iii से xviii) प्रस्तावना लिखी है। यहाँ सभी वेदों के नाम विषय आदि का निरूपण करके अथर्ववेद के विविध नामों का भी उल्लेख किया है। उनके अनुसार अथर्ववेद मुख्यतया यज्ञ के चार होताओं में से ब्रह्मा का वेद है। यह प्रार्थना-सम्बन्धी ज्ञान की व्याख्या करता है जिसमें आशीर्वाद, जादू-टोना आदि भी है। इसी प्रकार मित्रों के मण्डल और शत्रुओं के विनाश आदि का भी इसमें विश्लेषण है। साथ ही परम तत्त्व ब्रह्म तथा आत्मा आदि का यहाँ निरूपण किया गया है।

ग्रिफ़िथ ने विविध प्रमाणों तथा अनेक मतों के आधार पर यह भी बतलाया है कि अथर्ववेद को वेदो में स्थान कैसे मिला, ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के प्रतिपाद्य विषय में क्या अन्तर है। उनके मत

में ऋग्वेद में हम जनता को यथेच्छ क्रियाकलाप में तत्पर पाते हैं, दूसरी ओर अथर्ववेद मे हम देखते हैं कि जनता परम्पराओं तथा अन्धविश्वासों की बेड़ियों में जकड़ी हुई है।

ग्रिफ़िथ का विचार है कि अथर्ववेद के विचित्र संकलन में बहुत सी दुर्बोध अगम्य सामग्री है। फिर भी, इसका कुछ आध्यात्मिक भाग ऐसा है जो परम्परावादी हिन्दुओं को आक ष्ट करता है। इसके कुछ भाग सामान्य जन के दैनिक जीवन, यातनाओं और आमोद-प्रमोद,, आशा और आशङ्का तथा सुख और दु:ख पर प्रकाश डालते हैं। यहाँ हम मध्यमवर्गीय आर्यो के जन्म से म त्यु पर्यन्त के आचार-व्यवहार - जैसे बालक के जन्म से पूर्व के मङ्गल, सद्योजात शिशु के प्रति आशीर्वाद, युवकों के विवाह सम्बन्धी रीति-रिवाज आदि का ज्ञान प्राप्त करते हैं। वस्तुतः वह युवक क षक है हम उसे खेत जोतते हुए और इन्द्र तथा पूषन् आदि देवों से आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करते हुए पाते हैं। उसकी बार-बार की प्रार्थनाओं के फलस्वरूप सम्पत्ति और परिवार की सम द्धि होती है और वह एक विशाल भवन बनवाने का आयोजन करता है। यहाँ ग हप्रवेश-संस्कार आदि के विषय में भी अर्थर्ववेद से कुछ सामग्री प्राप्त होती है। इसी प्रकार ग्राम और ग्रामसभा तथा अन्य ग्रामीण जीवन के सम्बन्ध में भी कुछ विवरण यहाँ मिलता है।

इसके अतिरिक्त अथर्ववेद में छोटे-छोटे व्यापारियों का विवरण भी मिलता है जो अपनी स्वल्प पण्य-सामग्री के साथ यात्रा करते हैं। ये व्यापारी भिन्न-भिन्न देवों से अनेक प्रकार की प्रार्थनाएं करते हैं। अथर्ववेद में स्त्रियों के जीवन के विषय में अधिक विवरण नहीं मिलता, फिर भी अनेक मन्त्र उनके विषय में है, जिन में कुछ विवाह-सम्बन्धी औपचारिकताएँ दिखाई देती हैं, और जिनसे विदित होता है कि ग ह स्वामिनी के अनेक कर्त्तव्य थे, उसके जीवन में कुछ कठिनाइयाँ और आमोद-प्रमोद भी थे तथा कभी-कभी वह भयावह रूप भी धारण करती थी।

इस प्रकार ग्रिफ़िथ के अनुसार चारों वेदों से आर्यो के विभिन्न कालों के आचरण, विश्वास तथा व्यवहार का बोध होता है। इन्हें ऐतिहासिक और धार्मिक अवस्थाओं के ज्ञान के लिए ही प्रमाण माना जा सकता है।

व्हिटनी :-

संस्क त के अनेक क्षेत्रों में व्हिटनी की विशिष्ट देन है। वेद के क्षेत्र में भी उनके कुछ उल्लेखनीय कार्य हैं। उन्होंने वैदिक ग्रन्थों के सम्पादन का कार्य किया है और वेद-संहिता का अनुवाद भी किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने वैदिक विषयों पर कुछ लेख भी लिखे हैं। संक्षेप में उनकी वेदविषयक विशेष क तियाँ इस प्रकार हैं :-

1. Atharva-veda Samhita (Prof. Rudolf Von Roth and W.D. Whitney, Berlin, 1856).
2. The Saunakiya Chaturadhyayika or the Atharva Veda Pratisakhya. (Text, translation, and notes, Journal of the American Oriental Society, Vol. VII, 1862)

३. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य (Ed. JAOS, 1871)

४. i) Vedic Researches in Germany

ii) History of the Vedic Texts (First published in the Journal of the American Oriental Society, Vol. III & IV).

इसके अतिरिक्त व्हिटनी ने अथर्ववेद संहिता का अनुवाद किया था, जो बाद में उनके शिष्य द्वारा १६०५ में (२ जिल्दों में) प्रकाशित कराया गया।

व्हिटनी की द ष्टि में वेद वह आधार प्रस्तुत करते हैं, जिस पर प्राचीन और अर्वाचीन भारत-सम्बन्धी ज्ञान का प्रासाद निर्मित किया जा सकता है। उन्होंने वेदविषयक पाश्चात्त्य विद्वानों के

विचारों की समीक्षा भी की है। उनके अध्यवसाय की प्रशंसा करते हुए भी वे कहते हैं कि कोलब्रुक द्वारा किया गया वैदिक विषयों का विवेचन किसी अंश में त्रुटिपूर्ण है। इसी प्रकार प्रो० रॉथ और डा० वेबर के वेद-विषयक प्रतिपादन पूर्ण नहीं कहे जा सकते।

व्हिटनी ने वेदों के प्रतिपाद्य विषय पर विचार करते हुए वेदों से प्रकट होने वाले भौगोलिक और सामाजिक परिस्थितियों पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार वेदों में आर्यों के भारत में प्रथमतः आगमन काल के मुख्य स्थानों का वर्णन उपलब्ध होता है। फलतः यहाँ सिन्ध और प जाब आदि का वर्णन है। गङ्गा का उल्लेख तो है, किन्तु दसवें मण्डल में ही।

वे बतलाते हैं - आर्य लोग पूर्ववर्ती जनों को दस्यु कहते थे। वे लोग गोत्र अथवा कबीलों में विभक्त थे। प्रत्येक गोत्र या कबीला एक दूसरे से प थक् था। किन्तु वंश, भाषा, धर्म तथा पूर्ववर्ती लोगों के साथ शत्रुता आदि के द्वारा वे एक दूसरे से सम्बद्ध थे। परिवार का मुखिया जो सम्पत्ति का स्वामी था वही राज्य या सरकार का अङ्ग कहा जा सकता है।

वे पूर्णतया क षक नहीं थे। यद्यपि अनुकूल परिस्थिति पाकर खेती भी करते थे। उनकी मुख्य सम्पत्ति पशुओं का समुदाय था। सींग वाले पशु उनकी मुख्य सम्पत्ति थी। गाय वैदिक युग का प्रमुख पशु था। अश्व को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता था। इसका मुख्य रूप से युद्धों में प्रयोग किया जाता था। सम्भवतः उस समय के लोग हाथी से कम ही परिचित थे। जङ्गली जानवरों में व क्, सिंह ओर व्याघ्र का नाम अधिक लिया गया है, रीछ का उल्लेख कम है।

व्हिटनी का कहना है - यद्यपि उस समय के लोग पूर्णतया खेतीहर नहीं थे फिर भी वे किसी प्रकार भी घुमन्तू जाति के नहीं थे। हाँ, अपने पशुओं के लिये चरागाह की खोज में उन्हें स्थान बदलना पड़ता था। वे साथ-साथ खुले ग्रामों में रहते थे और पुरों में भी। वे युद्धप्रिय लोग थे। वे अपने देवताओं से युद्ध में सफलता की प्रार्थना भी करते थे।

उनके हथियार तलवार, धनुष, भाला आदि थे। शान्तिकालीन कलाएँ उनमें उतनी प्रचलित नहीं थी जितनी अन्य प्राचीन जातियों में। अवश्य की काव्य का पर्याप्त विकास हो चुका था। गीतिकाव्य की रचना को अत्यधिक पुरस्क त किया जाता था। जैसा की कवियों ने स्वयं ही मन्त्रों में अनेक बार कहा है, काव्य की रचना के लिए सम्पन्न और सम्मानित जनों द्वारा रुचिपूर्वक पुरस्कार दिये जाते थे।

सामाजिक द ष्टि से यह कहा जा सकता है कि प्रारम्भिक युग में जातिप्रथा नहीं थी। उन परिस्थितियों में जाति-प्रथा सङ्गत ही नहीं थी। उत्तरकाल में जातिप्रथा विकसित तो हुई, किन्तु सभी भेद-भावों के साथ नहीं। व्हिटनी ने वर्णों के विकास का विस्त त वर्णन किया है और बतलाया है कि वेद में शूद्र शब्द बहुत कम प्रयुक्त हुआ है।

उनके अनुसार वेदों से प्राचीन भारतीय धर्म के विषय में सबसे अधिक सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। मानव जाति के धर्म का सामान्य इतिहास खोजने के लिए भी इसका कम महत्त्व नही ंहै। वैदिक देवताओं का वर्गीकरण भी अत्यन्त प्राचीन है। वैदिक मन्त्रों में तीन प्रकार के देवों के सङ्केत मिलते है। वे है - प थ्वीस्थानीय, अन्तरिक्ष-स्थानीय और द्युस्थानीय। इन तीनों प्रकार के देवों पर व्हिटनी ने विस्तार से विचार किया है।

वे यह भी कहते हैं कि वेदों में पुनर्जन्म आदि के उल्लेख नहीं मिलते, अपितु एक ऐसे सामान्य विश्वास का भास होता है कि यह सांसारिक जीवन मनुष्य का अन्तिम जीवन नहीं है, मरण के पश्चात् वह ऊपर के सुखी लोक में चला जाता है। उस लोक का मुख्य व्यक्ति यम है। जो सामान्य रूप से म तकों का मुखिया और शासक है। व्हिटनी ने यहाँ सूक्त का भी उल्लेख किया है।

वेदों के प्रतिपाद्य विषय की चर्चा का उपसंहार करते हुए वे कहते हैं - विषय का यह प्रस्तुतीकरण चाहे अपूर्ण ही हो तथापि प्राचीन इतिहास, सभ्यता तथा धर्म के विद्यार्थियों को वेदों का अत्यधिक महत्त्व दिखलाने में पर्याप्त होगा। व्हिटनी की द ष्टि में भारत के ही नहीं, इण्डो-यूरोपियन के विषय में भी वेदों से कुछ ज्ञान प्राप्त होता है। किन्तु विन्टरनिट्ज इस मत से पूर्णतया सहमत नहीं है। वे कहते है - हमें तो व्हिटनी की यह उक्ति अतिशयोक्ति लगती है कि वेदों को भारतीय साहित्य का अङ्ग न मानकर एक इण्डो-यूरोपियन ग्रन्थ मानना युक्ततर प्रतीत होता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह विदित होता है कि व्हिटनी की द ष्टि में वेदों से प्राचीन मानव विशेषकर आर्यो के धर्म, सभ्यता, भौगोलिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों आदि के विषय में कुछ सुचनाएँ प्राप्त होती है। अतः उसी विषय में इन्हें प्रमाण कहा जा सकता है।

लुड्विग, पिशल तथा गैल्डनर :-

इन तीनों जर्मन विद्वानों की गणना विख्यात प्राच्य-विद्या-वेत्ताओं में की जाती है। लुड्विग ने समस्त ऋग्वेद का अनुवाद किया जो विस्त त टिप्पणियों से युक्त है। यह अनुवाद प्राग से १८७६-८८ में प्रकाशित हुआ। इसकी विस्त त भूमिका में उनके वेद-सम्बन्धी विचार देखे जा सकते हैं। पिशल का परिचय प्राक त भाषाओं का व्याकरण नामक ग्रन्थ के आदि में अनुवादक हेमचन्द्र जोशी ने दिया है। तदनुसार पिशल सरल तथा विनम्र भी थे। ये प्रारम्भिक शिक्षाकाल में ही संस्क त के अध्ययन की ओर आक ष्ट हुए। इन्होंने De Kalidasse Cakuntali Recensionibus नामक क ति पर डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। ये ब्रेजला-विश्वविद्यालय में भारतीय-विद्या-विभाग के रीडर पद पर नियुक्त हुए और बाद में कील विश्वविद्यालय में संस्क त-विभाग के अध्यक्ष रहे। वेबर के पश्चात् ये बर्लिन विश्वविद्यालय में चले गये। अपने जीवन काल में पिशल कितनी ही विश्व-विख्यात संस्थाओं के सदस्य रहे। इन्होंने जर्मन भाषा में प्राच्य-विद्याओं के विषय में अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। वेद के विषय में इनकी प्रसिद्ध क ति है :-

Pischel-Geldner : Vedische Studien (Vedic Studies) Stuttgart, 1889-1897, 2 Vols.

प्राक त भाषाओं का व्याकरण नामक ग्रन्थ पिशल की श्रेष्ठ क ति मानी जाती है। इसका हिन्दी भाषा में अनुवाद हो चुका है। इनमें वैदिक स्टडीज नामक क ति पिशल तथा गैल्डनर के नाम से प्रसिद्ध है।

गैल्डनर ने अपने जीवन का बहुत समय वैदिक अध्ययन में लगाया। उनकी क तियों में ऋग्वेद का सटिप्पण जर्मन अनुवाद विशेष उल्लेखनीय है जो उनके देहावसान के पश्चात् प्रकाशित हुआ।

पिशल तथा गैल्डनर के वैदिक स्टडीज नाम से जो ग्रन्थ प्रकाशित उसमें वेदों की परम्परागत व्याख्याओं के महत्त्व और विश्वसनीयता के विषय में एक लम्बे विवाद का वर्णन भी मिलता है। कुछ परवर्ती इतिहास से वेद के प्रतिपाद्य विषय तथा वेद-प्रामाण्य-विषयक इनकी धारणाओं का परिचय मिल सकता है।

जैसा की ऊपर कहा जा चुका है - वेद के अर्थ के विषय में पाश्चात्य विद्वानों की तीन प्रकार की धारणाएँ मिलती हैं। रॉथ जैसे विद्वान् मानते हैं कि भाषा-विज्ञान तथा तुलनात्मक आलोचना शास्त्र के आधार पर वेदों का कहीं अधिक गम्भीर एवं यथार्थ तात्पर्य दिखलाया जा सकता है। आज के अनुसन्धान कर्त्ता इस विषय में मध्यम मार्ग का अनुसरण करते हैं। उनके अनुसार भारतीय परम्परा और पाश्चात्य अन्वेषण दोनों के आधार पर ही वेदों का यथार्थ खोजा जा सकता है। इन मध्यमार्गियों में लुड्विग प्रमुख है। उनके परवर्ती पिशल तथा गैल्डनर ने भी इसी मार्ग का अनुसरण किया है।

इस विषय में पिशल तथा गैल्डनर के कुछ विचार वैदिक स्टडीज में उपलब्ध होते हैं। उनका विचार है ऋग्वेद के समय भारतीय जन जिस संस्क ति के उत्कर्ष पर पहुँच गए थे वह उस संस्क ति से कुछ विशेष भिन्न नहीं है, जो भारत में सिकन्दर के आक्रमण के समय थी। इस विचार की

विन्टरनिट्ज ने समीक्षा की है। इससे यह विदित होता है कि इन सभी के विचार में वेदों से कुछ ऐतिहासिक और धार्मिक सूचनाएँ प्राप्त होती है और उसी विषय में ये प्रमाण माने जा सकते हैं।

आर्थर एण्टनी मैक्डॉनल :-

आरम्भ से ही ऐतिहासिक विवेचन की ओर पाश्चात्त्य विद्वानों की प्रव त्ति रही। मैक्समूलर, श्रेडर, श्लीगल तथा वेबर आदि विद्वानों ने तो इस विषय में मौलिक प्रयास किया। फिर भी ये प्रयास अधूरे ही रहे। संस्क त वाङ्मय के नवीनतम अन्वेषण से उपलब्ध होने वाले सभी तथ्यों को इनमें निरूपण अथवा समीक्षण न किया जा सका। अतः अनुसन्धान की बढ़ती हुई रुचि के साथ इतिहासकारों का क्षेत्र और द ष्टिकोण भी अधिकाधिक व्यापक होता गया। फलस्वरूप मैक्डॉनल जैस विद्वानों ने उपलब्ध सामग्री के आधार पर संस्क त वाङ्मय के अध्ययन को नई दिशा प्रदान करने का प्रयास किया।

आर्थर एण्टनी मैक्डॉनल का जन्म ११ मई, १८५४ को हुआ था। वे आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में बोडन (Boden) प्रोफेसर रहे तथा संस्क त-विभाग के अध्यक्ष भी। उन्होंने संस्क त वाङ्मय विशेषकर वैदिक साहित्य का सतत अनुसन्धान करके कितने ही ग्रन्थ-रत्न हमें प्रदान किये। उनकी प्रमुख क तियाँ इस प्रकार है :-

1. Critical Edition of Sarvanukramani.
2. A History of Sanskrit Literature
3. Critical Edition and Translation of Brhaddevata.
4. Vedic Grammar
5. Vedic Index (Joint Editor)
6. Vedic Mythology
7. A Vedic Reader

उनके प्रायः सभी ग्रन्थ अंग्रेजी भाषा में है जिनमें से अधिकांश का हिन्दी भाषा में अनुवाद हो चुका है।

यहाँ उनके सभी कार्य का विवेचन करना वा छनीय नहीं है, अपितु यही विचार करना है कि वेद - प्रामाण्य के विषय में उनका क्या मन्तव्य है। यद्यपि उन्होंने स्पष्टतः वेद-प्रामाण्य पर अपना मत प्रकट नहीं किया तथापि उनके द्वारा प्रणीत संस्क त साहित्य का इतिहास एवं वैदिक रीडर आदि ग्रन्थों के आधार पर उनके एतद्विषयक मन्तव्यों को देखा जा सकता है।

पाश्चात्त्य विद्वानों की द ष्टि यह रही है कि जिस प्रकार साहित्य के किसी अन्य अङ्ग में तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक अवस्था का प्रतिबिम्ब होता है, इसी प्रकार वेदों में भी विद्यमान है। इस धारणा के अनुसार वेद भी अपने समय की धार्मिक एवं सामाजिक अवस्था का बोध कराते हैं, हाँ, कहीं-कहीं वेद के वर्णन अलङ्कारात्मक हैं या मिथ (माइथोलाजिकल) मात्र हैं वहाँ ये धार्मिक या सामाजिक दशा का भी यथार्थ चित्रण नहीं करते। मैक्डॉनल भी इसी धारणा के आधार पर किन्हीं सन्दर्भो में वेद की प्रामणिकता को स्वीकार करते हैं। वे मानते हैं - पुरातन युग की अन्य साहित्यिक क तियों की अपेक्षा कहीं अधिक मात्रा में मानवों की धार्मिक विचार धारा को अङ्कित करने वाले ये ही दो ग्रन्थ (ऋग्वेद, अथर्ववेद) कहे जा सकते हैं, और इनका महत्त्व उन पाठकों के लिए अपरिमित है जो मानव जाति के धार्मिक विश्वासों के विकास का अध्ययन करना चाहते हैं। इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों के विषय में वे कहते हैं - "विश्व के किसी भी साहित्य में उपलब्ध धार्मिक विधियों पर रचित

ग्रन्थों में से सर्वप्राचीन होने के नाते ये ग्रन्थ धर्म के इतिहास के अध्येता के लिए अत्यन्त उपादेय हैं। इनमें भारतवर्ष की प्राचीन परिस्थिति के अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध होती है।

यहाँ पर ध्यातव्य है कि मैक्डॉनल जैसे पाश्चात्त्य विद्वानों की यह धारणा पूर्वमीमांसा आदि की भारतीय धारणाओं से नितान्त भिन्न है। पूर्वमीमांसा आदि की धारणा है कि वेद धर्म के प्रतिपादक है वे धर्म का विधान करते हैं। जो वेद-विहित है वही धर्म है और जो वेद द्वारा प्रतिषिद्ध है वह अधर्म है। इस द ष्टि मे वेद एव ब्राह्मण सभी धर्म के निर्देशक हैं, प्रेरक हैं वे किसी समाज के मानवों द्वारा आचरित धर्म का विवरण नहीं देते, अपितु विशेष मानवों के लिए सही, धर्म का विधान करते हैं, अधर्म का प्रतिषेध करते हैं। पाश्चात्त्य विचार-पद्धति में वेद तथा ब्राह्मण ऐसे दस्तावेज हैं - जिससे मानव जाति के किसी वर्ग-विशेष के धार्मिक-विश्वासों एवं आचारों का बोध होता है, ठीक इसी प्रकार जिस किसी कथा, आख्यायिका, नाटक या महाकाव्य से। वे यह भी मानते हैं कि "ऋग्वेद का अधिकांश धार्मिक सूक्तों से भरा हुआ है"।

ऋग्वेद के स्वरूप का वर्णन करते हुए उन्होंने बतलाया है कि "ऋग्वेद के कथानक अपेक्षाक त मानव-विकास की बहुत प्राथमिक अवस्था का निर्देशन करते हैं। तत्रापि यह स्पष्ट है उनमें और भी पूर्वतन युगों की प्रतिच्छाया अङ्कित है। इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी उन्होंने ऋग्वेद को भारतीय इतिहास के ज्ञान का साधन बतलाया है - भारतीय आर्य उस समय आदिवासियों के साथ युद्ध में तत्पर थे, यहाँ उन पर की गई अनेक विजयों का वर्णन है। ऐतिहासिक विवरणों के साथ -साथ वेद में भौगोलिक तथ्य भी उन्होंने माने हैं, वे कहते हैं कि उसमें अनेक नदियों के नाम हैं, कुछ पेड़-पौधे और पक्षियों के भी नाम हैं।

उनके विचार में वेद में इधर-उधर बिखरे हुए सन्दर्भो से उस समय की सामाजिक दशा का बोध होता है, जैसे - पुरुषसूक्त से वर्ण-व्यवस्था, व्यवसाय आदि का, कुछ अन्य सूक्तों से स्त्रियों की अवस्था का तथा विशिष्ट आभूषणों का भी ज्ञान होता है। वे कहते हैं - "भारतीय विचार परम्परा एवं सभ्यता के इतिहास की द ष्टि से कुछ मन्त्र तो निश्चय ही बड़े महत्त्व के हैं।"

वेदों में दार्शनिक तत्वों का विचार करते हुए उन्होंने बतलाया है कि "ऋग्वेद काल के समाप्त होते - होते ऋषियों का बहुदेववाद एकेश्वरवाद में परिणत हो रहा था।" वे यह भी कहते हैं - (क) "ऋग्वेद में, अथवा अन्य वेदों में कहीं भी पुनर्जन्म के सिद्धान्त की ओर संकेत नहीं मिलता।" (ख) ऋग्वेद के कुछ सूक्तों में स ष्टि की उत्पत्ति और तीन प थक्-प थक् अवस्थाओं का वर्णन है। "यहां भी स ष्टिवाद के साथ विकासवाद ओतप्रोत है"।

ऋग्वेद के समान ही उन्होंने अन्य वेदों को भी वाङ्मय का ऐसा अङ्ग माना है जिनसे किन्हीं अंशों में भिन्न-भिन्न कालों की सामाजिक परिस्थितियों का बोध होता है। सामवेद के सम्बन्ध में वे कहते हैं - "सामवेद कहीं अधिक मात्रा में ऋग्वेद से सम्बद्ध है। ऐतिहासिक द ष्टि से सामवेद का इतना महत्त्व नहीं।" उनकी द ष्टि में यजुर्वेद ऋग्वेद की अपेक्षा किसी नये युग के भारत की परिस्थितियों का वर्णन करता है - "यजुर्वेद न केवल ऋग्वेद से भिन्न भौगोलिक जीवन के एक बिल्कुल नये युग की सूचना देता है।" यजुर्वेद की विभिन्न-शाखाओं का उल्लेख करते हुए उन्होंने बतलाया है कि "शुक्ल यजुर्वेद संहिता के विभिन्न अंश भारत की धार्मिक एवं सामाजिक स्थिति के विभिन्न युगों को प्रतिबिम्बित करते हैं।"

उनका कहना है कि कालक्रम से जो धार्मिक मान्यताओं में विकास हो रहा था उसकी झलक हमें ऋग्वेद और यजुर्वेद के अनुशीलन से मिलती है, जैसे ऋग्वेद के पिछले सूक्तों में प्रजापति का केवल आभास मिलता है, किन्तु यजुर्वेद में वह मुख्य देवता के पद पर प्रतिष्ठित हो गया है। ऋग्वेद की अपेक्षा यजुर्वेद में विष्णु को अधिक महत्त्व दिया गया है। यजुर्वेद के युग तक कुछ नई धार्मिक मान्यताएँ विकसित हो गई हैं और पुरानी मान्यताओं में परिवर्तन भी हुआ है।

अथर्ववेद के प्रतिपाद्य-विषय पर विचार करते हुए उन्होंने यह भी दिखलाया है कि वह किस प्रकार की सामाजिक और धार्मिक अवस्था का परिचय देता है। वे कहते हैं - "अथर्ववेद निश्चय ही ऋग्वेद की अपेक्षा अधिक मूढ़ ग्रहों से अनुप्राणित है। इसमें ब्राह्मण धर्म के विशेष उन्नत विचार नहीं पाये जाते।" उनकी द ष्टि में अथर्ववेद मन्त्र-तन्त्रों का एक प्रकीर्ण सङ्ग्रह हैं। यह वेद प्रागैतिहासिक युग की अपरिष्क त भावनाओं से अनुप्राणित है। इसी प्रकार उन्होंने अथर्ववेद में भौगोलिक सामग्री की कमी पाई है। उन्होंने यह भी कहा है कि अथर्ववेद में ज्योतिविद्या, वैद्यर्विद्या, शाप-अभिचार इत्यादि अनेक विषयों का वर्णन है। वे किन्हीं अंशों में अथर्ववेद को अपेक्षाक त उन्नत युग की रचना मानते हैं - "ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद भारतीय धार्मिक विचारों के अर्वाचीन एवं प्रगतिशील युग का प्रतिनिधित्व करता है।" इसीलिए यह भी कहते हैं कि इसमें अन्य वैदिक संहिताओं की अपेक्षा अधिक आध्यत्मिक विचार उपलब्ध होते हैं। उनकी द ष्टि में प्राचीन सभ्यता का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अथर्ववेद का ऋग्वेद से अधिक महत्त्व है - "सभ्यता के इतिव त्त के अध्ययन के लिए ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद में उपलभ्यमान सामग्री कहीं अधिक रोचक एवं महत्त्वपूर्ण है"। उनके सामने यह भी प्रश्न उपस्थित रहा है कि अथर्ववेद को प्रामाणिक रूप से वेद माना जा सकता है या नहीं । इस प्रश्न पर उन्होंने ब्राह्मण ग्रन्थ महाभारत और पुराणों के आधार पर विचार किया है और चारों वेदों में अथर्ववेद की गणना उसी आधार पर बतलाई है।

इस प्रकार मैक्डॉनल की द ष्टि में वेदों का प्रामाण्य ऐतिहासिक तथा भौगोलिक द ष्टि से ही कहा जा सकता है। इनमें भिन्न-भिन्न युगों की मानव जाति के धार्मिक विश्वासों, सामाजिक आचारों और देश की विभिन्न भौगोलिक अवस्थाओं का वर्णन है। उसी के विषय में ये काव्य आदि के समान प्रमाण कहे जा सकते हैं, किन्तु इनमें जो कहीं-कहीं केवल आलङ्कारिक वर्णन हैं, अथवा मिथक हैं, वे स्वतन्त्र रूप से अपने प्रतिपाद्य विषय में प्रमाण नहीं हैं।

ओल्डनबर्ग :-

जर्मनी के वैदिक विद्वानों में ओल्डनबर्ग का नाम उल्लेखनीय है। वह भारतीय विद्याओं के बहुमुखी विद्वान् थे। उनके अनेक लेख तथा ग्रन्थ वैदिक विषयों पर उपलब्ध होते हैं। उन्होंने ऋग्वेद पर बड़ी मार्मिक तथा विवेचनापूर्ण व्याख्या की है तथा ऋग्वेद के छन्द तथा अन्य विषयों का भी विवेचन किया है। उनके ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद हो चुका है। उनके कतिपय वेद-विषयक ग्रन्थ इस प्रकार हैं

1. Hymnen des Rgeda.
2. Vedic Hymns (Motilal Banarsidass, Delhi, 1973).
3. The Religion of the Veda (Religion des veda).
4. Ancient India, Its language and Religion.

ओल्डनबर्ग केवल वैदिक विषयों के ही विद्वान् नहीं हैं, पालि भाषा के भी वे माने हुए विद्वान् है। उनका विनयपिटक का संस्करण, उसका विद्वत्तापूर्ण अनुवाद तथा अन्य लेख इस विषय में उल्लेखनीय हैं। उनका `Buddha, His Life, His Teachings' नामक ग्रन्थ बौद्ध-मत के विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ देता रहा है। यहाँ तो केवल ओल्डनबर्ग के उन विचारों को प्रस्तुत किया जा रहा है जिनसे उनकी वेद-सम्बन्धी धारणाओं का परिचय मिल सकता है।

सामान्यतः ओल्डनबर्ग ने ऋग्वेद के विषय में 'रिलिजन देस वेद' नामक निबन्ध में इस प्रकार के विचार प्रकट किये है - "भारतीय साहित्य के इस प्राचीनतम ग्रन्थ में हमें उत्तरोत्तर बौद्धिक शक्तिहीनता के दर्शन होते हैं। वैदिक आर्यो के पूजा-मन्दिर नहीं होते थे। वे खुले मैदान में घास बिछाकर यज्ञाग्नि प्रज्वलित करते थे और वे जंगली पुरोहित अपने जंगली देवताओं का आह्वान करते थे। वेदों में वर्णन है कि वे देवता अपने रथों पर बैठकर आकाश मार्ग से आते थे और यज्ञ में पुरोडाश,

घी और मांस का भक्षण करते थे और मादक सोमरस पीकर साहस और दिव्यशक्ति प्राप्त करते थे। ऋग्वेद के कवि प्राचीनकाल की परम्परा का अनुकरण करते हुए महान् धूमधड़ाके वाले सोमयाग के लिए मन्त्ररचना करते थे। वे देवताओं के लिये अतिशयोक्तिपूर्ण लच्छेदार विशेषण पर विशेषण दिये जाते थे। ऐसी कविता कर्मकाण्ड में दक्ष पुरोहित वर्ग में ही जन्म ले सकती हैं।"

इस विषय में केगी (Kaegi) के विचारों को प्रस्तुत करते हुए विन्टरनिट्ज ने इन दोनों के विचारों को ही परम्परा विरोधी दो छोरों के विचार कहा है। वस्तुतः इस प्रकार के विचार अतिशयोक्तिपूर्ण ही कहे जा सकते हैं। ओल्डनबर्ग के 'दि रिलिजन ऑफ दि वेद' (रिलिजन देस वेद) नामक निबन्ध से उनके वेदविषयक अन्य विचारों का भी परिचय मिलता है।

ओल्डनबर्ग के अनुसार वैदिक देवता एंव वैदिक यज्ञ धर्म की मौलिक रचनात्मक शक्ति के आदिम तथा पारदर्शक रूप नहीं हैं अपितु सूक्ष्म परीक्षण से प्रतीत होता है कि ये अधिकांश भागों में पुरातन, धुंधली और जटिल रचना के रूप में उभर कर आते हैं। वे यह भी कहते हैं - सुदूर अतीत से वैदिक काल पर्यन्त किसी प्रकार रहने वाला भारत के प्रारम्भिक धर्म का स्वरूप अवश्य ही असभ्य धर्म का रूप है। उन्होंने अपने इस मन्तव्य की विस्तारपूर्वक व्याख्या की है और उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं।

ओल्डनवर्ग के वेद के धर्म पर विचार करते हुए वैदिक देवताओं पर भी अपने विचार प्रकट किये हैं। वे कहते हैं - संभवतः, सभी नहीं तो अधिकांश वैदिक देवताओं का आधार प्राक तिक शक्तियों का दिव्य रूप में मानवीकरण है। इसका विश्लेषण करते हुए उन्होंने बतलाया है - इससे हम प्रथमतः ही यह देख लेते हैं कि वेद के द्वारा हम विकास के उस स्तर का विचार करते हैं जिसमें पूर्व एक लम्बा इतिहास बीच चुका था। वेद में असभ्य जातियों के विश्वास भी द ष्टिगोचर होते हैं। उन्होंने वेद के धर्म, पूजा-पद्धति और देवताओं का विस्तार से वर्णन किया है। उनकी द ष्टि में वेद में एकेश्वरवाद नहीं है, अपितु बहुदेववाद है। यज्ञों तथा प्रार्थनाओं का उचित ढंग से अनुष्ठान करना ऋग्वेद का मुख्य उद्देश्य है इसी के चारों और कवियों का आध्यात्मिक जीवन घूमता है।

वेद के धर्म और संस्क ति का जो उन्होंने विवेचन किया है उसका उपसंहार करते हुए वे कहते हैं - इस प्रकार, वेद का धर्म और पूजा-पद्धति एक ओर तो अतीत के असभ्य धर्म की ओर सङ्केत करते है दूसरी और वे आगे की ओर भी सङ्केत करते हैं। अधिकांश वैदिक देवता बहुत समय से अपने मौलिक अर्थ खो चुके हैं। जैसे - इन्द्र आगे गर्जना करने वाला मात्र नहीं रह गया, इत्यादि।

ओल्डनबर्ग के इस प्रकार के विचारों से यह विदित होता है कि ऋग्वेद की प्रामाणिकता केवल ऐतिहासिक द ष्टि से मानी जा सकती है। यह भारतीय साहित्य और धर्म की प्राचीनतम क ति है। अतः इसमें पूर्ववर्ती असभ्य लोगों के धर्म एवं संस्क ति के सङ्केत भी है और विकसित होती हुई आर्य संस्क ति के भी। इस प्रकार के विचारों की परवर्ती पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों के द्वारा समीक्षा की जाती रही है। विन्टरनिट्ज जैसे इतिहासकार भी इसे अतिशयोक्तिपूर्ण ही मानते हैं।

ब्लूमफील्ड :-

ब्लूमफील्ड ने भारतीय विद्याओं में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। वैदिक ग्रन्थों के प्रकाशन में उनका बड़ा हाथ रहा है। साथ ही वेद-मन्त्रों का अनुवाद भी उन्होंने किया है, वेद के विषय में कुछ विवेचनात्मक निबन्ध भी लिखे हैं तथा अन्य विषयों पर भी कार्य किया है।

ब्लूमफील्ड की कतिपय रचनाओं का विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है :-

१. अथर्व संहिता (पिप्पलाद शाखा) (प्रो० ब्लूमफील्ड तथा डा० गार्वे, जर्मनी, १६०१)

2. Hymns of the ATharva-Veda (Sacred Books of the East Vol. XLII)

(Motilal Banarsidass, Delhi, 1973)

3. Vedic Concordance (Harvard Oriental Series, Vol X, 1906)

4. Rgvedic Repetitions (Harvard Oriental Series, Vol. XX, XXIV)

5. The Atharva-Veda and Gopatha Brahmana.

6. The Vedic Variants (M Bloomfield & Edgerton, F.) (Ling. Soc. Am., 1930-34)

इनके अतिरिक्त ब्लूमफील्ड की अन्य भी क तियाँ हैं, जैसे ब्यूहलर की एनसाइक्लोपीडिया में ब्लूमफील्ड द्वारा संकलित 'दि अथर्ववेद' में विषय-सूची है।

ब्लूमफील्ड ने विशेष रूप से अथर्ववेद के वर्ण्य विषय पर ही विचार किया है और वह भी शौनकीय शाखा के अथर्ववेद के वर्ण्य विषय पर। वे बतलाते हैं कि अथर्ववेद का अधिकांश भाग ऋग्वेद से लिया गया है और इसका कुछ प्रतिपाद्य विषय ऋग्वेद के समान ही है। इस वेद में मङ्गलकारी और विनाशकारी अभिचार देखे जाते हैं तथा कुछ अन्य विषय भी।

ब्लूमफील्ड ने 'सैक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट' (४२) में अथर्ववेद के सूक्तों को दस वर्गों में विभक्त किया है, किन्तु अथर्ववेद एवं गोपथ-ब्राह्मण में इसका चौदह वर्गो में विभाग किया गया है। इन सभी विषयों को संक्षेप में कुछ वर्गो में रक्खा जा सकता है, जैसे - (१) अमङ्गल-निवारण (२) उत्कर्ष की कामना (३) स्त्री-सम्बन्धी (४) यज्ञ-सम्बन्धी (५) मनो जन-सम्बन्धी (६) दार्शनिक तथा आध्यात्मिक सन्दर्भ आदि।

(१) **अमङ्गल निवारण** - अथर्ववेद के कुछ सूक्तों में ऐसे अभिचार कर्म का वर्णन है जिससे विविध प्रकार के रोग तथा प्रेत आदि से मुक्ति दिलाई जा सकती है। ब्लूमफील्ड ने अनेक मन्त्रों और सूक्तों के सन्दर्भ में इस विषय का विवेचन किया है। कुछ सूक्तों में दैत्यों, अभिचारकों तथा शत्रुओं से बचाव के लिये भी किन्हीं अभिचारों का वर्णन देखा गया है। इसी प्रकार किन्हीं सूक्तों के सम्बन्ध में बतलाया गया है कि वहाँ पाप एवं अशुद्धि के दुष्परिणाम से बचने के लिये प्रायश्चित्तों का विधान है। "दुःस्वप्नों एवं स्वप्नकल्पित भयों के विरुद्ध प्रयुक्त अभिचार भी इसी क्षेत्र में आ जाते हैं।"

(२) **उत्कर्ष की कामना** - उनके अनुसार कुछ सूक्तों में दीर्घायु के लिये प्रार्थना की गई है। कुछ में स्वास्थ्य प्राप्त करने के लिये भी। सामाजिक और राजनैतिक जीवन में सफलता, सभा में प्रभाव आदि के विषय में भी कुछ मन्त्र उपलब्ध होते हैं। राजकर्म-विषयक मन्त्र तथा ब्राह्मणों के हित के लिये की गई प्रार्थनाएँ भी इसी वर्ग में रक्खी जा सकती है। किन्हीं सूक्तों में सम द्धि प्राप्त करने वाले विपत्ति से छुटकारा पाने के लिये अभिचार कर्म का वर्णन दिखलाई देता है।

(३) **स्त्री-सम्बन्धी** - यद्यपि स्त्री-सम्बन्धी मन्त्रों एवं सूक्तों को प्रथम वर्ग में ही रक्खा जा सकता है, तथापि किन्हीं विशेषताओं के कारण इन्हें अलग रक्खा गया है। इन सूक्तों में विवाह-मन्त्र, स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों का निरूपण करने वाले मन्त्र (वशीकरण अभिचार) इत्यादि को रक्खा गया है।

(४) **यज्ञ-सम्बन्धी** - अथर्ववेद का श्रौत अनुष्ठानों से क्या सम्बन्ध रहा है? इस पर विचार करके लेखक ने बताया है कि इस वेद का श्रौत विधियों से पर्याप्त परिचय है, ऐसा प्रतीत होता है। फिर भी, श्रौत सूत्रों में वर्णित क्रियाकलाप के आधार पर ही यज्ञ-सम्बन्धी सन्दर्भो की व्याख्या की जा सकती है। ब्लूमफील्ड ने बहुत से सूक्तों में हविष् आदि के वर्णन दिखलाये हैं और कहा है - इन स्थलों में विशेष प्रकार की याज्ञिकता उभरी है।

(५) **मनोर जन सम्बन्धी** - इस प्रकार के सन्दर्भों में ब्लूमफील्ड ने विशेष रूप से कुन्ताप सूक्तों का उल्लेख किया है। कुन्ताप शब्द का वास्तविक आधार स्पष्ट नहीं है। इन सूक्तों में कुछ पहेलियाँ हैं, कुछ रोचक आख्यान हैं और कुछ हंसी ठट्ठे, कुछ अश्लील वचन भी यहाँ मिलते हैं। ये मनोर जन के साधन कैसे हैं? यह दिखलाते हुए लेखन ने कहा है - "कुन्तापवर्ग के हास्योत्पादक और नीरस साहित्य का दानस्तुति, नाराशंसी और आख्यान से गठ-जोड़ प्रतीत होता है ....इस प्रकार दानस्तुतियाँ तथा नाराशंस्य उन आनन्दमय तत्त्वों में से हैं, जो यज्ञ के गम्भीर पावन अनुष्ठानों को उस जन-क्रिया-कलाप के साथ मिलाते हैं, जिसे हम किसी उपयुक्त शब्द के अभाव में याज्ञिक मनोर जन कह कर पुकार सकते हैं।"

(६) **दार्शनिक तथा आध्यात्मिक सन्दर्भ** - इनमें कुछ स ष्टि-विषयक सूक्त हैं। ऋग्वेद का पुरुषसूक्त (ऋ० १०.६०) अथर्ववेद (१८.६) में भी कुछ पाठान्तर के साथ मिलता है। इसके समान कुछ अन्य सूक्त भी हैं। "यहाँ सर्ग के हेतु पुरुष की उत्पत्ति, स्वरूप, उसके शरीर के अड्.गो और उसके अन्य शारीरिक स्वरूप के विषय में अनूठा चिन्तन है। कुछ सक्तों में पूछे गये प्रश्न प्रजापति ब्रह्मा का लक्ष्य करते है। लेखक की द ष्टि में कुछ सूक्त आत्मा और ब्रह्मा का तादात्म्य स्थापित करते हैं, जिनकी भावना उपनिषदों के समान है। स्कम्भ के प्रति जो दो सूक्त(१०,७,८) कहे गये हैं इनमें स ष्टि के चरम कारण का अधिक सूक्ष्म सङ्केत है। इसी प्रकार कुछ सूक्तों में आत्मा के ज्ञान को मानव जीवन का लक्ष्य बतलाया गया है और कहीं ब्रह्मा को सर्वोच्च तत्त्व कहा गया है।

इस प्रकार ब्लूमफील्ड की द ष्टि में अथर्ववेद में कुछ ऐतिहासिक, सांस्क तिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक सन्दर्भ मिलते हैं। इन सबसे इस वेद का इन्हीं विषयों में प्रामाण्य सूचित होता है। अन्य वेदों के विषय में भी सम्भवतः यही कहा जा सकता है।

एम० विन्टरनिट्ज :-

विन्टरनिट्ज ने उपलब्ध वेद-सम्बन्धी ऐतिहासिक ग्रन्थों में कुछ अपूर्णताएँ देखीं और भारतीय साहित्य का समीक्षात्मक परिचय देने के लिये `INDISCHE LITTERATURE' नाम का ग्रन्थ जर्मन भाषा में लिखा, जिसके अंग्रेजी तथा हिन्दी आदि भाषाओं में अनुवाद किये गये। इस ग्रन्थ में लेखक का लक्ष्य यह रहा है - "भारतीय वाङ्मय का इतिहास साथ ही साथ भारतीय वाङ्मय की एक रूपरेखा भी हो - जरूरी है।" इसके अतिरिक्त उनकी कुछ अन्य रचनाएँ भी है जिनमें कोष-ग्रन्थ, काव्य-समीक्षा, धर्म-मीमांसा के साथ-साथ वैदिक सूक्तों की व्याख्या भी सम्मिलित है। विन्टरनिट्ज की विशेष क तियाँ इस प्रकार हैं :

1. Ein Hymnus an Savitar, (Arch, Or 3, 1931)
2. Ancient Indian Ballad Poetry, (CR, Dec. 1923)
3. A Concise Dictionary of Eastern Religions, (being the index volume to Sacred books of the East Series, London, 1925)
4. Race and Religion, (Pr. Bh. 42, Aug. 1937)
5. Ethics in Brahmanical literature, (Pr. Bh. 41, Feb. 1936)
6. Indian under Western, (Arch. Or 7, 1935)
7. A History of Indian Literature, (Calcutta University, 1927-33)
8. Indologica Pragnesia, `Edited Winternitz, M. and Stein, O. (Pub. Rohrer, Brunn, 1929)

ऋग्वेद में क्या हैं? इस विषय में केगी तथा ओल्डनबर्ग के विचारों की समीक्षा करते हुए वे कहते हैं - "इसमें कुछ सन्देह नहीं कि इन सूक्तों की प्रचुर संख्या का वैदिक यज्ञ-याग से कुछ सम्बन्ध नहीं है - उनमें सचमुच उस प्राचीन युग की धार्मिक भावना अब भी प्राणवती है।" वेदों का प्रामाण्य किस विषय में है यह बतलाते हुए उन्होंने कहा है - "भारतीय धर्म के प्राचीन उदय एवं विकास को जानने के लिए तथा इण्डो-यूरोपियन जातियों के गाथा-विज्ञान को समझने के लिए और विश्व भर के प्रागैतिहासिक मन को हृदयगत करने के लिए ऋग्वेद के इन गीतों से बढ़कर और कोई प्रमाण-ग्रन्थ हमारे पास अभी तक नहीं हैं। उनकी द ष्टि में ऋग्वेद से प्रारम्भिक देव-गाथाओं का ज्ञान भी प्राप्त होता है। वेद के कुछ देवों तथा धार्मिक धारणाओं का विवेचन करते हुए उन्होंने कहा है - "प्राचीन आर्यावर्त की धार्मिक धारणाओं के विवेचन का प्रथम रूप जानने के लिए इन वैदिक सूक्तों का महत्त्व बहुत अधिक है। काव्यद ष्टि से भी इनका विश्व साहित्य में अपना ही स्थान है।"

विन्टरनिट्ज के अनुसार आर्यावर्त के प्राचीन धार्मिक विश्वासों के साथ - साथ कुछ अन्य तथ्यों का भी वेद से ज्ञान होता है। उनकी द ष्टि में सभी वैदिक सूक्त यज्ञ-याग आदि के लिए नहीं है। कुछ सूक्त विशुद्ध देव-स्तुति के लिए लिखे गये हैं। और, ये जो देव-स्तुतियाँ हैं उनमें प्रयुक्त देवता कोई प्राक तिक तत्त्व भी हो सकता है। उदाहरणार्थ - इन्द्र और व त्र के युद्ध का यथाश्रुत वर्णन करते हुए वे कहते हैं - "उसमें कोई सन्देह नहीं कि इन्द्र-व त्र के इन युद्धों में कोई बड़ी प्राक तिक घटना ही निबद्ध है।" इस विषय में उन्होंने भिन्न-भिन्न इतिहासकारों के मत भी प्रस्तुत किये हैं कि इन्द्र से उन्हें क्या अभिप्राय लेना अभीष्ट है। इन देव-सम्बन्धी वैदिक वर्णनों में आलड्.कारिक वर्णन भी हैं - "सचमुच, यदि इन अग्निगाथाओं का विश्लेषण किया जाए, तो इनका स्पष्ट उद्भव कवियों के इन्हीं रूपकों तथा अन्य अलङ्कारों में हम पाएँगे।"

वेद के संवाद-सूक्तों के विषय में भी विन्टरनिट्ज ने विस्तार से विचार किया है। ओल्डनबर्ग के अनुसार इन्हें आख्यान-सूक्त कहा जा सकता है। अन्य कुछ विद्वान् भी इनसे सहमत हैं। किन्तु हर्टर और श्रेडर की स्थापना है कि ये सूक्त वैदिक कर्मकाण्डों के प्रसंङ्ग में खेले गये नाटकादि के अवशेष हैं। विन्टरनिट्ज का मत है - "यह संवाद-साहित्य वस्तुतः भारत की प्राचीन वीरगाथाकाव्य हैं, जिसके उदाहरण हमें अन्य देशों के साहित्य में भी मिलते हैं।" उन्होंने वेद के इस प्रकार के कई सूक्तों का विश्लेषण भी किया है, जैसे पुरूरवस् और उर्वशी के आख्यान का और यम - यमी के आख्यान का।

ऋग्वेद के कुछ सक्तों से लौकिक तथा तन्त्र-मन्त्र सम्बन्धी विषयों का भी ज्ञान होता है, जैसे - द्यूत सम्बन्धी सूक्त (१०.३४) से द्यूत के परिणाम तथा द्यूतकर की कर्मदशा का परिचय मिलता है। कुछ सक्तों से मुर्दे को गाड़ने का संकेत मिलता है। सूर्यासूक्त (१०.८५) आदि से विवाह पद्धति - सम्बन्धी कुछ संकेत मिलते हैं। विवाह-सम्बन्धी आशीर्वादों में कुछ तन्त्रात्मक बातें भी हैं। ऐसे तन्त्रात्मक विषय धार्मिक गीतों तथा यज्ञपरक मन्त्रों के बीच में इधर-उधर बिखरें पड़े हैं। कुछ सूक्त ऐसे भी हैं जिनसे धार्मिक और लौकिक दोनों प्रकार के विषयों का ज्ञान होता है - "ऋग्वेद की विषय-वस्तु के प्रसङ्ग में हम अन्त में दानस्तुतियों को लेते हैं, जो धार्मिक तथा लौकिक काव्य को जोड़ने वाली एक कड़ी हैं।"

ऋग्वेद से तत्कालीन दार्शनिक विचारों का भी कुछ बोध होता है। वहाँ स ष्टि और स्रष्टा के परस्पर सम्बन्ध का वर्णन मिलता है। "ऋग्वेद के सूक्तों से सम्पूर्ण चराचर की एकात्मता का पूर्वाभास हमें मिल जाता है।"

ऋग्वेद की विषय-वस्तु का विहङ्गम द ष्टि से अवलोकन करते हुए भी उन्होंने ऋग्वेद किस विषय में प्रमाण हो सकता है, यह दिखलाया है, वेद में काव्यात्मकता, आलङ्कारिता, आख्यानात्मकता होते हुए भी प्राचीन आर्यो के विश्वासों, संस्क ति और सभ्यता के विवरण प्राप्त होते हैं। उस विषय

में ये प्रमाण हैं ही। किन्तु विन्टरनिट्ज का विचार है - "ऋग्वेद, और कुछ हो-सो-हो एक नीति-रत्न-माला कदापि नहीं है"। वे वैदिक कालीन आर्यो को असभ्य गड़रिये तथा जंगली मानने वाले या उन्हें अत्यन्त सुसंस्क त समझने वाले विद्वानों के साथ अपनी असहमति प्रकट करते हैं।

अथर्ववेद पर विचार करते हुए वे इसमें धार्मिक, लौकिक, भौगोलिक और ऐतिहासिक अनेक विषय देखते हैं। उनके अनुसार अर्थर्ववेद में गङ्गा की घाटी के कुछ सङ्केत मिलते हैं - "वैदिक आर्य लोग अब दक्षिण-पूर्व की ओर गङ्गा के क्षेत्र तक पहुँच चुके हैं।" उस स्थल के चीते -शेर जैसे पशुओं का भी इस वेद से ज्ञान होता है। अथर्ववेद में ऋग्वेद के देवताओं का स्वरूप बदल गया है - "अथर्ववेद के मन्त्र उनकी स्तुति-उपासना विशेषतः भूतों -प्रेतो, बीमारियों को भगाने व नष्ट करने के लिए ही करते हैं।" अथर्ववेद में लोकप्रिय-धर्म, जन-धर्म, का विवरण है।" एक ऐतिहासिक के लिए अथर्ववेद का महत्त्व क्या है, यह अथर्ववेद की विषय-सूची पर एक विहङ्गम दष्टि डालने से ही स्पष्ट हो जाता है।"

अथर्ववेद के मुख्य अङ्गों में से एक बीमारियों का इलाज करने के मन्त्र तन्त्र हैं। बीमारी को दूर करने की प्रार्थनाओं में कहीं-कहीं काव्यात्मकता भी आ गई है। यहाँ बीमारी की जड़ भूत-प्रेत समझे गये हैं और उन्हें भगाने का भी अनेक मन्त्रों में उल्लेख है। अथर्ववेद का दूसरा प्रसङ्ग आयुष सूक्तों का है। जिनमें स्वास्थ्य तथा दीर्घ आयु के लिए प्रार्थना की गई है। इसी प्रसङ्ग में पौष्टिक सूक्त भी विद्यमान हैं किन्तु इन मन्त्रों में कवित्व का अभाव है। कुछ सूक्त प्रायश्चित का विधान करते हैं। अनेक मन्त्र जादू-टोने आदि से भी सम्बन्ध रखते हैं और जादू की बुरी निगाहों से बचने के लिए भी कुछ मन्त्र हैं।

विन्टरनिट्ज के अनुसार अथर्ववेद के कुछ प्रसङ्गों से सम्बद्ध कथाएँ वैदिक न होकर लौकिक साहित्य से अधिक सम्बन्ध रखती हैं। इसी प्रकार यद्यपि अथर्ववेद के पिछले भागों में विशुद्ध यज्ञ-विनियोग सम्बन्धी मन्त्र विद्यमान हैं तथापि इसमें लौकिक विषय का अधिकार प्रतिपादन किया गया है। कहीं क्षात्रधर्म अथवा राजकर्म का वर्णन है, कहीं अन्त्येष्टि परक सूक्त हैं और कहीं पितरों की पूजा - सम्बन्धी तथा कहीं दान-स्तुतियाँ भी हैं। कुछ सूक्तों में धर्मशास्त्र तथा स ष्टि का भी विवेचन हैं। कहीं-कहीं दार्शनिकता की अपेक्षा रहस्यात्मकता अधिक द ष्टिगोचर होती है। विन्टरनिट्ज के दाऊसन के मत की समीक्षा करते हुए कई सूक्तों की परीक्षा की है और दिखलाया है कि विश्व के दर्शनशास्त्र को इनकी कोई नई देन प्रतीत नही होती।

सामवेद के प्रतिपाद्य-विषय का विश्लेषण करते हुए उन्होंने कहा है - "सामवेद संहिता का महत्त्व जहाँ भारतीय यज्ञ-परम्परा और जादू - परम्परा के इतिहास के लिए अपरिहेय है वहाँ भारतीय संगीत -शास्त्र की उत्पत्ति पर भी उउसे बहुत कुछ प्रकाश पड़ सकता है। ...... साहित्यिक रूप में, वैसे, सामवेद का महत्त्व नगण्य है।"

यजुर्वेद में अध्यर्वु की सुगमता के लिए वैदिक प्रार्थनाएँ संग हीत हैं। यहाँ अश्वमेध तथा पुरुषमेध जैसे अनेक यज्ञों का वर्णन है। पुरुषमेध में जो अनेक प्रकार के मनुष्यों का एक साथ देवार्पित करना दिखलाया गया है उसमें "मूल भावना साङ्केतिक प्रतीत होती है।" इनसे यह भी विदित होता है कि "यज्ञ-याग का पूर्ण आडम्बर मूल रूप से रहस्यात्मक ही अधिक था।" पुरुष- सूक्त से भी इस कल्पना की पुष्टि होती है। यजुर्वेद में कुछ परस्पर असङ्त वस्तुओं को जोड़ देने की प्रव त्ति भी द ष्टिगोचर होती है। इस प्रकार के वचनों को देखकर श्रेडर ने कहा है - "प्रायः हमें यह सन्देह भी उठता है कि क्या ऐसे वाक्य किसी बुद्धिमान् (व्यक्ति अथवा) जाति की रचना हो सकते हैं।"

यजुर्वेद में कुछ पहेलियाँ भी हैं। इसके अतिरिक्त कुछ रहस्यात्मक प्रसङ्ग भी यजुर्वेद में मिलते हैं। यहाँ कुछ अन्धविश्वास के सङ्त भी देखे जा सकते हैं। साहित्यिक द ष्टि से यजुर्वेद

संहिताओं का महत्त्व नहीं हैं। धार्मिक द ष्टि से तुलनात्मक धर्म के अध्ययन के लिए यजुर्वेद का विशेष महत्व है।

अन्त में, वे सभी संहिताओं का महत्व दिखलाते हुए कहते हैं - "स्वयं भारत के परतर दार्शनिक एवं धार्मिक साहित्य को सही समझने के लिए संहिताओं का महत्त्व कभी भी कम नहीं हो सकता।" विन्टरनिट्ज के इस विवेचन से प्रतीत होता है कि वेदों के कुछ प्रतिपाद्य-विषय ऐतिहासिक, भौगोलिक या धार्मिक तथ्यों के अनुसन्धान में पर्याप्त सहायक है और इसी द ष्टि से वेदों का प्रामाणिकता है।

ए० बी० कीथ :-

प्रोफेसर कीथ अपनी अनूठी और गहन विद्वत्ता के कारण संस्क त जगत् में प्रसिद्ध है। उन्होंने बाडन संस्क त स्कालर के रूप में कार्य किया तथा आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में संस्क त के कार्यवाहक डिप्टी प्रोफेसर के रूप में भी। उन्होंने कई ग्रन्थों के सम्पादन किये हैं, कई के अनुवाद किये हैं और कितने ही खोजपूर्ण ग्रन्थ तथा स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की है। उनके वेदविषयक विचारों के ज्ञान के लिये उनकी निम्नलिखित रचनाएँ देखी जा सकती है :-

1.	The Aitareya Aranyaka	Oxfort University Press, London, 1969
2.	Religion and Philosophy of the Veda and Upanishads	Harvard University Press, London 1925
3.	Rigveda Brahmanas : The Aitareya and Kausitaki Brahmanas of Rigveda.	Motilal Banarsidass, Delhi, 1971
4.	Veda of Black Yujus school entitled Taittiriya Samhita (Translation)	Harvard Oriental Series, 18, 1967
5.	Samkhayana Aranyaka with an Appendix on the Mhavrata	The Royal Asiatic Society, 1908
6.	Aitareya Aranyaka (ed.)	Oxford Clarendon Press, London, 1909.
7.	Vedic Index of names and subjects (Macdonell & Keith)	Motilal Banarsidass, Delhi, 1958

इनके अतिरिक्त उनकी अनेक शोधात्मक रचनाएँ हैं जिनमें से कुछ लेख विभिन्न शोध-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। इनमें से संख्या २ का "वैदिक धर्म एवं दर्शन" नाम से हिन्दी भाषा में अनुवाद हुआ है।

वैदिक धर्म एवं दर्शन नामक ग्रन्थ से प्रोफेसर कीथ के वेद-विषयक विचारों का ज्ञान प्राप्त होता है। उनकी द ष्टि से ऋग्वेद भारतीय धर्म का प्राचीनतम स्रोत है। ऋग्वेद एक ऐतिहासिक संहिता हैं। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल पर विचार करते हुए वे कहते हैं - "धार्मिक विकास के साथ साथ इस मण्डल में सामाजिक विकास भी पाया जाता है ..... इसी मण्डल में हमें सर्वप्रथम चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अपने विकसित रूप में देखने को मिलते हैं।" एक मत के अनुसार ऋक्-संहिता का धर्म आर्य धर्म नहीं अपितु आदिवासियों का धर्म ठहरता है। ऋग्वेद में तत्कालीन लोक धर्म का संकेत मिलता है। साथ ही यहाँ ऐसे सूक्त भी हैं जिनका सम्बन्ध पित -पूजा के साथ है। वस्तुतः "ऋग्वेद एक ऐतिहासिक संकलन है न कि याज्ञिक और इसकी व्याख्या इसी द ष्टि से करनी वा छनीय है।"

परवर्ती संहिताओं और ब्राह्माओं के समय कर्म-काण्ड का विस्तार होने लगा। भिन्न-भिन्न पुरोहित अथवा ऋत्विज् होने लगे। पौरोहित्य का विभाजन कार्य-विभाजन के आधार पर हुआ।

यजुर्वेद में अध्वर्यु द्वारा प्रयुक्त मन्त्रों का सङ्कलन किया गया। यजुर्वेद की क ष्ण और शुक्ल दो शाखाएँ उपलब्ध हैं। यज्ञों में गाये जाने वाले सामवेद में सुरक्षित किये गये है। बड़े यज्ञों में उद्‌गाता सामगान करता था, होता शस्त्र पाठ करता था। शस्त्र ऋग्वेद से लिये गये मन्त्रों से बने हैं। अथर्ववेद का सम्बन्ध ब्रह्मा से कहा जाता है, ब्रह्मा प्रायः समस्त कार्यो का निरीक्षण करता था।

कीथ का विचार है कि यद्यपि सभी संहिताओं में यातु-क्रियाएँ किसी अंश में विद्यमान हैं तथापि का इनसे गहन सम्बन्ध है और यज्ञ-क्रियाओं से कर्म अथर्ववेद में जीवन के विविध पक्षों का सङ्कलन है। स्वास्थ्य, अपत्य-प्राप्ति, प्रेम-प्रसङ्ग, रोग-निवारण, धन-प्राप्ति तथा कुछ सिद्धियों का भी यहाँ वर्णन है। विवाह और अन्त्येष्टि आदि के सूक्त यहाँ अधिक विस्त त हो गये हैं। "निश्चय ही अथर्ववेद में धार्मिक जीवन के अपेक्षाक त निम्न स्तर की साधनाओं का उल्लेख है।"

प्रो० कीथ ने चारों मन्त्र-संहिताओं के काल में अन्तर दिखलाते हुए उनसे प्रकट होने वाले धर्म और संस्क ति में भी अन्तर स्पष्ट किया है। वेदों के आधार पर उन्होंने भौगोलिक स्थिति में भी भेद दिखलाया है। वे कहते हैं कि वेदकालीन संस्क ति का केन्द्र सतलुज और यमुना की मध्यस्थ कुरुभूमि थी, किन्तु ब्राह्मणों में प चाल आदि प्रदेश को भी महत्त्व दिया जाने लगा था। व क्षों, पशु-पक्षियों तथा सामाजिक परिस्थिति पर भी वेदों से प्रकाश पड़ता है। उनका कहना है कि उत्तरोत्तर वर्ण-व्यवस्था अधिकाधिक उलझती गयी। "यजुर्वेद में बहुसंख्यक वर्णो की सूची मिलती है जो कुछ हद तक वंशानुगत अथवा जन्मजात प्रतीत होती है।" उनका यह भी कहना है कि सामाजिक विकास के साथ - साथ धन-सम्पत्ति की व द्धि हुई और यज्ञों का भी अधिक विस्तार होता गया।

कीथ का कहना है कि वैदिक देवताओं का स्वरूप तथा महत्त्व भी संहिताओं में भिन्न-भिन्न प्रकार से देखा जाता है। धर्म के विकास की अवस्था भी वेदों के अनुशीलन से स्पष्ट होती है। परवर्ती संहिताओं में देवाख्यान और धर्म के ऊँचे स्तर के विषय में कम सामग्री मिलती है और यज्ञानुष्ठान के विषय में अधिक। साथ ही वहाँ यातु-विद्या अत्यधिक मात्रा में है।

प्रो० कीथ के विचारों से यह स्पष्ट है कि उनकी द ष्टि में वेद से कुछ भौगोलिक, ऐतिहासिक तथा धार्मिक तथ्यों का बोध होता है। फलतः वेद इन्हीं विषयों में प्रमाण कहे जा सकते हैं।

ए. वेबर :-

पाश्चात्त्य जगत के वैदिक विद्वानों में डा. अल्ब्रेख्त वैबर का नाम अत्यन्त श्रद्धा के साथ लिया जाता है। डा. वैबर का जन्म सन् १८२५ में जर्मन देश के बर्लिन शहर में हुआ था। जर्मन देशवासी इस संस्क त विद्वान् ने मात्र २० वर्ष की आयु में Yajurveda specimen cum commentorio विषय पर Breslan विश्वविद्यालय से Ph.D. की उपाधि प्राप्त की।

Ph.D. उपाधि प्राप्त करने के पश्चात् डॉ. वैबर ने अपना सम्पूर्ण जीवन वैदिक साहित्य के सम्पादन हेतु समर्पित कर दिया। वैदिक साहित्य के क्षेत्र में यजुर्वेद उसके ब्राह्मण तथा सूत्र ग्रन्थों के सम्पादन का श्रेय डॉ. वैबर को ही है।

यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता की काव्य तथा माध्यन्दिन शाखाओं के महीधर भाष्य सहित सम्पादन करने के लिए डा. वैबर ने सात वर्ष तक निरन्तर श्रम किया। पाण्डुलिपियों के आधार पर ग्रन्थों का सम्पादन एक दुष्कर कार्य है। यह दुष्कर कार्य यदि वेद जैसे प्राचीन ग्रन्थ का हो तो दुरूहता और बढ़ जाती है। वैबर ने इस दुरूह और गुरूतर कार्य की सभी प्रकार से पूर्णता के लिए घोर परिश्रम किया। उन्होंने वाजसनेयी संहिता की उस समय उपलब्ध लगभग सभी पाण्डुलिपियों को देखा। इन पाण्डुलिपियों को प्राप्त करने के लिए डॉ. वैबर ने देश और विदेश के विभिन्न प्रसिद्ध पुस्तकालयों की खाक छानी। उन्होंने H.H. Wilson और Prof. Mill के व्यक्तिगत पुस्तक संग्रह का भी लाभ उठाया और तब जाकर १८५२ में वाजसनेयी संहिता का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ। इस महनीय कार्य

की सम्पन्नता का कुछ श्रेय बर्लिन की The Royal Academy of Science को भी है जिसकी प्रेरणा और सहायता के कारण ही डॉ. वैबर का शोध कार्य निर्बाध सम्पन्न हुआ।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने १८५२ में जब डॉ. वैबर द्वारा सम्पादित वाजसनेयी संहिता के प्रथम संस्करण को प्रकाशित किया तब वे मात्र २७ वर्ष के थे। २७ वर्षीय इस युवा वैदिक विद्वान् ने सम्पादन में इतनी प्रौढता प्रदर्शित की कि आज प्रकाशित होने वाले संस्करणों का भी वह प्रथम संस्करण ही मानक है। वाजसनेयी संहिता का सम्पादन करने के पश्चात् डॉ. वैबर ने माध्यन्दिन शाखा के शतपथ ब्राह्मण का सायण, हरिस्वामिन तथा द्विवेदगंगा की भाष्य टिप्पणियों सहित सम्पादन किया। इसका प्रकाशन १८५५ में उन्होंने स्वयं किया।

१८५६ में डॉ. वैबर ने यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा के कात्यायन श्रौत सूत्र को कर्क और याज्ञिकदेव की व्याख्याओं की महत्त्वपूर्ण टिप्पणियों सहित सम्पादित कर प्रकाशित किया।

उसके बाद वैबर ने रोमन लिपि में तैत्तिरीय संहिता का सम्पादन किया जो Leipzig से १८७१-७२ में Indische Studier पत्रिका के कई अंकों में प्रकाशित हुआ।

१८६० से १८६६ तक डॉ. वैबर Indische Studies नामक शोध पत्रिका के सम्पादक रहे और इस बीच उन्होंने भारतीय प्राच्य विद्या के सन्दर्भ में अनेक शोध पूर्ण लेख लिखे जो उक्त शोध पत्रिका में प्रकाशित होते रहे। १६०१ में ७६ वर्ष की आयु में डॉ. वैबर की नश्वर देह पंचतत्त्व में विलीन हो गयी।

ए. हिल्ब्राण्ट :-

वैदिक साहित्य, उसमें भी विशेषतः वैदिक पुराकथाशास्त्र के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण शोधपरक मान्यताओं के लिए अल्फ्रैड हिल्ब्राण्ट को सदैव याद किया जायेगा। इस जर्मन विद्वान् का जन्म १५ मार्च, १८५३ को जर्मनी के Grossnaedlitz नगर में हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा के उपरान्त हिल्ब्राण्ट ने Breslau विश्वविद्यालय में संस्क त का अध्ययन आरम्भ किया। उसके पश्चात् म्यूनिख विश्वविद्यालय में अवेस्ता भाषा के प्रसिद्ध विद्वान् मार्टिन हॉग के मार्गदर्शन में अपना अध्ययन जारी रखा। हॉग के सम्पर्क में रहते हुए हिल्ब्राण्ट की वैदिक संस्कार तथा देव शास्त्र में गहरी रुचि उत्पन्न हो गयी।

१८७५ में हिल्ब्राण्ट ने Goddess Aditi विषय पर म्यूनिख विश्वविद्यालय से D. Phil की उपाधि प्राप्त की। वरुण और मित्र देवताओं पर किये गये उनके शोध कार्य के लिए Breslan विश्वविद्यालय ने उन्हें Dr. Habil की उपाधि से विभूषित किया।

१८८३ में उन्होंनें संस्क त के सहायक प्रोफेसर के रूप में Breslan विश्वविद्यालय में कार्य प्रारम्भ किया तथा १८८७ में वे प्रोफेसर बने। हिल्ब्राण्ट दो बाद इस विश्वविद्यालय के कुलपति भी रहे।

अपने अध्ययन और अध्यापन काल में डॉ. हिल्ब्राण्ट ने वेद, अवेस्ता, श्रौतसूत्र, संस्क त नाटक, काव्य, व्याकरण, अर्थशास्त्र तथा भारतीय इतिहास से सम्बद्ध विभिन्न विषयों पर लगभग २०० से अधिक लेख, समीक्षा तथा पुस्तकें लिखी।

हिल्ब्राण्ट वैदिक ग्रन्थों की भाषा शास्त्रीय आधार पर व्याख्या के पक्षधर थे। उन्होंने इस आधार पर वेदों की व्याख्या का कुछ यत्न भी किया किन्तु हेल्ब्राण्ट देवशास्त्रीय विषयों के व्याख्यान में निर्वचन शस्त्र की प्रामाणिकता को स्वीकार करने में अत्यन्त सावधान थे। इस विषय में उनका मानना था कि निर्वचन शास्त्र की सामान्य निर्वचन प्रक्रिया से किसी देवता विशिष्ट के स्वरूप विशेष को निश्चित रूप में नहीं जाना जा सकता।

ऋग्वेद के विषय में उनकी एक महत्त्वपूर्ण मान्यता यह थी कि उसमें अभारतीय तत्त्व अधिक हैं। उसके अधिकांश भाग का मूल स्रोत भारत से बाहर का है तथा वह लोकिक संस्क त की अपेक्षा अवेस्ता के अधिक समीप है। वैदिक देवकथाशास्त्र के सम्बन्ध में हिल्ब्राण्ट की कुछ महत्त्वपूर्ण मान्यतायें

यह रही कि इन्द्र और व त्र की कथा शारदीय पिशाच (व त्र) तथा वासन्तिक सूर्य (इन्द्र) का प्रतीकात्मक वर्णन है और इन पुराकथाओं का स्रोत बाह्यय है। उनकी मान्यता थी कि वैदिक धर्म के आदर्श का केन्द्रीय बिन्दु चन्द्रमा (सोम) है। यही कारण है कि विद्वानों द्वारा हिल्ब्राण्ट को "Moon Mythologist" के रूप में उद्ध त किया जाता रहा है। उन्हें यास्कक त देवों का त्रिविध (प थिवीस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय तथा द्युस्थानीय) वर्गीकरण स्वीकार्य नहीं था।

वैदिक देवकथाशास्त्र के विषय में हिल्ब्राण्ट ने Vedische Mythologie नामक ग्रन्थ लिखा जो तीन भागों में क्रमशः १८६१, १८६६ तथा १६०२ में प्रकाशित हुआ। १६२७ में उन्होंने इस ग्रन्थ का संशोधित संस्करण प्रकाशित किया।

इसके अतिरिक्त हिल्ब्राण्ट ने चार भागों में शाखायन श्रौत सूत्र का सम्पादन किया। ये चार भाग १८८५ से १८६६ तक प्रकाशित हुए। १८६७ में उन्होंने The Ritual Literature Nedische for and Zuber नाम से अपना एक और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किया। १६३० में इस जर्मन देशवासी वैदिक विद्वान् ने इस संसार से विदा ली।

लुइस रेनु :-

वैदिक अध्ययन के क्षेत्र में अपना महत्त्वपूर्ण अवदान देने वाले पश्चिमी विद्वानों में लुइस रेनु का नाम भी आदर के साथ लिया जाता है। इस फ्रेंच विद्वान् का जन्म २८ अक्तूबर १८६६ में हुआ।

आरम्भ में लुइस रेनु के अध्ययन की रूचि का विषय ग्रीक भाषा और उसका साहित्य था किन्तु कुछ काल पश्चात् रेनु ने स्वयं को संस्क त भाषा के विभिन्न पक्षों को अपने अध्ययन का विषय बनाया तथापि वैदिक साहित्य उनके अध्ययन का विशिष्ट क्षेत्र रहा।

लुइस रेनु बहुमुखी प्रतिभा के धनी विद्वान् और लेखक थे। उन्होंने अपने ४० वर्ष के शैक्षिक जीवन में लगभग ४० अमूल्य ग्रन्थों का प्रणयन किया। यही नहीं इन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के प्रणयन के साथ रेनु ने बहुत अधिक संख्या में शोध पत्र और पुस्तकों की समीक्षा आदि लिखी।

वेद के विषय में अपनी लेखन श्रंखला का आरम्भ करते हुए लुइस रेनु ने १६२८ में वेदभाष्य के क्षेत्र में शोध कार्य करने वाले प्रमुख वैदिक विद्वानों के शोध कार्यों की समीक्षा करते हुए Les Maitres de la Philologic Vedique शीर्षक से एक पुस्तक लिखी। यह पुस्तक पेरिस से प्रकाशित हुई। इसमें रेनु ने आचार्य सायण की वेदभाष्य पद्धति की भी समीक्षा की है। उनके अनुसार सायण के भाष्य को उन स्थितियों में विश्वसनीय माना जा सकता है जहाँ वह अपने समय पूर्व निर्धारित निर्वचनों और प्रयोगों की दया पर निर्भर नहीं हैं।

१६३१ में पेरिस से ही रेनु ने उस समय तक वेद के विषय में सम्पन्न हुए लगभग सभी महत्त्वपूर्ण शोध कार्यों के संक्षिप्त सारांश और उनके प्रकाशनादि की सूचना से संवलित Bibliographic Vedique नाम से एक सन्दर्भ ग्रन्थ सूची प्रकाशित की।

१६५३ में उनहोंने लन्दन से Religions of India नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया। इस ग्रन्थ के दो अध्यायों में उन्होंने वैदिक धर्म का स्वरूप प्रस्तुत किया है। इसमें उन्होंने ऋग्वेद को पारिवारिक परम्पराओं से प्राप्त साहित्य का संग्रह बताया है। उनका अभिमत है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता और वैदिक सभ्यता में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है।

रेनु ने १६४८ में भारत की यात्रा की थी और दरभंगा (बिहार) में आयोजित ऑल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेंस में भाग लिया था। इस यात्रा के समय उन्होंने कई महत्त्वूपर्ण शोध संस्थानों में अपने शोध प्रवचन प्रस्तुत किये थे। उनका अधिकांश समय पूना के डेक्कन कॉलिज के शोध केन्द्र में बीता।

लुइस रेनु ने १६२५ से लेकर १६६० तक निरन्तर संस्क त साहित्य, विशेषतः पाणिनीय व्याकरण और वैदिक साहित्य के विषय में ४० से अधिक ग्रन्थों का लेखन और प्रकाशन किया। ७० वर्ष की आयु में १६६६ में लुइस रेनु का पेरिस में स्वर्गवास हो गया। डा. मधुसूदन मिश्र ने उनके ग्रन्थों की सूची अधोलिखित रूप में प्रस्तुत की है :-

1925 : *La Veleur du parfait dans Les hymnes Vediques*, Paris.
1928 : *Les Maitres de la philologie Vedique,* Annals Musec Guinet, Paris.
1930 : *Bibliographic Vedique*, Paris
1930 : *Grammaire Sanscrite,* Andrien - Macssonneurc, Paris
1930-31: *Dictionaire Sanskrite - Franscis,* Paris (in collaboration with N. Stschaupak and L. Nitti)
1934 : *Vrtra et Vroragna : Etude de Mythologie indo-iranienne* (in collaboration with Benveniste, E), Cahiers de la Societe Asiatique, Paris.
1937 : *Monographies Sanskrites,* 1-2, Andrien Maisonneure, Paris.
1938 : *Hymnes et Pariers du Veda,* Paris. (Text with French translation and notes of 44 passages from the *Rgveda*, 22 from Atharvaveda and 8 from Yajurveda and Kausikasutra).
1942 : *la poesie religieuse de L'inde antique,* Paris.
1943 : *Isopanisad,* Paris (Text, Introduction, Translation and notes in French), Paris.
1943 : *Kathopanisad* (Text, translation, notes and introduction in French), Paris.
1946 : *Glossaire de la literature Sanskrite,* Paris.
1947 : *Anthologie Sanscrite,* Paris.
1947 : *Les Ecoles Vediques et la formation du Vedu,* Paris.
1947 : *L' inde Classique* (in collaboration with J. Filliozat), Paris
1948 : *Kausitaki Upanisad* (Text, Introduction, Translation and Notes in French), Paris.
1948 : *Le Grammaire de Panini traduite du Sanskrit,* Vol. I National Centre for Scientific Research, Paris.
1950 : *Sanskrit et culture : L'apport de l'inde a la civilisation humaine,* Paris.
1950 : *Le civilisation de l'inde conicenne,* Paris.
1951 : *Le Grammaire de Panini traduite du Sanskrit,* Vol. II, National Centre for Scientific Research, Paris.
1951 : *Les Litteratures de l'inde,* Paris.
1951 : *L'Hindouisme, Les textes, les doctrines l'histoire,* Paris.
1952 : *Grammaire de la langue Vedique,* Lyon.
1953 : Religion of Ancient India, London.
1954 : Vocabulaire de ritual Vedique, Paris
1954 : *Le Grammaire de Panini traduite du Sanskrit,* Vol. III, National Centre for Scientific Research, Paris.
1954 : *La Durghattavrtti de Saranadeva,* Vol. II (2), Paris
1955 : *Litterature Sanscrite, Histoire des Litteratures,* Paris.
1956 : *Hymnes speculatifs du Veda, tranduits et annotes,* Paris.
1956 : *Baskala Upanisad*, Paris.
1956 : *Upanishad : Texte et traduction*, Paris.
1956 : *La Durghattavrtti de Saranadeva,*Vol. 2 (3), Paris.
1956 : *Etudes Vediques et Panineennes,* Vol. II. Paris.

1957 : *Terminologie grammaticale du Sanskrit*, Paris
1957 : *Vedic India,* Calcutta
1958 : *Etudes Vediques et Panineennes,* Vol. IV, Paris.
1958 : *Etudes sur le vocabulaire du Rgveda,* Pondichery (India).
1959 : *Etudes Vediques et Panineennes,* Vol. V, Paris.
1960 : *Etudes Vediques et Panineennes,* Vol. VI, Paris.

डब्ल्यू. कैलेण्ड :-

वैदिक साहित्य उसमें भी विशेषतः कल्प साहित्य के क्षेत्र में डच विद्वान् कैलेण्ड और उनकी शिष्य मण्डली द्वारा किया गया कार्य असाधारण महत्त्व का है। वर्तमान में उपलब्ध अधिकांश श्रौत सूत्र और ग ह्य सूत्र उन्हीं की सारस्वत क पा का फल है।

कैलेण्ड का जन्म २७ अगस्त १८५६ को हालेण्ड में हुआ। उन्होंने अपने शैक्षिक जीवन की शुरूआत अन्नेक्त विश्वविद्यालय में संस्क त के प्रोफेसर रूप में की।

अपनी सारस्वत साधना के आरम्भ में कैलैण्ड ने तीन भागों में पित मेध सूत्र संग्रह का सम्पादन किया जो कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। तत्पश्चात् उन्होंने आपस्तम्ब श्रौतसूत्र की प्रथम सात कण्डिकाओं का जर्मन भाषा में अनुवाद किया। जो १६२१ में Gottingn से प्रकाशित हुआ। १६२२ में कैलैण्ड ने सामवेद के जैमिनीय ग ह्यसूत्र का सम्पादन और अँग्रेजी में अनुवाद किया जो लाहौर से प्रकाशित हुआ।

१६२५ में डब्ल्यू कैलैण्ड ने काठक ग ह्यसूत्र का सम्पादन किया। इस सूत्र ग्रंथ का सम्पादन अत्यन्त कठिन कार्य था। कैलैण्ड ने इसके लिए अनेक पाण्डुलिपियों और टीकाओं के सूक्ष्म निरीक्षण के पश्चात् इस महत्त्वपूर्ण कार्य को मूर्त रूप प्रदान किया। १६३१ में उन्होंने सामवेद के पंचविंश ब्राह्मण का सम्पादन किया जिसका प्रकाशन कलकत्ता से हुआ।

१६३४ में कैलैण्ड ने डा. रघुवीर के साथ मिलकर वाराह श्रौत सूत्र तथा शांखायन श्रौत सूत्र का सम्पादन और अनुवाद किया। इसके अतिरिक्त कैलैण्ड ने Der Arsheyakalpa des Samved, जैमिनीय ब्राह्मण, Uber das rituella Sutra des Baudhayan, Vaitan sutra des Atharvaveda और बौधायन श्रौतसूत्र जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का सम्पादन और लेखन किया। काव्वीय शतपथ ब्राह्मण के प्रथम ७ काण्डों के सम्पादन रूप महत्त्वपूर्ण शोध कार्य का श्रेय भी डब्ल्यू कैलैण्ड को ही है।

श्रौत ग्रन्थों के सम्पादन के अतिरिक्त कैलैण्ड ने इस क्षेत्र में अनेक शोध पूर्ण लेख लिखे। कैलैण्ड द्वारा Zur Exeges and Kritik der rituallen sutras" शीर्षक से लिखी गयी शोध लेखों की श्र ंखला इस प्रसंग में विशेष रूप से उद्धरणीय है। सूत्र साहित्य के इस मर्मज्ञ डच विद्वान् का १६३२ में निधन हो गया।

गौंडा :-

भारतीय प्राच्यविद्या के अध्येता पश्चिमी विद्वानों में मैक्समूलर के पश्चात् जो नाम सर्वाधिक समादर के साथ लिया जाता है वह हैं जैन गौण्डा। अर्थवाद की शैली में विद्वज्जन जिस प्रकार मैक्समूलर को आधुनिक वेदव्यास कहते हैं वैसे ही गौंडा को आधुनिक मैक्समूलर कहा जाता है।

गौंडा का जन्म १४ अप्रैल १६०५ को हालैण्ड में हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा के अनन्तर गौंडा का उच्च अध्ययन अन्नेख्त (Utrecht) विश्वविद्यालय में सम्पन्न हुआ। इसी विश्वविद्यालय से १६२६ में यूरोपीय भाषाविज्ञान के क्षेत्र में किये गये महत्त्वपूर्ण शोधकार्य के लिए पीएच.डी. की उपाधि प्रदान की गयी। १६३२ में गौंडा इसी विश्वविद्यालय में संस्क त और यूरोपीय भाषा विद्वान् के प्रौफेसर नियुक्त हुए तथा १४ अप्रैल १६७५ तक इस पद पर कार्य किया।

अपने ४३ वर्ष के सक्रिय अध्यापन और शोधकार्य के समय में डा. गौंडा ने लगभग ७० पुस्तकें और ३०० अधिक शोधपत्र तथा समीक्षा लिखीं। उनके शोध कार्य को पाँच क्षेत्रों में वर्गीक त किया जा सकता है - (१) वेद का साहित्यिक अध्ययन, (२) वैदिक धर्म और देवकथा साहित्य, (३) वैदिक तथा भारोपीय भाषा विज्ञान (४) इण्डोनेशियाई अध्ययन, (५) विविध।

भारतीय प्राच्यविद्या के क्षेत्र में किये गये उनके अत्यन्त असाधारण कार्यों को ध्यान में रखते हुए बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय ने डाक्टरेट की मानद उपाधि से विभूषित किया। १९६० में टौरिनो में आयोजित वर्ल्ड संस्क त कान्फ्रेंस में गोल्ड मैडल से सम्मानित होने वाले वे प्रथम विद्वान थे। डॉ. गोंडा रायल डच अकादमी, रायल एशियाटिक सोसाइटी, भंडारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट तथा अमेरिकन अकैडमी ऑफ आर्ट्स एण्ड साइंसेज इत्यादि विभिन्न संस्थाओं के सदस्य थे। वे ऑल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेंस पूना के अध्यक्ष चुने गये थे किन्तु स्वास्थ्य सम्बन्धी कारणों से वे अपना अध्यक्षीय भाषण प्रस्तुत करने के लिए व्यक्तिगत रूप से उपस्थित नहीं हो सके। इसे संयोग ही कहा जायेगा कि मैक्समूलर की तरह आधुनिक मैक्समूलर डॉ. गौंडा कभी भारत नहीं आये। यह विडम्बना ही रही कि भारत के प्राचीन साहित्य के विषय बहुत अधिक लिखने वाले इन विद्वानों को इस भूमि के दर्शन का सुयोग प्राप्त नहीं हुआ। ८६ वर्ष की आयु में २८ जुलाई, १९९१ को डॉ. गौंडा का स्वर्गवास हो गया।

डॉ. गौंडा भारतीय संस्क ति और सभ्यता को मानवीय सभ्यता का विशिष्ट रूप स्वीकार करते थे। उनके अनुसार इस विविध रंग वाली संस्क ति में विभिन्न धाराओं का स्वतन्त्र विकास हुआ तथा वे धारायें परस्पर एक-दूसरे से प्रभावित हुई। ''एक धारा दूसरी धारा का स्रोत है।'' इस मत का वे खण्डन करते थे। उनका मानना था कि ऋग्वेद के गम्भीर अध्ययन के लिए आवश्यक है कि पहले प्राचीन सांस्क तिक परम्पराओं का सूक्षम निरीक्षण किया जाये। ऋग्वेद के कुछ सूक्त साम्प्रदायिक हैं इस मत के डॉ. गौंडा विरोधी थे। डा. गौंडा ने हमारे प्राचीन साहित्य और संस्क ति के विषय में इतना कुछ लिखा है कि उसको यहाँ विवरण के रूप में समेटना सम्भव नहीं है। डॉ. मधुसूदन मिश्र ने उनके कुछ प्रमुख शोध कार्यों की सूची दी है जो अविकल रूप नीचे दी जा रही है :-

1932 : *Oud Javana's Brahmada Purana* (2 Vols.)

1939 : *Similies in Sanskrit literature.*

1940 : *Ursprung and Wesen des Indischen Dramas.*

1948 : *Twenty five Sanskrit Inscriptions*, E.J. Brill, Leiden.

: *Kurze Elementar - Granmatik Der Sanskrit-sprache, E.J. Brill, Leiden.*

1949 : *Remarks on similies in Sanskrit literature.*

E.J. Brill, Leiden.

1950 : *Notes on Brahmana.*

1951 : *Remarks on the Sanskrit Passive,* E.J. Brill, Leiden

: *La place de la particule Negative NA Dans La Phrase En Vieil Indian,* E.J. Brill, Leiden.

: *Rgvidhana*

1952 : *Remarks sur la place du verbe dans la phrase active et mayenne en language Sanscrite,* Utrecht.

: *Sanskrit in Indonesia.*

: *Ancient Indian Ojas, Latin Ougas and the Indo-European nouns in es/os.*

1953 : *Reflections on the numeral "One" and "Two" in Ancient Indo-European languages*, N.V.A. Oosthoek's Uitgevers - MIJ - Utrecht.

1954 : *Aspects of Early Visnuism,* N.V.A. Oosthoek's Uitgevers-MIJ-Wiesbaden.

1956 : *The character of the Indo-European Moods*, Otto Harrassowitz, Wiesbaden.

1957 : *Some observations on the relation between "Gods" and "powers" in the Veda, Apropos of the phase sunuh sahasah.*

1957 : *Stylistic repetition in the Veda,* Hollandasche N.V., New Uitgevars, Maatschapij, Amsterdam.

: *Four studies in the language of the Veda,* Mouten and Co's, Gravenhage.

: *Epithets in the Rgveda,* Mouten and Co's, Gravenhage.

: *Repetitions in the Veda.*

1960 : *Die Religiones Indiens, I, Veda and alterer Hiduismus.* W. Kohlhammer Verlag, Stuttgart.

: *Ellipsis, Brachylogy and other forms of Brevity in speech in the Rgveda.* Amsterdam.

1962 : *The Aspectual function of the Rgvedic present and Aorist,* Mouten and Co's. Gravenhage.

1963 : *Die Religiones Indiens, II. Der Jungere Hinduismus,* Stuttgart.

: *The vision of the Vedic poets.*

1965 : *The Savayajnas (Kausika sutra : 60-68,* Traslation Introduction, Commentary), Amsterdam.

: Change and continuity in Indian Religion, Mouten and Co., The Haugue.

: Loka, World and H eaven in the Veda, Amsterdam.

: Ancient Indian Kingship from the Religious point of view (Repring From NVMEN, III and IV, E.J. Brill, Leiden.

1967 : The Meanin of the Sanskrit term Dhaman, Amsterdam,

1969 : Eye and Gaze in the Veda, North Holland Publishing Company, Amsterdam : London.

1970 : Notes on Names of God in Ancient India, Amsterdam : London.

: Visnuism and Saivism : A comparison, School of Oriental and African studies, University of London.

1971 : Old Indian, E.J. Brill. Leiden, LoLn.

1972 : The Vedic God Mitra, E.J. Brill, Leiden.

1974 : The Dual Deities in the Religion of the Veda, Amsterdam.

1975 : Selected Papers, Vol. I : Indo-European Linguistics.

: Selected Papers, Vol. II : Sanskrit word studies.

: Selected Papers, Vol. III : Grammatical and Philosophical studies.

: Selected Papers, Vol IV : History of Ancient Indian Religions.

: Selected Papers, Vol. V : Indonesian Linguistics, E.J. Brill, Leiden.

1976 : Triads in the Veda, North Holland Publishing Company : Amsterdam : Oxford : New York.

1977 : A History of Indian Literature, Vol. I, Fascicule I, The Ritual Sutras, Vol. I, Fasc. II, Otto Harrassowitz, Wiesbaden.

1978 : Hymns of the Rgveda not employed in the Solemr Ritual, Amsterdam Academy.

1979 : The Medium in the Rgveda, E.J. Brill, Leiden.

1980 : Vedic Ritual, the non-solemn Rites, E.J. Brill, Leiden.

: The Mantras of the Agniyupasthana and the Sautramani, Amsterdam Academy.

1986 : Prajapati's rise to the higher rank.

1987 : Rice and Barley offerings in the Veda Leiden.

भारतीय विद्वान्

स्वामी दयानन्द सरस्वती :-

दयानन्द सरस्वती का जन्म सन् १८२४ ई. के सितम्बर को हुआ था। उनकी म त्यु १८८३ में मानी जाती है। उत्पत्ति स्थान ''टंकारा'' है। बचपन का नाम ''मूलशंकर'' था। इनके मां-बाप औदीच्य ब्राह्मण थे। आज से करीब दो सौ वर्ष पूर्व भारतवर्ष समस्त सामाजिक कुरीतियों, अन्धविश्वासों एवं धार्मिक अन्ध-परम्पराओं में पूर्णतया जकड़ा हुआ था। धर्म के नाम पर विविध प्रकार के आडम्बर एवं अत्याचार किये जाते थे तथा विभिन्न प्रकार के देवी-देवता पूजे जाते थे। वेद-कर्मकाण्ड, पौराणिक गाथाओं एवं प्राचीन और मध्यकालीन इतिहास की पुस्तकें थीं, अध्यात्मक ज्ञान एवं उच्च ज्ञान की पुस्तकें उपनिषदें मानी जाती थी। उस समय विविध जाति प्रथा एवं बाल-विवाह प्रथा भी पराकाष्ठा पर पहुंच चुकी थी। कलुषित जाति प्रथा के कारण नीची जाति के लोगों की दयनीय दशा थी। शूद्र और स्त्री को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं था। अभिप्राय यह है कि धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक द ष्टि से भारतवर्ष की दयनीय स्थिति थी, ऐसी अवस्था में किसी समाज सुधारक की तीव्र आवश्यकता थी, उस आवश्यकता की पूर्ति दयानन्द सरस्वती के प्रादुर्भाव से हुई। उन्होंने वैदिक धर्म एवं वेद के यथार्थ स्वरूप को जनता के सामने रखकर पुनरूद्धार करने का प्रयास किया। इस प्रकार, दयानन्द सरस्वती हमारे समक्ष न केवल वेद भाष्यकार के रूप में आते हैं, अपितु एक महान् समाज-सुधारक के रूप में भी आते हैं। वैदिक क्षेत्र में दयानन्द का महत्त्व उनके गुणों की द ष्टि से नहीं है, अपितु उनकी नयी प्रणाली, नयी सूझ और नयी देन के कारण है। समय-समय के विभिन्न मत-मतान्तरों के प्रभाव से वेद का यथार्थ स्वरूप पूर्णतया विलुप्त हो चुका था, अतः वेदों का यथार्थ अर्थ करना कठिन था, फिर भी दयानन्द सरस्वती ने वेदों को वेदों के ही द ष्टि से देखने का प्रयास किया।

स्वामी दयानन्द ने सम्पूर्ण यजुर्वेद और ऋग्वेद के ७ मण्डल, ६१वें सूक्त तक का भाष्य किया है। इन भाष्यों के अतिरिक्त उन्होंने ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका, सत्यार्थ प्रकाश, संस्कार विकधि, भ्रान्ति निवारण, भ्रमोच्छेदन, स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश, वेदमिरुद्धमत खण्डन, काशीशास्त्रार्थ, पंचमहायज्ञविधि, आर्याभिविनय, स्वामीनारायणमत खण्डन, वेदान्तिध्वान्तनिवारण, सत्यधर्म विचार, आर्योद्देश्य रत्नमाला, गोकरुणानिधि, वेदांगप्रकाश, व्यवहारभानु, संस्क त वाक्यप्रबोध, आदि ग्रन्थ लिखे।

स्वामी दयानन्द ने वेद का भाष्य आरम्भ किया उससे पूर्व वेद की अप्रामाणिकता और व्यर्थता के विषय में बहुत से पाश्चात्त्य विद्वान लिख चुके थे और लिख रहे थे। हमें बौद्धिक और सांस्क तिक द ष्टि से पराधीन बनाने के लिए पाश्चात्य विद्वानों के लिए यह आवश्यक हो गया था कि वे हमारी संस्क ति के मूल आधार ही हिला दें। ऐसा उन्होंने किया भी। इसके लिए उन्होंने वेदों में बचकाने किस्से और कहानियां ढूंढ कर उन्हें चरवाहों के गीत सिद्ध किया। यद्यपि कुछ विद्वानों वेदाध्ययन में गम्भीर रूचि और घोर परिश्रम भी प्रदर्शित किया तथापि वह सब कुछ सदुद्देश्यपूर्ण नहीं था।

ऐसे समय में जब हमारे मूल पर ही कुठाराघात हो रहा था। आचार्य सायण के कर्मकाण्डपरक भाष्य में उपलब्ध होने वाली पुरा कथाओं को आधार बनाकर वेद की नित्यता भ्रष्ट की जा रही थी। महीधर के अश्लील भाष्य प्रसंगों को आधार बना वेद विरोधी स्वर मुखरित हो रहे थे। पाश्चात्त्य विद्वान वेदों को गडरियों के गीत सिद्ध करने पर तुले थे तब स्वामी दयानन्द की सब से पहली प्राथमिकता यही थी कि वेद के प्रामाण्य और उसकी नित्यता को सिद्ध किया जाये और इस कार्य के लिए स्वामी दयानन्द ने द्विविध पद्धति अपनायी। इस द्विविध पद्धति में पहला कार्य वेद के प्रामाण्य विरोधियों का विरोध करना था और दूसरा कार्य वेद की नित्यता और सर्वज्ञानमयता सिद्ध करने के लिए एक नवीन वेद भाष्य लिखना था।

स्वामी दयानन्द ने प्राचीनतम नास्तिक चार्वाक से लेकर उन्नीसवीं सदी तक के उन सभी विद्वानों के मतों अथवा भाष्यों का सतर्क खण्डन किया जिनसे वेद की प्रामाणिकता और नित्यता को

खतरा था।

वेद-प्रामाण्य-विरोधी मतों का निराकरण :-

चर्वाक, बौद्ध और जैन दार्शनिक प्रस्थानों को अवैदिक दर्शन के नाम से कहा जाता है। ये तीनों ही वेद की प्रामाणिकता का विरोध करते हैं। स्वामी दयानन्द ने इन सभी के एतद्विषयक मत का प थक्-प थक् विवेचन नहीं किया, अपितु विशेष रूप से चार्वाक-मत-समीक्षा में ही बौद्ध और जैन का भी उल्लेख कर दिया है - ''नास्तिकता-वेद-ईश्वर की निन्दा, परमतद्वेष, ... जगत् का कर्त्ता कोई नहीं, इत्यादि बातों में सब एक ही है।'' चार्वाक मत का परिचय देते हुए स्वामी जी कहते हैं - ''कोई एक ब हस्पति नामक पुरुष हुआ था जो वेद, ईश्वर और यज्ञादि उत्तम कर्मों को भी नहीं मानता था।'' वेद के विरोध में चार्वाक की कई प्रकार की युक्तियां थीं; जैसे - (१) तीनों वेदों के कर्त्ता, भाण्ड, धूर्त और निशाचर हैं इसीलिए जर्फरी, तुर्फरी आदि पण्डितों के धूर्तता युक्त वचन हैं। (२) उन भाण्डों ने अत्यन्त अश्लील और असम्भव विधान वेदों में दिखलाएँ हैं; उदाहरणार्थ - उस (घोड़े) के साथ समागम यजमान की स्त्री से कराना, कन्या से ठट्ठा आदि लिखना धूर्तों के विना नहीं हो सकता। (३) और, जो मांस का खाना लिखा है वह वेद-भाग राक्षस का बनाया है। इसी प्रकार वेदानुयायियों के अनेक विश्वासों, मन्तव्यों और क्रिया-कलापों की खिल्ली उड़ाते हुए चार्वाक ने श्राद्ध, अग्निहोत्र, त्रिदण्ड-धारण, भस्मावलेपन इत्यादि का भी खण्डन किया है और कहा है कि यह सब बुद्धि और पुरुषार्थ रहित पुरुषों ने जीविका बना ली है। (५) यज्ञों में पशु-बलि का विरोध भी उन्होंने किया है।

स्वामी दयानन्द ने चार्वाक के इस प्रकार के आक्षेपों का निराकरण किया है -

(१) ''भाण्ड धूर्त निशाचरवत् महीधरादि टीकाकार हुए हैं, उनकी धूर्तता है, वेदों की नहीं।''

(२) इस प्रकार की बातें वेदों में देखना टीकाकारों की ही भूल है। वेद-मन्त्रों की इस प्रकार की व्याख्या करना वाममार्गी लोगों का काम है अन्यों का नहीं।

(३) स्वामी दयानन्द मांस-भक्षण को वेद-प्रतिपादित नहीं मानते। वे कहते हैं - ''जो मांस खाना है, यह भी उन्हीं वाममार्गी टीकाकारों की लीला है। इसलिए उनको राक्षस कहना उचित है। परन्तु वेदों में कहीं मांस का खाना नहीं लिखा।

(४) जहां तक म तक श्राद्ध की बात है पुराणमतानुयायी इसे वेद-सम्मत बतलाते हैं और इसका विविध युक्तियों से समर्थन करते हैं; किन्तु दयानन्द की द ष्टि में तो यह वेद-प्रतिपादित नहीं है अतः चार्वाक का आक्षेप व्यर्थ है। दयानन्द कहते हैं - ''म तकों का श्राद्ध-तर्पण करना कपोल-कल्पित है, क्योंकि यह वेदादि सत्यशास्त्रों के विरुद्ध होने से भागवतादि पुराण मत वालों का मत है। इसलिए इस बात का खण्डन अखण्डनीय है'' और भी ''हाँ ब्राह्मणों ने प्रेत कर्म अपनी जीविकार्थ बना लिया है, परन्तु वेदाक्त न होने से खण्डनीय है।''

(५) यज्ञों में पशु बलि के विषय में स्वामी दयानन्द का मन्तव्य स्पष्ट है :- वे यज्ञों की पशु-बलि को वैदिक नहीं मानते - ''पशु मार के होम करना वेदादि सत्यशास्त्रों में कहीं नहीं लिखा।''

इस विषय में ऋषि दयानन्द ने यह स्पष्टतः कहा है कि जिन बुराइयों का विरोध इन नवीन मतों ने किया था, वे बुराइयां वेद-प्रतिपादित नहीं थी, अपितु वेद के टीकाकारों ने वेद में दिखलाई थीं। स्वामी जी लिखते हैं - ''जो वाममार्गियों ने मिथ्या कपोल-कल्पना करके वेदों के नाम से अपना प्रयोजन सिद्ध करना अर्थात् यथेष्ट मद्यपान, मांस खाने और परस्त्रीगमन करने आदि दुष्ट कामों की प्रव त्ति होने के अर्थ लेकर वेदों को कलंक लगाया, इन्हीं बातों को देख कर चार्वाक, बौद्ध तथा जैन लोग वेदों की निन्दा करने लगे और प थक् एक वेदविरुद्ध अनीश्वरवादी अर्थात् नास्तिक मत चला लिया।''

स्वामी जी ने यह भी कहा है कि वाममार्गियों की टीकाओं के आधार पर वेद की निन्दा करना बुद्धिमत्ता नहीं है उन विद्वानों को वेदसंहिताओ का अनुशीलन करना चाहिए था और वेदार्थ के तथ्यातथ्य पर स्वयं विचार करना चाहिये था। वे वेदों की निन्दा करने वाले सभी मतों के प्रति क्षोभ प्रकट करते हुए यही कहते हैं - ''शोक है चार्वाक, आभाणक, बौद्ध और जैनियों पर, कि इन्होंने मूल चार वेदों की संहिताओं को भी न सुना, न देखा और न किसी विद्वान् से पढ़ा। इसीलिए नष्ट-भ्रष्ट बुद्धि होकर ऊट-पटांग वेदों की निन्दा करने लगे। वे सभी को यह सुझाव देते हैं कि विचार कर ही, बुद्धि से विवेचन करके ही किसी बात को स्वीकार करना चाहिए और तभी सत्य का मण्डन और असत्य का खण्डन करना चाहिए।

स्वामी दयानन्द वेदों को स्वतः प्रमाण मानते हैं, उनकी द ष्टि में वेद के विषय में अप्रामाण्य की शंका भी नहीं हो सकती। ऐसी अवस्था में प्रश्न यह हो सकता है कि फिर वेद-विरोधियों ने वेद में अनेक दोषों की शंका कैसे की है। यदि एक वाक्य में स्वामी जी की ओर से इसका उत्तर दिया जाये तो यही कहा जा सकता है कि यह सब वेद की व्याख्याओं के कारण ही हो सका है। वे सत्यार्थ प्रकाश में लिखते हैं :-

''दुष्ट वाममार्मियों की प्रमाण-शून्य कपोल-कल्पित भ्रष्ट टीकाओं को देखकर वेदों से विरोधी होकर अविद्या रूपी अगाध समुद्र मे ंजा गिरे।''

स्वामी दयानन्द ने कतिपय प्राचीन और अर्षाचीन विद्वानों द्वारा किये गये वेदार्थ के दोष दिखलाये हैं। उन्होंने ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका में कहा है और यह स्पष्ट निर्देश किया है कि रावण, उवट, सायण और महीधर के अर्थ वेद-विरुद्ध हैं उनका अनुसरण करने वाले इंग्लैण्ड और जर्मनी आदि देशों के विद्वानों के तथा भारतीय विद्वानों के वेद-विषयक व्याख्यान भी अनर्थों से भरे हुए हैं।

सायणाचार्य क त भाष्य के दोषों का दिग्दर्शन कराते हुए वे कहते हैं - जो सायणाचार्य ने वेदों के परमार्थ को न जान कर यह कहा है कि सब वेद क्रियाकाण्ड परक हैं वह मिथ्या है, क्योंकि वेद तो सब विद्याओं से युक्त है।

स्वामी जी ने कहा है कि सायणाचार्य आदि ने अग्नि शब्द से भौतिक अग्नि का ही ग्रहण किया है, यह ठीक नहीं है। इसी प्रकार वे कहते हैं - इन्द्र मित्रं इस मन्त्र का अर्थ (सायण ने) अन्यथा ही किया है। जैसे - कि उन्होंने इन्द्र शब्द यहां विशेष्य रूप में लिया है और मित्र आदि विशेषण रूप में। वस्तुतः यहां विशेष्य अग्नि शब्द है जो इन्द्र आदि विशेषणों के साथ अन्वित होकर फिर वही सद्वस्तु ब्रह्म का विशेषण होता है। इस प्रकार विशेष्य प्रत्येक विशेषण के प्रति बार-बार अन्वित हुआ करता है, विशेषण नहीं। इसी प्रकार जहाँ एक विशेष्य के शत या सहस्र विशेष हों, वहां विशेष्य का पुनः पुनः उच्चारण होता है। विशेषण का एक बार ही, उसी प्रकार इस मन्त्र में विशेषण और विशेष्य के अभिप्राय से परमेश्वर ने अग्नि शब्द का दो बार उच्चारण किया है। यह सायणाचार्य ने नहीं जाना अतः उसे भ्रान्ति हो गई। निरुक्तकार ने भी अग्नि शब्द को विशेष्य रूप में ही वर्णित किया है।

महीधर आदि के वेदभाष्य के दोषों का दिग्दर्शन कराते हुए स्वामी जी ने बतलाया है कि महीधर ने महान् अनर्थ रूप, वेद के अर्थ को दूषित करने वाला वेददीप नामक व्याख्यान किया। महीधर के वेदभाष्य से स्वामी जी ने कई सन्दर्भ दिये हैं और उनके भाष्य का खण्डन करते हुए ब्राह्मणादि के प्रमाण प्रस्तुत करके उन मन्त्रों का अर्थ दिखलाया है। स्वामी जी ने अपना यह अर्थ वास्तविक अर्थ (सत्यो र्थः) शब्द में दिखलाया है।

स्वामी जी के समक्ष इस प्रसङ्ग में यह शङ्का उठाई गई है कि सायणाचार्य आदि ने निरुक्तादि के प्रमाणों से युक्त भाष्य किया है, फिर वह दोषयुक्त कैसे हो सकता है ? इसका समाधान करते हुए वे कहते हैं - निरुक्तादि के वचन तो लिखे हैं, किन्तु वे भाष्य उन वचनों के विरुद्ध ही है;

जैसे - (निरुक्त का वचन है) 'अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति'। यहाँ अग्रणी शब्द का अर्थ है - सबसे उत्तम, आगे - सर्वोत्तम ले जाता है। इस वचन से परमेश्वर का ही ग्रहण होना उचित है अन्य का नहीं; क्योंकि गौण और मुख्य में से मुख्य में ही कार्य का ज्ञान हुआ करता है (गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः) इस व्याकरण के न्याय से परमेश्वर से अग्रणी या मुख्य कोई भी नहीं है। इस प्रकार उनके भाष्य में विरोध ही है।

इसी प्रकार वे कहते हैं - यदि आर्यदेश निवासी सायण, महीधर आदि की व्याख्याओं में ऐसी मिथ्या गति है तो यूरोपखण्ड-निवासियों और उनका अनुसरण करके अपनी भाषा में वेद के अर्थ की व्याख्याओं में जो अनर्थ होगा उसका कहना ही क्या ? वे यह भी बतलाते हैं कि सायणाचार्य आदि के भाष्य के आधार पर यूरोपदेशवासियों को वेदों में भ्रान्ति हो गई - ''तद्द्वारा यूरोप-खण्डवासिनामपि वेदेषु भ्रमो जात इति'। उन्होंने अन्य स्थलों पर भी यूरो-खण्ड के विद्वानों के वेदार्थ का खण्डन किया है।

स्वामी दयानन्द लिखते हैं कि - ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में इस समय के कुछ आर्य और यूरोपखण्डवासी जो कहते हैं कि भौतिक देवताओं का पूजन वेदों में है, वह मिथ्या है। इसी प्रकार बहुत से यूरोपवासी कहते हैं कि पहले आर्य भौतिक देवताओं की पूजा करते थे। उनकी पूजा करते करते फिर बहुत काल पश्चात् उन्होंने परमेश्वर को पूज्य जाना था, यह भी ठीक नहीं। अन्य स्थलों पर भी उन्होंने यूरोपदेशनिवासियों के वेद-सम्बन्धी व्याख्यानों को ठीक नहीं बतलाया। कई स्थलों पर इंग्लैण्ड आदि देशों का नाम भी लिया है। सायण आदि क त भाष्यों के दोषों का उल्लेख करते हुए कहा है - उसी से आर्य भाषा तथा इंग्लैण्ड की (अंग्रेजी) भाषा आदि में किये गये व्याख्यान का भी खण्डन समझना चाहिए।' इसी प्रकार ऋग्वेद भाष्य के नमूने के अंक में उन्होंने अंग्रेजी भाषा की व्याख्या करते हुए कई स्थलों पर विलसन के वेदार्थ का भी खण्डन किया है। वेदार्थ के विषय में ही नहीं, वेद के विषय में भी विलसन आदि के मन्तव्यों का निराकरण किया है। उदाहरणार्थ - वेद मनुष्यक त हैं, इस मन्तव्य का निराकरण ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में किया है। आर. ग्रिफिथ (तत्कालीन प्रिंसिपल गवर्नमेण्ट संस्क त कॉलेज बनारस) के आक्षेपों के उत्तर में लिखे गये पत्र में उन्होंने विलसन के साथ-साथ मैक्समूलर के भाष्य को भी युक्तियुक्त नहीं माना। उन्होंने कहा है - ''उवट, सायण, महीधर, रावण आदि के रचे हुए भाष्य प्राचीन भाष्यों से सर्वथा विपरीत हैं। केवल इन्हीं भाष्यों का उल्था अंग्रेजी में विलसन और मैक्समूलर आदि प्रोफेसरों ने किया है। इसीलिए मैं उनके भाष्यों को भी शुद्ध और न्यायकारी नहीं कह सकता।''

मैक्समूलर के वेदार्थ-विषयक कई मत उन्होंने प्रस्तुत किये हैं और उनका निराकरण भी किया है। उदाहरणार्थ - 'अग्नि पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत' इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं - ''भट्टमोक्षमूलर साहेब आदि ने इस मन्त्र का अर्थ ठीक ठीक नहीं जाना है।'' दूसरे स्थल पर वे कहते हैं - इस प्रकार भट्टमोक्षमूलर ने ऋग्वेद के अंग्रेजी व्याख्यान में जो अश्व पशु का ही ग्रहण किया है वह भ्रान्तिमूलक ही है। सायणाचार्य ने इस मन्त्र की व्याख्या में आदित्य का ग्रहण किया है। अतः उनकी व्याख्या एक अंश में ठीक है। किन्तु पता नहीं भट्टमोक्षमूलर ने यह अर्थ आकाश से लिया या पाताल से। इसीलिए अपनी कल्पना से लिखा होगा, यह जानकर प्रमाण के योग्य नहीं है। मैक्समूलर के कुछ मन्तव्यों का उन्होंने नामोल्लेख करते हुए निराकरण किया है। जैसे - वेद मनुष्य-रचित है, इस मन्तव्य का निराकरण करते हुए उन्होंने मैक्समूलर का भी नाम लिया है। यह भी कहा है - जो भट्टमोक्षमूलर ने बतलाया है कि आर्यों को पहले ईश्वर का ज्ञान नहीं था फिर क्रम से हुआ वह भी शिष्टों के ग्रहण के योग्य नहीं है।

इनके अतिरिक्त उन्होंने कई स्थलों पर अन्य पाश्चात्त्य विद्वानों के वेदार्थ की भी समीक्षा की है। उनके समक्ष अनेक पाश्चात्त्य विद्वानों के वेदार्थ विद्यमान थे। जैसे - बाप्प, बर्नफ, श्लेगल, विलसन, वेबर, मैक्समूलर इत्यादि। फिर भी, उन्होंने कुछ विद्वानों का नामोल्लेख करके उनके वेदार्थ-सम्बन्धी

मन्तव्यों का निराकरण किया है, सभी के मतों का नहीं। ऋग्वेदभाष्य के नमूने के अंक को देखकर कुछ पाश्चात्त्य विद्वानों ने उसके विरोधी भाव प्रकट किये; मुख्यतः आर. ग्रिफिथ (प्रिंसिपल, बनारस कॉलेज) तथा सी.एच. टानी (प्रिंसिपल, प्रेजीडेन्सी कॉलेज, कलकत्ता) के नामों का उल्लेख स्वामी जी ने उनके आक्षेपों का उत्तर देते हुए किया है। और, यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि उनका अपना भाष्य वेदार्थबोधक है तथा प्राचीन व्याख्याकारों के अनुकूल है। स्वामी जी ने आर. ग्रिफिथ तथा सी.एच. टानी का नाम भ्रान्ति-निवारण की भूमिका में भी दिखलाया है। भ्रान्ति-निवारण में पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न के प्रश्नों का उत्तर देते हुए वे कहते हैं - ''पण्डित जी आर. ग्रिफिथ साहब और सी. एच. टानी साहबों के पीछे-पीछे चलते हैं सो इसका कारण यह है कि पण्डित जी ने महीधरादि की अशुद्ध टीका देख ली है, और उक्त साहबों ने प्रोफेसर विलसन आदि के उन्हीं अशुद्ध भाष्यों के उल्थे अंग्रेजी में देख लिये होंगे।

वे यह भी कहते हैं - ''और डाक्टर एम. (हाग) साहब की अशुद्ध टीका का जो हवाला देते हैं, तो यह पण्डित जी को एक लज्जा की बात है कि प्राचीन सत्य संस्क त ग्रन्थों को छोड़कर इधर-उधर कस्तूरिये हिरन के समान भूलते और भटकते हैं। डाक्टर एम. (हाग) साहब वा सी.एच. टानी साहब वा आर. ग्रिफिथ साहब आदि कुछ ईश्वर नहीं।''

स्वामी जी ने सायण आदि के भाष्यों तथा पाश्चात्त्य विद्वानों के वेदार्थों की समीक्षा करते हुए कई स्थलों पर इनका अनुसरण करने वाले अन्य विद्वानों के मतों का भी निराकरण किया है। उदाहरणार्थ - ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में वेदोत्पत्ति के कालविषयक पाश्चात्त्यों के मत का निराकरण करते हुए वे कहते हैं - (१) उसी प्रकार लोकभाषाओं में व्याख्या करने वालों ने भी ऐसा कहा है, वह भी भ्रान्ति ही है। (२) इस समय के कुछ आर्य तथा यूरोपखण्डवासी भी कहते हैं कि वेदों में भौतिक देवताओं की पूजा कही गई है, यह भी मिथ्या ही है।

स्वामी जी ने उस समय वेदार्थयत्न में प्रकाशित विचारों का भी अनेक स्थानों पर निराकरण किया है; जैसे (१) इन्द्र शब्द का अर्थ शिष्टसंमत नहीं; (२) ऋग्वेद के प्रथम सूक्त के द्वितीय मन्त्र की व्याख्या वेदार्थयत्न आदि में असंगत है। (३) ऋग्वेद के प्रथम सूक्त के त तीय मन्त्र का व्याख्यान भी ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ ईश्वर और पदार्थ विद्या को छोड़ दिया गया है। (४) चतुर्थ मन्त्र के भाष्य में अग्नि शब्द का अर्थ भौतिक अग्नि लिया गया है जो ठीक नहीं; क्योंकि भौतिक अग्नि जड़ है और वह सर्वव्यापक भी नहीं। (५) षष्ठ मन्त्र के भाष्य में कहा है कि इस मन्त्र का वेदार्थयत्न में ठीक व्याख्यान नहीं किया गया।

उन्होंने कतिपय स्थलों पर कुछ भारतीय विद्वानों का नामोल्लेख करते हुए उनके वेद-सम्बन्धी मतों का निराकरण किया है। स्वामी दयानन्द ने जो ऋग्वेद के भाष्य के नमूने का अंक प्रस्तुत किया था उस पर पाश्चात्त्य विद्वानों के साथ-साथ कुछ भारतीय विद्वानों ने भी आक्षेप किये थे। उदाहरणार्थ - (१) पण्डित गुरुप्रसाद हेड-पण्डित ओरियंटल कॉलिज लाहौर ने वेद के शब्दों के अर्थ-सम्बन्धी, व्याकरण सम्बन्धी, तथा छन्द-सम्बन्धी कई दोष स्वामी जी के भाष्य में दिखलाये थे। स्वामी जी ने उन सभी दोषों का परिहार किया था। (२) पण्डित हृषीकेश भट्टाचार्य द्वितीय पण्डित ओरियंटल कालिज लाहौर ने व्याकरण-सम्बन्धी दोष दिखलाया था, जिसका परिहार स्वामी जी ने किया था। (३) पण्डित भगवानदास असिस्टेण्ट प्रोफेसर, संस्क त गवर्नमेण्ट कालिज लाहौर ने भी कुछ आक्षेप किये थे जो उपर्युक्त दोनों पण्डितों के समान ही थे और जिनका स्वामी जी ने प थक् उत्तर देना आवश्यक नहीं समझा। (४) पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न आफीसियेटिंग प्रिंसिपल कलकत्ता ने भी स्वामी जी के वेद-भाष्य के विषय में कुछ आक्षेप किये थे जिनका उत्तर उन्होंने भ्रान्ति-निवारण नामक पुस्तिका में दिया। इस पुस्तिका में स्वामी जी के कुछ मन्तव्य उभर कर सामने आये हैं, जैसे - (क) ''अपने निश्चय और परीक्षा के अनुसार ऋग्वेद से लेकर पूर्वमीमांसा पर्यन्त अनुमान से तीन हजार ग्रन्थों के लगभग

मानता हूं।'' (ख) ''मेरा मत वेद पर है। इसलिए जो-जो कर्मकाण्ड वेदानुकूल हैं उस सबको मानता हूं, उससे विरुद्ध को नहीं।'' (ग) ''मैं वेदों में कोई बात युक्तिविरुद्ध वा दोष को नहीं देखता।'' (घ) ''अग्नि शब्द से आग और ईश्वर दोनों का ग्रहण है।'' इस मन्तव्य का स्वामी जी ने विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया है।

श्री अरविन्द :-

श्रीमदरविन्द का वैदिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। योगी अरविन्द ने मन्त्रार्थ किसी भाष्यकार के भाष्य से अन्धानुकरण करके नहीं किया था, अपितु यह उनके अन्तर्ज्ञान की देन थी। अरविन्द ने वैदिक मन्त्रों के देवताओं एवं अर्थों के स्वरूप को योगावस्था में साक्षात्कार किया था, यह उनके वचनों से विदित होता है - ''जब में भारतीय योगविधि से अपने आत्मविकास के प्रयास में था, उस समय मेरे मन में प्रतीकों की एक श्रंखला स्वतः ही प्रकट होनी प्रारम्भ हुई। ये प्रतीक मेरे आध्यात्मिक अनुभव से सम्बद्ध थे। इन प्रतीकों के अनुभव एवं सफुरण मेरी योगसाधना के समय नियमित रूप से होते थे। इस अनुभव में एक बार इडा, सरस्वती, सरमा आदि दिव्य स्त्रीलिंग शक्तियों के प्रतीक भी मेरे समक्ष प्रकट हुए। ये स्वतः प्रकाश, अन्तःप्रेरणा और अन्तर्ज्ञान की शक्तियां थीं।'' अरविन्द का यह वचन स्पष्ट करता है कि वेद के सम्बन्ध में उनका जो विचार एवं अर्थ होगा, वह यथार्थ होगा, उनकी कल्पना का परिणाम न होगा। श्रीमदविन्द के वेद-सम्बन्धी निम्नलिखित सिद्धान्त हैं -

वेद प्रारम्भिक ऋषियों के अन्तर्ज्ञान और प्रतीकात्मक मानसिक स्थिति की उत्पत्ति है। मन्त्र के देवता, शब्द और अर्थ रहस्यमय प्रतीकों एवं कल्पनाओं में छिपे हुए हैं। अतः, इन्द्र दिव्यमन का अधिपति और दिव्य प्रकाश का दाता है। मरुत् इन्द्र की शक्ति अर्थात् दिव्य मन की शक्ति है। सूर्य एवं उषा दिव्यज्योति, दिव्यज्ञान और दिव्यचेतना की प्रभा-स्वरूपा शक्ति है। ''अश्विनो'' आनन्द का अधिपति है। सोम आनन्द और अम तत्व का अधिष्ठाता देव है।

ऋषि मंत्र के कर्त्ता नहीं अपितु द्रष्टा हैं। वेद किसी धर्म या मत की व्याख्या नहीं करता, अपितु प्रतीकात्मक भाषा में आध्यात्मिक अनुभव का वर्णन करता है। योगी अरविन्द के मत में मन्त्रों के प्रतीकात्मक रहस्यमय अर्थ समय-प्रवाह में बहुत पहले ही नष्ट हो चुके हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों का मुख्य उद्देश्य कर्मकाण्ड का प्रचार करना था। उपनिषदों ने अपने विचारों का वेदों में भिन्न रीति से वर्णन किया, जिससे वेदान्त-दर्शन की उत्पत्ति हुई, और इसका परिणाम यह हुआ कि जनता समझने लगी कि उपनिषद् ज्ञान की मूल पुस्तक है और वेद कर्मकाण्ड की।

अरविन्द को पाश्चात्य विद्वानों का यह विचार - ''वैदिक आर्य अर्द्धसभ्य, प्रक तिपूजक और विशुद्ध रूप से कर्मकाण्डी थे'' व्यर्थ प्रतीत हुआ, क्योंकि जिस समय की अवस्था को भारतीय आर्यों को अर्द्धसभ्य आदि बताया जाता है, उस समय चाल्डिया, असीरिया, इजिप्ट और यूनान में उन्नत सभ्यता थी, तब भारत में उन्नत सभ्यता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। योगी अरविन्द इस विचार से ''आर्य भारत में उस समय प्रविष्ट हुए जब वेद लिखे जा रहे थे, तथा आर्यों को इन आर्यों से युद्ध करना पड़ा था, जिसका वर्णन वेद में उपलब्ध है, इत्यादि'' सहमत नहीं हैं, क्योंकि वेदों में इन बातों की चर्चा किसी स्थल पर नहीं हुई है।

पाश्चात्य विद्वानों का तुलनात्मक भाषा-विज्ञान असंगत कल्पनाओं एवं विचारों से पूर्ण है, अतः यह कोई विज्ञान नहीं, इसलिए इसके आधार पर मन्त्रों का यथार्थ अर्थ नहीं जाना जा सकता।

सायण-भाष्य में भारत के मध्यकालीन समाज की कुरीतियों एवं अमान्य बातों की चर्चा होने के कारण इस योगी को सायण-भाष्य पसन्द नहीं है।

योगी अरविन्द ने अधिकांश मन्त्रों का अर्थ आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक रीति से करने का प्रयास किया है। आध्यात्मिक अर्थ के अनुसार अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, भग, अर्यमा आदि अन्तःकरण की दिव्य शक्तियां हैं, इसके विपरीत व त्र, वल, पणि, दस्यु, नमुचि आदि अन्धकारमय शक्तियां हैं। इन दिव्य शक्तियों और अन्धकारमय शक्तियों के मध्य सर्वदा युद्ध हुआ करता है।

वेद में यज्ञ मुख्यतया प्रतीक रूप में आया है, इसलिए आन्तरिक यज्ञ का विशेष महत्व है। मनुष्य के अन्दर ही अग्नि, वेदि, हवि, होता, ऋषि देवता, मन्त्र आदि हैं। मनुष्य-जीवन यज्ञ है। देवत्व-प्राप्ति के लिए तीर्थ यात्रा है, इस यात्रा में अन्धकारमय शक्तियां, अर्थात् दुर्गुणों से युद्ध करना पड़ता है। वेदों में केवल एक ही परम सत्ता का वर्णन है, बहुदेवों का नहीं।

योगी अरविन्द के मत में वेदों में श्लेषालंकार का प्रयोग बहुत हुआ है। शब्दों धातुओं के अनेकार्थ वैदिक युग में विशेष प्रचलित थे। ''प्रारम्भ में केवल ध्वनियां थीं, पुनः उससे शब्दों के परिवार हुए। ध्वनि किसी विचार को न व्यक्त कर किसी संवेदना या भावना को जागरित करती थी, अतः भाषा को उत्पन्न करने का माध्यम ज्ञान-तन्तु था, बुद्धि नहीं, इसी कारण प्रारम्भ में शब्दों का एक निश्चित अर्थ नहीं था। प्रारम्भिक शब्द विचारों के छोटे समूह को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होते थे।''

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि वैदिक भाष्य के क्षेत्र में योगी अरविन्द की अपनी एक नई देन है। इस योगी ने वेद भाष्यकारों को आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक अर्थ करने की नयी प्रेरणा दी है, जिसके कारण आध्यात्मिक क्षेत्र में वेद का महत्त्व बढ़ गया है। महान् योगी अरविन्द स्वामी दयानन्द के वेद सम्बन्धी सभी सिद्धान्तों से पूर्णतया सहमत हैं।

श्रीपाद दामोदर सातवलेकर :-

श्रीपाद दामोदर सातवलेकर का जन्म १८६७ ई. में महाराष्ट्र के रत्नागिरि जिले के कोलगाँव नामक स्थान पर हुआ था। इनके पिता का नाम दामोदरपन्त तथा माता का नाम लक्ष्मीबाई था। माँ-बाप ने बालक का नाम रखा श्रीपाद। महाराष्ट्र में अपने नाम के साथ पिता का नाम तथा गोत्र का नाम भी संयुक्त होता है। अतः पूरा नाम हुआ श्रीपाद दामोदर सातवलेकर।

सातवलेकर परिवार एक प्रतिष्ठित पुरोहित परिवार था। उनके पास कोलगाँव, कुणकेरी और सावंतवाड़ी इन तीन गांवों का पौरोहित्याधिकार था। इस प्रकार वेद पाठ आदि के संस्कार उनको आनुवांशिक रूप से प्राप्त थे।

श्रीपाद की प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा सावंतवाड़ी में सम्पन्न हुई। वहीं हाई स्कूल के शिक्षक श्री चिन्तामणि केलकर से उन्होंने कौमुदी, मनोरमा और शेखर आदि संस्क त व्याकरण के ग्रन्थ पढ़े। उसी समय श्रीपाद सातवलेकर ने ''संस्क त वाग्विवर्धिनी'' नामक एक संस्क त व्याख्यान मण्डल की स्थापना की। इस व्याख्यान मण्डल की स्थापना का उद्देश्य यही था कि सप्ताह में एक दिन संस्क त में व्याख्यान और वाद-विवाद हो। इसके प्रभाव के कारण ही सातवलेकर शीघ्र ही संस्क त सम्भाषण तथा शास्त्र चर्चा में समर्थ हो गये।

श्रीपाद सातवलेकर ने आजीविका के अर्जन के लिए चित्रकला को आधार बनाया। वे संस्क त विषय के साथ-साथ बचपन से चित्रकला में भी निपुण थे। चित्रकला का यह गुण उन्हें अपने पिता दामोदर पन्त से प्राप्त हुआ था। इस विषय पाण्डित्य प्राप्त करने हेतु १८६० में उन्होंने बम्बई के आर्ट स्कूल में प्रवेश लिया। बाद में उसी स्कूल में उन्होंने अध्यापन कार्य भी किया।

१६०६ में सातवलेकर बेहतर आजीविका की तलाश में बम्बई छोड़कर हैदराबाद आ गये। निजाम के हैदराबाद में पैसे और गुणग्राही व्यक्तियों की उस समय कमी नहीं थी। इसलिए हैदराबाद पहुँचकर उन्होंने अपना स्टूडियो खोल लिया जो खूब चल निकला। सातवलेकर अत्यन्त स्वाध्यायशील

थे। चित्रकारी से बचे समय को वे स्वाध्याय में ही लगाते थे। श्री केशवराव कोरटकर के कारण पं. सातवलेकर आर्य समाज के सम्पर्क में आये। आर्य समाज की हैदराबाद शाखा में वेद और दूसरे संस्क त ग्रन्थ, उन्हें स्वाध्याय हेतु सरलता से मिल जाते थे। वहाँ अन्य विद्वानों के साथ वेद विषयक गम्भीर चर्चायें भी होती थीं। इस प्रकार धीरे-धीरे आर्य समाज के सिद्धान्तों में उनका अनुराग बढ़ने लगा और वे आर्य समाज के सदस्य बन गये। महर्षि दयानन्द क त सत्यार्थ प्रकाश और ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका का उन्होंने मराठी में अनुवाद किया। इस अनुवाद को देखकर बड़ौदा के तत्कालीन महाराज सय्याजी राव गायकवाड़ बहुत प्रसन्न हुए। इस प्रकार आर्य समाज में पं. सातवलेकर की प्रतिष्ठा और बढ़ गयी।

पं. सातवलेकर यद्यपि आर्य समाज के सिद्धान्तों से प्रभावित थे और उन पर व्याख्यान भी देते थे तथापि स्वतन्त्र विचारक होने के नाते अनेक बार आर्यसमाजियों की आलोचना का शिकार बन जाते थे। अपने और आर्यसमाज के सम्बन्ध में वे स्वयं लिखते हैं :-

''आर्य समाज के सिद्धान्त निश्चित रहते हैं। उन सिद्धान्तों और नियमों के बाहर कोई जा नहीं सकता। स्वतन्त्र विचारों एवं स्वतन्त्र रीति से खोज करने की सुविधा इस समाज में नहीं है। मैंने वेद, उपनिषद्, गीता आदि ग्रन्थों पर स्वतन्त्र रीति से विचार किया है, इसलिए मेरे विचार भी कई बार आर्यसमाजी सिद्धान्तों से टकरा जाते थे। आर्यसमाजी अपने सिद्धान्तों के प्रति बड़े कट्टर होते हैं, इन्हीं कारणों से वे मुझे आर्यसमाजी नहीं मानते थे। इन मतभेदों के बावजूद में आर्यसमाज में रहा, इसका कारण सिर्फ यही था कि उस समय हैदराबाद में मेरे जैसा बेदल कोई दूसरा नहीं था''।

पण्डित सातवलेकर जी पर आर्यसमाज के साथ-साथ थियोसाफिकल सोसाइटी का भी प्रभाव था। आर्यसमाज और थियोसाफिकल संस्थाओं के अनुयायी एक-दूसरे को पसन्द नहीं करते थे। इसलिए एक बार आर्यसमाज की अन्तरंग सभा में एक ऐसा प्रस्ताव आया कि आर्यसमाज के सदस्यों की सूची में से सातवलेकर का नाम काट दिया जाये। किन्तु श्री केशवराव के प्रयासों के कारण वह प्रस्ताव स्वीक त नहीं हुआ।

इस प्रकार पण्डित सातवलेकर का कुछ बातों को लेकर कट्टर आर्यसमाजियों से मतभेद अवश्य रहा पुनरपि वे आर्यसमाज के उनमें भी विशेषतः वेद विषयक सिद्धान्तों पर प्रवचन व लेखन करते रहे।

१६०७ में सातवलेकर जी ने वैदिक राष्ट्रगीत नाम से एक पुस्तक का लेखन किया। इस पुस्तक में वेदों के राष्ट्रपरक कुछ विशिष्ट मन्त्रों का संग्रह और व्याख्यान था। यह पुस्तक बम्बई से मराठी में तथा इलाहाबाद से हिन्दी में प्रकाशित हुई। अंग्रेज सरकार ने इस ग्रन्थ को जब्त कर लिया। इसी प्रसंग में उन्हें हैदराबाद छोड़ना पड़ा।

हैदराबाद छोड़कर पं. सातवलेकर १६०८ में गुरूकुल काँगड़ी चले गये तथा वहाँ चित्रकला का अध्यापन करने लगे। उस समय के अपने गुरुकुल वास के अनुभवों का विवरण उन्होंने स्वयं इस प्रकार लिखा है -

''उस समय के गुरुकुल सचमुच ऋषियों के आश्रम के समान थे। रात के समय गुरुकुलों में बाघ आते थे। जंगली हाथी भी अनेकों बार आते थे। सियारों का आना जाना तो रोज की और मामूली बात थी। ब्रह्मचारीगण लाठियों से बाघों को भगाया करते थे।''

''ब्रह्मचारीगण सबेरे चार बजे उठते थे। जंगल जाकर स्नानादि से निबटकर वेदपाठ करते थे। संध्याहवन सूर्योदय के करीब होता था। वेदघोषसे प्रातः काल का वातावरण गूंजा करता था।''

''मुझे यह जीवनचर्या बड़ी पसन्द आई। पर धनपति से भिक्षुकपति होना मेरी पत्नी को पसन्द नहीं आया। पर वह करती भी क्या ? अतः मन मारकर वह भी वहां आनन्द से रहने लगी। और फिर किसी भी तरह से उसने अपना असमाधान व्यक्त नहीं किया।''

''मेरा एक लड़का था। उसका नाम नारायण था। वह भी हमारे साथ ही था। गुरुकुल में आकर अब मैं आश्रमवासी हो गया और शहर का मेरा रहन-सहन पूरी तरह से छूट चुका था, अतः मैंने नारायण को भी गुरुकुल में भर्ती करा दिया। उसकी शिक्षा भी गुरुकुल के दूसरे ब्रह्मचारियों के साथ शुरू हो गई।''

''उन दिनों गुरुकुल में भी स्वतंत्रता का वातावरण बना हुआ था। सारे पंजाब में महात्मा मुंशीराम का बड़ा भारी प्रभाव था। उन्होंने गुरुकुल खोला और दौरा करके उन्होंने सारे पंजाबियों का मन गुरुकुल की तरफ आकर्षित कर लिया था। गुरुकुल के वार्षिक उत्सव में बड़े-बड़े धनपति भी आकर फूस की झोंपड़ी में दो-तीन रहते थे। लाख-लाख रुपये गुरुकुलों को दान देते थे। उस गुरुकुल के वार्षि उत्सव द श्य बहुत आकर्षक होता था।''

''सरकारी अधिकारी और पुलिस अधिकारी भी उत्सव में आते थे। पर महात्मा मुंशीराम उनके लिए कोई खास सुविधा नहीं करते थे। दूसरे यात्रियों की तरह वे भी फूस की झोंपड़ी में रहते थे। महात्मा कहते थे कि - ''यह आश्रम है अतः यहां राजा और गरीब बराबर हैं।''

''महात्मा मुंशीराम कभी भी सरकारी अधिकारियों को गुरुकुल में बुलाते नहीं थे और बिना बुलाये राज्यपाल अथवा राजप्रतिनिधि गुरुकुल में आ नहीं सकते थे। इसी तरह कुछ साल तक चलता रहा। पर महात्मा जी ने किसकी को बुलाया नहीं।''

''आखिरकार संयुक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश) के राज्यपाल ने स्वयं लिखा कि - ''मैं गुरुकुल देखने के लिए आना चाहता हूँ।'' इसका उत्तर यही देना पड़ा कि - ''आइए, स्वागत है।'' लेफ्टिनेंट गवर्नर आए और उन्हें केले के पत्ते में लपेट कर मान-पत्र दिया गया और तुलसी की चाय पीने के लिए दी गई। उन्हें खाने के सब पदार्थ आश्रमवासियों की तरह दिए गए।''

''जाते समय उन्होंने कहा कि वाइसराय गुरुकुल देखना चाहते हैं, उन्हें आप निमंत्रण दें। संयुक्त प्रान्त के राज्यपाल की इस बात को सुनकर मुंशीराम चुप ही रहे। पर आखिरकार वाइसराय को निमंत्रण भेजना ही पड़ा। वे आए, उनका उत्तम रीति से स्वागत हुआ। उन्हें भी मान पत्र केले के पत्ते में लपेटकर दिया गया। वाइसराय का भाषण बहुत उत्तम हुआ। तुलसी की चाय सबको पिलाई गई। जाते समय गुरुकुल में टांगने के लिए वाइसराय ने इंग्लैंड की राजा-रानी का चित्र दिया। उस चित्र को पुस्तकालय में टांगना ही पड़ा। इस तरह अनेकों ढंग से अंग्रेज उपाय योजना करते थे और गुरुकुल के आचार्य भी, जहां तक संभव होता, वहां तक, अपने स्वातंत्र्य की सुरक्षा करते थे।''

''अंग्रेज अधिकारियों को इस बात का सन्देह था कि - गुरुकुल में राजद्रोही नौजवान तैयार किए जाते हैं। यह सन्देह राज्यपाल एवं राजप्रतिनिधि के दिल में भी था। इस बात की तहकीकात करने के लिए राजप्रतिनिधि रेव, एण्ड्रयूजको गुरुकुल में रहने के लिए भेजा। उन्होंने वहां आने का यह बहाना बनाया कि - ''मैं गुरुकुल में ब्रह्मचारियों को अंग्रेजी सिखाने आया हूँ।''

''वे ब्रह्मचारियों के बीच ही रहते थे, उनके साथ ही भोजन करते और आश्रमवासियों की तरह रहते थे। वे सिखाते तो अंग्रेजी थे, पर आए थे जासूसी के लिए। गुरुकुल में वे साल भर रहे, अन्त में उन्होंने यही रिपोर्ट दी कि गुरुकुल में राजद्रोह की सीख नहीं दी जाती। इस कारण अंग्रेजों का सन्देह थोड़ा मिट गया। तथापि गुरुकुल में पुलिस बार-बार आने-जाने से कष्ट तो होते ही थे, पर महात्मा जी की चतुराई के कारण वे कष्ट भी नष्ट हो जाते थे।''

''इन्हीं दिनों बंगाल में बम तैयार करने वाले नौजवानों का एक दल अपने रंग पर था। उस दल के कार्यकर्ता चारों ओर के प्रान्तों में फैल गए थे। हरिद्वार में भी उनका एक अड्डा था। उस अड्डे से उन नौजवानों के संकेत और अन्य साहित्य गुरुकुल के ब्रह्मचारियों तक पहुंच गये थे। उनकी कोशिशें बेमिसाल होती थीं। यद्यपि महाविद्यालय के सभी तरुण उस दल में शामिल नहीं थे, फिर भी दस-पांच विद्यार्थियों तक बम बनाने के तरीके बताने वाले सभी ग्रन्थ पहुंच चुके थे।''

''यह बात पुलिस के कानों से जा टकराई। गुरुकुल के विद्यार्थियों को यह सूचना मिल गई थी कि किसी भी दिन एकदम छापा मार कर निरीक्षण किया जा सकता है। जिस प्रकार गुप्त पुलिस के जासूस हमारे बीच में रह कर अपना काम करते थे, उसी प्रकार हमारे भी कुछ हितचिन्तक गुप्त पुलिस के कार्यालयों में थे। इसलिए अगले चार पांच दिनों में जो होने वाला होता, उसकी खबर गुरुकुल तक उड़ती हुई चली आती और ब्रह्मचारिगण अपने कमरों को साफ-सूफ कर देते थे। इसी प्रकार जो सन्देहास्पद अध्यापक थे, उन्हें भी समय-समय पर सूचना मिल जाया करती थी। मैं भी सन्देहास्पद अध्यापकों में से एक था। मुझे अच्छी तरह याद है कि एक रात हमने बम तैयार करने की पद्धति बताने वाले सब ग्रन्थ जमीन में गाढ दिए थे और सबक कमरे साफ कर दिये थे।''

''ब्रह्मचारिगण शूर, राष्ट्रसेवी और उत्तम काम करने में हमेशा आगे रहने वाले थे। जंगल में रहने के कारण वे निडर भी थे। एक बार सिन्ध की तरफ के एक अध्यापक आए थे। एक बार छुट्टी के दिन उन्हें साथ में लेकर ब्रह्मचारियों सहित हम जंगल में घूमने निकल गए। सवेरे ६-१० का समय रहा होगा। गुरुकुल से ३-४ मील की दूरी पर स्थित एक घने जंगल में हम जा पहुंचे। जंगल में बहुत ऊंची-ऊंची घास उगी हुई थी। एक छोटी सी पहाड़ी पर घास में एक बाघ छिपकर बैठा हुआ था। दुर्भाग्यवश ये सिन्धी अध्यापक महाशय उसी तरफ जा निकले और बाघ यमदूत के समान इन महाशय के सामने आकर खड़ा हो गया। बिचारे अध्यापक अकेले ही बाघ के सामने गए थे। इसलिए उनके डर की कोई सीमा ही नहीं थी। वे अपने प्राण बचाने के लिए पास के ही पेड़ पर किसी तरह चढ़ गए। पैरों में जो जूते थे वे पैरों में से निकल कर गिर गए। ऊपर अध्यापक और नीचे बाघ। ऊपर बैठे-बैठे अध्यापक महोदय ''बाघ बाघ'' कहकर चिल्लाने लगे। किसी ब्रह्मचारी ने उनकी पुकार सुनी और थोड़ी सी देर में ही सब ब्रह्मचारी लाठी लेकर वहां पहुंच गए और उन्होंने बाघ को मार कर भगा दिया। उन अध्यापक की आंखों के आगे बाघ ही बाघ चमक रहे थे। उन महाशय को चारों ओर बाघ ही बाघ नजर आ रहे थे। ब्रह्मचारियों ने उन्हें नीचे उतारा, तब भी वे ''बाघ बाघ'' चिल्ला रहे थे। पूरे दो घंटे के बाद वे महाशय होश में आए। उनकी चिकित्सा हुई। वे बेहोशी की अवस्था में भी ''बाघ बाघ'' चिल्लाते थे। गुरुकुल के ब्रह्मचारी कैसे निर्भीक थे और शहरी अध्यापक कैसे डरपोक थे, उसका यह एक नमूना है।''

''गुरुकुल कांगडी से ४ मील दूर गंगा के बीच में सप्ततीर्थ नाम का एक स्थान है। स्थान बहुत रमणीय है। ४०-५० ब्रह्मचारियों के साथ मैं वह स्थान देखने गया। जाते हुए हम पैदल ही गए थे। उस स्थान पर हम करीब १० बजे पहुंचे। शाम तक वहां रहे। वहीं खाया पिया। शाम को ४ बजे के करीब वहां से लौट चले। गर्मी के दिन थे। गंगा बढ़ने लग गई थी और सवेरे जहां जमीन थी, वहां शाम को बड़े-बड़े जलप्रवाह चल रहे थे और वे प्रवाह बराबर बढ़ते चले जा रहे थे।''

''गंगा में तैरने का अभ्यास मुझे नहीं था। मेरे जैसे ही दूसरे भी ३-४ अतिथि थे। हम सब हताश होकर बैठ गए। पर ब्रह्मचारी बोले - ''डरिए मत ! हम आप सबको उस पार पहुंचा देंगे।'' ब्रह्मचारी गंगा की बाढ़ में भी तैरने वाले थे। अतः दो-दो ब्रह्मचारी एक-एक हाथ से तैरने लगे और एक-एक हाथ से हम जैसों को संभालते हुए नदी पार करने लगे। करीब एक मील का नदी का पाट था, पर प्रवाह के कारण उसे पार करना सरल नहीं था। यदि ब्रह्मचारी न होते तो हमारे लिए वह काल ''अन्तकाल'' ही साबित होता।''

''एक बार हम गुरुकुल में थे। भादों का महीना था। पानी बरस रहा था। कनखल के पास एक सरकारी बांध टूट गया। पानी गुरुकुल के चारों ओर भरने लग गया। चारों तरफ मानों समुद्र ही उछाल लेने लगा था। वह पानी भरता ही जा रहा था। गुरुकुल की इमारत भी पानी में ढह गई। फिर भी ब्रह्मचारी बड़े प्रसन्न थे। वे तैर कर उस पार जाने के लिए तैय्यार बैठे थे। आठ-दस घंटे के बाद बरसात बन्द हो गई, बाढ़ भी उतरने लगी और सब कुछ ठीक हो गया। पर ऐसी संकटकालीन स्थिति में भी ब्रह्मचारियों का सतह अविचलित रहा।''

इस प्रकार चेतनासे भरे हुए आश्रमों से युक्त गुरुकुल में पंडित सातवलेकर रमने लगे, प्राक तिक सम्पत्ति से भरपूर इस स्थान में अपनी चित्रकला को और अधिक मार्मिक, उद्‌बोधक और आकर्षक बनाने के लिए पंडितजी को अनेक शुभ संयोग प्राप्त हुए। उसी प्रकार अपनी वेदविद्या की प्रौढ प्रज्ञा से तरुण पीढी को तेजस्वी बनाकर उनकी क तज्ञता एवं यश का संपादन करने का सुअवसर भी पंडित जी को प्राप्त हुआ। मुंशी राम जी के कथनानुसार पंडित जी अपनी तूलिका से कांगडी के सुरम्य चित्र उतारा करते थे और पंडित जी की तूलिका से उतरे चित्रों के प्रति चित्र गुरुकुल के विद्यार्थी बनाया करते थे। महर्षि दयानन्द का एक बडा तैल चित्र पंडित जी ने गुरुकुल के लिए विशेष रीति से तैय्यार करके दिया। इसी प्रकार महर्षि दयानन्द के गुरु स्वामी विरजानन्द जी का भी एक बड़ा सा तैलचित्र पंडित जी ने तैय्यार करके दिया। पंडितजी को योग साधना का अभ्यास करने के लिए भी यहां उत्तम अवसर मिला। प्राणायाम, ध्यान, धारणा, स्वाध्याय, चित्रकला और ब्रह्मचारियों के साथ समरस जीवन इन्हीं कार्यों में पंडितजी का सारा दिन बीत जाता था।

इस प्रकार आनन्द से बीतने वाले जीवन को एक और प्रचंड वायु का धक्का लगा। पंडित जी ने कोल्हापुर के एक मासिक विश्वव त्त में ''वैदिक प्रार्थनाओं की तेजस्विता'' नामक एक लेख लिखा। उस लेख के कारण अंग्रेज सरकार ने पंडित जी पर दावा दायर करने का निश्चय किया। इस बात की सूचना पंडित जी को अखबार से मिल गई। साथ ही उन्हें इस बात का भी पता लग गया कि पकड़ने के लिए उनके नाम एक वारंट जारी कर दिया गया है। तब हैदराबाद छोड़ते ही आसरा देने वाली एक राष्ट्रीय संस्था पर किसी प्रकार का संकट न आ पडे, यह सोचकर उन्होंने महात्मा मुंशी राम से विचार विमर्श के बाद हरिद्वार छोड़ दिया।

कोल्हापुर में चले राजद्रोह के मुकदमें में दोषमुक्त होकर पण्डित सातवलेकर १६०६ में पंजाब प्रान्त के लाहौर नगर में रहने चले गये। वहाँ उन्होंने आजीविका के लिए चित्रकारी की एक दुकान खोल ली। साथ ही वैदिक वाङ्मय पर प्रवचन और लेखन करने लग गये। यहाँ १६१७ तक उन्होंने विशिष्ट कार्य किया, किन्तु होमरूल लीग तथा गदर पार्टी के कार्यकर्त्ताओं को प्रोत्साहन देने के कारण वे तत्कालीन राज्यपाल ओडवायर के कोप का पात्र बने और लाहौर छोड़ दिया।

१६१८ में सातवलेकर औंध में आकर रहने लगे।

''पंडितजी को इस बात पर पूरा-पूरा विश्वास था कि यदि भारत को आज या कल किसी चीज की जरूरत है तो वह है पुरुषार्थ और पराक्रम। इसी द ष्टि से औंध के निवास काल में पंडित जी ने नित्य और नैमित्तिक सभी तरह के सार्वजनिक आन्दोलनों में सोत्साह भाग लिया। तथापि ये आन्दोलन उनके जीवन के और जीवन के ध्येय के मुख्य केन्द्रबिन्दु नहीं थे। पंडित जी में एक तडप थी पुरुषार्थ और पराक्रम का सन्देश देने वाले वेदों और तद्‌गत उपदेशों को जनता तक पहुंचाने की। इन उपदेशों से वे तरूण पीढी को देश सेवा के योग्य बनाना चाहते थे। अथर्ववेदीय वैदिक राष्ट्र गीत की हैदराबाद वाली घटना पंडित जी के मन पर अपना अमिट छाप छोड़ गई थी। इसलिए वैदिक सन्देशों को जन-जन के मानस में उतारने का काम पंडित जी ने अपना लिया, यही उनका एकमात्र उद्देश्य बन गया। इसी उद्‌देश्य की परिपूर्ति के लिए उन्होंने सन् १६१६ में 'स्वाध्याय-मण्डल'' संस्था की स्थापना की।

स्वाध्याय मण्डल का कार्य अपना एक निश्चित स्वरूप धारण कर ही रहा था कि इसी बीच सन् १६२५ में पाचवड तालुका वाई, जि. सतारामें श्री घुंडिराज गणेश उर्फ बापूदीक्षित बापट ने एक सोमगायकी आयोजना की जिसमें वे पशुओं की बलि चढ़ाना चाहते थे। पंडित जी की आत्मा शान्त न रह सकी और वह इस यज्ञ के विरोध में जाग्रत हो गई। पंडितजी इस विचार के थे, कि वेदों में यज्ञ के अन्तर्गत पशु हिंसा का विधान नहीं है। हैदराबाद में रहते हुए पंडित जी ने रायपुर में सम्पन्न पशु मेघयज्ञ का बड़ा कड़ा विरोध किया था। ये महोदय प्रथम सांग ली में यह पशुयाग करना चाहते

थे, पर वहां के जैनों ने जो विरोधात्क व त्ति अपनाई, उसे देखकर बापट महाशय का साहस वहां यज्ञ करने का न हुआ, लिहाजा उन्होंने औंध को इस कार्य के लिए चुना। पर यहां भी पंडित सातवलेकर के कारण उन्हें लेने के देने पड़ गए। औंध में आने पर उनके सिर मुंडाते ही ओले पड़े। पंडित जी ने बापट को यज्ञ में पशुवध पर शास्त्रार्थ करने के लिए आह्वान किया।

पंडित जी के शास्त्रार्थ के लिए सन्नद्ध होने पर चाहिए यह था कि उधर की विद्वन्मण्डली भी इस चर्चा के लिए उद्यत हो जाती। पर वैसा कुछ न हो पाया। अखबारों में कतिपय उल्टे सीधे लेख प्रकाशित हुए। पुलिस के संरक्षण में पशुयज्ञ करने वाले इन पंडितों के दिमाग को दीमक चाट चुकी थी, इसलिए वे पंडितजी द्वारा उठाई गई पशुयज्ञ विषयक आपत्तियों का बुद्धिपूर्वक उत्तर न दे सके। पर इस मन्थन से निकले हुए निष्कर्ष के आधार पर जनता समझ गई थी कि पंडित जी का पक्ष ही सत्य से परिपूर्ण है।

पंडित जी के समाज सुधार के काल में यह एक अपूर्व प्रसंग था।

लोक शिक्षण के अपने कार्यक्रम के बारे में पंडित जी लिखते हैं -

''औंध में मेरे स्थायी होने का मेरा उद्देश्य यही था कि मैं यहां स्थिरचित्त होकर वेदों का अध्ययन और उनका अनुवाद करूं और उस वेदमंथन से निकले हुए नवनीत को जनता के सामने रखूं। इस कारण मेरा अधिकांश समय इसी में खर्च होता था और इससे जो समय बचता था, उसे मैं रियासत की सेवा के लिए समर्पित कर देता था।''

''पंजाब में मैं जो ६-१० बरस रहा और उस दरम्यान मैंने व्याख्यानादियों के जरिये जो धर्म का प्रचार पंजाब में किया, उसका लाभ मुझे औंध में आकर वेदों का अनुवाद हिन्दी में करते समय मिला। पंजाब, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में मेरी हिन्दी पुस्तकों की बिक्री होती थी और उन्हीं प्रान्तों से मुझे मेरे प्रकाशन के लिए आर्थिक सहायता भी प्राप्त होती थी। इस प्रकार २-३ बरसों में मुझे पंजाब से करीब डेढ लाख रुपयों की सहायता मिली, और उसके कारण मैं अनेक पुस्तकों का प्रकाशन कर सका।''

''वाजसनेयी यजुर्वेद के ५-६ अध्याय के अनुवाद मैंने छापे। अथर्ववेद का अनुवाद एवं स्पष्टीकरण भी छापा। इस ग्रंथ में करीब २५०० प ष्ठ थे, इसकी कीमत उन दिनों सिर्फ २५ रु. रखी थी। इसके अलावा ''वैदिक धर्म'' नामक एक हिन्दी मासिक भी शुरु किया, जो आज भी चल रहा है। उसके बाद ''पुरुषार्थ' पत्र मराठी में शुरू किया, वह भी आज तक चल रहा है।''

वैदिक वाङ्मय को ही अपने जीवन का एकमात्र लक्ष्य बनाकर वैदिक वाङ्मय का अध्ययन करने वाले पंडित जी के श्वास निश्वास में भी मानों वेद बस गए। इसके परिणामस्वरूप जो काम एक सहकारी संस्था अथवा सरकार भी नहीं कर सकती, वह काम अकेले पंडित जी ने इस स्वाध्यायमण्डल के द्वारा करके दिखाया। वेद संहिताओं, और उनके हिन्दी एवं मराठी भाषान्तरों को छपवाने में ही पंडित जी ने जितना परिश्रम किया, यदि उसकी कल्पना ही की जाए, तो विद्वत्ता का जनसेवा के कार्य में उपयोग करने के पंडित जी के इस कार्य को देखकर किसका सिर नहीं झुक जाएगा ? चारों वेद और वाल्मीकि रामायण का मराठी-हिन्दी अनुवाद एवं महाभारत का हिन्दी अनुवाद पंडित जी ने प्रकाशित किया। उन्होंने मनु स्म ति का भी संशोधन किया है। गीता और उपनिषदों पर अपने भाष्यों में उन्होंने अनन्तकाल से चली आती हुई परम्परा को एक नई ही दिशा प्रदान की है। उनमें लेखक ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि ब्रह्मज्ञान के साथ ही साथ अध्यात्म से युक्त मानवी व्यवहार में सभी स्वावलम्बी स्वाभिमानी और तेजस्वी रहें। पंडित जी के अनुसार यही लोकशिक्षा उद्देश्य होना चाहिए। पंडित जी की यह एक विशेषता रही है कि उन्होंने अपने हर वैदिक ग्रंथों के अन्त में ग्रंथों की सूची, उपमा सूची आदि सूचियां दी हैं। गीता के श्लोकों की भी एक अन्त्याक्षर सूची तैयार की है। वे सूचियां संशोधनकर्ताओं के लिए बड़ी ही उपयोगी हैं।

भारत में और वेदों में वर्णित गाय के महत्त्व को बताने के लिए ''गोज्ञान कोष'' नामक ग्रंथ की रचना की, जो एक उत्क ष्ट ग्रंथ है। ब्राह्मण ग्रंथ और आरण्यकों का प्रकाशन भी पंडित जी ने किया और ''सोम-रस'' नामक एक स्वतंत्र ग्रंथ लिखकर पंडित जी ने इस भ्रम के निराकरण करने का प्रयास करने का प्रयास किया कि प्राचीन काल में ब्राह्मण शराब पीते थे।

लौकिक एवं वैदिक संस्क त के अध्ययन को सरल बनाने के लिए पंडित जी ने संस्क त-स्वयं-शिक्षक के नाम से एक पुस्तक माला लिखी। संस्क त भाषा को सिखलाने के लिए स्वाध्याय मण्डल के द्वारा भारत और अफ्रीका में केन्द्र स्थापित किये। इस प्रकार अपनी विद्वत्ता, और प्रयत्नवाद से समाज की सेवा की और राष्ट्र भक्ति का नवीन निर्माण कार्य में उपयोग किया।

भारत की धार्मिक, राजकीय, सामाजिक, आर्थिक और व्यावहारिक व्यवस्था देखकर पंडित जी का मन अस्वस्थ हो गया, इसीलिए उन्होंने इन कार्यों को प्रारम्भ किया। वैदिक कालीन आर्य उग्र, शूर और तेजस्वी थे। उन्हीं के वंशज हम मीरकासिम के आक्रमण काल से लेकर डेढ़ हजार वर्षों तक दासता की श्र ंखला में बंधकर और आपस में शत्रुता बढ़ाकर क्यों कष्ट में पड़े रहे, ये सभी विचार पंडित जी के ह्रदय में शल्य के समान चुभते थे। उनके निरीक्षणों और मस्तिष्क ने एक ही उत्तर दिया कि वेदकालीन संस्क ति का उच्छेद हो जाने के कारण ही आज हमारी यह दुरवस्था है। लोकशिक्षण के द्वारा इस दुरवस्था के उन्मूलन करने के लिए पंडित जी ने सन् १९१९ में वैदिक धर्म नामक एक हिन्दी मासिक शुरु किया। वेदोक्त धर्म के सिवाय और कोई विषय उस मासिक में स्थान न पा सके, इस बात की दक्षता पंडित जी सदा से ही रखते चले आए हैं। उस मासिक पत्र के द्वारा प्रतिमास वेदों के मंत्र एवं उनमें निहित उपदेश जनता के सामने आने लगे, परिणामस्वरूप वैदिक धर्म की श्रेष्ठता हर एक के मन में प्रतिबिम्बित होने लगी। उसी उद्देश्य से मराठी पाठकों के लिए १९२४ सन् में लोकमान्य के पुण्यतिथि के अवसर पर शुरु किए गए पुरुषार्थ मासिक में विचार स्वातंत्र्य के लिए लेखकों को अवसर मिला। इन पत्रिकाओं के मुखप ष्ठ भी इस तरह के होते थे कि जिससे पाठकों की मनोव त्ति खराब न हो। इस क्षेत्र में ये पत्रिकायें हमेशा अग्रसर रही हैं। भगवद्गीता भी मासिक के रूप में उन्होंने तीन वर्ष तक चलाई और उसके द्वारा गीता की पुरुषार्थ बोधिनी टीका लोगों के सामने रखी।

''लोकशिक्षण के लिए स्वाध्याय मण्डल का यह काम १९१८ से लेकर १९४८ तक अर्थात् तीस बरसों तक औंध की भूमि को पवित्र करता रहा। पर एक तो महाराष्ट्र में ब्राह्मणतर जातियों में ब्राह्मणों के प्रति उठने वाली विद्वेष की भावना और दूसरा रियासतों के विलीनीकरण के बाद उनका अन्धकारमय भविष्य, इन दो बातों ने पंडितजी का औंध में रहना कठिन कर दिया। इसलिए पंडित जी ने अपने तीस बरसों की कार्यभूमि औंध को छोड़ देने का निश्चय किया।

इस स्थलान्तर के बाद पंडित जी का स्वागत करने के लिए पंजाब, दिल्ली, नागपुर, बडौदा और हैदराबाद आदि नगर उत्सुक थे। पंडितजी को भी पूरा विश्वास था कि इन नगरों में उन्हें आर्थिक सहायता भरपूर मिलेगी और वेद-प्रकाशन का कार्य विस्त त होगा। पर पंडित जी की यह अभिलाषा थी कि जहां तक हो सके वहां तक महाराष्ट्र की सांस्क तिक राजधानी और लोकमान्य तिलक की कर्मभूमि पूना में ही स्वाध्याय मण्डल का स्थलान्तर किया जाय। वे प्रतिमास सात सौ रुपये भाडा भी देने को तैय्यार थे, पर वहां उन्हें मनचाही जगह नहीं मिली। अतः पंडितजी ऐसी जगह की तलाश में अनेक नगरों में घूमते रहे। इसी बीच में पारडी में बिकने वाली एक जगह के बारे में पंडित जी ने सुना। तब इक्यासी वर्षीय पंडितजी उस स्थान पर गए और उन्होंने वह जगह स्वयं देखी और वह उन्हें पसन्द भी आ गई।

छापखाना और कामगारों के लिए पर्याप्त जगह, अठारह एकड़ जमीन, अमराई, तीन कुंए इन सभी सुविधाओं से युक्त वह जगह पंडितजी के मन में समा गई। सर्वश्री सेठ हरगोविंद धरमसी कांचवाले, वेणी भाई आर्य और गिरधर भाई भारतीय ये तीन उस जगह के स्वामी थे। उन्होंने स्वाध्याय

मण्डल के वेद प्रकाशन के कार्य के लिए यह भूमि देना सहर्ष स्वीकार कर लिया। तदनुसार १ जुलाई १९४८ के दिन इस जगह पर स्वाध्याय मण्डल का विधिवत् स्थलान्तर हो गया। वेदानुसंधान के कार्य की शुरुआत से पहले पंडित जी ने वहां यथाशास्त्र भूमिशांति, वेदपाठ, होम हवन आदि किया। औंध से स्वाध्यायमण्डल को पारडी लाने और यहां उसे व्यवस्थित रीति से कार्यक्षम बनाने में साठ हजार रुपए खर्च हो गए।

पारडी स्वाध्याय मण्डल के परिसर में प्रवेश करते ही मुख्य द्वार के पास एक नई बंधी हुई छोटी सी पर आकर्षक इमारत है, वहीं पंडित जी का वेद मन्दिर है। इस वेद मन्दिर के ऊपर नारियल की आक ति वाला एक स्वर्णकलश है। यह वेदमंदिर पिचहत्तर फुट लम्बा और बीस फुट चौड़ा है। अन्दर एक तरफ व्यासपीठ है। अन्दर के भाग में एक लम्बी सी कांच की अलमारी में वेद के ग्रंथ सुरक्षित हैं। वेद-मन्दिर के व्यासपीठ पर प्रतिवर्ष गणपति की स्थापना की जाती है। वेद मन्दिर की दीवारों पर सूर्य नमस्कार, मनुष्य शरीर में देवों का स्थान बताने वाले चित्र टंगे हुए हैं। इस मन्दिर का उद्घाटन १० जनवरी १९५४ को शिक्षामंत्री दिनकर भाई देसाई के हाथों हुआ था। इस वेद मन्दिर में प्रति शनिवार को सांय काल ठीक पांच बजे सामुदायिक प्रार्थना होती है। पंडित जी इसे अव्याहत गति से चलाते चले आ रहे हैं।

वेद मन्दिर से ३०-३५ कदम आगे चलकर मंडलका अतिथिग ह पड़ता है। उससे आगे मण्डल का पत्रालय है। उसी के सामने मण्डल के मुद्रणालय की इमारत है, जिसमें मण्डल के कर्मचारी काम करते हैं।

वेद मन्दिर के सामने की अमराई के बीच एक दुमंजिला प्रशस्त इमारत है, यह पंडित जी का निवास स्थान है। इसका नाम आनन्दाश्रम है। आश्रम के सामने फूल का बगीचा है।

औंध से पारडी में आने का व त्तन्त पंडित जी ने स्वयं लिखा है, जो इस प्रकार है -

''तीस वर्ष की अवधि में स्वाध्याय मण्डल ने सभी संहितायें, जो उपलब्ध हो सकीं, शुद्ध, सुन्दर और सस्ती प्रकाशित की हैं। शुरुआत में इनका मूल्य अत्यल्प था। वेदों की चारों संहितायें हमने पांच रुपये में ग्राहकों को दी हैं। वेदों की सर्वशुद्ध, सुन्दर और उत्तम रीति से प्रकाशित संहिताओं को इतने सस्ते दामों में देने का कोई विचार भी नहीं कर सकता, और न इतने सस्ते में दिया ही जा सकता था। उस पर भी हमने यह काम हानि उठाकर किया।''

''मूल वेदों की सभी संहितायें, आर्षेय संहिता के आधार पर बनायी गई दैवत संहिताओं के तीन भाग, महाभारत, रामायण, भगवद्गीता और अन्य योगसाधनाओं के ग्रंथ आदि ग्रंथों के करीब दो सौ रुपयों के प्रकाशन स्वाध्याय मण्डल ने किए हैं। सिंध, पंजाब, बलूचीस्तान और कलकत्ता तक तथा नेणलसे लेकर कन्या कुमारी तक हजारों ग्राहकों ने इस वैदिक प्रकाशन का लाभ उठाया है।''

१९१८ में सर्वप्रथम पण्डित जी ने स्वाध्याय मण्डल के मार्फत प्रथम दस वर्षों में वेद ग्रंथ प्रकाशित किए। चारों वेदों की उत्क ष्ट संहिता छापकर उसे कम से कम मूल्य में जनता के लिए उपलब्ध बनाया।

पण्डित जी के स्वाध्याय मण्डल के वेद प्रकाशन के क्षेत्र में किए गये कार्य की उपमा ही नहीं है। वेदों के सर्वशुद्ध मुद्रण के लिए पण्डित जी भारत भर घूमे और वेदमूर्ति श्री सखाराम येड रकर की सहायता से चारों वेदों की संहितायें प्रकाशित कीं और ये संहिता ये पांच-पांच रुपये में जनता को दीं। पण्डित जी ने आज तक हिन्दी में, मराठी में और गुजराती में लेखन कार्य किया है। इस कारण स्वाध्याय मण्डल की सर्वत्र प्रशंसा होने लगी।

वेदों के दर्शन, सम्पादन, प्रकाशन, मुद्रण और वितरण के कारण पण्डित जी को वेद मूलक भाग्य सम्पत्ति की प्राप्ति हुई। उनकी भी वेदमूर्तियों में गणना होने लगी। वेदों की मूल संहिता छापने

के बाद पण्डित जी ने आर्षेय संहिता, दैवत संहिता, वेदों के सुबोध भाष्य आदि ग्रंथों का सम्पादन एवं प्रकाशन किया। पण्डित जी के स्वाध्याय मण्डल का कार्य अद्‌भुत हैं पण्डित जी ने अनुसंधानकर्ताओं के लिए सहायक ग्रंथ भी छापे। गोज्ञानकोष (२ भाग) और दैवतसंहिता (३ भाग) का विशेषतः उल्लेख किया जा सकता है। गोज्ञान कोष में गौ के विषय में वेदमंत्रों का संकलन है। इसके अलावा इस ग्रंथ से अन्य पशुओं का महत्त्व भी जाना जा सकता है। दैवत संहिता में देवों के क्रम से मंत्रों का संकलन है।

वेदों पर सरल और सहजगम्य शब्दों में भाष्य लिखकर वेदों को जनता तक पहुंचाने का प्रयत्न पण्डित जी ने किया। वेदों में निहित राजनीतिक, सामाजिक और राष्ट्रीय भावों को व्यक्त किया। वैदिक धर्म (हिन्दी), पुरुषार्थ (मराठी), वेद संदेश (गुजराती) और अम तलता (संस्क त) पत्रिकाओं के सम्पादन के द्वारा वेद-प्रचार का कार्य किया। संस्क त प्रचार के लिए उन्होंने २४ भागों की एक पुस्तकमाला निकाली।

पण्डित जी ने आज तक अनेक ग्रंथों की रचना की है, उनके ग्रंथों का वर्गीकरण वैदिक, आरोग्य विषयक, गीता विषयक, औपनिषदिक के रूप में किया जा सकता है। वैदिक में वैदिक धर्म, तत्त्व ज्ञान और संस्क ति के अन्तर्गत सभी विषय आ सकते हैं। आरोग्य विषय के अन्तर्गत व्यायाम, योगासन, नमस्कार, ब्रह्मचर्य और योगशास्त्र आ सकते हैं। गीता विषय में उपनिषदों का मंथन करके भगवान् के द्वारा निकाला गया गीताम त का स्वरूप कितना पुरुषार्थ बोधक है और गीता में राष्ट्रीयता का स्वरूप कितना जीवित और जाग त है यह बताने वाले लेख अन्तर्भूत हो सकते हैं। औपनिषद् विषय में उपनिषदों का रहस्य विशद किया गया है।

पण्डित जी ने अनेक विषयों पर लेख लिखकर अपनी स्वतंत्र विचार सरणी व्यक्त की है। उनके मत में हमारे महोत्सव भी राष्ट्रीय विचारों के प्रवर्तक हैं। वे लिखते हैं :-

''हमारे प्रायः सभी त्यौहार राजकीय बोध देने वाले हैं। रामनवमी का महोत्सव हमें यही बताता है कि एक आर्य राजकुमार ने किस प्रकार निर्वासित होने पर भी अपने देश के स्वातंत्र्य को सुरक्षित रखा और लोगों को पारतंत्र्य के कीचड में सानने वाले एक परद्वीपस्थ राजा के साम्राज्य का नाश किस प्रकार किया। ''गणेशोत्सव'' गणेश के द्वारा स्वजातिकी संघटना, स्वदेश बन्धुओं के सांघिक बल की व द्धि करना, देवराष्ट्र को बार-बार संकट में डालने वाले विदेशी शत्रुओं को नष्ट करके अपने राष्ट्र का कल्याण करना आदि बोधों को प्रदान करने वाला है। ''क ष्णाष्टमी'' हमें यह बताती है कि जिस प्रकार हृतराष्ट्रों ने ध तराष्ट्रों से अपना हरा स्वराज्य प्राप्त किया। कंस जैसे जुल्मी स्वार्थी राजाओं का क ष्ण ने वध किया और गोकुलवासियों को उसके अतयाचारों से बचाया। इस प्रकार ये उत्सव हमें राष्ट्रीय बोध किस प्रकार देते हैं, यह स्पष्ट हो सकता है।'' (जीवन प्रकाश - विजयोत्सव)

पण्डित जी के द्वारा लिखे गए ग्रंथ सरल, सुबोध और स्पष्ट हैं। उनके प्रत्येक वाक्य में भाव भरे हुए हैं। वे अपने प्रतिपाद्य विषय को समझाकर लिखने की कला में दक्ष हैं। इस कारण उनके लेखों में अनेक स्थल पर पुनरुक्ति देखी जाती है।

पण्डित जी ने चारों वेदों की संहिता शुद्ध छापी है। वेदों के अर्थ के लिए सहायक के रूप में प्रत्येक देवता के मंत्र अलग-अलग छांटकर उनकी संहितायें बनाई हैं। उनके वेदभाष्य के रूप में वैदिक व्याख्यानों के चार संग्रह भी छपे हैं। अथर्ववेद और सामवेद का स्पष्टीकरण सहित अर्थ भी छापा है। पण्डित जी का वाङ्मय हिन्दी, मराठी, गुजराती, कन्नड और थोडा बहुत अंग्रेजी भाषाओं के माध्यम से भी छप चुका है।

उपनिषदों में ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय और श्वेताश्वतर इन नौ उपनिषदों पर टीकायें प्रकाशित हो चुकी हैं। रामायण और महाभारत भी सार्थ प्रकाशित हो चुके

हैं। गीता का ५० वर्ष तक अध्ययन करने के बाद ''पुरुषार्थ बोधिनी'' टीका लिखी है। संस्क त का प्रचार करने के लिए संस्क त सीखने वालों के लिए ''संस्क त पाठमाला'' के नाम से २४ भागों की एक माला लिखी और प्रकाशित की है। इसके अलावा योगाभ्यास, योगासन, सूर्यनमस्कार आदि विषयों पर भी सचित्र पुस्तकें लिखकर छापीं। उनके कतिपय उल्लेखनीय ग्रंथ इस प्रकार हैं :-

(१) अथर्ववेद का सुबोध अनुवाद :- दीर्घ जीवन, आरोग्य और शतायु प्राप्ति के उपायों पर इस ग्रंथ में प्रकाश डाला गया है। बुद्धिका संवर्धन, मनःशक्ति की व द्धि, पंच मुखी महादेव, पंचप्राण, यमदूत, ब्रह्मलोक प्राप्ति, अयोध्या का राम, मनुष्य शरीर में तैंतीस देव, अम तशक्ति, दुष्टपरिहार, न त्य हास्य, दुर्गति निवारण रोग निवारण आदि अनेकों विषयों का ऊहापोह इस ग्रंथ में पण्डित जी ने किया है। इस ग्रंथ के पांच भाग हैं।

(२) सामवेद :- वेदों में सोम शब्द बड़ा ही विवाद्य है। सोम वस्तुतः है क्या ? इस समस्या का समाधान अनेकों ने अनेकों तरह से किया है। पण्डित जी ने भी इस शब्द पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। सामवेद में सोम शब्द की बड़ी विस्त त विवेचना की गई है।

(३) पुरुषार्थ बोधिनी :- गीता वाङ्मय में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखने वाली पण्डित जी की यह टीका बहुत बुद्धिमत्तापूर्ण और उत्क ष्ट होने के साथ ही गीता के वास्तविक स्वरूप को प्रकट करने वाली है। अनेक टीकाकारों का यह मत है कि कर्मयोग की शिक्षा देने वाली गीता पूर्णतया एक अध्यात्म शास्त्र है, वह उपासक को जग से विमुख करके मोक्ष की तरफ प्रेरित करती है। पर पण्डित जी ने इस मत का खोखलापन सिद्ध करते हुए यह बताया कि इस संसार में व्यवहार करते हुए भी संन्यस्त मन पर कर्तव्य दक्षतासे मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। पण्डित जी की यह टीका एक स्वतंत्र टीका है और उसकी शैली अपनी ही है। जो उसे एक बार पढ लेता है, वह उसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करता ही है। करीब हजार प ष्ठों के इस ग्रंथ की पांच आव त्तियां प्रकाशित हो चुकी हैं।

(४) भगवद् गीता :- गीता के श्लोकों की सूची अकरादि क्रम से दी है।

(४) मंगलमूर्ति गणेश :- ''भूतजाति'' के वीरों को गणेश ने अग्रस्थान प्राप्त करवाया, इसी कारण गणेश को भी अग्र स्थान प्राप्त हुआ है। गणेश वस्तुतः एक प्रभावशाली संघटक हैं। इस पुस्तक में पुराण के आधार पर गणेश के विनायक, गुणेश और गणेश के रूपों में तीन अवतारों की कथा कही है। ये तीनों अवतार तरुणावस्था में ही विलीन हो गए, पर इतनी अल्पावस्था में भी इन क्रान्तिकारक विभूतियों ने जो अद्वितीय पराक्रम किया, वह सबके लिए सफूर्तिदायक है। इस संजीवक पुस्तक में यह बोध दिया गया है कि तरुण पीढी अपने राष्ट्र में संगठन किस प्रकार प्रकार करें और राष्ट्र में ऊर्जावस्था किस प्रकार लाई जाए। भूतान में वीरों को सम्मान का स्थान गणेश ने प्राप्त कराया।

(५) वाल्मीकि रामायण :- बाल, अयोध्या, सुन्दर अरण्य, किष्किन्धा, युद्ध और उत्तर काण्ड का अनुवाद और समालोचना लिखकर प्रकाशित की।

(६) वेदपरिचय :- पण्डित जी ने वेदाध्ययन की परीक्षाओं के लिए पाठ विधि तैयार की, वेदों की संहितायें तैयार कीं। सामवेद के अनेक गानों को भी प्रकाशित किया।

(७) वेद सुधा :- वैदिक परिस्थिति का परिचय कराने वाली पुस्तकों में वैदिक ऋषियों का महत्त्व, वैदिक काल की सेना व्यवस्था, वैदिक राज्यशासन, उस शासन के मंत्रियों की कर्त्तव्य दक्षता आदि व्याख्यानों में भारतीय संस्क ति की मीमांसा है। अथर्व वेद के १२वें काण्ड का प्रथम सूक्त ही ''वैदिक राष्ट्र गीत'' है। उसमें स्पष्ट लिखा है :-

''माता भूमिः पुत्रो हं प थिव्याः''। शासक अपने अन्दर मात भूमि को धारण करने वाले गुणों को धारण करके उन्हें बढावें। राष्ट्र भक्त की यह अभिलाषा है - ''जो हमसे द्वेष करता है उसका नाश हमारी मात भूमि करे।'' ''वैदिक राष्ट्रगीत'' के ४५ वें मंत्र में कहा है - ''अनेक भाषायें बोलने वाले और

अनेक धर्म के मानने वाले भी इस मात भूमि में एक घर में रहने वालों के समान परस्पर मेल-मिलाप से रहें। वेदों के अनुवाद के अन्त में सुभाषित सूची और उपमा सूचियों का देना पण्डित जी की अपनी विशेषता है।

इस प्रकार पण्डित जी के जीवन में शास्त्र और कला का अद्‌भुत सम्मिश्रण है। पण्डित जी के लेखों में व्यवहार और सिद्धान्त, दर्शन और सदाचार का समन्वय है। पण्डित जी के लेखों में प्रवाह है, इसका कारण है कि वे वाद-विवाद से हमेशा दूर ही रहते हैं। पण्डित जी के ४०६ ग्रंथों में महत्त्वपूर्ण पुस्तकें निम्न हैं :-

वेद संहितायें

१ ऋग्वेद
२. यजुर्वेद
३. सामवेद
४. अथर्ववेद
५. काण्व संहिता
६. तैत्तिरीय संहिता
७. मैत्रायणी संहिता
८. काठक संहिता
६. दैवत संहिता (३ भाग)

हिन्दी

१ ऋग्वेद का सुबोध भाष्य
२. यजुर्वेद का अनुवाद (कुछ ही अध्याय)
३. सामवेद का अनुवाद
४. अथर्व वेद का अनुवाद
५. गीता-पुरुषार्थ बोधिनी
६. ऋषियों के दर्शन
७. महाभारत
८. वाल्मीकि रामायण
६. उपनिषद् ग्रंथमाला
१०. गो ज्ञान कोश (२ भाग)
११. वेद परिचय (३ भाग)
१२. वैदिक व्याख्यान माला
१३. योग साधन ग्रंथमाला
१४. वैदिक स्वराज्य की महिमा
१५. इन्द्र शक्ति का विकास
१६. वैदिक अग्नि विद्या
१७. विश्व राज्य में देवताओं का कार्य

१८. वैदिक राष्ट्रगीत

मराठी

१ अथर्ववेदाचा सुबोध अनुवाद
२. सामवेदाचा सुबोध अनुवाद
३. गीता पुरुषार्थ बोधिनी
४. रामायण
५. आरोग्य साधनेचे ग्रंथ
६. मंगलमूर्ति गणेश
७. पौराणिक गोर्ष्टीचा उलगडा
८. वैदिक धर्म
६. आरोग्य खण्ड
१०. गीता खण्ड

गुजराती

१ अथर्ववेदनो सुबोध अनुवाद
२. उपनिषद् ग्रंथो
३. बालकोनी धर्मशिक्षा
४. यौगिक व्यायामना पुस्तको
५. प थ्वीपरनु अम त - गायनुं दूध
६. अक्षर विज्ञान
७. पुरुषसूक्त
८. वैदिक राष्ट्रगीत

अंग्रेजी

1. Purusharth Bodhini Gita
2. Sanskrit Self Teacher
3. Gandhi Readers

पं. मधुसूदन ओझा :-

विद्यावाचस्पति श्री मधुसूदन ओझा जी का जन्म बिहार प्रान्त में मुजफ्फरपुर जिले के ''गाढा'' नामक ग्राम में विक्रम संवत् १६२३ में श्रीक ष्णजन्माष्टमी के दिन रात्रि में १० बज कर ३० मिनट पर हुआ था। गाढा ग्राम सीतामढी रेलवे स्टेशन से ५ कोस की दूरी पर स्थित है। ता. २ सितम्बर सन् १८६६ ई. में जिस मैथिल ब्राह्मण-कुल में आपका जन्म हुआ, वह परम्परा से विद्वानों का कुल रहा है। आपके पूर्व भी इस कुल में अनेक ख्यातिप्राप्त विद्वान् हो चुके हैं। आपका बाल्यकाल स्वदेश में ही अपने पिता श्री वैद्यनाथ बोझा जी के पास व्यतीत हुआ। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा भी आपके पिताजी की देखरेख में हुई।

पं. वैद्यनाथ ओझा जी के बडे भाई पण्डित राजीवलोचन ओझा जी एक अच्छे विद्वान् थे और उस समय के जयपुर-राज्य के अधिपति महाराजा रामसिंह जी द्वारा पूर्ण सम्मानित हो कर उन्हीं के

आश्रय में रहा करते थे। उनके कोई सन्तान न थी। उन्होंने छोटे भाई के होनहार सुपुत्र श्री मधुसूदन ओझा जी को गोद ले लिया। आठ वर्ष की अवस्था में इनका यज्ञोपवीत संस्कार कर वे इन्हें अपने साथ जयपुर ले आये और यहीं अपनी देख-रेख में उच्चकोटि के विद्वानों के पास इनके पठन-पाठन की व्यवस्था की।

'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' इस लोकोक्ति के अनुसार पं. मधुसूदन जी ओझा अपने बाल्यकाल से ही बड़े कुशाग्रबुद्धि थे। पं. राजीवलोचन जी जब कभी महाराजा के पास जाते तो बालक मधुसूदन को भी अपने साथ ले जाया करते थे। कभी-कभी महाराजा श्री रामसिंह जी स्नेहपूर्वक बालक मधुसूदन से कोई प्रश्न कर देते तो ये शिष्टता और बुद्धिमत्ता से ऐसा उत्तर देते कि महाराजा चकित रह जाते और परम प्रसन्न होकर बालक की ओर वात्सल्यपूर्ण द ष्टि से देखते। महाराजा श्री रामसिंह जी अपने राज पण्डित श्री राजीवलोचन ओझा जी से कहा करते थे कि बालक मधुसूदन बड़ा होनहार विदित होता है।

अभी श्री मधुसूदन ओझा पन्द्रह वर्ष के ही थे कि दुर्दैववश इनके पोषक पिता श्री राजीवलोचन जी ओझा का अचानक देहान्त हो गया। इनके अध्ययन में यह बड़ा भारी विघ्न हुआ। इसको कथ ्चित् इन्होंने सहा भी, परन्तु दुर्दैव का कोप इतने से ही शान्त नहीं हुआ। कुछ समय बाद महाराजा रामसिंह जी का भी स्वर्गवास हो गया। अब क्या था, स्वर्गीय महाराजा रामसिंह जी की दी हुई जीविका का बहुत-सा अंश नये अधिकारियों ने वापस ले लिया, जितना शेष रहा वह कुटुम्ब-भरण के लिए पर्याप्त नहीं था। आखिर श्री मधुसूदन को अपने घर के लोगों के साथ जयपुर छोड़ना पड़ा और ये बिहार प्रान्त में स्थित अपने गाँव चले गये।

श्री मधुसूदन को विद्याध्ययन का व्यसन लग चुका था। अतः अपने देश में अपनी रुचि के अनुसार पठन-पाठन की सुव्यवस्था न देखकर इन्होंने काशी जाना चाहा, परन्तु घर के लोग इन्हें बाहर भेजने में राजी न थे। अपनी अभीप्सित वस्तु को प्राप्त करने के लिए द ढ़-निश्चय वाले मन को और ढलाव की ओर जाने वाले जल को कौन उलट सकता है ? विद्याव्यसनी श्री मधुसूदन ने घर वालों को समझा-बुझा कर अन्ततः अपने मन के अनुकूल कर ही लिया और उन्हें काशी जाने की अनुमति मिल गई।

काशी पहुँच कर ये दरभंगा-संस्क त-पाठशाला में प्रविष्ट हुए और वहाँ सर्व-शास्त्र-निष्णात जगत्-प्रसिद्ध विद्वान म. म. पं. शिवकुमार शास्त्री जी के चरणों में बैठकर उनसे विद्याध्ययन करने लगे। लगातार आठ-नौ वर्ष तक अपने गुरुवर श्री शिवकुमार जी की सेवा में रहे और अपने अद्भुत बुद्धिवैभव, प्रखर प्रतिभा और अनवरत अनन्यमनस्क कठोर परिश्रम से आपने व्याकरण, न्याय, मीमांसा, साहित्य, वेदान्त आदि समग्र शास्त्रों का गुरुमुख से केवल अध्ययन ही नहीं किया, अपितु उन पर पूर्ण अधिकार भी प्राप्त कर लिया।

काशी में अपना अध्ययन समाप्त कर श्री मधुसूदन जी प्रसंगवश बूँदी, कोटा, झालरापाटन, नीमच, रतलाम आदि राज्यों के अधिपतियों से मिले, जिन्होंने इनके वैदुष्य का पूर्ण सम्मान किया। जयपुर के महाराजा राम सिंह जी के बाद श्री माधव सिंह जी राजसिंहासन पर अभिषिक्त हो चुके थे। उनके राजत्वकाल में श्री हरिदास बाबू शिक्षा-विभाग के अध्यक्ष थे। ओझा जी के अप्रतिम वैदुष्य का डंका राजपूताना में प्रायः सब जगह गूँज रहा था। श्री मधुसूदन जी के पालक-पिता श्री राजीवलोचन ओझा जी पूर्ण सम्मान के साथ जयपुर के राज्यपण्डित रह चुके थे और भूतपूर्व महाराजा के अति विश्वास-पात्र भी थे, अतः श्री हरिदास बाबू ने श्री मधुसूदन जी पर जयपुर का प्रथम अधिकार समझ कर जयपुर राज्य की प्रतिष्ठा के लिए इन्हें आग्रहपूर्वक जयपुर बुला लिया।

जयपुर पहुँच कर आप आरम्भ में राजकीय महाराजा आर्ट्स कॉलेज में संस्क त विभाग के अध्यक्ष बने और कुछ काल तक संस्क त कॉलेज में भी आप वेदान्त के प्रधान पण्डित रहे। धीरे-धीरे श्री मधुसूदन जी का यश महाराजा के कानों तक भी पहुँच गया। गुणग्राही तो महाराजा थे ही, इनकी

अद्भुत प्रतिभा से आक ष्ट होकर उन्होंने इन्हें अपने आत्मीयजनों में स्थान दिया। इतना ही नहीं, कुछ काल के बाद अपने निजी पुस्तकालय (पोथी-खाना) का प्रबन्ध इनके हाथों में दे कर 'मौज मन्दिर' नाम से प्रख्यात धर्मसभा का अध्यक्ष भी इन्हें बना दिया। महाराजा माधवसिंह जी प्रतिदिन आपके साथ कुछ शास्त्रीय चर्चा अवश्य किया करते थे, जिसके कारण आपकी प्रतिभा का प्रभाव दिन-दिन उन पर बढ़ता ही गया। फलतः वे कोई भी धार्मिक कार्य श्री मधुसूदन जी की अनुमति के बिना नहीं करते थे। प्रत्येक यात्रा में महाराजा इन्हें अपने साथ रखते थे, यहाँ तक कि आखेट में भी पण्डित मधुसूदन जी उनके साथ होते थे। स्वयं पण्डित जी भी एक अच्छे घुड़सवार थे।

पण्डित मधुसूदन जी शास्त्रनिष्णात तो थे ही, शासन-नीति में भी पूर्ण प्रवीण थे। समय-समय पर महाराजा के साथ राजनीति पर भी आप का विचार-विनिमय हुआ करता था। थोड़े शब्दों में, पण्डित जी के राजकीय सम्मान के विषय में यही कहा जा सकता है कि वे महाराजा के क पा-पात्रों में थे और अन्त कतिपय सामन्तों के समान आदर पाये हुए राजसभा के नवरत्नों में गिने जाते थे।

सन् १९०२ में भारत-सम्राट् सप्तम एडवर्ड के राज्याभिषेक के समय जयपुर-राज्याधिपति महाराजा माधवसिंह जी की जो ऐतिहासिक विलायत-यात्रा हुई थी, उसका समस्त धार्मिक आयोजन पण्डित मधुसूदन जी के सत्परामर्शानुसार ही हुआ था और महाराजा इन्हें भी अपने साथ ले गये थे। वहाँ के अनेक संस्क त-विद्वान् आप से मिल कर बड़े प्रभावित हुए, अतः शीघ्र ही वहाँ आप की कीर्ति फैल गई। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में संस्क त के प्रोफेसर प्रसिद्धतम संस्क त के विद्वान् श्री मैक्डानल्ड, कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के संस्क त विद्द्वर श्री बैंडाल, इण्डिया आफिस के पुस्तकालयाध्यक्ष श्रीयुत टोनी महोदय और यूरोप-जगत् में विख्यात, संस्क त के प्रकाण्ड ज्ञाता श्रीयुत टॉमस महोदय आदि विद्वान् पण्डित जी से मिल कर बड़े प्रसन्न हुए और इनकी वेदसम्बन्धी वैज्ञानिक विवेचनाओं से विस्मित हुए। उन्हें यह पहले-पहल विदित हुआ कि वेद भी अत्युच्चकोटि के वैज्ञानिक ग्रन्थ हैं।

सम्राट् सप्तम एडवर्ड के अभिषेक के अवसर पर ओझा जी ने भी संस्क त पद्यों में उनका अभिनन्दन किया था और सम्राट् ने भी पण्डित जी के वैदुष्य से प्रसन्न हो उन्हें पदक सहित सम्मान-पत्र से सम्मानित किया था।

आपके गुरु, जगद्विख्यात, सर्व-शास्त्र-निष्णात महामहोपाध्याय पं. शिवकुमार शास्त्री जी ने आपसे गुरुदक्षिणा में यही माँगा था कि ''आज वेद का वास्तविक अर्थ अन्धकार से आव त हो रहा है, उसे प्रकाशित कर अपनी विद्या, बुद्धि और प्रतिभा का सदुपयोग करो। भगवदनुग्रह से तुम्हें वेदार्थ भासित होगा। तुमने गुरुमुख से वेद श्रवण कर लिया है, अब तुम्हारा वेदार्थ-प्रकाशन असाम्प्रदायिक (गुरु-परम्परा से अप्राप्त) नहीं माना जाएगा।''

जयपुर आकर पण्डित मधुसूदन जी अपने गुरु की आज्ञानुसार वेदाध्ययन में जुट गये। आप अस्वस्थ हो जाने पर भी अपना कार्य तन्मयता से करते ही रहते थे। कार्य-संलग्नता की दशा में आपको अपने शरीर की अस्वस्थता का अनुभव ही नहीं होता था। अपने शरीर, स्वास्थ्य, आराम, अर्थोपार्जन आदि की आपने कभी कोई परवाह नहीं की और आजीवन वेदानुसंधान का कार्य करते रहे। आपके जीवन के लगभग ५० वर्ष घोर तपस्या में ही बीते। आपने वेदार्थ-नीति को प्रकाशित करने के लिए समस्त मन्त्र संहिताएँ, समस्त ब्राह्मण ग्रन्थ, समस्त श्रौतसूत्र, समस्त पुराण और महाभारत, रामायण आदि आर्ष ग्रन्थ मथ डाले, जिसके फलस्वरूप वेद-रहस्य को उद्घाटन करने वाले सैकड़ों ग्रन्थों की आपने रचना की। आपने लगभग २८८ ग्रन्थों की रचना की। इनमें थोड़े से ग्रन्थों को छोड़कर शेष ग्रन्थ २०० से ४०० प ष्ठ तक हैं, कोई-कोई तो इससे भी अधिक विशाल हैं। आप चित्रकला में भी बड़े निपुण थे। आपके ग्रन्थों में छपे चित्र इसके प्रमाण हैं।

विद्यावाचस्पति जी के ग्रन्थों में से आज तक प्रायः ६० ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, शेष ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए यत्न चल रहा है। श्री मधुसूदन जी ओझा ७३ वर्ष की अवस्था में तीन दिन अस्वस्थ रहकर संवत् १९९६ की भाद्रपद शुक्ला पूर्णिमा को ब्रह्मलीन हो गए। आज वे अपने स्थूल शरीर से

भले ही हमारे बीच में नहीं हैं, परन्तु, अन्धकाराव त वेद-मार्ग को प्रकाशित करने वाले दीपस्तम्भसद श इनके ग्रन्थ-रत्न जब तक संसार में विद्यमान हैं, तब तक ये यशः काय रूप में हमारे मध्य विद्यमान हरेंगे और सदा हमें मार्ग दर्शन कराते रहेंगे।

पण्डित मधुसूदन ओझा वेद को नवीन तथा वैज्ञानिक द ष्टि से देखने वाले विद्वान् हैं। उन्होंने सैकड़ों ग्रन्थों का प्रणयन किया है। उनके अधिकांश ग्रन्थ अभी अप्रकाशित हैं। प्रकाशित ग्रन्थों का भी बहु प्रचार-प्रसार न होने से अभी पण्डित ओझा का अद्भुत व्यक्तित्व सामान्य जनों के समक्ष नहीं आ पाया है। उन द्वारा प्रणीत ग्रन्थ सम्पदा में विद्यार्थियों की रूचि बढ़े तथा वे उन ग्रन्थों में वर्णित ज्ञान से लाभान्वित हो सकें इसलिए पंडित ओझा के प्रकाशित ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण दिया जाना आवश्यक है।

पं. मधुसूदन ओझा की प्रकाशित ग्रन्थ सम्पदा का मुख्य रूप से चार भागों में वर्गीकरण किया जाता है - (१) ब्रह्म विज्ञान विभाग (२) यज्ञ विज्ञान विभाग, (३) पुराण समीक्षा विभाग (४) वेदाङ्ग समीक्षा विभाग।

उक्त चारों विभागों के अन्तर्गत श्री ओझा द्वारा प्रणीत तथा प्रकाशित कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का विवरण प्रस्तुत है :-

ब्रह्मविज्ञान विभाग

१. जगद्गुरुवैभवम् :-

इतिहास विषय का यह 'जगद्गुरुवैभवम्' एक सार निदर्शक ग्रन्थ कहा जा सकता है। इस ग्रन्थ में आज से १५००० वर्ष पहले के मानवजाति के इतिहास का वर्णन किया गया है।

बह्मा कौन थे, कब थे, कहाँ थे इत्यादि जिज्ञासा-परक विषयों का सविस्तार विवेचन करते हुए वैदिक आदि-ब्रह्मा का ऐतिहासिक और वैज्ञानिक दोनों प्रकार का वर्णन किया गया है। ध्रुव का स्थान नियत है अर्थात् अचल है परन्तु उस स्थान पर तारा बदलता रहता है और उसी से ऐतिहासिक समय का ठीक निश्चय होता है - आदि पर भी प्रकाश डाला गया है। प्रकरणान्तर्गत पुराणों की उत्पत्ति भी समझाई गई है। यह ग्रन्थ वस्तुतः प्राचीन ऐतिहासिक तथा भौगोलिक विषयों को जानने-समझने का आधारभूत ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ को समझने में पूज्य ओझा जी प्रणीत इन्द्रविजय नामक ग्रन्थ बहुत उपयोगी सिद्ध होता है। इस जगद्गुरुवैभवम् का सम्पादन पूज्य ओझा जी के सुपुत्र पं. प्रद्युम्न शर्मा ओझा ने किया एवं उन्होंने ही वि.सं. १९९६ में प्रकाशित करवाया। संस्क त भाषा में लिखे इस ग्रन्थ की भूमिका जयपुर राजकीय ज्योतिषयन्त्रालयाध्यक्ष ज्योतिर्विद् पं. केदारनाथ जी शर्मा साहित्य भूषण न हिन्दी भाषा में लिखी है। जगद्गुरुवैभवम् का यह संस्करण सामान्यतया अब उपलब्ध नहीं होता है। अतएव महामहोपाध्याय पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी के ज्येष्ठ पुत्र पं. देवीदत्त चतुर्वेदी जी द्वारा किये गये हिन्दी अनुवाद सहित यह ग्रन्थ राजस्थान पत्रिका, जयपुर द्वारा सन् १९९० में पुनः प्रकाशित किया गया है।

२. महर्षिकुलवैभवम् :-

विद्यावाचस्पति पं. मधुसूदन ओझा जी द्वारा प्रणीत महर्षि कुलवैभवम् नामक यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मुख्यतः ऋषि-तत्त्व का निरूपण करता है। इस ग्रन्थ में कश्यप, वशिष्ठ आदि जिन ऋषियों का विवेचन हुआ है, क्या वे ऋषि प्राण नाम से व्यवहृत हुए हैं अथवा तो वे शरीरधारी मनुष्य थे किंवा अन्य किसी अर्थ में भी उक्त नामों का प्रयोग होता था - आदि बातों का ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक स्पष्टीकरण हुआ है। यह ग्रन्थ दो बार प्रकाशित हुआ है एवं दोनों बार राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर द्वारा इसका प्रकाशन हुआ है।

सर्वप्रथम महर्षिकुलवैभवम् का प्रकाशन सन् १९५६ ई. में हुआ था। इसका सम्पादन म.म. पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी ने किया था एवं उनके द्वारा ही इस ग्रन्थ की संस्क त व्याख्या भी हुई है साथ ही पं. देवीदत्त चतुर्वेदी द्वारा हिन्दी टीका हुई है। यह ग्रन्थ संस्करण 'ऋषिशब्दस्य चतुष्टयी प्रव त्तिः असल्लक्षणा रोचना लक्षणा, द्रष्ट लक्षणा, वक्त लक्षणा चेति' इस पाठ से प्रारम्भ होता है।

दूसरी बार यह ग्रन्थ सन् १९६१ ई. में प्रकाशित हुआ। इसका सम्पादन पं. प्रद्युम्न शर्मा ओझा जी द्वारा किया गया। यह ग्रन्थ संस्करण 'कश्यपात् सकलं जगदित्याहुः' पाठ से प्रारम्भ होता है। ग्रन्थ के विषयों को समझाने की द ष्टि से पं. प्रद्युम्न शर्मा ने ग्रन्थ का हिन्दी सारांश भी लिखा है।

३. स्वर्गसन्देश :-

स्वर्गसन्देश नामक ग्रन्थ 'प्रजापतिक ता चित्याग्निरूपप थ्वीस ष्टिः' नामक प्रकरण से आरम्भ होता है एवं 'देवस्थानस्यासुरैर्विजनत्वात् तुरुष्कस्थानत्वम्' नामक प्रकरण पर सम्पूर्ण होता है। कुल २४ प्रकरणों के इस ग्रन्थ में १-भौमस्वर्ग, २-दिव्यस्वर्ग, ३-पित स्वर्ग और ४-देव स्वर्ग इन चार प्रकार के स्वर्गों का स्पष्ट तथा शास्त्रीय प्रमाणों द्वारा विवेचन हुआ है। इसका सम्पादन पूज्य ओझा जी के पुत्र स्व. पं. प्रद्युम्न शर्मा ओझा जी द्वारा किया गया है।

४. इन्द्रविजय :-

इन्द्रविजय ग्रन्थ इतिहास-विषय का ग्रन्थ है। ओझा जी की इतिहास-ग्रन्थ रचना दो प्रकार की है - एक स्वतन्त्र, दूसरी विज्ञान के प्रसंग से। विज्ञान-प्रसंग के जो इतिहास ग्रन्थ हैं, उनको 'विज्ञानेतिव त्तवादः' नामक शीर्षक के अन्तर्गत रखा गया है। इस शीर्षक के अन्तर्गत क्योंकि पाँच ग्रन्थ रखे गये हैं अतएव इस शीर्षक को 'विज्ञानेतिव त्तपंचिका' भी कहा गया है। इन्द्रविजय का ही दूसरा नाम 'भारतवर्षीयार्योपाख्यानम्' भी है।

इन्द्रविजय में १-भारतपरिचयः (भौगोलिक रहस्यम्), २-आर्यदासीयः (दस्यूपद्रवाभिज्ञानम्), ३-विज्ञानभवनम् (सूर्य्यसदनाभिज्ञानम्), ४-दस्युनिग्रहः (दस्युसंहारयुद्धम्), ५-विजयाभिनन्दनम् (युद्धशान्तिमहोत्सवः) ये पाँच प्रकरण दिये गये हैं, जिन्हें ग्रन्थ में 'प्रक्रमः' कहा गया है। इनमें फिर अनेक प्रसंग हैं। भौम, दिव्य, शरीर इन त्रैलोक्यों का विवेचन, भारतवर्ष की सीमा, नदी, पर्वतादिकों के प्राचीन नाम और स्थान भी बतलाये गये हैं। लंकाद्वीप, मलयद्वीप का लंका का एक अंश होना और सिंहलद्वीप का लंका न होना - इत्यादि बातें अनेक प्रमाणों से सिद्ध की गई हैं। आर्य बाहर से आये थे - इस कल्पना को भी युक्ति-युक्त प्रमाणों से निर्मूल सिद्ध किया गया है। देवयुगीन आर्यों और दस्युओं के द्वादश महासंग्रामों का भी वर्णन है और अनेक प्रकार के दिव्य शस्त्रों तथा औषधियों का विज्ञान बतलाया गया है। इन्द्रविजय वैदिक इतिहास और भूगोल का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विवेचन करने वाला ग्रन्थ है।

यह ग्रन्थ दो बार प्रकाशित हो चुका है। इन्द्रविजय की प्रथमाव त्ति सन् १९३० ई. में हुई। इसका सम्पादन पं. आद्यादत्त जी ठाकुर ने किया। द्वितीयाव त्ति वि.सं. २००९ में हुई। इसका सम्पादन पं. प्रद्युम्न शर्मा ओझा ने किया था। इस द्वितीयाव त्ति की भूमिका म.म. पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी ने हिन्दी भाषा में लिखी है। इसी ग्रन्थ में प ष्ठ संख्या ३७ पर हिरण्यगर्भ नामक एक रंगीन चित्र भी दिया गया है।

द्वितीयाव त्ति में कुछ पाठ और भी जोड़ा गया है। इससे ऐसा लगता है कि प्रथमाव त्ति में कुछ पाठ रह गया होगा, जिसे पं. प्रद्युम्न ओझा ने द्वितीयाव त्ति में जोड़कर उसकी पूर्ति कर दी है। उदाहरण के लिए देखें कि पं. आद्यादत्त ठाकुर द्वारा सम्पादित इन्द्रविजय की प्रथमाव त्ति की प ष्ठ संख्या ३० पर 'हिरण्यगर्भेणेन्द्राय हविर्विधानप्रत्याख्यानम्' नामक प्रकरण के अन्तर्गत आठ (८) श्लोक दिये गये हैं जबकि पं. प्रद्युम्न ओझा द्वारा सम्पादित इन्द्रविजय की द्वितीयाव त्ति के इसी प्रकरण में १५ श्लोक छपे हैं, देखें प ष्ठ संख्या ३५-३६।

५. दशवादरहस्यम् :-

वैदिक विज्ञान का अंगभूत यह दशवादरहस्य ग्रन्थ ओझा जी के ग्रन्थों में से एक संक्षिप्त किन्तु दार्शनिक विचार का ग्रन्थ है। वैदिक काल के देवयुग में जो स ष्टि-प्रक्रिया से सम्बद्ध दार्शनिक मत प्रचलित थे, उनका इस ग्रन्थ में दिग्दर्शन कराया गया है। वि.सं. १९९८, ई. सन् १९४२ में इस ग्रन्थ की प्रथमाव त्ति हुई। वि.सं. २००८ में इसकी द्वितीयाव त्ति हुई, जिसका कि सम्पादन एवं प्रकाशन श्री पद्मलोचन शर्मा ने किया।

६. सदसद्वाद :-

इस ग्रन्थ में सत्-असत् और सदसत् इन तीनों तत्त्वों का स ष्टि के मूलकारण रूप से वैज्ञानिक विवेचन किया गया है। १-प्रत्ययाद्वैतविमर्श, २-प्रक त्यद्वैतविमर्श, ३-तादात्म्यवादविमर्श, ४-अभिकार्य्यविमर्श, ५-आत्मगुणवादविमर्श, ६-सामंजस्यविमर्श, ७-अव्यक्तविमर्श नामक इन सात प्रकरणों वाले इस ग्रन्थ में प्रसंगवश जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मोह, मूर्च्छा, म त्यु आदि जीवात्मा की अवस्थाओं के वर्णन हैं। इस ग्रन्थ का प्रकाशन सन् १९२६ ई. में हुआ एवं सम्पादन पं. आद्यादत्त जी ठाकुर ने किया।

७. रजोवाद :-

रजोवाद में रजोगुण से ही स ष्टि हुई है - इस पर विचार किया गया है। सम्पूर्ण विश्व का मूल, प्रक ति का रजोभाव ही है। विश्व स ष्टि एक प्रकार का व्यापार है, व्यापार क्रिया है; इसलिए स ष्टि के मूल में प्रक ति का ऐसा गुण होना चाहिए जो क्रियाशील हो एवं क्रियाशीलता केवल रजोगुण में है। ऐसी दशा में रजोगुण को (प्रक ति से सम्बन्ध रखने वाले क्रिया-भाव को) ही स ष्टि का मूल कारण कहेंगे। विश्वस ट् सर्ग, भूत-सर्ग आदि के अन्तर्गत ५७ विभिन्न विषयों का विवेचन करने वाले इस ग्रन्थ का प्रकाशन सन् १९३४ ई. में हिन्दू विश्वविद्यालय नेपालराज्य संस्क त-ग्रन्थमाला के तहत हुआ था और इसका सम्पादन डॉ. वासुदेवशरण जी अग्रवाल ने किया। डॉ. अग्रवाल जी द्वारा अंग्रेजी में लिखी भूमिका भी बहुत महत्त्वपूर्ण है।

८. व्योमवाद :-

इस ग्रन्थ में मुख्यतः आकाश ही स ष्टि का प्रभव, प्रतिष्ठा और प्रलयस्थान है अर्थात् शब्दतन्मात्रामय आकाश ही स ष्टि का मूल है, आकाश ही सम्पूर्ण भूतों का आवपन है। कारण सूक्ष्म होता है, कार्य स्थूल होता है, स ष्टि पंचभूतों से बनी है, उनमें आकाश ही सूक्ष्मतम है अतः आकाश ही स ष्टि का कारण होना चाहिए - आदि अनेक विषयों पर विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ के १-मूलकल्प, २-अम तकल्प, ३-अपांकल्प, ४-ज्योतिःकल्प इन चार कल्पों के अन्तर्गत ११ विषयों का वर्णन है। व्योमवाद का प्रथम बार प्रकाशन वि. सम्वत् २००८ में हुआ। इसका सम्पादन पं. पद्मलोचन शर्मा जी ने किया एवं पं. प्रद्युम्न शर्मा ओझा जी ने हिन्दी में भूमिका लिखी है।

यह गोदावरी आर्यकन्या-शिक्षण समिति ब्यावर (राजस्थान) के निदेशक पं. अनन्त शर्मा जी द्वारा किये गए टिप्पणानुवाद सहित यह ग्रन्थ पण्डित मधुसूदन ओझा शोधप्रकोष्ठ, संस्क त विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर द्वारा पुनः प्रकाशित हुआ है तथा इसका सम्पादन डॉ० दयानन्द भार्गव, आचार्य एवं अध्यक्ष संस्क त विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर ने किया है।

९. अपरवाद :-

अपरवाद में काल, स्वभाव, नियति, इच्छा, भूत, योनि और पुरुष-इन सात तत्त्वों के पारस्परिक संयोग से विश्व की उत्पत्ति का समर्थन करते हुए विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ में १-लोकायतवादाधिकरणम्, २-परिणामवादाधिकरणम्, ३-यद च्छावादाधिकरणम्, ४-नियतिवादाधिकरणम्, ५-प्रक तिवादाधिकरणम् ये पाँच प्रकरण हैं। इस ग्रन्थ का प्रथम बार प्रकाशन वि. सम्वत् २००८ में हुआ एवं सम्पादन तथा प्रकाशन श्री पद्मलोचन ओझा जी ने किया।

गोदावरी आर्यकन्या-शिक्षण समिति, ब्यावर (राजस्थान) के निदेशक पं. अनन्त शर्मा जी द्वारा किये गए टिप्पणानुवाद सहित यह ग्रन्थ पण्डित मधुसूदन ओझा शोध प्रकोष्ठ, संस्क त विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर द्वारा अब पुनः प्रकाशित हुआ है, इसका सम्पादन डॉ. दयानन्द भार्गव, आचार्य एवं अध्यक्ष संस्क त विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर ने किया है।

१०. आवरणवाद :-

इस ग्रन्थ में मुख्यतः वय, वयुन और वयोनाध इन तीन तत्त्वों का विवेचन करते हुए इनसे स ष्टि की उत्पत्ति बतलाई गई है। प्राचीनों में से कुछ ने आवरण को ही स ष्टि का मूल माना है। कार्य का बाह्य रूप ही उसके कारण का परिचायक माना गया है। वस्तु का बाह्य रूप अर्थरूप ही है। यह अर्थभाव एक प्रकार का आवरण है। इसी आवरण को वैदिक परिभाषा में 'वयुन' कहा गया है। सम्पूर्ण विश्व एक महावयुन है एवं इसके गर्भ में अणु-महान् रूप से अनन्त वयुन प्रतिष्ठित हैं। 'सर्वमिदं वयुनम्' इस सिद्धान्त के अनुसार सब कुछ वयुन ही वयुन है। इस वयुन में वय-वयोनाध ये पर्व नित्य प्रतिष्ठित हैं एवं इनका प्राण तथा छन्द से समन्वय करते हुए प्राण को वय तथा वयोनाध को छन्द भी कहा गया है। आवरणवाद का प्रथम प्रकाशन वि. सम्वत् २००८ में हुआ। इसका सम्पादन एवं प्रकाशन पं. पद्मलोचन ओझा ने किया।

गोदावरी आर्यकन्या-शिक्षणसमिति, ब्यावर (राजस्थान) के निदेशक पं. अनन्त शर्मा द्वारा किये गए टिप्पणानुवाद सहित यह ग्रन्थ पण्डित मधुसूदन ओझा शोध प्रकोष्ठ, संस्क त विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर द्वारा दिसम्बर, सन् १६६३ ई. को पुनः प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रधान सम्पादक डॉ. गणेशीलाल सुथार एवं सम्पादक डॉ. दयानन्द भार्गव हैं।

११. अम्भोवाद :-

स ष्टि का मूल कारण जल तत्त्व है अर्थात् स ष्टि का निर्माण अप्तत्त्व से ही हुआ है। 'अम्भः, मरीचिः, मरः, आपः, श्रद्धा' आदि भेद से अप्तत्त्व के अनेक भेद हैं। इस अम्भोवाद ग्रन्थ में जल तत्त्व को जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का कारण बताकर उसकी मूल-कारणता सिद्ध की गई है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन वि.सं. २००८ में हुआ एवं सम्पादन पं. पद्मलोचन ओझा ने किया।

१२. अम तम त्युवाद :-

नित्य-अनित्य भावद्वयी से सम्बन्ध रखने वाला वाद ही 'अम त-म त्युवाद है। कार्यरूप विश्व में दो भाव नित्य हम देखते हैं। आप देखेंगे कि प्रत्येक पदार्थ में क्षण-क्षण परिवर्तन हो रहा है। जो पदार्थ (वस्तु) पूर्व क्षण में था, उत्तरक्षण में उसका सर्वथा अभाव है। उक्त क्षणभाव के साथ-साथ ही एक अक्षणभाव भी (पदार्थों में) हमें उपलब्ध हो रहा है। इसी अक्षणभाव के कारण हमें वस्तुओं की उपलब्धि होती रहती है। अगर क्षणभाव का ही साम्राज्य होता तो हमें कभी उनकी उपलब्धि न होती। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक पदार्थ बदलता भी है एवं प्रत्येक पदार्थ 'वही है' की मर्यादा से भी युक्त है। रामगोपाल नामक मनुष्य प्रतिक्षण बदलता हुआ बालक से व द्ध हो गया, यह तो हुआ क्षण भाव एवं बालक से व द्ध होने पर भी कहलाया मनुष्य रामगोपाल ही, यही है अक्षणभाव।

जब कार्यरूप विश्व में दो भाव हैं तो कारण में भी अवश्य ही दो भावों का भान स्वीकार करना पड़ेगा। कार्य में रहने वाले क्षणभाव का वही मूलकारण 'म त्यु' कहलाता है एवं कार्यगत अक्षणभाव का वही मूल 'अम त' कहलाता है। इन्हीं सब का विवेचन करने वाला यह ग्रन्थ अभी अप्रकाशित है। गोदावरी आर्यकन्या शिक्षण समिति, ब्यावर (राजस्थान) के निदेशक पं. अनन्त शर्मा ने इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के सम्पादन एवं अनुवाद का कार्य अपने हाथ में ले रखा है। आशा है कि यह ग्रन्थ शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

१३. अहोरात्रवाद :-

अहः और रात्रि (दिन और रात) ही स ष्टि के मूल कारण हैं। स ष्टि के प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप तेज और स्नेह नामक दो तत्त्वों का सम्मिश्रण मात्र है। शुष्क तत्त्व तेज है, आर्द्रतत्त्व स्नेह है। तेज अन्नाद है, स्नेह अन्न है। अन्नाद अग्नि है, अन्न सोम है। दोनों ही समष्टि ही यज्ञ है एवं यज्ञ ही विश्व का मूल कारण है, जैसा कि '**सहयज्ञाः प्रजाः स ष्ट्वा**' सिद्धान्त से भी स्पष्ट है।

इस ग्रन्थ में प्रकाश (अहः) और तम (रात्रि) इन दोनों तत्त्वों के ज्ञान, अज्ञान आदि १० भेदों का और उनसे स ष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। प्रसंगात् सूर्य एवं प थ्वी के क्रमशः स्थिरत्व, चलत्व का भी वेदानुकूल विवेचन किया गया है और मूलात्मा, हंसात्मा, शिवात्मा इन तीन भेदों में विभक्त तीनों आत्माओं का सुविशद निरूपण है। १२ प्रमुख प्रकरणों (अधिकारों) के अन्तर्गत कुल ७२० श्लोकों वाले इस ग्रन्थ का प्रकाशन सन् १६२६ ई. में लखनऊ में हुआ एवं सम्पादन पं. आद्यादत्त जी ठाकुर ने किया।

१४. संशयतदुच्छेदवाद :-

यह ग्रन्थ तीन काण्डों में विभक्त है। इसमें से प्रथम काण्ड 'विज्ञानोपक्रमाधिकार' नाम का है। द्वितीय काण्ड 'संशयधिकार' नामक मध्यम काण्ड है एवं त तीय काण्ड 'संशयोच्छेदाधिकार' नामक उत्तम काण्ड है। इन तीनों काण्डों के अन्तर्गत १० पर्व हैं जिन्हें उपनिषदें भी कहा गया है। इन १० उपनिषदों के १-मूल, २-क ष्ण, ३-पूर्ण, ४-प्रत्यय, ५-पुरुष, ६-यज्ञ, ७-संशय, ८-मिथ्या, ६. विशिष्ट, १०-ईश्वर ये नाम रखे हैं।

संशयतदुच्छेदवाद में स ष्टि के विषय में जितने मतभेद हैं - उनका निरूपण करके निराकरण किया गया है। आभु-अभ्व, अम त-म त्यु, ईश्वर, जीव, आत्मा, उपासना, मोक्ष आदि अनेक दुरूह विषयों का निरूपण करते हुए वैज्ञानिक द ष्टि से उत्तर दिया गया है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन सन् १६२६ ई. में हुआ एवं सम्पादन पं. आद्यादत्त जी ठाकुर ने किया।

पूज्य ओझा जी के वेद-विज्ञान को आधार बनाकर विपुल साहित्य का निर्माण करने वाले, ओझा जी के प्रधान शिष्य वेदवाचस्पति पं. मोतीलाल जी शास्त्री द्वारा इस ग्रन्थ के तीनों काण्डों का हिन्दी विज्ञानभाष्य लिखा गया है। इनमें से प्रथम काण्ड का हिन्दीविज्ञानभाष्य मूल सहित राजस्थान पत्रिका प्रकाशन के अन्तर्गत सन् १६६३ ई. में प्रकाशित हो गया है। शेष दो अन्य काण्डों का हिन्दीविज्ञानभाष्य भी शीघ्र प्रकाशित होने की सम्भावना है।

१५. ब्रह्मसिद्धान्त (सिद्धान्तवाद) :-

नासदीयसूक्त को आधार बनाकर इस ग्रन्थ की रचना की गई है। इस ग्रन्थ को सिद्धान्तवाद शीर्षक से भी कहा गया है। ब्रह्मसिद्धान्त में दशविध दर्शनवादों को निरस्त करके अग्नीषोमात्मक ब्रह्मवाद की ब्रह्मा द्वारा स्थापना की गई - यह बात भी उल्लिखित है। ब्रह्म का तथा माया का व्यावहारिक रूप, नित्यब्रह्म के साथ माया-बल द्वारा होने वाले विभिन्न सम्बन्ध और उन सम्बन्धों से होने वाले जगत् के पदार्थों का निर्माण आदि बातें भी स्पष्ट की गई हैं। इस ग्रंथ का प्रथम प्रकाशन सन् १६६१ में हिन्दू विश्वविद्यालय नेपाल राज्य संस्क त माला के अन्तर्गत हुआ। इसके संपादक डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल थे। ग्रन्थ की भूमिका और सारांश म. म. पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी ने लिखा है।

राजस्थान-पत्रिका प्रकाशन के अन्तर्गत सन् १६६० ई. में यह ग्रन्थ पं. देवीदत्त जी चतुर्वेदी के हिन्दी-अनुवाद सहित प्रकाशित हुआ। राजस्थान-पत्रिका प्रकाशन के अन्तर्गत ही सन् १६६२ ई. में इसी ग्रन्थ का श्री हरिलाल जी ठाकोर द्वारा किया गया हिन्दी अनुवाद मात्र (बिना मूलपाठ के) प्रकाशित किया गया है।

गीताहृदयम् (भगवद्गीतोपनिषद्-विज्ञानभाष्यम्) -

१६. प्रथमं रहस्यकाण्डम् :-

इस ग्रन्थ में गीता के नामरहस्य, शास्त्ररहस्य और विषय रहस्य इन तीन प्रमुख प्रकरणों एवं इनके उपप्रकरणों का वैज्ञानिक विवेचन किया गया है। भगवद्, गीता और उपनिषद् इन तीनों शब्दों की विशद व्याख्या भी की गई है। गीता को उपनिषद् क्यों कहा जाता है, इस पर भी प्रकाश डाला गया है। गीता विज्ञान-शास्त्र है - इसका भी इस ग्रन्थ में उपपादन किया गया है। आत्मा क्या है ? आनन्दमय आत्मा में शोक क्यों होता है ? जीव ब्रह्मरूप कैसे हो जाता है ? इन बातों का वैज्ञानिक विवेचन करते हुए गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय बुद्धियोग है, इसको बतलाया गया है। बालिद्वीप में जो ७० श्लोकों की गीता मिली है उसका पाठ प्रदर्शन और उस पर समालोचना की गई है वैशेषिक, सांख्य और वेदान्त इत्यादि अनेक विषयों का विवेचन तथा प्रतिपादन भी किया गया है। म.म. पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी ने 'गीता आचार्य काण्ड (त तीय काण्ड) की भूमिका में ओझा जी प्रणीत गीता-ग्रन्थों पर हिन्दी भाषा में विस्तार से प्रकाश डाला है। अतएव वह बहुत ही उपयोगी है। इस प्रथम रहस्य काण्ड का प्रकाशन वि. सम्वत् १९९३ में हुआ एवं इसका सम्पादन म. म. पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी ने किया। इसी ग्रन्थ के आधार पर ओझा जी के प्रधान शिष्य पं. मोतीलाल शास्त्री जी ने विषयानुसार कुछ लघु-ग्रन्थ भी लिखे हैं जिनका कि प्रकाशन राजस्थान-पत्रिका प्रकाशन के अन्तर्गत हो चुका है।

१७. द्वितीयं मूलकाण्डम् (शीर्षककाण्डापर पर्यायम्) :-

द्वितीय मूलकाण्ड में विषय-प्रवेश के लिए प्रारम्भ में संस्कार शब्द का विवेचन है। प्रथमकाण्डोक्त बुद्धियोग को स्वरूप-विशेषता के साथ पुनः दिखाया गया है और बुद्धियोग के चारों लक्षण गीता में कहाँ-कहाँ आये हैं - इस पर संक्षिप्त संकेत है। राजर्षिविद्या, सिद्धविद्या, राजविद्या और आर्षविद्या तथा इनके ही नामान्तर वैराग्ययोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्म्मयोग - इन चारों योगों (विद्याओं) का संकेत कर भगवान् की किस विद्या पर विशेष प्रीति है यह सिद्ध किया गया है। किस-किस विद्या में कितने उपदेश हैं और किन-किन उपनिषदों में कितने-कितने श्लोक हैं - इसकी तालिका भी दी गई है। म. म. पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी ने त तीय गीता-आचार्य काण्ड में अपनी भूमिका में इस ग्रन्थ के विषयों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। यह ग्रन्थ वि. सम्वत् १९९५ में प्रकाशित हुआ एवं सम्पादन म. म. पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी ने किया।

इस ग्रन्थ के 'ऐतिहासिकाः श्लोकाः' एवं 'चातुर्विद्योपक्रमः' नामक विषयों पर तथा राजर्षिविद्या नामक प्रकरण के आठ उपनिषदों में से प्रथम तीन उपनिषदों पर वेदवाचस्पति पं. मोतीलाल शास्त्री जी के हिन्दी विज्ञान भाष्य राजस्थान पत्रिका प्रकाशन योजना के अन्तर्गत प्रकाशित हो चुके हैं।

१८. त तीयं आचार्यकाण्डम् :-

इस ग्रन्थ में गीता के आचार्य भगवान् क ष्ण का तात्त्विक निरूपण किया गया है। इस काण्ड के उपक्रम में तीन प्रकार के क ष्ण बतलाये गये हैं। द्वितीय प्रकरण में मानुषावतार क ष्ण के कुछ नाम और अनेक अर्थ देते हुए क ष्ण के स्थान तथा वंशानुक्रम को बताया गया है। आगे भगवान् क ष्ण में पाँच प्रकार के महापुरुष लक्षण बतला कर उनमें चार प्रकार का जगद्गुरुत्व सिद्ध किया गया है। ६ क ष्ण भेदों का निरूपण करते हुए निर्गुण-गुणातीत को क ष्ण क्यों कहा जाता है ? - इसकी अद्भुत उपपत्ति की गई है तथा क ष्ण में 'अच्युतत्व' - भगवत्त्व का समन्वय दिखाते हुए प्रत्येक आत्मा की १६ कलाओं का निरूपण है। ईश्वर और जीव के अंशांशिभाव की पाँच प्रकार से उपपत्ति दिखाई गई है और पाँचों में उपनिषदों के प्रमाण दिये गये हैं। तीन प्रकार से जीवों में दंश, मशक, क मि आदि अस्थिरहित अगतिक जीवों का स्वरूप संक्षेप से दिखाकर सांसारिक जीवों का निरूपण किया गया है। भीष्म, व्यास और नारद आदि क ष्ण में महान् लक्षणों को देखकर उन्हें परमात्मा कहते थे - इस विषय का भी प्रतिपादन किया गया है। परमेष्ठिमण्डलाधिष्ठाता दिव्य विष्णु और मानुषावतार भगवान्

क ष्ण की पूर्ण समानता है यह बताकर विष्णु और क ष्ण का क ष्णवर्ण क्यों है - इसका रहस्य बतलाया गया है।

इस काण्ड का म. म. पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी ने प्रारम्भ में हिन्दी में भूमिका लिखकर एक तरह से इस ग्रन्थ का पूरा विवरण दे दिया है, जिससे यह आचार्यकाण्ड परम उपयोगी हो गया है। इस आचार्यकाण्ड का प्रकाशन वि. सम्वत् २००३ में पूज्य ओझा जी के सुपुत्र पं. प्रद्युम्नकुमार शर्मा ओझा जी ने करवाया एवं सम्पादन म. म. पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी ने किया।

इसी आचार्यकाण्ड के आधार पर पूज्य ओझा जी के प्रधान शिष्य पं. मोतीलाल शास्त्री जी ने विभिन्न क ष्ण-तत्त्वों पर आठ लघु भाष्य ग्रन्थ लिखे हैं, जिनके कि नाम इस प्रकार से हैं १-सत्यक ष्ण रहस्य, २-प्रतिष्ठाक ष्णरहस्य, ३-ज्योतिक ष्णरहस्य, ४-ईश्वरक ष्णरहस्य, ५-परमेष्ठीक ष्णरहस्य, ६-चाक्षुषक ष्णरहस्य, ७-वैहायसक ष्ण रहस्य और ८-मानुषोत्तमक ष्णरहस्य। ये आठों ही ग्रन्थ राजस्थान-पत्रिका प्रकाशन योजना के अन्तर्गत प्रकाशित हो चुके हैं।

१६. चतुर्थ हृदयकाण्डम् :-

यह ग्रन्थ अप्रकाशित एवं अनुपलब्ध है। इस ग्रन्थ की जानकारी देते हुए पूज्य ओझा जी के सुपुत्र पं. प्रद्युम्न ओझा जी लिखते हैं कि ''गीता के २४ उपनिषद् और १६० उपदेश जो द्वितीय मूलकाण्ड (शीर्षक काण्ड) में बताये हैं - उन्हीं को (विस्तार से) इस चतुर्थ हृदय काण्ड में लिखना प्रारम्भ किया गया था, परन्तु उपरोक्त २४ उपनिषदों में से एक उपनिषद् और उसमें जितने उपदेश हैं वे तो पूर्ण हो चुके हैं, कुछ और भी दिया है, इसके अतिरिक्त अन्त में 'सत्यक ष्णरहस्य' पूरा दिया गया है, जिसमें सत्यक ष्णरहस्य की पूरी व्याख्या बहुत उत्तम प्रकार से दी हुई है।

त तीय आचार्य-काण्ड की हिन्दी भूमिका में चतुर्थ हृदय-काण्ड के लिए म. म. पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी ने लिखा है कि ''श्री गुरु जी का विचार था कि गीता के १६० उपदेशों पर एक-एक स्वतन्त्र निबन्ध लिखा जाय, जिससे कि उन उपदेशों का विशद अभिप्राय वर्तमान युग की जनता के लिए सुगम हो जाय। आपने (गुरुवर ने) इसका प्रारम्भ भी किया। पहली राजर्षिविद्या के प्रथम उपनिषद् में ७ उपदेश हैं। उन सातों का अर्थात् २४ उपनिषदों में से एक उपनिषद् का विशद व्याख्यान तो आपने (गुरुवर ने) लिख दिया और भी लिख ही रहे थे बस, इसी समय कराल-काल ने हमारे दुर्दैववश उन्हें हम से छीन लिया। वह काण्ड जो बना वह पाठकों को शीघ्र अर्पित किया जाएगा। अब उसकी पूर्ति होना किसी प्रकार सम्भव नहीं, जब तक कि भगवदिच्छा से उनकी विभूति के रूप में वैसा ही प्रतिभाशाली विद्वान् पुनः जन्म न ले। न जाने कितनी शताब्दियों तक इस पूर्ति की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।

जबकि पं. नवलकिशोर शर्मा कांकर जी ने पूज्य ओझा जी के हीरक जयन्ती के अवसर पर प्रकाशित संस्क त-रत्नाकर के वेदाङ्क में ओझा जी की क तियों का परिचय देते हुए इस चतुर्थ हृदयकाण्ड के लिए लिखा है कि ''अथ चतुर्थे हृदयकाण्डे गीताप्रतिपादितानां षष्टिशतोपदेशानां विशदं निर्वचनं व्यरचि ग्रन्थक ता। ग्रन्थस्य मुद्रणं श्रीजयपुरपुरन्दराणामाज्ञया प्रसिद्धे प्रयागीये मुद्रणयन्त्रालये प्रक्रान्तमिति त्वरितमेवायं ग्रन्थस्तत्र भवतां पाठकमहाभागानां द ष्टिपथमेष्यति''।

अर्थात -

चतुर्थ हृदयकाण्ड में गीताप्रतिपादित एक सौ साठ (१६०) उपदेशों का विशद विवेचन ग्रन्थकार ने किया है। इस ग्रन्थ का मुद्रण श्री जयपुर-नरेश की आज्ञा से प्रसिद्ध प्रयाग के मुद्रणयन्त्रालय में प्रारम्भ हो गया है, अतएव यह ग्रन्थ माननीय पाठकों को जल्दी ही देखने को मिलेगा।

२०. ब्रह्मसूत्रहृदयम् (शारीरकविज्ञानम्-भागद्वयी) :-

ओझा जी ने इस ग्रन्थ में ब्रह्मसूत्रों पर आदि शंकराचार्य, श्री रामानुज, श्री बल्लभादि प्रसिद्ध आचार्यों के भाष्यों का संक्षिप्त विवेचन करते हुए वैज्ञानिक आधार पर अपने सिद्धान्त का भी निरूपण

किया है। यह ग्रन्थ दो भागों में प्रकाशित हुआ है एवं इसके चार (४) अध्याय हैं। प्रथम भाग में प्रथम एवं द्वितीय अध्याय एवं द्वितीय भाग में त तीय एवं चतुर्थ अध्याय का विवेचन हुआ है। प्रथम भाग के प्रथम तथा द्वितीय अध्याय में क्रमशः १३४ एवं १५७ सूत्र हैं। द्वितीय भाग के त तीय एवं चतुर्थ अध्याय में क्रमशः १८६ एवं ७८ सूत्र हैं। इस प्रकार दोनों भागों में सम्भूय ५५५ सूत्र हैं। प्रथम भाग का प्रकाशन वि. स. १६६७ में पं. प्रद्युम्न शर्मा ओझा जी ने करवाया एवं सम्पादन पं. आद्यादत्त जी ठाकुर ने किया। द्वितीय भाग का प्रकाशन सन् १६२६ ई. में हुआ एवं सम्पादन पं. आद्यादत्त जी ठाकुर ने किया। अब ये दोनों ही भाग लगभग अप्राप्य हैं।

राजस्थान पत्रिका प्रकाशन योजना के अन्तर्गत इन दोनों ही भागों का हिन्दी अनुवाद सहित सन् १६६० में पुनः प्रकाशन किया गया है। हिन्दी अनुवाद काशी हिन्दी विश्वविद्यालय, वाराणसी के साहित्य विभाग के रीडर डॉ. शिवदत्त चतुर्वेदी जी ने किया है।

२१. शारीरक-विमर्श :-

इस ग्रन्थ में १६ प्रकरण हैं, जिनमें अनेक प्रकार के गूढ विषयों को बहुत ही स्पष्ट रूप से बतलाया गया है। जगत् के कारण दैव, रज, आपः, प्रजापति और ब्रह्म आदि के बारे में बतलाया गया है। ब्रह्म शब्दार्थ का अनेक बार निरूपण कर ब्रह्म-मीमांसा में आत्मारूप ब्रह्म और शास्त्ररूप ब्रह्म दोनों की मीमांसा होती है, इस विषय को समझाया गया है। वेद क्या वस्तु है ? इसका रहस्य बतलाया गया है। पाँच प्रकार के वेदाध्ययन से विप्र, ऋषि, देव आदि उपाधि प्राप्ति का वर्णन है। अथर्व, ऋक्, यजुः और साम की शाखायें कैसी होती हैं ? यह बतलाया गया है। शिव और शिवहृदयारूढ शक्ति की उपासना-तत्त्व भी ब हज्जाबालोपनिषत् के प्रमाण से समझाया गया है। शब्दमय वेद के प्रादुर्भाव का भी वर्णन है। वेदप्रादुर्भाव के सम्बन्ध में ६ प्रधान और ४२ अवान्तर मतों का सप्रमाण वर्णन है, जिनमें अनादि वेदवादी मीमांसकों से लेकर आधुनिक विद्वान् मैक्समूलर और शोपनहार तक के मतों का विवरण है। अंग्रेजों का मत अंग्रेजी भाषा में ही दिखाया गया है।

उपनिषद् पद का तात्पर्य बताते हुए सब उपनिषदों के शान्ति पाठ के मन्त्र भी लिखे हैं। शारीरिक दर्शन के अधिकरणों में जिन-जिन शब्दों पर विचार हुआ है, उनकी तालिका भी दी गई है। दर्शन शास्त्र के भेद भी दिखाये गये हैं, जिनमें ६ दर्शन, १८ दर्शन, ३६ दर्शन आदि विस्तारपूर्वक हैं। गीताशास्त्र एक विज्ञान और सबसे विशेष महत्त्व का शास्त्र है, दर्शनशास्त्र में मतभेद क्यों प्रतीत होता है ? यह भी बताया गया है। आत्मा की सात संस्थाओं का विवरण है। किस-किस दर्शन में कौन सी संस्था निरूपित है - यह भी बतलाया गया है। ईश्वर का निरूपण बहुत ही विशिष्ट रूप से किया गया है। जीव, ईश्वर के भेदाभेद का स्पष्टतर विवेचन और स्वतन्त्र रूप से शारीरक दर्शन के विषयों पर समालोचनात्मक प्रकाश डाला गया है। सरलता से समझने के लिए अनेक रंगीन तथा सादा चित्र भी दिये गये हैं और तालिकाओं द्वारा भी विभाग आदि दिखलाये गये हैं।

इस ग्रन्थ का हिन्दी में सारांश म. म. पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी ने लिखा है, जिससे इस ग्रन्थ का महत्त्व भली प्रकार ज्ञात होता है। इस ग्रन्थ का सम्पादन पं. आधादत्त जी ठाकुर ने किया है एवं प्रकाशन वि. सम्वत् २००१ में पं. प्रद्युम्न शर्मा ओझा जी द्वारा करवाया गया।

२२. विज्ञानविद्युत् :-

वैदिक विज्ञान में प्रविष्ट होने वालों के बोधसौकर्य्य के लिए इस ग्रन्थ में वैदिक परिभाषाएँ सरलता से समझाई गई हैं। इस ग्रन्थ का प्रकाशन सन् १६३६ ई. में हुआ एवं सम्पादन पं. नवलकिशोर जी कांकर द्वारा किया गया। सन् १६६० ई. में डॉ. शिवदत्त जी चुतर्वेदी के हिन्दी अनुवाद सहित यह ग्रन्थ राजस्थान पत्रिका प्रकाशन के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ।

२३. ब्रह्मविज्ञान (हिन्दी भाषा में) :-

इस ग्रन्थ में ब्रह्म-विज्ञान के विषय में अनेक संशयों को दूर करते हुए स ष्टि के विषय में मतभेदों का निरूपण तथा निराकरण किया गया है। परमेश्वर, ईश्वर, जीव के परस्पर सम्बन्ध, सुख-दुःख, जन्म-म त्यु के कारण, आत्मा-मुक्ति के भेद, यज्ञ, तप, दान, उपासना का रहस्य आदि अनेक विषयों की शंका का समाधान विशदरूप से वैज्ञानिक विवेचन के साथ किया गया है, जिससे ब्रह्मविज्ञान का विषय भली प्रकार समझा जा सके। यह ग्रन्थ हिन्दी भाषा में होने के कारण बड़ा उपयोगी है। इसका प्रकाशन एवं सम्पादन पं. प्रद्युम्न शर्मा ओझा जी द्वारा सन् १६४३ ई. को हुआ। इस ग्रन्थ में म.म. पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी द्वारा लिखा पूज्य ओझा जी का संक्षिप्त परिचय भी छपा है। यह ग्रन्थसंस्करण अप्राप्य था। अतएव इसकी सूचना मिलते ही राजस्थान पत्रिका के संस्थापक श्री कर्पूरचन्द्र कुलिश जी ने इस ग्रन्थ की एक प्रति जो कि रतनगढ़ के राजकीय पुस्तकालय में थी, प्रयत्न करके उसको मंगवाया एवं इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को राजस्थान पत्रिका प्रकाशन के अन्तर्गत वि. सं. २०४४ में पुनः प्रकाशित करवाया। इस ग्रन्थ से वैदिकजगत् के विद्वान् ही नहीं अपितु वेद में रुचि रखने वाले हिन्दी भाषी लोगों का भी बहुत उपकार हुआ है।

२४. ब्रह्मविनय :-

इस ग्रन्थ में (१) निर्विशेष, (२) परात्पर, (३) अव्यय, (४) अक्षर इनकी विस्त त व्याख्या की गई है। ग्रन्थ भूमिका में डॉ. वासुदेवशरण जी अग्रवाल लिखते हैं कि ''इस ब्रह्मविनय ग्रन्थ में ओझा जी ने इन्हीं पाँचों (निर्विशेष, परात्पर, अव्यय, अक्षर और क्षर) की विस्त त व्याख्या लिखी थी किन्तु इनके पीछे उनके क्रोड-पत्रों (कागज पत्रों) में जो सामग्री मिली उसमें (१) निर्विशेष, (२) परात्पर, (३) अव्यय, (४) अक्षर इन्हीं का निरूपण पाया गया है।'' पहले पद्यमय विवेचन के बाद अन्त में गद्यात्मक विवेचन भी दिया गया है। इस ग्रन्थ का सम्पादन डॉ. वासुदेवशरण जी अग्रवाल ने किया एवं उन्हीं के द्वारा इस ग्रन्थ की हिन्दी में भूमिका भी लिखी गई है। इसका प्रकाशन सन् १६३४ ई. में प थिवी प्रकाशन, वाराणसी द्वारा हुआ है।

२५. ब्रह्मसमन्वय :-

इस ग्रन्थ में निर्विशेष, परात्पर, अव्यय, अक्षर, क्षर इत्यादि तत्त्वों का और उनसे स ष्टि आदि का वैज्ञानिक विवरण सिद्धान्त-द ष्टि से किया गया है। जो कुछ जगत् में दिखाई देता है, उन सबमें ब्रह्म का अन्वय है अर्थात् ब्रह्म सब में अन्तःप्रविष्ट है, इस विज्ञान का इस ग्रन्थ में विशद विवेचन हुआ हैं इसीलिए इसका नाम 'ब्रह्मसमन्वय' रखा गया है। ब्रह्म से स ष्टि किस प्रकार बनती है - इसका विवेचन किया गया है। १४ प्रकार के इन्द्र का विवेचन, विष्णु की चार भावों में उपासना, ८ वसु, ११ रुद्र और १२ आदित्यों का स्पष्ट विवरण एवं रुद्रों के अनेक भेद एवं प्रणव (ओंकार) की विशद विवेचना के साथ अनेक विषयों का वर्णन है। चार वर्णों का विकास क्यों हुआ ? इत्यादि विषय भी दिये गये हैं। इसके आदि में छपे म. म. पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी द्वारा लिखित श्री ओझा जी का संक्षिप्त परिचय एवं ग्रन्थ-परिचय बहुत उपयोगी है। इस ग्रन्थ का सम्पादन एवं प्रकाशन वि. सं. २००० में पं. प्रद्युम्न शर्मा ओझा जी द्वारा किया गया।

२६. ब्रह्मचतुष्पदी :-

इस ग्रन्थ में १-प्रजापति, २-विराट्, ३-आत्मा और ४-आत्मगति - इन चारों का सुविशद वैज्ञानिक विवेचन है। उपनिषदों में आख्यायिकारूप में और उपदेशरूप में अनेक स्थानों पर चतुष्पाद-ब्रह्म का निरूपण है। उसी के आधार पर ब्रह्म के चार पाद बतलाये हुए इस ब्रह्मचतुष्पदी की रचना की गई है। निर्गुण, निर्विशेष, रसतत्त्व से प्रारम्भ कर संसार की वर्तमान स्थिति तक चार प्रकार की अवस्था मानी गई है और उसका पूरा विवरण देकर षोडशकल पुरुष का स्वरूप भी इस ग्रन्थ में बतलाया गया

है। यह ग्रन्थ पूर्ण नहीं है क्योंकि कहीं-कहीं मध्य में कई विषय त्रुटित हैं - जैसे प ष्ठ संख्या १२, १३ आदि पर 'क्षय-पुरुष', 'वेदसहस्रम्' शीर्षकों का पाठ उपलब्ध नहीं होता है। इस ग्रन्थ की भूमिका हिन्दी भाषा में म. म. पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी ने लिखी है। इस ग्रन्थ में प्रथम परिच्छेद के बाद सीधे ही चतुर्थ परिच्छेद आ गया है अर्थात् मध्य के द्वितीय और त तीय परिच्छेद नहीं हैं। इनके लिए म. म. चतुर्वेदी जी ग्रन्थ भूमिका में लिखने हैं कि ''दुःख की बात है कि यह ग्रन्थ पूर्ण नहीं है, मध्य-मध्य में कई विषय त्रुटित हैं और अन्त में भी कुछ वक्तव्य शेष रह गया है। प्रथम परिच्छेद के अनन्तर चतुर्थ परिच्छेद ही लिखित कापियों में मिला है, द्वितीय और त तीय परिच्छेद में क्या विषय लिखे जाने को थे, यह सर्वान्तर्यामी भगवान् ही जानें। ऐसा अनुमान होता है कि 'शिपिविष्ट और अधियज्ञ' का अधिक स्पष्टीकरण इन परिच्छेदों में करने की श्री गुरुचरणों की इच्छा रही होगी।''

इस ग्रन्थ का प्रकाशन एवं सम्पादन वि . सं. २००६ में पं. प्रद्युम्न शर्मा ओझा जी ने किया।

२७. वस्तुसमीक्षा :-

इस लघु ग्रन्थ में वस्तु (साइन्स) की समीक्षा भली प्रकार बतलाई गई है। संस्क त में साइन्स के विषय की अपनी तरह की यह पहली पुस्तक है। इसका प्रथम प्रकाशन शाके १८२३ में हुआ तथा बाद में पं. पद्मलोचन ओझा द्वारा वि.सं. २००८ में इसका पुनः प्रकाशन हुआ।

२८. प चभूतसमीक्षा :-

विक्रम सं. १९९२, कार्त्तिक शुक्लपक्ष (दिसम्बर, सन् १९३५ ई.) में काशी हिन्दी विश्वविद्यालय में एक प चभूतपरिषद् बुलाई गई थी, जिसमें विद्यावाचस्पति पं. मधुसूदन ओझा जी भी सम्मिलित हुए थे। उस समय ओझा जी ने प चभूतों पर अपनी जो वक्त ता दी थी, उसे ही इस ग्रन्थ में प्रदर्शित किया और उसका सारांश हिन्दी में प्रारम्भ में ही दे दिया गया है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन एवं सम्पादन पं. प्रद्युम्न शर्मा ओझा जी ने वि. सं. २००३ में किया।

यज्ञ विज्ञान विभाग

२९. देवतानिवित् :-

देवतानिवित् में देवतासम्बन्धी एक शत विषयों की परिभाषाएँ प थक्-प थक् निर्दिष्ट हैं, जिनमें याज्ञिक देवताओं का वर्णनात्मक वैज्ञानिक संग्रह है। प्रसंगतः प्राणविद्या, यज्ञविद्या, आत्मगतिविद्या आदि आवश्यक विषयों का भी वर्णन है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन एवं सम्पादन पं. आद्यादत्त जी ठाकुर ने किया।

३०. स्मार्तकुण्ड समीक्षाध्यायः :-

इस ग्रन्थ में स्मार्तसम्बन्धी कुण्डों का सचित्र निरूपण किया गया है। १-प्रतिपत्तिकाण्ड, २-प्रयोगकाण्ड, ३-प्राचीनपद्धतिकाण्ड नामक तीन काण्डों वाले इस ग्रन्थ में २२ अध्याय हैं। इस ग्रन्थ का प्रकाशन स्न १९२८ में हुआ।

३१. यज्ञोपकरणयज्ञविटपकर्मानुक्रमणिकाध्यायः :-

यह ग्रन्थ देखने में एक ही ग्रन्थ लगता है, परन्तु वस्तुतः इस एक ही ग्रन्थ में तीन ग्रन्थ (अध्याय) हैं, जिनके क्रमशः १-यज्ञोपकरणाध्याय, २-यज्ञविटपाध्याय, ३-कर्मानुक्रमणिकाध्याय - ये नाम हैं। इनमें - १-यज्ञोपकरणाध्याय में यज्ञसामग्री का सचित्र वर्णन है। २-यज्ञविटपाध्याय में यज्ञ एवं यज्ञीयविटपों के भेद समझाये गये हैं। ३-कर्मानुक्रमणिकाध्याय में याज्ञिक कर्मों की क्रमबद्ध सूची है। प ष्ठ १ से ४२ तक यज्ञोपकरणाध्याय। फिर प ष्ठ १ से चालू होकर ४० तक यज्ञविटपाध्याय पुनः १ से चालू होकर १७ तक कर्मानुक्रमणिकाध्याय है। इस ग्रन्थ का सम्पादन एवं प्रकाशन पं. आद्यादत्त जी ठाकुर ने सन् १९३० ई. में किया।

३२. आधिदैविकाध्याय :-

इस ग्रन्थ में देवताधिकार आदि नो (६) प्रकरण हैं। इन प्रकरणों द्वारा वेदों में प्रयुक्त देवता, पितर, ऋषि शब्दों के वेदसम्मत रहस्य को बतलाया है। 'आयुर्दायचिन्ताधिकार' नामक सातवें प्रकरण में दशरथ जी एवं श्री रामचन्द्र जी की आयु सिद्ध करते हुए मनुष्य की आयु पर विचार किया गया है। इस प्रकार से इन प्रकरणों द्वारा वेदों का जो रहस्य सहस्राब्दियों से लुप्त प्राय हो गया था, उसको विशदरूप से बतलाया गया है। इसका हिन्दीभाषानुवाद स्वामी सुरजनदास जी ने किया है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन पं. प्रद्युम्न शर्मा ओझा जी ने वि. सं. २००७ में करवाया एवं सम्पादन स्वामी सुरजनदास जी ने किया।

३३. यज्ञसरस्वती :-

इस ग्रन्थ के दो भाग हैं - (१) सोमकाण्ड, (२) अग्निचयन काण्ड। इनमें क्रमशः प्रथम काण्ड में इष्टि से लेकर राजसूय यज्ञ तक के यज्ञों की पद्धति सरल रीति से बताई गई है और कर्मों में आये हुए मन्त्रों की व्याख्या भी दी गई है। अग्निचयनकाण्ड नामक द्वितीय भाग में चयनविद्या और उसकी पद्धति एवं चितियों का निर्माण सादा तथा रंगीन चित्रों सहित बतलाया गया है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन वि. सं. २००३ में हुआ एवं सम्पादन पं. प्रद्युम्न शर्मा ओझा जी ने किया।

३४. छन्दोभ्यस्ता :-

इस ग्रन्थ में पाँच प्रकरण हैं - (१) हविर्यज्ञ, (२) महायज्ञ, (३) अतियज्ञ, (४) शिरोयज्ञ और (५) यज्ञपरिशिष्ट। इनमें अग्न्याधेय आदि ११ प्रकार के यज्ञों का कर्मोपयुक्त संग्रह है। दो रंगीन चित्र भी दिये गये हैं। इस ग्रन्थ की रचना वैदिक भाषा में की गई है। जिसके विषय में ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही 'ब्राह्मी भारती भाषा' शीर्षक नाम से एक प ष्ठ पद्य में है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन वि. सं. २००५ में हुआ एवं इसका सम्पादन पं. प्रद्युम्न शर्मा ओझा जी ने किया।

३५. निरूढपशुबन्ध :-

इस ग्रन्थ में पशुमेध यज्ञ के विषय में संक्षिप्त रूप से लिखा गया है। इसका प्रकाशन एवं सम्पादन पं. प्रद्युम्न शर्मा ओझा जी द्वारा वि. सं. २०१० में हुआ।

पुराण समीक्षा विभाग

३६. पुराणोत्पत्तिप्रसंग :-

इस ग्रन्थ में पुराणों की उत्पत्ति का प्रसंग दिखाया गया है। पुराण विद्या क्या है ? यह वेद का ही एक भाग है और वेदवत् अनादि है, भगवान् व्यास पुराणों के कर्त्ता किस आधार पर कहलाते हैं, पुराणों का विकास किस क्रम से हुआ है और वर्त्तमान में जो पुराणों की पुस्तकें मिलती हैं, वे किसकी लेखनी से निकली हैं ? इत्यादि विषयों के सन्दर्भ में उत्पन्न जिज्ञासाओं का स्पष्टीकरण किया गया है। पुराणों के विकास का क्रम पुराणोक्त आधार पर ही बताया गया है, अपनी कल्पना से नहीं। कई पुराणों की जो दो-दो प्रतियाँ मिलती हैं - उसका भी इसमें स्पष्ट समाधान है। पुराण अष्टादश क्यों है और उनका एक नियतक्रम किस आधार पर अवलम्बित है ? इसको भी विस्तार से बतलाया गया है।

इस ग्रन्थ की प्रथमाव त्ति वि. सं. २००१ में हुई थी। जिसमें म. म. पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी द्वारा 'आरम्भिक वक्तव्य' लिखा गया है। पुराणोत्पत्तिप्रसंग ग्रन्थ की द्वितीयाव त्ति वि. सं. २००८ में हुई। इसमें स्वामी सुरजनदास जी द्वारा हिन्दीभाषा में ग्रन्थ की विस्त त भूमिका लिखी गई है, साथ ही श्री चतुर्वेदी जी द्वारा प्रथमाव त्ति में लिखा गया 'आरम्भिक वक्तव्य' भी इस द्वितीयाव त्ति में ज्यों का त्यों

छापा गया है। इस द्वितीयाव त्ति का प्रकाशन पं. प्रद्युम्न शर्मा ओझा जी ने करवाया एवं सम्पादन स्वामी सुरजनदास जी ने किया।

३७. मन्वन्तर-निर्धारण :-

इस ग्रन्थ में पुराणप्रतिपादित मन्वन्तर का निरूपण है। किन्तु मन्वन्तरनिरूपण के अतिरिक्त 'युग, दिव्ययुग, नित्यकल्प, सप्तकल्प और त्रिंशत् कला का निरूपण भी इसमें किया गया था, जैसा कि इस ग्रन्थ के प्रथम श्लोक को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ में 'युग, दिव्ययुग व त्रिंशत् कल्पों का निरूपण तो उपलब्ध है किन्तु नित्यकल्प तथा सप्तकल्प का निरूपण नहीं है। नित्यकल्प तथा सप्तकल्प के सम्बन्ध में स्वामी सुरजनदास जी ने अपने 'प्रास्ताविक' में लिखा है कि - ''इन दोनों कल्पों का पाठ उपलब्ध हर्नी हुआ, अतएव जो उपलब्ध था उसे ही प्रकाशित कर दिया गया है।'' इस ग्रन्थ का प्रकाशन तथा सम्पादन स्वामी सुरजनदास जी द्वारा वि. सं. २०२० में हुआ।

३८. वैदिकोपाख्यानम् :-

इस ग्रन्थ वैदिकोपाख्यान में मिथिलादेशोपाख्यान, आप्त्योपाख्यान आदि २२ उपाख्यान हैं। इन सबमें उपाख्यानों के नामों के अनुसार विवरण दिया गया है। इस ग्रन्थ का सम्पादन स्वामी सुरजनदास जी ने किया एवं प्रकाशन वि. सं. २००७ में पं. प्रद्युम्न शर्मा ओझा जी ने करवाया।

३६. देवासुरख्याति :-

इस ग्रन्थ में मानव-जाति का प्रादुर्भाव और विकास किस प्रकार हुआ, इसका इतिहास है। वेद, प्रजा, लोक और धर्म्म आदि स ष्टियों का निरूपण है। चातुर्वर्ण्य की गुण-कर्म्म और जन्म से व्यवस्था सिद्ध की गई है। और भी बहुत से विषयों का इसमें विशदरूप से निरूपण है। स्वामी सुरजनदास जी द्वारा इस ग्रन्थ की विस्तार से हिन्दी में भूमिका लिखी गई है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन वि. सं. २००६ में श्री पद्मलोचन शर्मा जी ने करवाया एवं सम्पादन स्वामी सुरजनदास जी ने किया।

४०. माधवख्याति :-

पुराणों में शाखा-भेद और पाठ भेद के कारण चन्द्रवंश के निरूपण में जो जटिलता आ गई है, इस ग्रन्थ में इसी जटिल ग्रन्थि को सुलझाया गया है। यदुवंश की अलग-अलग पीठिका बनाकर उनका विवरण दिया गया है और पुराणों के पाठ पर युक्ति-युक्त विस्त त विवेचन है। भगवान् श्रीक ष्ण के वंश में मधु नाम के एक अति प्रसिद्ध महाराजा आते हैं, उनका वंशविस्तार आगे बहुत है, इन्हीं के कारण यादववंश का बहुत बडा भाग माधव नाम से प्रसिद्ध हुआ है। भगवान् श्रीक ष्ण भी इसी वंश के होने के कारण माधव नाम से प्रसिद्ध हैं। ओझा जी ने भी इस वंश की महत्ता के कारण इस ग्रन्थ का नाम 'माधवख्याति' रखा है। भगवान् श्रीक ष्ण का वंश-विस्तार जानने के लिये यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। यह ग्रन्थ वि. सं. २००६ में प्रकाशित हुआ एवं सम्पादन पं. प्रद्युम्न शर्मा ओझा जी ने किया।

४१. अत्रिख्याति :-

इस ग्रन्थ में अत्रि ऋषि और उनके वंश का वैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक दोनों प्रकार का वर्णन सप्रमाण किया गया है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन सन् १६२६ ई. में हुआ एवं सम्पादन पं. आद्यादत्त जी ठाकुर ने किया।

४२. पुराणनिर्माणाधिकरणम् :-

जो पुराण-ग्रन्थ आज हमें उपलब्ध हैं, इनका विकास किस क्रम से हुआ, इनका मूल कहाँ से है ? आदि विषयों का यह ग्रन्थ पूज्य ओझा जी ने नोट्स के रूप में लिखा था। बाद में इसको ग्रन्थाकाररूप में प्रकाशित किया गया। इस सम्बन्ध में एक 'पुराणोत्पत्ति-प्रसंग' नामक ग्रन्थ प्रकाशित

हो चुका है, किन्तु वह कुछ रहस्यमय गूढ और संक्षिप्त है। जबकि इस ग्रन्थ में सभी विषयों का बहुत स्पष्ट और विस्त त वर्णन पुराणों के ही आधार पर किया गया है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन वि. सं. २००६ में हुआ एवं सम्पादन पं. पद्मलोचन शर्मा ओझा ने किया।

वेदाङ्ग समीक्षा विभाग

४३. वर्णसमीक्षा :-

वर्णसमीक्षा में वर्णमाला की उत्पत्ति का वैज्ञानिक रहस्य, स्वर, भक्ति, विव ति, यम, नियम आदि का विस्तार से वर्णन हुआ है। वर्ण-समीक्षा के इस संस्करण का आधार संस्क त का प्रसिद्ध मासिक पत्र 'संस्क त-रत्नाकर' के प्राचीन अंकों में प्रकाशित लेख है - जिनका कि संकलन राजस्थान वैदिक तत्त्व शोध संस्थानान्तर्गत पं. मोतीलाल शास्त्री शोध पुस्तकालय, मानवाश्रम, जयपुर में सुरक्षित संस्क त-रत्नाकर के विभिन्न अंकों में से किया गया है। यह संकलन अपूर्ण ही हो पाया था एवं जितना हो पाया उसको अनुवादसहित प्रकाशित कर दिया गया। इस ग्रन्थ का अनुवाद डॉ. शिवदत्त चतुर्वेदी जी ने किया है एवं सम्पादन डॉ. सत्यप्रकाश जी दुबे ने किया है। इसका प्रकाशन पण्डित मधुसूदन ओझा शोध प्रकोष्ठ, संस्क त विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर द्वारा सन् १६६१ ई. में किया गया।

४४. पथ्यास्वस्ति :-

इस ग्रन्थ के लिए स्वामी सुरजनदास जी ने अपने प्राक्कथन में लिखा है कि ''यह पुस्तक वेदाङ्गसमीक्षा विभाग के अन्तर्गत 'वाक्पदिका ग्रन्थ के प्रकरणभूत 'वर्णसमीक्षा' ग्रन्थ का अवान्तर प्रकरण है। इसका नाम 'पथ्यास्वस्ति' रखा गया है, क्योंकि 'वाग्वै पथ्या स्वस्तिः - इस श्रुति के अनुसार वाक् को पथ्यास्वस्तिः कहते हैं और स्वरव्यंजनादि विभाग से विभक्त वाक् वर्णरूपा है। इस ग्रन्थ में भी उन्हीं वर्णों की विभिन्न रूप में समीक्षा प्रस्तुत की गई है''।

इस ग्रन्थ के मात कानुवाक, यमानुवाक, गुणानुवाक, अक्षरानुवाक तथा सन्ध्यनुवाक नामक पाँच खण्ड हैं। इस ग्रन्थ का सम्पादन स्वामी सुरजनदास जी ने किया एवं प्रकाशन राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान जोधपुर द्वारा सन् १६६६ ई. में किया गया।

४५. छन्दः समीक्षा :-

इस ग्रन्थ में वाक्सम्बन्धी मंगलाचरण के बाद छन्दस्तत्त्व की समीक्षा की गई है। इसमें १-छन्दः शिक्षा, २-छन्दोगणित, ३-छन्दोनिरुक्ति, ४-छन्दोव्याकरण, ५-छन्दःकल्प- इन पाँच विषयों का निरूपण है, जिनके अन्तर्गत छन्दस् पदार्थ का, छन्दों का, छन्दः सम्बन्धी गणित का और छन्दों के देवसाहचर्य का वैज्ञानिक विवेचन हुआ है। यह ग्रन्थ दीर्घावधि तक अनुपलब्धता के कारण प्रकाश में नहीं आ सका था, परन्तु सौभाग्य से स्वमी सुरजनदास जी को इसकी एक प्रति कहीं से उपलब्ध हुई। स्वयं स्वामी जी ने ही इसका सम्पादन एवं विस्त त भाषानुवाद भी किया। इस ग्रन्थ का प्रकाशन राजस्थान संस्क त अकादमी, जयपुर द्वारा सन् १६६१ ई में करवाया गया।

इसी ग्रन्थ का छन्दोनिरुक्ति नामक प्रकरण निर्णयसागर प्रैस से पिंगल सूत्र (छन्दःशास्त्रम्) की भूमि के रूप में सन् १६२७ ई. में प्रकाशित हो चुका है। पिंगल सूत्र की भूमिका में छपे तथा छन्दःसमीक्षा में छपे छन्दोनिरुक्ति प्रकरण को देखने से पता लगता है कि स्वामी जी द्वारा सम्पादित छन्दः समीक्षा में छन्दोनिरुक्ति प्रकरण का पाठ कहीं-कहीं अधूरा रह गया है। इस ग्रन्थ में कहीं-कहीं तो दो-दो, तीन-तीन प ष्ठों तक का पाठ ही नहीं छपा है जबकि वह पाठ पिंगलसूत्र की भूमिका के रूप में छपे प्रकरण में है। निर्णयसागर प्रेस द्वारा छापे गये छन्दोनिरुक्ति प्रकरण को यदि छन्दः समीक्षा के सम्पादक देख गये होते तो इन अधूरे अंशों को पूरा किया जा सकता था। इस सबके बाद भी यह तो कहना ही पड़ेगा कि इस अनुपलब्ध ग्रन्थ को प्रकाश्ति एवं सम्पादित कर उपलब्ध करवाना भी एक

बहुत बड़ा कार्य था। अपनी ८३-८४ वर्ष की आयु में भी स्वामी सुरजनदास जी ने अपने स्वास्थ्य की परवाह न करते हुए इस ग्रन्थ को सम्पादित किया एवं वे स्वयं ही इसके प्रूफ संशोधन आदि कार्य करते हुए इस ग्रन्थ को प्रकाशित कर गये। अपनी म त्यु के समय भी वे इस ग्रन्थ की भूमिका के प ष्ठों का प्रूफ संशोधन कर रहे थे। वैदिक-विज्ञान हेतु स्वामी जी के इस महान् योगदान के लिए वैदिक जगत् उन्हें हमेशा याद रखेगा।

४६. वैदिककोष :-

यह कोष एक प्रकार से निघण्टु में आए हुए शब्दों का प्रकरणरूप से विभक्त पद्यमय कोष है। इसके उत्तरार्ध में ब हद्देवता का दैवत प्रकरण भी संग हीत कर दिया गया है। इसका प्रकाशन शाके १८२८ में हुआ था।

यह पं. अनन्त शर्मा जी द्वारा सम्पादित होकर यह कोष वैदिक यन्त्रालय, अजमेर से पुनः मुद्रित हुआ है।

४७. पदनिरूक्तम् :-

इस लघु ग्रन्थ में नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात-इन चार प्रकार के पदों का विवेचन है। साथ ही जातिशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द और यद च्छा शब्द से पूर्वाचार्यों द्वारा माने गये चार प्रकार के शब्दों में से यद च्छा शब्द का निराकरण किया गया है। इस ग्रन्थ का सम्पादन स्वामी सुरजनदास जी ने किया है एवं प्रकाशन पं. प्रद्युम्न शर्मा ओझा जी ने वि. सं. २००६ में करवाया।

४८. व्याकरणविनोद :-

व्याकरण-विनोद में (१) समासप्रकरण, (२) तद्धितप्रकरण, (३) सनाद्यन्त प्रक्रिया, (४) क त्यप्रक्रिया, (५) नामधातु एवं (६) अध्ययप्रकरण ये ६ प्रकरण हैं। इस ग्रन्थ में व्याकरण के नियमों का उपपत्तिपूर्वक निरूपण किया गया है। व्याकरण-शास्त्र को सूत्रों के बिना समझने का यह अद्भुत विद्वत्तापूर्ण प्रयास किया गया है। इस ग्रन्थ के तद्धित तथा क दन्त प्रकरण अपूर्ण लगते हैं। इस ग्रन्थ से पूजय पं. मधुसूदन ओझा जी की व्यापक भाषाशास्त्रीय द ष्टि का परिचय प्राप्त होता है। व्याकरण-नियमों का निश्चय करने के पीछे क्या कारण रहे हैं ? इनका दार्शनिक विवेचन सर्वथा ही नवीन है। व्याकरण-शास्त्र में रुचि रखने वालों के लिए यह ग्रन्थ निश्चित ही अपूर्व सामग्री लिये हुए है। इस ग्रन्थ की मूल पाण्डुलिपि अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग लोगों के पास थी, जिसका पता लगाना और फिर से एकत्र करके पाठनिर्धारण करना बड़ा ही परिश्रम साध्य कार्य था, परन्तु केन्द्रीय संस्क त विद्यापीठ जयपुर के उपाचार्य डॉ. हिन्द केसरी जी एवं उनके ही निर्देशन में शोध कर रहे श्री महेन्द्र कुमार शर्मा ने कई माह लगातार परिश्रम करे इस कार्य को पूरा किया है। डॉ. हिन्द केसरी जी के निर्देशन में श्री महेन्द्र कुमार शर्मा ने इसका सम्पादन किया है।

४६. कादम्बिनी :-

इस ग्रन्थ में क्रमशः (१) गर्भाध्याय, (२) द्वादशमासिकाध्याय, (३) निमित्तध्याय और (४) शकुनाध्याय-तत्कालाध्याय ये चार अध्याय हैं, जिनमें वर्षा सम्बन्धी सभी विषय हिन्दी-भाषानुवादसहित बहुत ही स्पष्ट रूप से बताये गये हैं। वर्षा के गर्भधारण, १२ महीनों के प्रत्येक दिन के लक्षण तथा योग, गर्भ आदि के अच्छे शकुन होते हुए भी वर्षा न होने का कारण और अनेक प्रकार के प्रश्नों तथा परीक्षाओं से शीघ्र वर्षा न होना-ऐसी बहुत सी बातें लिखी गई हैं। भिन्न-भिन्न देशों के सुभिक्ष दुर्भिक्ष आदि के विषय में भी लिखा गया है। द्वारपरिज्ञापक चक्र तथा समुद्रचक्र आदि कई कोष्ठों द्वारा भी विषय को सरलता से समझाया गया है। प्रसंगात् भूकम्प, उल्कापात आदि कई विषयों का भी कारण बताया गया है। कादम्बिनी की प्रथमाव त्ति वि. सं. १६६४ में हुई तथा इस द्वितीयाव त्ति का सम्पादन एवं प्रकाशन पं. प्रद्युम्न शर्मा ओझा जी ने वि. सं. १६६६ में करवाया।

५०. पित समीक्षा :-

इस ग्रन्थ में पित त्व का वैज्ञानिक विवेचन किया गया है और पितरों के भेद बतलाये गये हैं। कई विषयों को कोष्ठों में देकर सुलभ रीति से समझाया गया है। प्रकरणागत श्राद्ध का विषय भी संक्षेप्त से बताया गया है। उस ग्रन्थ का सम्पादन पं. नवलकिशोर शर्मा। कांकर जी द्वारा किया गया है एवं इसका प्रकाशन सन् १६३७ ई. में हुआ। सन् १६६१ ई. में यह ग्रन्थ पण्डित देवीदत्त जी चतुर्वेदी द्वारा की गई भाषाटीकासहित पण्डित मधुसूदन ओझा शोध प्रकोष्ठ, संस्क त विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर से पुनः प्रकाशित हुआ। इसका सम्पादन डॉ. ए. एस. रामनाथन् एवं डॉ. पद्मधर पाठक जी ने किया।

५१. आशौच-प जिका :-

इस ग्रन्थ में १० अध्याय हैं - जिनमें अशौच क्या वस्तु है ? वह कुटुम्बियों आदि को ही क्यों प्राप्त होता है ? किन-किन को कितना-कितना होता है और नियत दिन ही क्यों रहता है ? आदि बातों को बतलाया गया है। सापिण्ड्य को वैज्ञानिक तरीके से समझाया गया है। जन्माशौच, म ताशौच के अतिरिक्त अन्य दोषों से होने वाले अशौच का भी प्रतिपादन किया गया है। आशौचनिमित्त उपस्थित होने पर कैसे-कैसे व्यक्तियों को अशौच नहीं लगता ? इसी तरह किन-किन परिस्थितियों में अशौच नहीं होता - इसका निरूपण है। अशौच के विषय में बहुत से विषय बतलाते हुए उनको कहीं-कहीं मानचित्रों एवं कोष्ठों द्वारा भी दिखलाया गया है। इस ग्रन्थ की प्रथमाव त्ति वि. सं. १६७५ में हुई एवं प्रकाशन पं. श्री सूर्यनारायण जी आचार्य ने करवाया। इस ग्रन्थ की द्वितीयाव त्ति वि. सं. २००८ में हुई। इसका सम्पादन स्वामी सुरजनदास जी ने किया एवं प्रकाशन पं. प्रद्युम्न शर्मा ओझा जी ने करवाया।

५२. धर्मपरीक्षाप जिका :-

इस लघुग्रन्थ में सूक्ष्मरूप से संस्क त तथा हिन्दी भाषा में धर्म के विषय में बतलाया गया है। इसका सम्पादन एवं प्रकाशन पं. प्रद्युम्न शर्मा ओझा जी ने वि. सं. २००५ में करवाया।

५३. प्रत्यन्तप्रस्थानमीमांसा :-

इस ग्रन्थ में किस तरह की विलायत यात्रा शास्त्र के विरुद्ध नहीं है, इसका निर्णयात्मक विवेचन है। इसका सम्पादन एवं प्रकाशन श्री पद्मलोचन शर्मा ओझा द्वारा वि. सं. २००६ में करवाया गया।

५४. वेदधर्म्मव्याख्यानम् :-

इसमें वेदों के विषय में वैज्ञानिक रूप से महत्त्वपूर्ण विमर्श किया गया है। इसके पाँच भाग हैं, इनमें से प्रथम भाग वही है, जो कि लन्दन में यूरोपियन विद्वानों के सामने ओझाजी ने वि. सं. १६०२ में वक्त ता दी थी। पूर्वोक्त प्रथम भाग के सिलसिले में ही ओझा जी द्वारा द्वितीय भाग लिखा गया। त तीय भाग का आंशिक पुराणसमीक्षा के लेख में लिखा था एवं कुछ भाग संस्क त रत्नाकर में छपा था। चौथा भाग अब तक नहीं मिल पाया है तथा पाँचवां भाग वह है जो कि वि. सं. १६७१ में हरिद्वार ऋषिकुल में साहित्य सम्मेलन के अवसर पर ओझा जी द्वारा जो वक्त ता दी गई थी। इस प्रकार वेदधर्म्म-व्याख्यानम् का जितना जो कुछ जहाँ से मिला उसे पं. प्रद्युम्न शर्मा ओझा जी ने ग्रन्थाकार रूप में संकलित कर दिया था। इस ग्रन्थ का सम्पादन एवं प्रकाशन वि. सं. २००६ में श्री पद्मलोचन जी ओझा द्वारा करवाया गया।

५५. वेदार्थभ्रमनिवारण :-

वेद को कोई विद्या ग्रन्थ मानते हैं और कोई धर्म्मग्रन्थ। इस प्रकार वेद के विषय में जो नाना प्रकार के भ्रम उत्पन्न होते हैं, उन्हीं का इस ग्रन्थ में विशदरूप से स्पष्टीकरण किया गया है।

Unit-V
अभिनव वेद व्याख्या

जैसा कि विद्यार्थी पहले पढ़ चुके हैं कि वैदिक काल के आरम्भ अर्थात् संहिता काल में जन सामान्य के लिए वेद मन्त्रों के अर्थों का समझना कठिन नहीं रहा होगा। क्योंकि यह साक्षात्क त्धर्मा ऋषियों का काल था और इन ऋषियों को वेदार्थ हस्तामलकवत् स्पष्ट था।

वैदिक साहित्य के अन्तर्गत संहिता काल के पश्चात् ब्राह्मण साहित्य का काल आता है। इस काल के आते-आते वेद मन्त्रों का अभिप्राय धूमिल होने लगा था, ऐसा हमें ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्ययन से तथा वहाँ किये गये निर्वचन, मन्त्र विनियोग तथा अर्थवाद के प्रयोगों से ज्ञात होता है। इन सभी प्रक्रियाओं में हम धूमिल होते हुए वेदार्थ के प्रकाशन का प्रयत्न देखते हैं।

बाद में जब यह स्थिति और दूर होने लगी तब वेदार्थ के ज्ञान के लिए तत्कालीन ऋषियों ने वेदाङ्गसाहित्य का प्रणयन किया। इस साहित्य में वेद मन्त्रों के उच्चारण प्रक्रिया को समझने से लेकर याक्षिक विधि विधानों के स्वरूप आदि तथा पद पदार्थादि के विवेचन करने वाले ग्रन्थ सूत्र शैली में प्रणीत हुए।

वस्तुतः वेदाङ्गसाहित्य का प्रणयन उसमें भी विशेषतः निरुक्त शास्त्र, वेदार्थ की प्रक्रिया को समझने का प्रथम तथा व्यवस्थित प्रयास था।

इसके पश्चात् वेदार्थ के सहायक ग्रन्थों के रूप में अनुक्रमणी साहित्य का प्रणयन हुआ। उसके बाद लौकिक साहित्य का प्रचलन होने से वेद तथा उससे सम्बद्ध साहित्य धीरे-धीरे पठन पाठन का विषय कम श्रद्धा और पूजा का विषय अधिक हो गया। अतः वेदार्थ के प्रसंग में बहुत समय तक किसी आचार्य ने अपनी लेखनी नहीं उठाई। आचार्य यास्क का समय ई.पू. ६००-७०० स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार उनके बाद लगभग १२००-१३०० वर्ष तक वेदार्थ के सन्दर्भ में कुछ विशिष्ट कार्य नहीं हुआ और यदि हुआ भी हो तो ज्ञात नहीं है।

यास्क के लगभग १३०० वर्ष पश्चात् ६२५ ई. में स्कन्द स्वामी ने उनके ग्रन्थ निरुक्त पर टीका लिखने के साथ-साथ ऋग्वेद पर भाष्य भी लिखा। फिर इसी क्रम में नारायण, उद्‌गीथ, माधवभट्ट, वैंकट माधव, उवट धानुष्कयज्वा, आनन्दतीर्थ और आत्मानन्द जैसे विद्वानों ने इस विषय में गम्भीर प्रयत्न किये। पुनः १४वीं शताब्दी के मध्य में आचार्य सायण वेदों तथा उनसे सम्बद्ध अन्य उपयोगी ग्रन्थों पर भाष्य लिखकर अत्यन्त महनीय कार्य किया। यह वेद के अर्थ को समझने की प्रक्रिया का द्वितीय चरण था। इसी क्रम में १६वीं शताब्दी में महीधर ने शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता पर वेददीप नाम का भाष्य लिखा। इस भाष्य पर डिवर के भाष्य की छाया है। मौलिक न होते हुए भी विशालता की द ष्टि से यह महत्त्वपूर्ण है।

वेदभाष्य प्रक्रिया के इस द्वितीय चरण में कुछ और भाष्यकार भी हुए जिनके विषय में विद्यार्थी पहले पढ़ चुके हैं। जैसे वेदभाष्य प्रक्रिया के प्रथम चरण में आचार्य यास्क का महत्त्व है। वैसे ही द्वितीय चरण की प्रक्रिया में वेदभाष्यकार सायण का महत्त्व है।

१६वीं शताब्दी के बाद वैदिक साहित्य पठन पाठन, विवेचन तथा लेखन आदि की द ष्टि से अतिमहत्त्वपूर्ण हो गया और इस विषय में विशेष तो कुछ हुआ ही नहीं, जो पहले था उसके भी नष्ट-भ्रष्ट होने की स्थितियाँ बन गयी और बहुत कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो भी गया।

पुनः १८वीं सदी के अन्त और उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में वैदिक साहित्य और उसके अर्थ समझने की प्रक्रिया का त तीय चरण आरम्भ हुआ।

पाश्चात्त्य पण्डितों द्वारा संस्क त साहित्य के अध्ययन और अनुशीलन की ओर प्रव त्त होने से वैदिक वाङ्मय के विवेचन में नये युग का शुभारम्भ हुआ और इस द ष्टि से अठारहवीं शताब्दी का अन्तिम चरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ, जब सरविलियम जोन्स नामक आंग्ल विद्वान् ने कलकत्ता में बंगाल एशियाटिक सोसाइटी नामक शोध संस्था की नींव डाली (१७८४ ई.) १८०४ ई. में कोल ब्रुक ने 'एशियाटिव रिसर्चेज' नामक पत्रिका में वेदों के सम्बन्ध में शताधिक प ष्ठों में शोध परक निबन्ध लिखकर वैदिक साहित्य का सर्वेक्षण प्रस्तुत किया। १८३८ ई. में जर्मन विद्वान् फ्रेडरिख रोजेन ने ऋग्वेद का संपादन करना प्रारम्भ किया था; किन्तु उनकी असामयिक म त्यु के कारण उसका प्रथम अष्टक ही (१८३७ ई. में) प्रकाशित हुआ। पेरिस के संस्क त प्राध्यापक यूजीन बूर्नफ के दो शिष्यों रॉथ और मैक्समूलर - ने वैदिक अनुशीलन में नवीन प्राण भर दिये। रुडाल्फ रॉथ ने १८४६ ई. में 'वेद का साहित्य तथा इतिहास' नामक छोटी, किन्तु महत्त्वपूर्ण पुस्तिका लिख कर पश्चिमी विद्वानों का ध्यान आक ष्ट किया। उन्होंने आगमन विधि का प्रयोग करते हुए 'संस्क त-महाकोश' की रचना की जिसमें विकास क्रम के अनुसार प्रत्येक शब्द का अर्थ दिया गया है। इसमें वैदिक शब्दों का अर्थ रॉथ ने और लौकिक या संस्क त शब्दों का अर्थ ओटो बोथलिंक ने प्रस्तुत किया है। इस कोश का प्रकाशन १८५२ से १८७५ ई. तक सात खण्डों में हुआ है। आज भी इस कोश की महत्ता विद्वत्ता की द ष्टि से अक्षुण्ण है। पाश्चात्त्य विद्वानों का वेद-विषयक अध्ययन तीन धाराओं में विभाजित है - वैदिक ग्रन्थों का वैज्ञानिक एवं शुद्ध संस्करणों का प्रकाशन, वैदिक ग्रन्थों के अनुवाद एवं वेद-सम्बन्धी अनुशीलनात्मक ग्रन्थों का लेखन।

सर्वप्रथम जर्मन विद्वान् मैक्समूलर ने सायण भाष्य के साथ ऋग्वेद का वैज्ञानिक संस्करण प्रस्तुत किया, जो १८४६ से १८७४ ई. तक प्रकाशित हुआ। इसमें तीन सहस्र प ष्ठों में ग्रन्थ तथा कई सौ प ष्ठों में भूमिका एवं टिप्पणी की रचना हुई। १८६०-१८६२ ई. से इसका संशोधित संस्करण प्रकाशित हुआ। मैक्समूलर ने 'प्राचीन संस्क त साहित्य' (हिस्ट्री ऑफ एनसिएन्ट संस्क त लिटरेचर) तथा ह्वाट इण्डिया कैन टीच अस' (भारत से हम क्या सीखें) नामक ग्रन्थों का प्रणयन कर वैदिक साहित्य के अनुशीलन की द ष्टि से महनीय एवं उपादेय कार्य सम्पन्न किया। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'पवित्र प्राच्यग्रन्थमाला' में स्वयं तथा अन्य पाश्चात्त्य विद्वानों की सहायता से वैदिक ग्रन्थों का अनुवाद प्रकाशित कराया। डॉ. वेबर ने 'यजुर्वेद संहिता' तथा 'तैत्तिरीय संहिता' का सम्पादन किया और 'इनदिशे स्तूदियन' नामक शोध पत्रिका का जर्मन में प्रकाशन कर वैदिक शोधकार्य को गति दी। उन्होंने 'संस्क त साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ में वैदिक वाङ्गमय का विस्त त विवेचन प्रस्तुत किया है। आउफ्रेक्ट नामक विद्वान् ने रोमन लिपि में (१८६२-१८६३ में) ऋग्वेद का एक वैज्ञानिक संस्करण सम्पादित किया और काठक संहिता का १६००-११ ई. में प्रकाशन हुआ। स्टेवेन्सन ने राणायनी शाखा की सामसंहिता को आंग्लानुवाद के साथ १८४२ ई. में प्रकाशित किया और राथ तथा ह्वीटनी ने अथर्ववेद का संयुक्त संस्करण १८५६ ई. में प्रकाशित किया। प्रो. ब्लूमफील्ड तथा गार्वे ने अथर्ववेद की शाखा का, एक जीर्ण प्रति के आधार पर, संपादन कर प्रकाशन कराया है। प्रो. एम. हाग ने (१८६३ ई. बम्बई) ऐतरेय ब्राह्मण का अंगरेजी अनुवाद के साथ प्रकाशन किया और प्रो. लिण्डनर ने कौषीतकि ब्राह्मण का संस्करण १८८७ ई. में निकाला। माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण का प्रथम संस्करण डॉ. बेवर के सम्पादकत्व में बर्लिन से १८५५ ई. में प्रकाशित हुआ। उन्होंने अद्‌भुत और वंश ब्राह्मणों का भी संपादन किया है। डॉ. ए. सी. बर्नेल ने सामविधान (लन्दन १८७३), ई. वंश ब्राह्मण, देवताध्याय ब्राह्मण (१८७३ ई.) आर्षेय-ब्राह्मण तथा संहितोपनिषद् ब्राह्मण (१८७७ ई.) को प्रकाशित कराया। डा. एच. एर्टल ने जैमिनीय ब्राह्मण के एक अंश का आंग्लानुवाद के साथ तथा कैलेण्ड ने जर्मन अनुवाद के साथ प्रकाशित किया। प्रो. डी. गास्ट्रा ने हालैण्ड से १६१६ ई. में गोपथ ब्राह्मण का उत्तम संस्करण नागरी लिपि में प्रकाशित किया है।

डॉ. विल्सन (एच. एच. विल्सन) ने १८४० ई. में ऋग्वेद का सायणभाष्यानुसारी आंग्लानुवाद प्रस्तुत किया। इसके दो जर्मन अनुवाद भी प्रकाशित हुए। एच. ग्रासमान ने पद्यानुवाद प्रस्तुत किया (१८७६-१८८८) इसका गद्यानुवाद प्रकाशित कराया। १८८६ से १८६२ ई. में आर. टी. एच. ग्रिफिथ ने सायण भाष्य का उपयोग करते हुए ऋग्वेद का अंगरेजी में पद्यानुवाद प्रस्तुत किया। ऋग्वेद पर जर्मन विद्वान् एच. ओल्डनवर्ग की (१६०६-१६१२ ई.) व्याख्या प्रकाशित हुई जो दो भागों में विभक्त है। यजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता का भी आंग्लपद्यानुवाद (१८८६ ई. में) ग्रिफिथ ने किया और उन्होंने सामवेद का भी पद्यानुवाद प्रस्तुत किया है। ग्रिफिथ और ह्विटनी ने अथर्ववेद का भी अनुवाद किया है। शतपथ ब्राह्मण का इंग्लिंग ने पाँच खण्डों में परिश्रमपूर्वक अनुवाद किया है और डा. कीथ ने ऋग्वेद के दोनों ही ब्राह्मणों को १६२० ई. में अनूदित किया तथा सौ प ष्ठों की उपयोगी भूमिका भी दी। ताण्ड्य महाब्राह्मण का अनुवाद डॉ. कैलेण्ड ने १६३२ ई. में किया है, जिसमें सामवेद विषयक भूमिका भी सम्मिलित है। इसी प्रकार उपनिषदों के भी अनेक अनुवाद अंगरेजी तथा अन्य यूरोपीय भाषाओं में हुए हैं। वेदांग विषयक ग्रन्थों में निरुक्त तथा प्रातिशाख्य ग्रन्थों के भी प्रामाणिक अनुवाद प्राप्त होते हैं।

अनेक पाश्चात्त्य पण्डितों ने व्याख्या के अतिरिक्त वेद-विषयक अनुशीलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किये हैं। इनमें मैकडोनल और डा. कीथ के कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। मैकडोनल ने भाषाशास्त्रीय टिप्पणी के साथ 'वैदिकरीडर' नामक सूक्तों का संग्रह १८८७ ई. में प्रकाशित कराया। उनके बाद पीटरसन क त ऋग्वेद के दो संग्रह बम्बई से १८८८ तथा १८८६ ई. में प्रकाशित हुए। इनमें सायण भाष्य, अंगरेजी अनुवाद तथा विविध प्रकार की टिप्पणियाँ हैं। मैकडोनल ने १६१० ई. में वेदिक ग्रामर नामक वेदों का प्रमाणिक व्याकरण जर्मनी से (स्रासवर्ग) प्रकाशित कराया, जिसका एक संक्षिप्त संस्करण वेदिक ग्रामर फॉर स्टुडेन्ट के नाम से प्रकाशित हुआ। उन्होंने १६०० ई. में अपने प्रसिद्ध इतिहास ग्रन्थ की रचना की, जिसके सात अध्यायों में वैदिक साहित्य की मीमांसा की गयी। उन्होंने तथा प्रो. कीथ ने 'वैदिक इन्डेक्स' नामक विशालकाय (दो खण्डों में) ग्रन्थ की रचना की, जिसमें वेदों की उपक्रमणिका प्रस्तुत की गयी है। इसमें वैदिक नामों की विवरणात्मक सूची है। इसका प्रकाशन १६१२ ई. में हुआ है। जर्मन भाषा में विण्टरनिट्स ने 'भारतीय साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ को तीन खण्डों में लाइपजिग से १६०४ ई. में प्रकाशित किया जिसके प्रथम खण्ड में वैदिक साहित्य का विस्त त विवेचन है। हार्वर्ड ग्रन्थमाला के अन्तर्गत मारिस ब्लूमफील्ड ने वैदिक वाक्यकोश नामक विशाल ग्रन्थ को प्रकाशित कराया, जिसमें समस्त वैदिक वाङ्मय में आये हुए शब्दों, वाक्यों तथा उद्धरणों की वर्णानुक्रम से सूची प्रस्तुत की गयी है। (प्रकाशन काल १६०३ ई.)। पुनः ब्लूमफील्ड क त 'ऋग्वेद रिपिटीशन्स' या 'ऋग्वेद आव त्ति कोश' १६१३ ई. में प्रकाशित हुआ है। वैदिक धर्म और दर्शन पर कीथ ने दो खण्डों में विशाल ग्रन्थ की रचना की है जिसका नाम Relation and Philosophy of the vedas and the upanisads है। मैकडोनल ने वैदिक पुराकथा शास्त्र के ऊपर वैदिक मैथोलॉजी नामक पुस्तक की रचना की है, जिसमें वैदिक देवताओं का प्रामाणिक विवरण है।

फ्रेंच विद्वान् लुई रेनो ने 'वेदिक इण्डिया' तथा 'वेदिक बिब्लियोग्राफी' नामक दोनों पुस्तकें फ्रेंच में लिखी हैं जो अपने विषय की स्तरीय क तियाँ हैं। 'बिब्लिओग्राफी वेदीक' का प्रकाशन १६३१ ई. में हुआ है। वैदिक छन्दों के ऊपर इ.वी. आर्नाल्ड ने 'वैदिक मीटर' नामक ग्रन्थ १६०४ ई. में लिखा है। कर्नल जी. ए. जेकब क त 'उपनिषद् वाक्य कोश' बम्बई से १८६१ ई. में प्रकाशित हुआ है, जिसमें ६६ उपनिषदों एवं गीतों के वाक्यों की व हत् सूची है।

प्रारम्भ में पाश्चात्त्य विद्वानों द्वारा भारतीय प्राचीन साहित्य के अध्ययन का कारण राजनीतिक था, किन्तु बाद में वे वेद एवं संस्क त-साहित्य के उत्क ष्ट ज्ञान के कारण आक ष्ट हुए थे। भारतीय प्राचीन वाङ्मय की उत्क ष्टता से आक ष्ट होने पर भी वे वेदों का निराग्रह और निष्पक्ष अध्ययन नहीं कर सके। मैक्समूलर आदि पाश्चात्त्य विद्वानों द्वारा वैदिक साहितय के अध्ययन के लिए अकथनीय परिश्रम, अपार धन और समय लगाने का उद्देश्य भी वैदिक धर्म के माध्यम से भारत में ईसाई मत का

प्रचार करना ही था। मैक्समूलर के पत्रों एवं लेखों से विदित होता है कि, यद्यपि उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन भारतीय ग्रन्थों की सेवा में अर्पित कर दिया था, फिर भी वे वैदिक धर्म और साहित्य के प्रति सच्चा अनुराग और निष्कपट न्याय न दिखा सके। मैक्समूलर ने अपनी पत्नी के पास पत्र लिखा था - ''निश्चय ही मैं वेदों के सम्पादनादि का कार्य पूर्ण कर दूंगा, तथा यह भी निश्चित है कि इस कार्य को देखने के लिए मैं जीवित नहीं रहूंगा, तो भी मेरा यह ऋग्वेद का संस्करण और वेदों का अनुवाद भारत के लाखों लोगों के भाग्य और आत्माओं के विकास पर प्रभाव डालने वाला होगा। यह वेद भारतीयों के धर्मग्रन्थ का मूल है और मूल को दिखा देना उन्होंने पिछले तीन हजार वर्षों में जो कुछ ज्ञान प्राप्त किया है, उसको मूल-सहित उखाड़ देने का सबसे उत्तम तरीका है।'' श्री पुंसे ने एक पत्र मैक्समूलर को लिखा है - ''आपका कार्य भारतीयों को ईसाई बनाने के यत्न में नवयुग लाने वाला होगा। अंग्रेज सरकार को यह सन्तोष होगा कि उसने आपको आश्रय देकर भारत को ईसाई बनाने के प्रथम और अत्यावश्यक कार्य को सुगम बना दिया। आपका यह कार्य हमें समर्थ बनायेगा कि हम पुराने झूठे धर्म की सच्चे धर्म के साथ तुलना का आनंद ले सकें।'' उक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट विदित होता है कि पाश्चात्त्य विद्वानों को अपने धर्मग्रन्थ के प्रति कितनी श्रद्धा एवं पक्षपात था।

इनमें से कुछ विद्वानों का मन्त्रार्थ सायण-भाष्य का अनुवाद मात्र है। किन्तु अनुवाद के मध्य में जो टीका-टिप्पणी में विचार व्यक्त किए हुए मिलते हैं, वे सब इन लोगों की भाष्य प्रणाली के द्योतक हैं। डॉ. रॉथ एवं गेल्डनेर आदि कुछ विद्वान् सायण-भाष्य के पूर्ण विरोधी थे। इन विद्वानों का विचार था कि सायण वेद के तत्त्व को समझ न सके थे, क्योंकि वैदिक अध्ययन की परम्परा सायण के पूर्व ही लुप्त हो चुकी थी, अतः भारतीय परम्परा के अनुसार याज्ञिक अर्थ ठीक नहीं, इसलिए वेदार्थ ऐतिहासिक क्रम से पुनः किया जाना चाहिए।

आर्यों ने वेदों के पर्याप्त सूक्तों की रचना अपने आदि निवास मध्य एशिया में कर ली थी, और कुछ सूक्तों की रचना सप्तसिन्धु एवं भारत के अन्य स्थानों पर पहुंचने के बाद की। इसी हेतु वेदों के कुछ सूक्त हिन्दू होने की अपेक्षा, इण्डो-यूरोपियन अधिक हैं तथा आर्यों के भारत में बसने के पूर्व की स्थिति का प्रतिनिधित्व करते हैं। वेदों के रचने में सैकड़ों वर्षों का समय लगा है, इसलिए इन कालों के राजा, विभिन्न घटना, स्थान आदि के वर्णन वेद में हैं, अतः विश्व के प्रारम्भिक इतिहास को समझने के लिए वेद का स्थान महत्त्वपूर्ण है।

मनुष्य का ज्ञान क्रमशः विकसित होता है। जिस समय वेदों की रचना हुई थी, उस समय आर्य अर्द्ध विकसित अवस्था में थे। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, प थ्वी आदि प्राक तिक वस्तुएं आश्चर्यजनक थीं। वे इनके रहस्यों से पूर्ण परिचित न होने के कारण, इनसे कभी भयभीत होते थे, तो कभी अपनी रक्षा के लिए इनका आह्वान करते थे। वे सूर्य, चन्द्र आदि प्राक तिक तत्त्वों को सम्बोधित करके कविता रूप में अपने मन के उद्‌गार को अभिव्यक्त करते थे। इसी का परिणाम वेद है। अतः वेद में प्राक तिक पूजा एवं बहुदेवता का वर्णन है।

वेदों की भाषा ''इण्डो-यूरोपियन भाषा'' के परिवार की है। वैदिक भाषा सभी भाषाओं की जननी है, अपितु जेन्द आदि भाषाओं की बहिन है। भारतीय आर्य भारत में आने के पूर्व ''आदि भाषा'' बोलते थे। इसी भाषा में वेद लिखे गए हैं। भाषा का विकास क्रमशः होता है। वेद जिस समय रचे गए थे, उस समय भाषाएँ पूर्ण विकसित नहीं हुई थीं, अतः इसकी भाषा अर्द्धविकसित है। ''इण्डो-यूरोपियन परिवार'' के सभी रीति-रिवाज, गाथा आदि का विकास एक समान हुआ है, अतः वेदों के वास्तविक रहस्य तक पहुंचने के लिए तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के अतिरिक्त भारतेतर देशों के रीति-रिवाज और गाथाओं का अध्ययन अनिवार्य है, क्योंकि भारत और अन्य देशों के रीति-रिवाज, गाथा धर्म आदि की पारस्परिक तुलना वैदिक धर्म के मूल तक पहुंचा सकती है। वेदार्थ की द ष्टि से ''इण्डो-ईरानियन'' भाषा का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। ''आदि निवास'' से अलग होने, अर्थात् भारतीय आर्य के भारत में पहुंचने, और ईरानी आर्य के ईरान में पहुंचने के पूर्व दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध था। भारतीय आर्यों ने भारत में प्रविष्ट होने पर वेद की रचना की, तो ईरानी आर्यों ने ईरान में प्रविष्ट होने के बाद ''अवेस्ता''

की रचना की। ''इण्डो-यूरोपियन भाषा'' के परिवार में, वेद और अवेस्ता की भाषा में विशेष साम्य है, अतः वेदार्थ के लिए अवेस्ता की भाषा की जानकारी आवश्यक है।

वेद ईश्वरीय ज्ञान नहीं। यह विशेष समय के समाज के कई मनुष्यों की देन है। वेदार्थ के लिए ब्राह्मण-ग्रन्थ, निरुक्त एवं वेदांग उपयोगी नहीं है, क्योंकि ये सब किसी-न-किसी विशेष मत से प्रभावित हैं। वेदार्थ की भारतीय प्रणाली पूर्णतः गलत एवं भ्रांतिपूर्ण है, क्योंकि इस प्रणाली में भारतीय स्थितियों एवं विचारों को विशेष महत्त्व दिया जाता है, जबकि वेद में इसका कोई महत्त्व नहीं है। पाश्चात्त्य विद्वानों की द ष्टि में वेदार्थ के लिए देवता, छन्द, ऋषि, स्वर, प्रकरण आदि का विशेष महत्त्व नहीं है, इसलिए पाश्चात्त्य विद्वानों ने मंत्र के अर्थ में उक्त विषयों पर विशेष प्रकाश न डालकर, केवल मात्र वैदिक शब्दों के ऐतिहासिक क्रम पर विशेष ध्यान दिया है। मन्त्रों के प्रारम्भ में पाए जाने वाले ऋषि, मन्त्रों के अर्थद्रष्टा नहीं हैं, अपितु इनके रचयिता हैं। मन्त्रान्तर्गत जो ऋषिवाची पद उपलब्ध होते हैं, वे मन्त्रकर्त्ता ऋषियों के इतिव त्त के द्योतक हैं। ये ऋषि साधारण व्यक्ति थे।

उक्त तथ्यों के अध्ययन से स्पष्ट विदित होता है कि पाश्चात्त्य विद्वानों के समक्ष वेदों के अर्थों को समझने के लिए ब्राह्मण-ग्रन्थ, निरुक्त तथा अन्य वेदांग थे, किन्तु इन सभी का सम्यक् अध्ययन करके, उनके अनुसार अर्थ करना इनके लिए दुष्कर कार्य था। भारतीय पद्धति से अर्थ करने के लिए अतीव धैर्य एवं समय की आवश्यकता थी, जिसके लिए विद्वान् पूर्णतः तैयार नहीं थे, फलतः, इन विद्वानों ने सायण-भाष्य का सहारा लिया। इन लोगों ने सायण-भाष्य से अपने विचारोपयोगी बातों को ही ग्रहण किया, और अन्य बातों को परे छोड़कर तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, तुलनात्मक गाथा, धर्म एवं इतिहास की प्रणाली का अन्वेषण किया। सायण भाष्य के अनुसार अर्थ करते हुए उन्होंने स्थल-स्थल पर जो टीका-टिप्पणी की एवं अन्य पुस्तकें लिखीं, इनमें तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, तुलनात्मक गाथा, धर्म एवं इतिहास का पूर्ण उपयोग किया है।

तुलनात्मक भाषा-विज्ञान :-

सोलहवीं सदी के पूर्व यूरोप का प्रायः कोई व्यक्ति संस्क त-भाषा से परिचित न था। ''कुछ यूरोपियन मिशनरी सोलहवीं शताब्दी के बाद इस भाषा से परिचित हुए, तथा इसके अध्ययन के लिए सचेष्ट हुए। करीब तीन सौ वर्ष से पूर्व संस्क त भाषा के अस्तित्व के विषय में यूरोप में कोई प्रामाणिक सूचना न थी।'' सर विलियम जोन्स का ''शकुन्तला'' नाटक का अनुवाद, पाश्चात्त्य जगत् में एक नई घटना को जन्म देता है। इस नाटक का सुन्दर एवं आकर्षक रूप सम्पूर्ण यूरोप में सनसनी पैदा करता है। इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की गई। इससे इतिहासविदों, भाषाविज्ञों एवं दार्शनिकों में चेतना जगी कि भारत में सम्पूर्ण प्राचीन साहित्य सुरक्षित है, अतः विभिन्न विषयों की खोज नई प्रणाली से की जानी चाहिए। सर विलियम जोन्स भाषा शास्त्री थे। उन्हें कुछ यूरोपीय भाषाओं का ज्ञान था। उन्होंने अनुवाद करते समय संस्क त भाषा में मातर, पितर, भ्रातर आदि शब्द पाये जो अंग्रेजी भाषा के मदर, फादर, ब्रदर के तुल्य थे। सर विलियम जोन्स ने संस्क त एवं यूरोपियन भाषा के कुछ शब्दों के समता के आधार पर यह अनुमान लगाया कि इन भाषाओं की कोई मूल भाषा होगी, जो अब पूर्ण रूप से नष्ट हो चुकी है। भारत की प्राचीन भाषा एवं वेद की भाषा संस्क त, ईरान की भाषा जेन्द, प्राचीन यूनान एवं रोम की भाषाएं केल्ट, जर्मन एवं स्लाव्ह लोगों की भाषाएं परस्पर निकटतम सम्बन्ध रखने वाली हैं। इन्हीं भाषाओं ने तुलनात्मक भाषा को जन्म दिया। इस नई खोज के अनुसार यूरोप, अमेरिका, भारत आदि की भाषाएं एक ही भाषा-परिवार की हैं। ईसवी सन् प्रारम्भ होने के बहुत पहले ही इनको उत्पन्न करने वाली भाषाएं अटलांटिक महासागर से गंगा टैरिन (मध्य एशिया) नदी तक के प्रदेश में फैली हुई थी, फलतः उक्त सभी भाषाएं किसी एक प्राचीन भाषा से बनी हैं, जो सभी की जननी थी। पाश्चात्य विद्वानों ने जो भाषा-परिवार की कल्पना की थी, उनके अन्तर्गत निम्नांकित भाषाओं का समावेश होता है -

यूरोप की भाषाएं - हेलेनिक, इटेलिक, केल्टिक, ट्यूटानिक, बाल्टो-स्लाविक, लिथ्यूनियन

एवं अल्वेनियन।

एशिया की भाषाएं - इण्डिक, जिसमें संस्क त से बनी चौदह आधुनिक भारतीय भाषाओं का समावेश होता है। ईरानिक जिसमें जेन्द, फारसी, पश्तु या अफगान, बलूची, कुर्दिश एवं ओसेटिक तथा आर्मेनियन का समावेश होता है।

तुलनात्मक गाथा एवं धर्म :-

इन पाश्चात्त्य विद्वानों ने अपने अन्वेषण के आधार पर बताया कि प्राचीन मानव ने प्रारम्भ में जब अपनी आंखें खोलीं, तो सूर्य, चन्द्र, तारे, प थिवी, हवा आदि प्राक तिक तत्त्वों को देखा। वे इस रहस्यमय और आश्चर्यजनक द श्य को देखकर आश्चर्य चकित और भयभीत हुए। उन्हें इस आश्चर्यजनक तथ्य का बोध हुआ कि उषा, रात्रि और सूर्य जैसी वस्तुएं विद्यमान हैं। उन लोगों ने उन वस्तुओं का अपनी अर्धसभ्य, असंस्क त और काल्पनिक भाषा में नामकरण करने का प्रयास किया। आर्यों ने अपने मनोरंजन तथा मन के उद्गार को प्रकट करने के लिए विभिन्न प्रकार की गाथाओं की कल्पना की। जिस प्रकार इन विद्वानों ने भाषा की समता की कल्पना के आधार पर भारोपीय भाषा एवं परिवार की कल्पना की थी उसी प्रकार तुलनात्मक गाथा की भी कल्पना की।

इस सिद्धान्त के अनुसार ''इण्डो यूरोपीय'' लोगों के रीति-रिवाज, धार्मिक विश्वास तथा सांस्क तिक जीवन समान थे। भाषा-शास्त्रियों ने विभिन्न भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन की सहायता से मूल भाषा बोलने वाली मूल जाति के सांस्क तिक जीवन का अध्ययन किया, उससे मूल संस्क ति के कुछ परिणामों को निकाला। विभिन्न समस्याओं को कुछ समान शब्दों की सहायता से समाहित किया गया कि मूल जाति के लोगों को किन-किन व क्षों, फलों, पशुओं, पक्षियों एवं जीवन के विभिन्न उपकरणों तथा प्राक तिक तत्त्वों का ज्ञान था तथा उनके जीवन-निर्वाह के साधन क्या थे। भाषा-साम्य के द्वारा यह निष्कर्ष निकाला गया कि प्रारम्भ में ही आर्यों को प थिवी, जल, वायु, अग्नि, सूर्य, वरुण, इन्द्र आदि का ज्ञान हो गया था तथा वे इनकी उपयोगिताओं से भी पूर्ण परिचित हो गए थे। आर्य बहुत समय तक किसी एक ही स्थान पर रहे थे। उनके निवास का प्रदेश पर्वतों या समुद्रों से घिरा हुआ था। वहां अनेक प्रकार के पुष्प, फल एवं व क्ष थे। वे आर्य बैल, गाय, भेड़, घोड़ा, कुत्ता, सूअर, हरिण आदि को भी जानते थे। इण्डो-यूरोपियन देशों में समान पूजा की रीति थी। स्वर्गीय ईश्वर की कल्पना भी ''इण्डो यूरोपियन'' है। इसे ही ग्रीक में ज्यूस पेटर, लेटिन में ज्यूपिटर कहा जाता है, इसी प्रकार, विभिन्न देशों में ईश्वर को विभिन्न नामों से पुकारा जाता है।

इस प्रसंग में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि तुलनात्मक गाथा एवं धर्म के आधार पर वेदों के धर्म, आख्यान आदि का अर्थ करना उचित नहीं। वैदिक आख्यान एवं धर्म अर्द्धसभ्य और अविकसित मस्तिष्क की उपज नहीं है, न ही ये प्रारम्भिक मनुष्यों के मानसिक स्तर के द्योतक हैं। वैदिक आख्यानों का अर्थ ब्राह्मण-ग्रन्थ, निरुक्त और अन्य वेदांगों के आधार पर समझा जा सकता है। तुलनात्मक गाथा से वैदिक आख्यान का कोई सम्बन्ध नहीं है। किसी सिद्धान्त को बनाने के पूर्व समय-क्रम का ध्यान देना अनिवार्य है। वैदिक युग, जिसे प्रारम्भिक युग माना जाता है तथा जिस युग की देन अनर्गल गाथाएं मानी जाती हैं, इस युग के उपरान्त उपनिषद् युग आता है। जिसमें दर्शन के श्रेष्ठतम ज्ञान निहित हैं, इसी प्रकार यूनान के प्रारम्भिक युग के बाद प्लेटो जैसे दार्शनिक तत्त्वज्ञों के दर्शन होते हैं। यहां विचारणीय तो यह है कि अर्द्धविकसित अवस्था से अचानक ही दार्शनिक युग कैसे आ पहुंचा। पाश्चात्त्य विद्वानों के इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुए अरविन्द ने लिखा है - ''इसमें यह कल्पना की है कि प्राचीन धर्मों की नींव जंगली लोगों के उस महान् ज्ञान पर पड़ी हुई है, जो कि उन्हें तब हुआ जबकि उन्हें अचानक ही इस आश्चर्यजनक तथ्य का बोध हुआ कि उषा, रात्रि और सूर्य जैसी अद्भुत वस्तुएं विद्यमान हैं और उन्होंने उनकी सत्ता को एक असंस्क त, जंगली और काल्पनिक तरीकों से शब्दों में प्रकट करने का प्रयत्न किया और इस बच्चों के से आश्चर्य से उठकर हम पहले ही कदम में छलांग मारकर ग्रीक दार्शनिक और वेदान्तिक ऋषियों के गम्भीर सिद्धान्तों तक

पहुंच जाते हैं। तुलनात्मक गाथा शास्त्र एक यूनानी भाषाविज्ञों की क ति है, जिसके द्वारा गैर यूनानी बातों की व्याख्या की गई है और वह भी एक ऐसे बिन्दु से, जिसका स्वयं ही ग्रीक मन के गलत समझने पर है। इसकी प्रणाली कवितामय कल्पना का एक प्रतिभा सूचक खेल है, इसकी अपेक्षा की वह कोई धीरतापूर्ण वैज्ञानिक अवेषण है।''

इतिहास और वेद :-

पाश्चात्त्य विद्वानों ने अपने काल्पनिक इतिहास के आधार पर आर्यों के सिन्ध-प्रदेश में प्रविष्ट होने से लेकर विभिन्न समयों में रचे गए सूक्तों, मन्त्रों एवं भाषाओं का अध्ययन किया है। इनकी द ष्टि में वेद का महत्त्व धार्मिक और आध्यात्मिक न होकर ऐतिहासिक है। मैकडोनल ने ''ऋग्वेद को भारत यूरोपीय परिवार की भाषाओं का प्राचीनतम अवशेष माना है।'' संस्क त भाषा का प्रमुख एवं प्रथम कर्त्तव्य मनुष्य-जाति के इतिहास के मध्य कड़ी स्थापित करना है। वेद की संहिताओं को इतिहास की घटनाओं से सम्बद्ध करके इतिहास की श्र ंखलाओं को जोड़ने का प्रयत्न किया जाता है। इन विद्वानों ने मध्य एशिया में रहने वाले एक विशाल परिवार की कल्पना की थी, जिसका नाम ''आर्य परिवार'' था। मध्य एशिया में खाने-पीने की कमी के कारण ये विभिन्न स्थलों पर जा बसे। ''मध्य एशिया'' में रहने वाले ''आर्य परिवार'' का एक दल भारत में भी आया, जिसे आजकल ''भारतीय आर्य'' कहते हैं। इन भारतीय आर्यों के आने के पूर्व यहां अनार्य रहते थे। इन अनार्यों की अपनी सभ्यता थी, किले थे, नगर थे। भारत के लिए ''आर्य'' उसी तरह विदेशी हैं, जिस प्रकार मुगल, पठान, अंग्रेज आदि। ''आजकल भी अनार्यों को ''आदिवासी'' कहा जाता है। आदिवासियों में ही द्राविड़ लोग भी हैं। आर्यों ने भारत में प्रवेश कर उनसे युद्ध किया। उनके राज्य, किले, नगर आदि को जीता। इस प्रकार, अनेक प्रकार की ऐतिहासिक बातें फैलाई जा रही हैं। इन्हीं ऐतिहासिक चर्चाओं में एक चर्चा यह भी है कि मोहनजोदड़ो की सभ्यता आर्यों से पूर्व की है। इस सभ्यता को द्राविड़ सभ्यता कहा जाता है। अनार्यों की संस्क ति, सभ्यता, दर्शन आदि की पर्याप्त छाप आर्यों पर है। उक्त सभी बातें भारत एवं विदेश के कोने-कोने में प्रचलित हैं। इन बातों में यथार्थ तथ्य कितना है, इसकी विवेचना के लिए पर्याप्त समय और गवेषणा की आवश्यकता है, किन्तु यदि वेद की ऋचाओं के आधार पर आर्यों का भारत में आना, अनार्यों से युद्ध करना आदि बातें प्रमाणित की जाती हैं तो यह भ्रमपूर्ण और असंगत है।

वि जानी ह्यार्यान्ये च दस्यवो बर्हिष्मते रंधया शासदव्रतान्।।
हिरण्यमुत भोगं ससान हत्वी दस्यून्प्रार्यं वर्णमावत्।।
त्वं ताँ इन्द्रोभयां अमित्रान्दासा व त्राण्यार्या च शूर।
बधीर्वनेव सुधितेभिरत्कैरा प त्सु दर्षि न णां न तम।।
अन्यव्रतममानुपमयज्वानमदेवयुं।।

उक्त ऋचाओं के आधार पर पाश्चात्त्य विद्वानों ने आर्यों के भारत में आगमन, आर्यों के साथ अनार्यों का युद्ध आदि की कल्पना की है, किन्तु उक्त ऋचायें इन सभी सिद्धान्तों की पोषिका नहीं हैं। ऋचाओं में आर्य, अनार्य एवं दस्यु पद का प्रयोग अवश्य है, किन्तु ये पद किसी विशेष जाति के पोषक नहीं हैं। उक्त ऋचाओं में आर्यों एवं अनार्यों के गुणों का वर्णन किया गया है और परमात्मा (इन्द्र) से प्रार्थना की गई है कि वह आर्यों की रक्षा करे और अनार्यों अर्थात् दुष्टों को मारे। ऋचाओं में श्रेष्ठ, उत्तम आचार, सदाचारयुक्त मनुष्य को ''आर्य'' कहा गया है, इसके विपरीत दुराचारी कर्महीन, यज्ञहीन और चोर-डाकू को ''अनार्य'' एवं ''दस्यु'' कहा गया है। ''भूमिमददाम्यार्याय'' आर्याव्रता विस जन्तो अभिक्षमि'' जैसी ऋचा स्पष्ट कहती है कि मैं आर्यव्रतों को भूमि पर फैलाते हुए आर्यों को ही भूमि देता हूं। यास्काचार्य ने आर्य के लक्षण में लिखा है - ''आर्य ईश्वरपुत्रः'' अर्थात् ईश्वर के पुत्र ही आर्य हैं। मनुस्म ति महाभारत निरुक्त आदि में भी आर्य और अनार्य दस्यु का भेद है।

इन उक्तियों से विदित होता है कि सद्गुणों और दुर्गुणों के आधार पर समाज में आर्य और अनार्य शब्द का प्रयोग किया जाता है। ऋचाएं सम्पूर्ण विश्व को आर्य अर्थात् श्रेष्ठ बनाने के लिए

आदेश देती हैं, अतः ''आर्य'' और ''अनार्य'' पद जातिवाचक नहीं, गुण वाचक हैं। अन्य विद्वान् भी इस विचार से सहमत हैं कि आर्य शब्द किसी जाति या परिवार का अर्थ नहीं देता, क्योंकि किसी की जाति या वंश का परिवर्तन सम्भव नहीं। इसका सीधा-साधा अर्थ है - सभी व्यक्तियों को श्रेष्ठ बनाना।'' ऐसा ही विचार स्वामी दयानन्द सरस्वती का भी है।

उन्नीसवीं सदी में पाश्चात्त्यों द्वारा किये गये वेदानुशीलन ने भारतीय विद्वानों का ध्यान भी इस ओर आक ष्ट किया। इन विद्वानों में ब्रह्म समाज के संस्थापक राजा राममोहन राय तथा आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने क्रमशः उपनिषदों व वेदों के अध्ययन को पुनरूज्जीवित किया।

स्वामी दयानन्द ने वेदभाष्य की पद्धति को एक अभिनव द ष्टि प्रदान की। ''सर्व ज्ञानमयो हि सः'' वेदविषयक इस कथन को यथार्थ स्वीकार करते हुए स्वामी दयानन्द ने भी यह माना कि ''वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है।'' उन्होंने न केवल ऐसा माना अपितु सम्पूर्ण यजुर्वेद और लगभग सातवें मण्डल तक ऋग्वेद पर भाष्य करके अपनी मान्यता को सिद्ध करने का यत्न भी किया। वेदों के बहुविद्याविषय तथ्य को स्पष्ट रूप से प्रमाणित करने के लिए उन्होंने ''ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका'' नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में स्वामी दयानन्द ने वेदों में वर्णित ब्रह्मविद्या तथा उपासनादि पारम्परिक विषयों के अतिरिक्त स ष्टि विद्या, प थिव्यादि लोकों का भ्रमण, आकर्षणानुकर्षण, गणित विद्या, नौविमानादि विद्या तथा तारविद्या जैसे आधुनिक विषयों की भी सप्रमाण उपस्थापना की है।

महर्षि अरविन्द ने भी स्वामी दयानन्द की वेदों की विभिन्न विद्या विषयक अवधारणा की पुष्टि करते हुए अपने ''वेद रहस्य'' नामक ग्रन्थ में लिखा है :-

''दयानन्द की इस धारणा में कि वेद में धर्म और विद्वान दोनों की सच्चाइयाँ पायी जाती हैं, कोई उपहासास्पवद या कल्पना मूलक बात नहीं है। मैं इसके साथ अपनी धारणा भी जोड़ना चाहता हूँ कि वेदों में विज्ञान की वे सच्चाइयाँ भी हैं जिन्हें आधुनिक विज्ञान अभी तक नहीं जान पाया है। ऐसी अवस्था में स्वामी दयानन्द ने वैदिक शान की गम्भीरता के विषय में अतिशयोक्ति से नहीं न्यूनोक्ति से ही काम लिया है''।

इस प्रकार पाश्चात्त्यों की आधुनिक शोध पद्धति तथा स्वामी दयानन्द के वेदों में सर्वविद्या विषयक द ष्टिकोण से उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में वेद के अध्ययन को नयी द ष्टि मिली और भारतीय विद्वानों ने भी वैदिक वाङ्मय का सम्पादन, प्रकाशन तथा लेखन आदि के रूप में पुनरवलोकन आरम्भ किया।

वेदों के प्रकाशन की द ष्टि से सातवलेकर का नाम चिरस्मरणी है। इन्होंने (पूना से) सभी वेदों के प्रामाणिक हिन्दी भाष्य प्रस्तुत किये हैं। इसी प्रकार पं. विश्वबन्धु शास्त्री ने विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान के माध्यम से (होशियार पुर) 'वैदिक-पदानुक्रम-कोश' के रूप में महत्त्वपूर्ण कार्य किया, जो अनेक खण्डों में प्रकाशित हुआ।

सन् १९३० ई. में चिन्तामणि विनायक वैद्य ने ''हिस्ट्री ऑफ वैदिक लिट्रेचर' नामक अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ की रचना की और पण्डित भगवद्दत्त ने तीन खण्डों में हिन्दी में ''वैदिक वाङ्मय का इतिहास' लिखा जो उनके वेद-विषयक वैदुष्य का सबल प्रमाण है। इसमें संहिताओं के अतिरिक्त सर्वप्रथम ब्राह्मणों का प्रामाणिक परिचय दिया गया है। पं. जी ने 'वेदविद्यानिदर्शन' नामक अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की है और निरुक्त का हिन्दी भाष्य प्रस्तुत किया है। महर्षि अरविन्द ने 'On the Veda' नामक ग्रन्थ की रचना कर वेदों के मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक रहस्य का उद्घाटन किया है। पूना के वैदिक शोधमण्डल ने अनेक विशेषज्ञ विद्वानों की सहायता से अनेक पाण्डुलिपियों के आधार पर ऋग्वेद का प्रामाणिक संस्करण प्रस्तुत किया, जो १८३३ से १९५१ ई. तक पाँच खण्डों में प्रकाशित हुआ।

अब वैदिक वाङ्मय भारतीय विद्वानों के लिए पूजा पाठ मात्र का विषय नहीं रह गया था

अपितु आधुनिक समय में उसकी उपयोगिता पर विचार करते हुए अभिनव वेद व्याख्या का आरम्भ हुआ। वेद और उसमें प्रतिपादित विषयों पर नवीन द ष्टि से विचार किया जाने लगा।

वेद के अध्ययन की यह अभिनव परम्परा उन्नीसवीं सदी के अन्तिम काल से लेकर अधावधि पर्यन्त निरन्तर बनी हुई। इस अवधि में विद्वानों ने वेद के विभिन्न पक्षों पर इतना अधिक लिखा है और अभी भी लिखा जा रहा है कि उस सबका विवरण यहाँ देना सम्भव नहीं है। कुछ शोधकार्यों और उनके शोधकर्ता लेखकों के नामों का यह इस आशय से उल्लेख किया जा रहा है कि विद्यार्थी उनमें यथासामर्थ्य कुछ ग्रंथों का अवलोकन कर अपने वेद विषयक चिन्तन को अभिनव दिशा प्रदान कर सकें।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (स्व. दयानन्द) ब्रह्म विज्ञान तथा यज्ञ विज्ञान विषय सभी ग्रन्थ (पं. मधुसूदन ओझा) वेद रहस्य (श्री अरविन्द) 'वैदिक साहित्य और संस्क ति' (आ. बलदेव उपाध्याय), 'वेदकालीन समाज' (डॉ. शिवदत्त ज्ञानी), वैदिकसभ्यता और संस्क ति (डॉ. मुंशीराम शर्मा 'सोम'), 'वेदविद्या' (डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल), 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्क ति' (पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी), 'वेदों में भारतीय संस्क ति' (पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी), 'वेदकालीन राज्यशास्त्र' (डॉ. श्यामलाल पाण्डेय), 'वैदिक वाङ्मयय में भाषाचिन्तन' (पं. शिव नारायण शास्त्री), 'वैदिक विश्वदर्शन' (पं. हरिशंकर जोशी), 'ऋग्वेद रहस्य' (श्री अलगूराय शास्त्री), 'वैदिक साहित्य' (पं. रामगोविन्द त्रिवेदी), 'भारतीय संस्क ति-वैदिक धारा तथा औपनिषदिक धारा' (दो खण्डों में) (डॉ. मंगलदेव शास्त्री), 'वेदों में नारी' (श्री प्रशान्त कुमार विद्यालंकार), 'वैदिक युग के भारतीय आभूषण' (डॉ. राय गोविन्द चन्द्र), 'वैदिक योगसूत्र' (श्री हरिशंकर जोशी), 'वैदिक सम्पदा' (पं. वीरसेन वेदश्रमी), 'ऋक् सूक्त विकास' (ह.स. दिवेकर)।

'ऋग्वैदिक आर्य' (महापण्डित राहुल सांक त्यायन), 'वैदिक-दर्शन' तथा 'भारतीय सौन्दर्यशाला की भूमिका' (डॉ. फतेह सिंह), 'ऋग्वैदिक काल में पारिवारिक सम्बन्ध (डॉ. शिवराज शास्त्री), 'ऋग्वेद में दार्शनिक तत्त्व (डॉ. गणेश दत्त शर्मा), देवतावाद का भौतिक तथा वैज्ञानिक रहस्य (हंसराज), वेद विद्या (वासुदेवशरण अग्रवाल), वेदस्य व्यावहारिकत्वम् (डॉ. ज्योत्स्ना), वेदों का यथार्थ स्वरूप (पं. धर्मदेव विद्यावाचस्पति), वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त (आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति), वैदिक सम्पत्ति (रघुनन्दन शर्मा) वैदिक स ष्टि विज्ञान (भावना शर्मा), ऋग्वेद में विविध विद्यायें (डॉ. सुरेन्द्र कुमार) Positive Science in the Vedas (D.D. Mehra), Science in the Vedas (Acharya Vaidyanath Shastri), Science in the Vedas (Hansraj), Sparks from the Vedic Fire (V.S. Aggarawal) अन्त में डॉ. भावना शर्मा के ग्रन्थ वैदिक स ष्टि विज्ञान में प्रतिपादित वेदों के विज्ञान के विविध रूपों में से कुछ निष्कर्षों का विवरण प्रस्तुत है :-

वेदों में विज्ञान के विविध रूप

वैदिक ऋषियों ने अपने तपोवन में विज्ञान के विविध रुपों का अनुसंधान किया था। उन्होंने प्रक ति एवं पदार्थ के रहस्यों को वैज्ञानिक ढंग से उजागर किया। वैज्ञानिक अनुसंधान की उनकी रीति-नीति आधुनिक विज्ञान की संकीर्ण सीमाओं में न बंधते हुए भी उच्चस्तरीय, आकर्षक और सम्मोहक है। वेदों में विज्ञान की विविध धाराएँ - आयुर्वेद, मनोविज्ञान, गणित, भौतिकी, रसायन, वनस्पति विज्ञान, जीव विभान, भूगर्भ विज्ञान, क षि एवं शिल्प आदि रूपों में प्रवाहित हुई हैं।

आयुर्वेद की वैज्ञानिकता :-

वैदिक वाङ्मय में आयुर्वेद की गौरवमयी परम्परा है। ऋषियों ने इसे अतिपुरातन एवं शाश्वत कहा है। सभी संहिताकारों ने ब्रह्मा से आयुर्वेद का प्रादुर्भाव माना है। वेदों में आयुर्वेदीय तथ्यों का पाया जाना इसका प्रमाण है।[1] ऋषियों ने आयुर्वेद को उपवेद के रूप में स्वीकार किया है। कुछ विद्वान् इसे ऋग्वेद तथा अधिकांश अथर्ववेद का अविछिन्न अंग मानते हैं।

ऋग्वेद में आयुर्वेद के आचार्यों का उल्लेख मिलता है। आयुर्वेद के ऐसे आचार्य मुख्यतः दिवोदास और भारद्वाज हैं। इसमें औषधि के लिए माता शब्द आता है।[२] लोहे के पैर का जिक्र ऋग्वेद में आता है। युद्ध में चिकित्सा हेतु वैद्य के साथ होने का भी संकेत मिलता है।[३] ऋजाश्व को अश्विनों ने पुनः आँखें प्रदान की थी।[४] वेद में वैद्य के लक्षणों का उल्लेख हुआ है। यहाँ पर रोगों के विनाश हेतु भी मंत्र प्रयुक्त हुए हैं।[५] अग्नि को आरोग्य प्रदान करने वाला बताया गया है।[६]

यजुर्वेद में औषधियों के लिए अनेक मंत्र आए हैं। इसमें औषधियों को राज्ञी कहा गया है।[७] भिषक् (वैद्य) रोगों को दूर कर सकता है।[८] यहाँ पर औषधियों की माता को 'इष्क ति सर्वेषां रुग्णानां निष्कर्त्री' कहकर प्रार्थना की गयी है - हे औषधियो ! तुम मेरे रोगों को दूर करो।[९] औषधियाँ कहती हैं कि आकाश द्युलोक से आती हुई हम जिस व्यक्ति के पास पहुँच जाती हैं, वह किसी तरह भी नष्ट नहीं होता।[१०]

सामवेद में आयुर्वेद सम्बन्धी विषय अत्यन्त न्यून है। इसमें आयुर्वेद से सम्बद्ध कुछ मन्त्र निम्नलिखित विषयों के प्रतिपादक हैं - वैद्य, चिकित्सा, दीर्घायुष्य, तेज, ज्योति, बल, शक्ति आदि।[११]

अथर्ववेद में आयुर्वेद का विषय विशेष विस्तार से आया है। अथर्ववेद का सम्बन्ध ही आयुर्वेद उपांग से है। अथर्ववेद का सम्बन्ध मनुष्य जीवन के साथ क्रियात्मक रूप में होने के कारण आयुर्वेद की विशेषता परिलक्षित होती है। अथर्ववेद में रोग के तीन कारण बताये गये हैं - १. शरीरान्तर्गत विष, जिसके लिए 'यक्ष्म' शब्द आता है।[१२] २. रोगों के कारण क मि-यातुधान।[१३] ३. वात, पित, कफ, रोगों का तीसरा कारण है। अथर्ववेद में पिप्पली को वातरोग नाशक कहा गया है।१४ इसमें रोगों के कारण सौ से अधिक क मियों का वर्णन है - अत्रिण१५ - भक्षण करने वाला, अराति[१६] -शत्रु, अर्जुन१७ -श्वेतवर्ण वाला, अलिंश[१८] - चिपटने वाला, कुत्याद[१९] - कच्चा मांस खाने वाला आदि।

अथर्वा ऋषि ने अथर्व चिकित्सा की खोज की। यह चिकित्सा चार प्रकार की है - आथर्वणी, आंगिरसी, दैवी और मानुषी। इनमें मानुषी चिकित्सा औषधियों से सम्बन्धित है।[२०] किन-किन रोगों में कौन सी औषधि लाभदायक है इसका ज्ञान परम्परा से होता था। अंगिरा द्वारा जानी गयी औषधियों को 'आंगिरसी' कहा जाता है। ब्राह्मण, ऋषि और देव औषधियों को पहले से जानते चले आये हैं।[२१] अथर्ववेद में क्षत,[२२] विदध्रि,[२३] छिन्न-भिन्न, व्रण आदि रोगों का उल्लेख मिलता है।

मनोविज्ञान का मंतव्य

वैदिक ऋषि सूक्ष्मदर्शी एवं मनोवैज्ञानिक होते थे। उन्हें मन के स्वरूप का गम्भीर ज्ञान था। उन्होंने इसको अति सूक्ष्म एवं चंचल माना है। मन से ही समस्त शारीरिक एवं मानसिक गतिविधियों का नियंत्रण एवं नियमन होता है। इस प्रकार मनोविज्ञान का जन्म भी वेदों से हुआ माना जा सकता है।

यजुर्वेद में 'तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु' कहकर मन के सभी महत्त्वपूर्ण गुणों का उल्लेख किया गया है। इसमें मन को अतिदूरगामी बताते हुए उसकी तीव्रता का वर्णन किया गया है। मन चेतना का आधार है।[२४] मन ही श्रेय और प्रेय का मार्ग प्रशस्त करता है अतः उसे 'पाथ्य व षा' (दिव्य सुख) कहा गया है।[२५] मन ही प्रेरणा का स्रोत है। इसकी प्रेरणा से सारे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के कार्य होते हैं।[२६]

यजुर्वेद में मन के तीन महत्त्वपूर्ण गुणों का उल्लेख है। ये हैं - प्रज्ञान, चेतस और ध ति। मन का कार्य चिन्तन और संकल्प-विकल्प है। ऊहापोह, तर्क-वितर्क, गुण-दोष का विचार और विविध कल्पनाएँ मन के विषय हैं। अतः कहा गया है कि मन संकल्प करता है।[२७] मन के गुण काम और आकूति बताए गए हैं।[२८] ऋग्वेद में मन के दो गुणों का उल्लेख है। मन ज्ञान और कर्म का साधन है। अतः उसे दक्ष अर्थात् ज्ञानयुक्त और क्रतु अर्थात् क्रियाशील कहा गया है।[२९]

अथर्ववेद में प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। संवेदनाओं को ५ ज्ञानेन्द्रियाँ ग्रहण करती हैं और मन के द्वारा इनका प्रत्यक्षीकरण होता है।[३०] अथर्ववेद का कथन है कि मन

वशीकरण का साधन है। मन दूसरे के मन को आक ष्ट करता है, उसे वश में कर लेता है और इच्छानुसार उसे यथास्थान प्रव त्त करता है।[31] मेस्मेरिज्म और हिन्प्रॉटिज्म मन के द्वारा वशीकरण के सफल प्रयोग हैं। शुद्ध एवं पवित्र मन की विशेषता बतायी गयी है कि इसके द्वारा तेजस्विता, सम द्धि और शारीरिक नीरोगता आदि प्राप्त की जाती हैं।[32] इस तरह आधुनिक और वैदिक विज्ञान दोनों ही यह मानते हैं कि मन एक अभौतिक तत्त्व है, परन्तु उसमें प्रसुप्त शक्तियाँ और संस्कार विद्यमान रहते हैं। सोचना, कल्पना करना व स्मरण करना मन के कार्य हैं। जहाँ से गणितीय परिकल्पना प्रारम्भ होती है।

गणितीय परिकल्पना :-

गणित के विकास का स्रोत वेद है। ऋग्वेद का अस्यवामीय सूक्त इसका प्रमाण है। इस सूक्त३३ की ८वीं ऋचा पर संख्याशास्त्र का संकेत मिलता है। भारतीय अंकों में जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय अक्षरों का होना इस बात का प्रमाण है कि उनकी उत्पत्ति वैदिक काल ही में हो चुकी थी। एक शैली में १ से ६ तक के ही अंक थे और दहाई से गणना करने का नियम था। दूसरी शैली में शून्य की योजना थी और दहाई से गिनते थे। संख्या का यह नामकरण यास्काचार्य ने ऋग्वेद[34] के एक मंत्र का उदाहरण देकर किया है। यजुर्वेद[35] के एक मंत्र में लाख, करोड़ और अरब संख्या के द्योतक शब्दों का उल्लेख हुआ है। स ष्टि की उत्पत्ति की काल गणना करने के लिए अथर्ववेद[36] का एक मंत्र आता है।

दशमलव प्रणाली द्वारा दशमलव बिन्दु लगाकर एक से छोटी प्रत्येक संख्या लिखी जा सकती है। इसका मूल ऋग्वेद३७ में है। दस के अंक की प्रतिष्ठा में यहाँ निम्न विशेषण आये हैं - अवनिभ्यः = रक्षा करने वाला, कक्ष्येभ्यः = कर्मों को प्रकाशित करने वाला, योजनेभ्यः = जोड़ने वाला, दशमलव पद्धति से जोड़ने की सुविधा का संकेत, अभीशुभ्यः = गुणा करने की सुविधा, अजरेभ्यः = विभाजन की सुविधा। यह दस से गुणित और विभाजित करने की दशमलव प्रणाली विश्व को भारत वर्ष की देन है।[38]

यजुर्वेद में जिस प्रकार संख्याओं का प्रयोग हुआ है उस प्रयोग में कुछ संकेत मिलता है। इस प्रकार वेदों के रचनाकाल में गणित के ज्ञान पर प्रकाश पड़ता है। यजुर्वेद[39] के एक मंत्र में जिन संख्याओं का प्रयोग किया गया है उनका समुच्चय निम्न प्रकार है - १, २, ३, ४, ५, ६............१७। इस समुच्चय को निम्न प्रकार से भी लिखा जा सकता है :-

स = (य : य = प्राक त संख्या य > १८)

यजुर्वेद[40] के एक अन्य मंत्र में प्रयुक्त संख्याओं का समुच्चय इस प्रकार है -

स = (३, ५, ७, ६, ११, १३, १४...................३३)

स = (य : य = विषय प्राक त संख्या य < ३४) इस अंश में समस्त संख्याएँ दो से विभाजित नहीं होती हैं। यजुर्वेद[41] के अगले अंश में प्रयुक्त संख्याएँ भी अति विशिष्ट हैं। यह समुच्चय है - स = (४, ८, १२, १६ ....४८) अथवा स = (य : य = ४, न न १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ६, १०, ११, १२)

अगले मंत्र[42] में पूर्ण संख्या की आधी संख्या का प्रयोग किया गया है।

स = $१^{१}/_{२}$, २ $२^{१}/_{२}$, ३

अथवा स = ३/२, ४/२, ५/२, ६/२

अथवा स = (य : य = १-२, क, क = ३, ४, ५, ६)

यजुर्वेद[43] में जनसंख्या तथा अन्य वस्तुओं की गिनती कराने की अनुज्ञा है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के ३४वें सूक्त में संभावना का सिद्धान्त का संकेत मिलता है। इस तरह ऋग्वेद में गणित के साथ-साथ भौतिक विज्ञान के भी उद्‌गम हुआ माना जा सकता है।

रसायनिक तत्त्व विवेचन :-

वैदिक काल में व्यावहारिक एवं उद्देश्यपूर्ण ढंग से रासायनिक तत्त्वों का प्रयोग मिलता है। वेदों में इनके प्रयोग का संकेत व उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद[४४] में सोना का जिक्र हुआ है। वैदिक काल में भट्टियों में धातुओं को गलाने ढलाने का कार्य भी होता था।४५ वेद में धातु के लिए 'अयस'[४६] शब्द प्रयुक्त हुआ है। यह 'अयस' शब्द ताम्बा, कांसा या सीसे के लिए प्रयोग हुआ जान पड़ता है।

यजुर्वेद में पत्थर (असमन), मिट्टी (म तिका), बालु (सिला), सोना (हिरण्य), लोहा, सीसा, टीन (त्रपु) नामक रासायनिक तत्त्वों का वर्णन हुआ है।४७ यजुर्वेद में धातु गलाने हेतु लकड़ी या कोयले का उल्लेख आया है।[४८] अथर्ववेद में भी सोना (हिरण्य), चाँदी (रजत), लोहा (अयस)[४९] और ताम्बा (स्याम), टीन (त्रपु) और सीसा[५०] का संकेत मिलता है।

वैदिक काल में इन धातुओं से आभूषण बनाकर पहना जाता था। ऋग्वेद[५१] में आभूषण का उल्लेख मिलता है। वेदों में धातुओं के खानों का वर्णन भू-गर्भशास्त्र के रूप में परिलक्षित होता है।

भू-गर्भशास्त्रीय विश्लेषण :-

प्राचीन वैदिक वाङ्मय में भू-विज्ञान के सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक पक्षों का परिचय मिलता है। प्रारम्भ में प थ्वी बहुत छोटी थी। संहिताएँ इसे प्रदेशमात्र[५२], उत्तरवेदी[५३] एवं वराह की नासिका५४ के माप का बताती हैं। ऋग्वेद में प थ्वी का फैलाव स्पष्ट होता है।[५५] प थ्वी का प्रथम रूप फेन था। ऋग्वेद की ऋचाएँ कहती हैं - इन्द्र ने आपः के फेन से नमुचि का सिर काट दिया।[५६] नमुचि का अर्थ है (द्युलोकस्थ) जल।[५७]

प थ्वी, म त (मिट्टी)[५८] शुष्कापः[५९], उसर[६०], सिकता[६१], शर्करा, [६२], अस्मा[६३], आयसी,[६४] काल्वाली,[६५] आदि नौ स्थितियों से गुजरने पर निर्मित प थ्वी आग्नेय कही गई है।[६६] यजुर्वेद में उल्लेख है कि जिस प्रकार माता पुत्र को गर्भ में धारण करती है उसी प्रकार प थिवी भी अपने अन्तर में गर्भ को धारण करती है।[६७] खानों की खुदाई से यह तथ्य विदित होता है। अथर्ववेद के मंत्रों से स्पष्ट है कि भूमि खनिजों की खान है।[६८]

तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है कि जब प्रजापति ने प थिवी पर अग्नि जलाने की इच्छा की तो अग्नि से प थ्वी ने मना किया और कहा कि अग्नि के जलने से वह हिल उठेगी।[६९] यह हिलना प थ्वी पर आने वाले भूकम्पों की ओर संकेत है। ऋग्वेद में भी प थ्वी के कम्पन का उल्लेख हुआ है।[७०] इस प थ्वी पर गिरि तथा हिमवान पर्वत हैं।[७१] शिला, अश्मा तथा पांसु[७२] है और तीन प्रकार की मिट्टी, वभ्रु, क ष्णा तथा लाल उपलब्ध हैं।[७३] भूविज्ञान के अध्ययन के अन्तर्गत कूप, नदी, झील आदि भी आते हैं। ऋग्वेद में कुओं का वर्णन है। जिन पर चरखियां लगी थीं तथा जहाँ से डोल द्वारा पानी खींचा जाता था।[७४] झील[७५], नहर,[७६], तालाब[७७] तथा झरनों[७८] का उल्लेख भी यहाँ मिलता है। नदी के लिए नदी, सिन्धु[७९], सुगाः[८०] शब्दों का प्रयोग प्राप्त है। ऋग्वेद में गंगा[८१], यमुना,[८२], सरस्वती,[८३] शतुद्री (सतलज)[८४] परुष्णी (रावी)[८५], आसिन्क्री (चिनाब)[८६] आदि के नाम गिनाए गए हैं। ऋग्वेद में 'सरयू' नाम उपलब्ध है।[८७] इन्हीं तत्त्वों से जलवायु विनिर्मित होती है, जिसे मौसम विज्ञान कहते हैं।

मौसम विज्ञान का मर्म :-

आर्यों के आदि देश की जलवायु दिव्य एवं उच्चस्तरीय थी। इसलिए तो वेदों में इन तत्त्वों का प्रतिपादन हुआ है। यहाँ पर मौसम की विलक्षणता का परिचय मिलता है। ऋग्वेद में शीत प्रधान जलवायु का उल्लेख मिलता है।[८८] यहाँ गर्मी[८९] और शीतकाल[९०] का उल्लेख हुआ है। वेदों में शरद्, हेमन्त और वसन्त तीन ऋतुओं का जिक्र हुआ है।[९१] यहाँ पर वर्षा का भी संकेत मिलता है।९२ वेदों में जलवायु का आधार एवं कारण भी बताया गया है।[९३]

विज्ञान के अनुसार हाइड्रोजन के दो परमाणु एवं आक्सीजन के एक परमाणु के संयोग से पानी बनता है। गुरुदत्त ने एक वैदिक मंत्र का अर्थ करके यह ज्ञान वेद में विद्यमान बताया है।[९४]

ऋक् = क्रिया + प्रतिक्रिया

यजुर = प्रयोग

धियं = द्रव जल द्वारा ध ताचीन साधत्ता

मित्र (Measure from root ans suffix Tra - standard or associate = ऑक्सीजन) व रूप (Root Vri + suffix उदात = हाइड्रोजन)

रिशाद सम् = Eats away or rusts the metals by combustion of carbon धातु को अग्नियुक्त करना।

पूतं = pure, दक्षम = Energy

Thus it means H_2 + O gives water by catalysis of energy and chemical action is exothermic action.

वैदिक वाङ्मय में मित्र और वरुण शब्द ऑक्सीजन और हाइड्रोजन के लिए भी प्रयुक्त हुए हैं।[९५] ये गैसें अन्तरिक्ष और द्यु में प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। यजुर्वेद[९६] में यज्ञ, वायु व सूर्य द्वारा व द्धि की संभावना दर्शायी गयी है। वरुण जल के देवता हैं। उनसे वर्षा के लिए प्रार्थना की गई है। मरुत भारी वर्षा करते हैं।[९७] इन्द्र देव को मौसम विशेषज्ञ के रूप में देखा जा सकता है। ऋग्वेद के कई सूक्तों में इन्द्र को वर्षा का देव माना गया है।[९८] इस तरह ऋग्वेद में मौसम विज्ञान का बीज रूप मिलता है।

वनस्पति विज्ञान का अनुसंधान :-

वैदिक काल में प्रक ति और पर्यावरण को सम्मान के साथ देखा जाता था।[९९] उस काल में लगभग ७४० वनस्पतियों का उल्लेख मिलता है।[१००] ऋग्वेद में वनस्पति जगत् को व क्ष, झाड़ी, घास एवं लताओं में विभाजित किया गया है।[१०१] अथर्ववेद में स्थलीय पादप, जलीय पादप एवं जलस्थलीय पादप का प्रतिपादन मिलता है।[१०२] ऋग्वेद में व क्ष का सम्बोधन मिलता है।[१०३] अथर्ववेद में[१०४] छोटे-छोटे घासनुमा झाड़ियों को 'विरुध' या औषधि के रूप में प्रयुक्त किया गया है।

ऋग्वेद में व क्ष के बाहरी कोमल परत को 'दारु' एवं मध्य के मजबूत भाग को 'मज्जा' कहा गया है।[१०५] अथर्ववेद में वनस्पति[१०६] शब्द प्रयोग में आता है। इस तरह यह वनस्पति औषधि[१०७] के रूप में कई नामों से अभिहित हुआ है। अंजन,[१०८], अपामार्ग,[१०९], अपांभेषज,[११०], पिप्पली भैषज्य,[१११] प श्रिन्पर्णी भैषज्य,[११२] रोहिणी वनस्पति,[११३] लाक्षा[११४] आदि। इस प्रकार वेदों में वनस्पति का उद्भव मिलता है। इसेमं क षि का उद्गम भी प्रतीत होता है।

क षि विज्ञान का अन्वेषण :-

वेद की संस्क ति यज्ञीय संस्क ति के अलावा क षि की संस्क ति है।[११५] ऋग्वेद में 'क षमित्क षिस्व' कहकर क षि की ओर प्रेरित किया है। यजुर्वेद में 'निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो औषधयः न पच्यन्ताम' आदि वैदिक राष्ट्रगीत में क षि विज्ञान का मनोहारी वर्णन है। अथर्ववेद[११६] प्रथम काण्ड के कुछ सूक्तों में जिनके देवता इन्द्र, पर्जन्य आदि हैं सीधे क षि कार्य से सम्बद्ध दिखाई देते हैं।

अथर्ववेद के तीसरे काण्ड के १७वें सूक्त में ६ मंत्र हैं, जिनका देवता क षीवला है। इनमें स्पष्ट रूप से विधिपूर्वक क षि कर्म का उल्लेख है।[११७] इस सूक्त में सीता शब्द आया है। यह शब्द ऋग्वेद संहिताओं में क षि देवता और हल के फाड़ के लिए प्रयुक्त हुआ है। इन सूक्तों में कवि, इन्द्र, पूषा, कीनाश आदि किसान के वाचक शब्दों का प्रयोग एक साथ हुआ है। यजुर्वेद में अनेक स्थानों पर किसान को इन्द्र कहा गया है।[११८]

वेद में अन्न के लिए निम्नलिखित शब्द हैं - अंधः, वाज, पयः, प्रयः, प क्षः, पितु, सुतः, सिनम्, अवः, क्षु, धासि, इरा, इडा, इषम्, ऊर्क, रसः, स्वधा, अर्क, क्षदम, नेमः, ससम्, नमः, आयुः स ता, ब्रह्म, वचः कीलालम, यशः। इन अन्नों को उपजाने वाली भूमि का ठीक-ठीक मापन का उल्लेख ऋग्वेद११६ में

मिलता है। वेद में भूमि के तीन भेद हैं - आर्तना, अग्नस्वती और उर्वरा भूमि।

खाद क षि का भोजन है। दामोदर सातवलेकर ने क षि विद्या में वेद मंत्रों के आधार पर क षि के लिए खाद का उल्लेख किया है। इन मंत्रों में करीप,[१२०] शक त,[१२१], शकन्, शक,[१२२], शाक[१२३] शब्द खाद के वाचक हैं। क षि के लिए बैल एवं हल अन्यतम साधन हैं। वेद में हल के अर्थ में सीर, सील, लांगल नाम आते हैं। हल को पकड़ने का दस्ता (मूठ) होता है उसको वेद में 'तसरु' कहते हैं।[१२४] वेद में क षि विज्ञान का विस्तार से विवेचन-विश्लेषण हुआ। इसके अतिरिक्त शिल्प विज्ञान का भी दिग्दर्शन मिलता है।

शिल्प विज्ञान का विकास :-

वैदिक युग में विविध शिल्पों का विकास हो चुका है। वैदिक काल एक महत्त्वपूर्ण शिल्प तक्षा (बढ़ई) का था। तक्षा अथवा त्वष्ट् काष्ठकर्म से सम्बन्धित शिल्पी था। ऋग्वेद में बढ़ई व्यवसाय का उल्लेख हुआ है। यजुर्वेद में लोहार, कुम्हार आदि जिन विविध शिल्पकारों को अभिवादन किया गया है, उनमें तक्षक और रथकार भी सम्मिलित हैं।[१२५] ऋग्वेद के एक मंत्र में रथ के साथ-साथ अनस शब्द प्रयुक्त हुआ है।[१२६] अनस् को रथ जैसा स्थूल वाहन माना जा सकता है।

ऋग्वेद में नदियों को पार करने हेतु सौ चप्पू वाली नाव का प्रयोग भी मिलता है।[१२७] वैदिक काल में उद्योगों की श्र ंखला में वस्त्र बुनाई उद्योग भी प्रचलित था। वेदों में बुनाई कला से सम्बन्धित अनेक शब्द मिलते हैं - ताना, बाना, करघा, वयन (बुनाई), सुची (सुई), कौश (रेशमी), तसर (दरकी) आदि।[१२८] चर्म उद्योग के अन्तर्गत जूते बनाने का कार्य भी किया जाता था। वैदिक काल में शिल्प कला में पश्चात् वास्तुकला का प्रादुर्भाव देखा जा सकता है।

वैदिक वास्तु :- ऋग्वेद में स्थापत्य सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं। ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में भवन विन्यास की उत्क ष्टतम परम्परा की जानकारी मिलती है। वैदिक भवनों के तीन मुख्य अंग थे - ग हद्वार, बैठक तथा पत्नी सदन।[१२९] सौन्दर्य बोध वैदिक आर्यों में विद्यमान था। तारापद भट्टाचार्य अगस्त्य का सम्बन्ध वैदिक कालीन वास्तुकला से मानते हैं।[१३०] ऋग्वेद में 'वास्तोस्पति' नामक देवता का संकेत मिलता है।[१३१] ग ह निर्माण के पूर्व इस देवता का आह्वान किया जाता था।

ग्राम शब्द ऋग्वेद तथा अन्य वैदिक साहित्य में बहुत मिलता है। 'ग्राम' वर्तमान गांव का द्योतक है। 'पुर' शब्द का प्रयोग भी ऋग्वेद [१३२] में अनेक स्थानों पर हुआ है। ब्राह्मण ग्रंथों में यह शब्द नगर के अर्थ में प्रचलित हुआ है। वैदिक वाङ्मय में पुर का प्रयोग भी ऋग्वेद१३२ में अनेक स्थानों पर हुआ है। ब्राह्मण ग्रंथों में यह शब्द नगर के अर्थ में प्रचलित हुआ है। वैदिक वाङ्मय में पुर का प्रयोग दुर्ग, गढ़ या प्राकार के लिए भी हुआ है।[१३३] ऋग्वेद में दीवारों वाले पुरों का वर्णन प्राप्त होता है।१३४ ऋग्वेद में 'ग ह' घर के अर्थ में संकेत मिलता है।[१३५] अथर्ववेद[१३६] में भी इसका इसी रूप में प्रयोग हुआ है।

वैदिक वाङ्मय में विज्ञान के विविध रूप परिलक्षित होते हैं। इसमें स ष्टि विज्ञान का भी प्रतिपादन मिलता है। स ष्टि के अनन्त विस्तार वैभव को देखकर आश्चर्य में पड़ जाना स्वाभाविक है। इस आश्चर्य से जन्मती है जिज्ञासा - 'इस विश्व की रचना कैसे हुई, किसने की ?'[१३७]

स ष्टि विज्ञान :-

वैदिक साहित्य में स ष्टि विज्ञान रहस्य काव्य बनकर ऋचाओं में मुखरित हुआ है।[१३८] जगत् की स ष्टि को चमस निर्माण के सद श मानते हुए ऋषि आश्चर्य प्रकट करता है कि 'कौन सा काष्ठ है अथवा कौन सा व क्ष है, जिसमें से द्यावा प थ्वी का निर्माण हुआ ?[१३९] नार्वेजियन तथा अवेस्तिक परम्परा[१४०] की भांति वेद में भी प्रायः एक संसार व क्ष का उल्लेख मिलता है।[१४१] जिससे प्रतीत होता है कि स ष्टि क्रिया को विश्व प्ररोहन के समान समझा जाता है अर्थात् जिस तरह एक छोटे से बीज से अंकुर निकलकर एक विशाल व क्ष के रूप में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार विश्व का भी सूक्ष्म से विराट् नाम रुप हो जाता है और इस प्रसंग में नापना, स्थान को पवित्र करना, छत बनाना, ग ह

की द ढ़ता का ध्यान रखना, उसमें अग्नि का प्रवेश करना आदि साधारण ग ह निर्माण की क्रियाएँ विश्व ग ह निर्माण में आरोपित की जाती हैं।[१४३]

ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में स ष्टि कैसे उत्पन्न हुई ? इस पर प्रकाश डाला गया है। स ष्टि का मूल तत्त्व असत् है, जिससे सत् उत्पन्न (आविर्भूत) होता है। असत् का अर्थ है अत्यन्त सर्जनेच्छा से जो युक्त हो यह अत्यन्त परम सत्ता सद्‌रूप है।[१४४] 'देवानां पूर्व्ये युगे असत् सद-जायत्' इस सूक्त का मुख्य विषय देवों की उत्पत्ति है। देव व्यक्त स ष्टि के उपादान हैं। यह असत् के सद्‌रूप में आने के पश्चात् स ष्टि के क्रमिक विकास का उल्लेख है।

इस असत् व सत् की भी पूर्वावस्था का संकेत नासदीय सूक्त में प्राप्त है। सर्गकाल से पूर्व, प्रलयावस्था में सब कुछ असत् था, यह तथ्य उपयुक्त नहीं है। उस समय सत् भी नहीं था। ये द श्यमान लोक लोकान्तर और जो उनसे परे व्यवहार्य आकाश है वह भी न था। कहीं कोई आवरण करने वाला नहीं था। यह सब कहाँ जिसके भोग के लिए किया जाय ? जब उस समय कोई भोक्ता नहीं था। जब लोक-लोकान्तर, भोक्ता-भोक्त के आवरक तत्त्व और प थिव्यादि भूत न थे, तब गहरा गम्भीर समुद्र कैसे हो सकता था ?[१४५] उस समय म त्यु नहीं थी, अम त नहीं था, रात्रि और दिन का चिह्न नहीं था, केवल स्वधा के साथ एक निर्दोष चेतन सत्ता अवस्थित थी। उससे उत्क ष्ट और कोई नहीं है, अर्थात् वह सर्वोत्क ष्ट चेतना है।[१४६]

नासदीय सूक्त को त तीय ऋचा[१४७] में और अधिक स्पष्ट करके प्रलयकाल के उपरान्त स ष्टि प्रक्रिया का जिक्र किया गया है। चतुर्थ ऋचा में प्रथम संकेतित आदि सर्ग के बारे में कहा गया है - 'आदि सर्ग काल में जो संकल्प होता है वही स ष्टि का पहला कारण है। क्रान्तदर्शी ऋषि अपने अन्तःकरण में विचार कर अथवा विचारपूर्वक बुद्धि के द्वारा अव्यक्त में व्यक्त के सम्बन्ध में जान जाते हैं।[१४८] पंचम ऋचा में उल्लेख है - 'मूल तत्त्व रूपी प्रक ति अपक ष्ट और नियन्ता उत्क ष्ट है।[१४९] ऋग्वेद की इन ऋचाओं में रहस्यमयी स ष्टि प्रक्रिया का संकेत मिलता है।

यह विविध स ष्टि कहाँ-कहाँ से उत्पन्न होती है ? कौन इसको वास्तविक रूप में जानता है और कौन इस विषय में कथन करता है ?[१५०] आदि प्रश्नों का हल ऋग्वेद में इस तरह मिलता है - 'जो नियन्ता सर्वव्यापक परमात्मा है वही उस रहस्य को जानता है।'[१५१]

नासदीय सूक्त स ष्टि रहस्य के क्रम में मूल रूप से दो तत्त्वों को स्वीकार किया गया है - चेतन और अचेतन। अचेतन को यहाँ 'स्वधा' अथवा 'तमस' पद से निर्देश किया है तथा उसको अव्यक्त बताया है। इसी को जगत् को मूल उपादान कहा गया है।[१५२] वैदिक विद्वानों ने प्रायः मूलतत्त्वों की अज्ञेयता को प्रदर्शित करने का प्रयास किया है। उनके विचार से वह मूलतत्त्व अज्ञेय समझना चाहिए, जिससे इस स ष्टि का प्रादुर्भाव हुआ। इस स ष्टि के रहस्य को केवल परमात्मा ही जानता है।

ऋग्वेद[१५३] में विश्वकर्मा ऋषि ने स ष्टि के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रकट की है। वह कौन सा उपादान कारण था जिसके द्वारा उसने स ष्टि का निर्माण किया और वह कौन सी प्रक्रिया थी, जिससे उसने स ष्टि निर्माण किया ?[१५४] आगे इसी प्रश्न को वे इस प्रकार करते है - इस स ष्टि के निर्माण में कौन सा वन, व क्ष और शाखा काम आयी ?[१५५] इसके परिप्रेक्ष्य में तैत्तिरीय ब्राह्मण का कथन है, ब्रह्म ही वन है, ब्रह्म ही वह व क्ष एवं शाखा है, जिसको तराश कर स ष्टि निर्माण हुआ।

ऋग्वेद के अनुसार स ष्टि पांच चक्रों[१५६] पर स्थापित है। प्रत्येक चक्र अपने भारत को वहन करने में समर्थ है। स ष्टि से लेकर प्रलय पर्यन्त वह कभी टूटता नहीं। उपर्युक्त पांच चक्रों (मण्डल) - स्वयंभू, परमेष्ठी, सूर्य, प थिवी और चन्द्र के निर्माण को ही स ष्टि कहते हैं। इस पंच मण्डलात्मक स ष्टि को पंच बलशा पुण्डरीकात्मक संसार कहते हैं। इन पांचों मण्डलों की बनावट इस प्रकार होती है कि प थ्वी दो योजन अर्थात् १६ पद्य मील की दूरी पर प्रथम मण्डल स्वयंभू[१५७] (लोक) है। उसके ऊपर अक्षर मण्डल है। इसी के नीचे ही स ष्टि है।

ऋग्वेद में स ष्टि को अनादि-अनन्त घोषित किया गया है। ईश्वरीय क ति स ष्टि काल रूपी

उषा अतीत से ही सनातन चक्र में अद्भुत रूप से प्रकाशित हो रही है। ऋग्वेद[१५८] की एक ऋचा में स ष्टिकाल रूपी प्रभात वेला को शाश्वत्, अजर, अमर और स्वधावान आदि विशेषणों से अलंक त किया गया है। वैज्ञानिक भी यह स्वीकार करने लगे हैं कि स ष्टि रचना एक निश्चित, व्यवस्थित घटनाओं की परम्परा है।[१५६]

१ डॉ. अरुण कुमार जायसवाल - वैदिक संस्क ति के विविध आयाम, प . १५३
२. औषधिरीति मातरस्तद्वो देवी रुप ब्रुवे। - ऋक्. - १०/१७/४
३. ऋक्. - १/७६/२५
४. ऋक्. - १/११६/१६
५. अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां चुबुकादधि।
यक्ष्मं शीर्षव्य मस्तिष्काज्जिह्वाया विव हामिते।। - ऋक्. - १०/१६४/१
६. ऋक्. - १/२३/२०
७. या औषधीः सोमराज्ञीर्वहीः शत विचक्षणाः। - यजु. - १२/६२
८. यजु. - १२/८
६. अवयतन्ती खदन् दिव ओषधयस्परि। - यजु. - १२/८३
१०. यजुर्वेद - १२/८१
११. वेदाम तम, भाग १०, सामवेद सुभाषितावली, प . १३७-४१
१२. अथर्व. - ६/८/१०
१३. अथर्व. - ५/२६/६-७
१४. अथर्व. - ६/१०१/३
१५ अथर्व. - ६/३२/३
१६. अथर्व. - ५/२३/२
१७. अथर्व. - २/३२/२
१८. अथर्व. - ८/६/१
१६ अथर्व. - ५/२६/८
२०. डॉ. अरुण कुमार जायसवाल - वैदिक संस्क ति के विविध आयाम, प . १५८
२१. अथर्व. - ६/१२/२
२२. अथर्व. - ४/७६/४
२३. अथर्व. - ६/१२७/१
२४. यजु. - ३४/२
२५. मनो वै पाथ्यो व षा। यजु. - ११/३४, श. ब्रा. - ६/४/२/४
२६. यजु. - ३४/३
२७. अथर्व. - १२/४/३१
२८. यजु. - ३६/४
२६. ऋक्. - १०/२४/१
३०. अथर्व. - १६/६/५
३१. अथर्व. - ३/८/६, ६/६४/२
३२. यजु. - २/२४, ८/१४, अथर्व. - ६/५३/३
३३. माता पितरमने आ बभाज धोत्यग्रे मनसा सं हिजग्मे।

सा वीभत्सुः गर्भरास विविद्वा नमस्वन्त इदुपवाकमीयुः। ऋक्. - १/१६४/८

३४. ऋक् - १०/४८/७

३५. यजु. - १७/२

३६. शतं ते अयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणी चत्वारि क ण्मः।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास ते नुमन्यामिह नो भावाः।। अथर्व. - ८/२/२

३७. दशावनिभ्यो दशकक्ष्ये दशयोक्त्रेभ्यो दशयोजनेभ्यः।
दशाभीशूभ्यो अर्चताजरेभ्यो दश

३८. अलबेरुनी के अनुसार यह प्रणाली खलीफा वालीद के बाद ७७३ में अरब गई। Encyclopaedia Bretanica भाग - १७, प . ६२६ पर उल्लेख है कि अरब से १२वीं शताब्दी में यह पद्धति यूरोप गई और इसे वहाँ गणित अलगोरिलस अल्गोरिथम कहा गया जो कि विदेशी शब्द अलखारिज्मी का अक्षरान्तर मात्र है। यह खोज मूलतः वैदिक भारत की है।

३९. अग्निरेकाक्षरेण प्राणमुदजयत तमुज्जेषमाखनो द्वयक्षरेण द्विपदो मनुष्यानुदजयतां तानुज्जेषं विष्णुस्त्रयक्षरेण त्रील्लोका नुदजयत्ता नुज्जेषं सोमश्चतुरक्षरणे चतुष्पदः पश नुदजयतानुज्जेषम्। - यजुर्वेद ९/३१

४०. एका च मे तिस्त्रश्च मे तिस्त्रश्च .... त्रयस्त्रिं-शच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। - यजुर्वेद

४१. चतरस्त्रश्च में ष्टौ च मे द्वादश .... चतुश्चत्वारिंशच्च में ष्टा चत्वारिंशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। - यजुर्वेद

४२. त्र्यवयो गायत्र्यै पंचावयस्त्रिष्ठुमे दित्यवाहो जात्यं त्रिवत्आअनुष्ठुमे तुर्यवाह उषणि हे।। -यजुर्वेद

४३ यजु. - २७/२४-२५

४४. ऋक्-१/८५/६, १/८८/५, १/१६७/३, २/३३/६, ५/५४/१५, ५/५७/१, ५/६०/४, ७/७/२७-३२

४५. Ishwarbhai Patel (edt.) - Science and the Vedas, p. 96

४६. ऋक्. - १/५६/३, १/६३/६, ५/३०/१५, ५/६२/७-८, ६/३/५, ६/४७/१०, ६/७५/१५

४७. यजु. - १८/१३

४८. यजु. - ३०/१४

४९. अथर्व. - ५/२८/१

५०. अथर्व. - ५/२८/५

५१. ऋग्वेद - २/३३/१०, ५/१९/३, २/३४/२

५२. इयत्यग्र आसीत्। यजु. ३५/७

५३. काठ. सं. - २५/६

५४. मैत्रा. सं. - १/६/३

५५. ऋक्. १/१३०/२

५६. अपां फेनेन न नमुचेः शिर इन्द्रोद वर्तयः। ऋ. - ८/१४/१३

५७. मोनियर विलियम्स संस्क त - अंग्रेजी कोष।

५८. श. ब्रा. - १४/१/२/६

५९. एता वै शुष्कायः। मै. सं. - ३/६/३

६०. काठ. सं. - ८/२

६१. मैत्रा. सं. - १/६/३
६२. तेजो वा अग्ना अदधुर्यच्छर्करा। काठ. सं. - ८/२
६३. श. ब्रा. - ६/१/३/३
६४. ऋक्. - ७/१५/१४
६५. श. ब्रा. २/२/४/३
६६. आग्नेयी प थिवी। ताण्ड्य ब्रा. - १५/४/८
६७. यजु. - ११/५७
६८. अथर्व. - १२/१/६
६९. तै. सं. - ५/५/२
७०. ऋक्. - १/३७/८
७१. अथर्व. - १२/१/११
७२. अथर्व. - १२/१/२६
७३. अथर्व. - १२/१/११
७४. ऋक्. - १०/१०१/५७, १०/१०५/१७
७५. ऋक्. - ८/६६/१२, ५/५३/६
७६. ऋक्. - ८/६६/१२
७७. ऋक्. - ८/७/१०
७८. ऋक्. - ८/७/१६
७९. ऋक्. - ५/५३/६, ८/२०/२५, अथर्व. १२/१/३
८०. ऋक्. - १/१६५/८
८१. ऋक्. - ६/४५/३१, १०/७५/५
८२. ऋक्. - ५/५२/१७, ७/१८/१९, १०/७५/५
८३. ऋक्. - १/३/१०-१२ ३/२३/४, ५/४२/१२, ६/५२/६, ६/६१/१-१४, ७/३६/६, ७/९५/१-६
८४. ऋक्. - ३/३३/१, १०/७५/५
८५. ऋक्. - २/१५/५, ५/५२/६, ८/६३/१४, ११०/७५/५, ४/२२/२, ७/१८/५, ५, ६
८६. ऋक्. - ८/२०/२५, १०/७५/५
८७. ऋक्. - ४/३०/१८, ५/५३/६, १०/६४/६
८८. ऋक्. - ३/७/१
८९. ऋक्. - ५/३२/१
९०. ऋक्. - ५/५४/१५
९१. ऋक्. - १/१६४/४४
९२. ऋक्. - २/१२/२, २/१७/५
९३. ऋक्. - १०/१२१/४
९४. मित्रं हुवे पूत दक्षं वरुणं च रिशादसम्। धियं घ ताचीम् साधन्ता। ऋक्. - १/२/७
९५. डॉ. रामेश्वर दयाल गुप्त - वैदिक वाङ्मय में विज्ञान
९६. यजु. - १/१६

९७. ऋक्. - १/३८/६
९८. ऋक्. १/३२ (के पन्द्रह मंत्र)
९९. Ishwarbhai Patel - Science and the Vedas, p. 86
१००. Ibd, p. 87
१०१. ऋक्. १०/९७/१५, १/१६४/२०, २२, १/१६१/१, अथर्व. ८/७
१०२. अथर्व. - ११/३, ६, १२;८/४, ४७, १७
१०३. ऋक्. - २/१४/२
१०४. ऋक्. - २/१/१४, ७/९७/६, अथर्व. १/३२/३, २/७/१
१०५. ऋक्. - ६/३/४
१०६. अथर्व. - ३/१८
१०७. अथर्व. - ८/७, ६/५६
१०८. अथर्व. - ७/३०/३६
१०९. अथर्व. - ४/१७-१६
११०. अथर्व. - १/४-६, ६/२३-२४
१११. अथर्व. - ६/१०६
११२. अथर्व. - ६/२२, ५२, ८३; १६/४४
११३. अथर्व. - ४/१२
११४. अथर्व. ५/५
११५. डॉ. क ष्णलाल - वैदिक संहिताओं में विविध विद्यायें, प . २३६
११६. अथर्व. - १/२, ३
११७. इन्द्रः सीतां निग हणातु ....।। - अथर्व. ३/१७/४
११८. यजु. - १०/८१
११९. ऋक्. - १/११०/५
१२०. अथर्व. - ३/१४/३
१२१. अथर्व. - १२/४/६, ऋक्. १/१६१/१०
१२२. अथर्व. - ३/१४/५
१२३. अथर्व. - ३/१४/५
१२४. अथर्व. - ३/१७/३
१२५. यजु. - १६/२७
१२६. ऋक्. - ८/९१/७
१२७. ऋक्. - १/११६/३-४
१२८. डॉ. अरुण कुमार जायसवाल - वैदिक संस्क ति के विविध आयाम, प . १७३
१२९. वही, प . १७४
१३०. Tarapad Bhattacharya - A Study of Vastuvidya, p. 13
१३१. ऋग्वेद - ७/५४-५५, ८/१७/१४
१३२. ऋक्. - १/५३/७, ६/५८/८, १/१३१/४
१३३. Mcdonal and Kith - Vedic Index, p. 538

१३४. ऋक्. - १/१६६/८, ७/१५/१४

१३५. ऋक्. - ३/५३/६, ४/४६/६, ८/१०/६

१३६. अथर्व. - ७/८३/१, १०/६/४

१३७. आचार्य श्रीराम शर्मा - ईश्वर है या नहीं - है तो कैसा है ?, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४०, अंक १२, प . ३

१३८. डॉ. मन्दाकिनी शर्मा - प्रज्ञापुरुष का समग्र दर्शन, प . ४.२६

१३९. ऋग्वेद - १०/३१

१४०. Thrope; N.M. pp. 5 ff. H.A.G.M.N., pp. 12, 14, 13-33, 146-120, Cox, M.A. pp. 331-2; Corony I.M. Fatahsingh, Poona Orientalist V-I.I.

१४१. ऋग्वेद - १/२४/७, १/१६१/१०, १३४; Wallis : C.R.V. pp. 15f.

१४२. Wallis - Cosmology of the Regveda, pp. 16, 36

१४३. Ibd.

१४४. ऋक् - १०/७२/२

१४५. नासादासीन्तो सदासीत्तदार्नीं नासीद्रजो नो व्योमा परोयत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्।। - ऋक्. १०/१२६/१

१४६. न म त्युरासीदम तं न तर्हि न रात्र्या ऊह आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं यस्माद्धान्यन्न परः किं चनास।। - ऋक्. १०/१२६/२

१४७. तन आसीत्तमसा गूढ़मग्रे प्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छय्याम्बपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिम्याजायतैकम्।। - ऋक्. १०/१२६/३

१४८. कामस्तेदग्रे समवतेताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरवन्दन्हृदि प्रतीष्याय कवयो मनीषा।। - ऋक्. १०/१२६/४

१४९. तिरश्चीनौ विवतो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरिस्विदासी त्।
रेतोधा आसन्महिमान् आसन्तन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात्।। - ऋक्. १०/१२६/५

१५०. को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजान कुथ इयं विस ष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य निसर्जनेनाथा को वेद यत् आवभूव।। - ऋक्. १०/१२६/६

१५१. इयं विस ष्टिर्यत आवभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद।। - ऋक्. १०/१२६/७

१५२. जयदेव वेदालंकार - वैदिक दर्शन, प . १७६

१५३. ऋग्वेद - १०/८१/१

१५४. ऋक्. - १०/८१/२

१५५. ऋक्. - १०/८१/४

१५६. ऋक्. - २/१६४/४

१५७. यजु. - १७/२

१५८. ऋक्. - १/११३/३

१५९. Verything points with overhelming force to a definite event or series of events of creation of some time or other, not infinitely remote. - James Jeans : Wider Aspects of Cosmogony.